प्रबोधचन्द्रोदय और उसकी हिन्दी परम्परा

प्रबोधचन्द्रोदय और उसकी हिन्दी परम्परा

[आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच०डी० उपाधि के लिए स्वीकृत रूपकात्मक शैली के नाटकों का सर्वप्रथम एवं मौलिक अध्ययन विषयक शोध प्रबन्ध]

लेखिका

डॉ० श्रीमती सरोज अग्रवाल

एम० ए०, पी-एच० डी० (स्वर्णपदक विभूषिता) विशारद (संस्कृत)

१८८३ शक

हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

ओ३म्

सादर समर्पित

भारत के उन महान् मनीषियों को
जिनकी ज्ञान-गरिमा की झलक
से ही संसार चकित
और स्तब्ध है

प्रकाशकीय

संस्कृत नाट्य-परंपरा में भागवत विचारधारा का प्रवेश, शान्त रस की अभिव्यक्ति और पारलौकिक विषयों की अवतारणा को लेकर रूपक-रचना—नाट्य-शास्त्र में नया मोड़ था यद्यपि भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में प्रतिपादित रूपक विधाओं के साथ इसकी संगति नहीं बैठती। संत साधना एवं पारलौकिक ज्ञान को अधिक लोक-सुलभ बनाने के लिए रूपक रचना का आश्रय भागवत कवियों ने लिया, इसमें सन्देह नहीं। भागवत विचारधारा से प्रभावित रूपक रचनाओं में 'प्रबोधचन्द्रोदय' का अपना विशिष्ट महत्त्व है। भाषा शैली और साहित्यिक लालित्य से उसने संस्कृत नाट्य शैली को ही नहीं प्रभावित किया अपितु ११ वीं शती में नाटक रचना की रूपकात्मक नूतन परंपरा स्थापित भी की, जिसका प्रतिपादन नाट्य शास्त्र के आचार्यों को सम्मत नहीं था। जीवन और लोक का धर्म विवेचन छोड़ कर केवल आत्म प्रबोध की चर्चा ऐसे कृतिकारों का अपना लक्ष्य था।

भागवत धर्म की भक्ति-धारा और पारलौकिक जिज्ञासा ने उस समय की लोकरुचि को इतना प्रभावित किया कि 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक परंपरा के विपरीत होते हुए भी बहुत समादृत हुआ और ऐसे नाटकों की परंपरा भी चलती रही।

'प्रबोधचन्द्रोदय' का यथेष्ट प्रभाव स्वभावतः हिन्दी नाटकों पर भी पड़ा। उसके कुछ अनुवाद भी हिन्दी में हुए और उसके अनुकरण पर कुछ रचनाएँ भी हुईं। 'प्रबोधचन्द्रोदय' की रचना और उसकी हिन्दी परंपरा की छानबीन में संस्कृत और हिन्दी नाट्य साहित्य के अनेक पहलुओं का उद्घाटन होता है। डॉ० श्रीमती सरोज अग्रवाल की प्रस्तुत कृति इस दिशा में सर्वप्रथम और सराहनीय प्रयास है। उनके इस शोध-प्रबन्ध में गंभीर अनुशीलन और मौलिक चिन्तन की छाप है, जिसका समादर हिन्दी तथा संस्कृत साहित्य के प्रेमी-अन्वेषक अवश्य करेंगे।

हिन्दी में अपने विषय की सम्मान्य रचना होने के कारण इस शोध प्रबंध की उपादेयता स्वतः सिद्ध है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ऐसी कृति का प्रकाशन कर प्रसन्नता का अनुभव करता है। हमें विश्वास है कि पाठक इस कृति का स्वागत करेंगे।

रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री
सहायक मन्त्री

६ जून, १९६२

परिचय

श्रीमती सरोज अग्रवाल द्वारा प्रस्तुत शोध प्रबन्ध 'प्रबोध चन्द्रोदय और उसकी हिन्दी परम्परा' संस्कृत और हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं रोचक विषय की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। 'कृष्ण मिश्र' ने 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक की रचना कीर्तिवर्मा चन्देल (११ वीं शती) के राज्य काल में की थी। यह एक अध्यात्म रूपक है जिसमें वेदान्त की साधना पद्धति के अनुसार विवेक या ज्ञान की मोह पर विजय का नाटकीय चित्रण है। भागवत परम्परा के अनुसार भगवान् के छह गुण हैं—ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य। इनमें से ऐश्वर्य के द्वारा अहंकार, वीर्य या पराक्रम के द्वारा क्रोध, यश के द्वारा मद, श्री के द्वारा लोभ, वैराग्य के द्वारा काम और ज्ञान या विवेक के द्वारा मोह नामक शत्रु पर विजय प्राप्त की जाती है। इस प्राचीन सूत्र को लेकर संस्कृत-साहित्य में कई रचनाएँ हुईं। उनमें 'उपमिति भव प्रपञ्च कथा' नामक संस्कृत गद्य काव्य का महत्त्व पूर्ण स्थान है। किन्तु इस क्षेत्र में कृष्ण मिश्र की 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नामक नाट्यकृति सबसे अधिक सफल और प्रभावशाली रचना है। 'प्रबोध-चन्द्रोदय' की लम्बी हिन्दी परम्परा में जो रचनाएँ हुईं उनका और स्वयं 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक का बहुत ही सुन्दर अध्ययन प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है। प्रबोध-चन्द्रोदय के प्राचीन हिन्दी अनुवाद लगभग २० हैं। इनमें से १२ अनुवादों का आलोचनात्मक और तुलनात्मक अध्ययन इस ग्रन्थ में किया गया है। सबसे प्रथम मल्ह कवि ने सन् १५४४ में पद्यानुवाद किया था। कुछ अनुवाद मिश्रित गद्य-पद्य और कुछ केवल गद्य में भी हुए। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने भी १८७२ ई० में एक गद्य-पद्य मिश्रित अनुवाद 'पाखण्ड-विडम्बनम्' नाम से किया था। इस साहित्य की विशेषता प्रतीक पात्रों की कल्पना है जिनमें मनुष्य स्वभाव के गुण, भाव तथा जीवन की समस्याओं को नाटकों के पात्रों के रूप में ढालकर चरित्रांकन किया जाता है। इस शोध प्रबन्ध में इन प्रतीक पात्रों का भी बहुत ही रोचक और सूक्ष्म विवेचन किया गया है। ज्ञान, वैराग्य, सन्तोष तथा मोह, कामना, अहंकार आदि अच्छी और बुरी प्रवृत्तियों का द्वंद्व इस प्रकार के नाटकीय साहित्य की विशेषता है। हमें आशा है कि प्रस्तुत शोध निबन्ध में प्रदर्शित मार्ग द्वारा 'प्रबोधचन्द्रोदय' की परम्परा में निर्मित संस्कृत और

हिन्दी भाषा की अनेक प्रवृत्तियों का पाठक नई रुचि से अध्ययन करने में प्रवृत्त होंगे। शोध की जो मान्य वैज्ञानिक पद्धति है उसके उच्च मानदण्ड का निर्वाह इस ग्रन्थ में किया गया है जिसके लिए लेखिका बधाई की पात्र हैं।

काशी विश्वविद्यालय
२५–५–६२

वासुदेवशरण अग्रवाल

भूमिका

विद्यापीठ शोध-परिषद

(अनुसंधान-संगम)

क० मुं० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ प्रमुख रूप से एक शोध संस्थान है। आरम्भ काल से ही विद्यापीठ ने चार विशिष्ठ क्षेत्रों में शोध को वैज्ञानिक स्तर पर लाने का प्रयत्न किया है:—

(क) भाषा विज्ञान (ग) तुलनात्मक साहित्य

(ख) पाठालोचन (घ) लोक साहित्य

इनमें से प्रत्येक विषय में विद्यापीठ ने ठोस वैज्ञानिक प्रणाली का विकास और उपयोग तो किया ही है, साथ ही विषय-विवेचन और प्रस्तुतीकरण में भी स्तर को ऊंचा उठाने का ध्यान रखा है। आज अनुसंधान संगम की अवधानता में उसके विविध शोध प्रबन्ध प्रकाशित किए जा रहे हैं। इसमें हमारा उद्देश्य केवल यही है कि ज्ञान के क्षेत्र में हमारा यह योगदान सुविज्ञ अनुसन्धानकों और विचारकों के समक्ष पहुँचे। ज्ञान के क्षेत्र में व्यक्ति और संस्था का महत्व अपने कृतित्व को औरों के विचारार्थ प्रस्तुत कर देने तक ही है। उसका उचित मूल्यांकन और उपयोग तो विद्वान् पाठकों और आगे के अनुसंधित्सुओं का ही दायित्व है।

मुझे प्रस्तुत ग्रन्थ को विद्वानों और पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है और मैं आशा करता हूँ कि हमारे विद्यापीठ के निर्देशन में प्रस्तुत किए गए इस प्रबन्ध का स्वागत होगा। इसकी लेखिका ने अपनी शक्तिभर पूर्ण परिश्रम और अध्यवसाय से सामग्री को जुटाया है और उसे वैज्ञानिक रूप प्रदान किया है। ज्ञान की उपासिका इस अनुसंधात्री का मैं अभिनन्दन करता हूँ, जिसने अपने लिए तो पी-एच० डी० की उपाधि इस व्याज से प्राप्त की है, पर ज्ञान सुधा की एक घूंट वसुधाभर के लिए सुलभ कर दी है। मैं समझता हूँ, मेरे इस अभिनन्दन में इस शोध-प्रबन्ध के पाठक भी मेरा साथ देगें। ज्ञान की ज्योति का यह एक कण अन्य ज्योतिकणों को ज्योतित करने की परम्परा स्थापित करे, यही मेरी शुभकामना है।

क० मुं० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ
आगरा विश्वविद्यालय, आगरा

विश्वनाथ प्रसाद
निदेशक

होलिकोत्सव, १९६२ (वि० सं० २०१८)

प्राक्कथन

डॉ० सरोज अग्रवाल लिखित 'प्रबोधचन्द्रोदय और उसकी हिन्दी परम्परा' को प्रकाशित देखकर मुझे प्रसन्नता होना स्वाभाविक है। यह इनका शोध-प्रबन्ध है। इसी पर इन्हें पी-एच० डी० की उपाधि आगरा विश्वविद्यालय ने प्रदान की है। इस प्रबन्ध की उत्कृष्टता का एक प्रमाण यह भी है कि इसे विश्वविद्यालय के द्वारा 'श्री सी० बी० अग्रवाल स्वर्ण पदक' प्रदान किया गया है।

'प्रबोधचन्द्रोदय' श्री कृष्ण मिश्र ने संस्कृत में लिखा था। संस्कृत के इस ग्रंथ का संस्कृत में ही महत्व स्वीकृत नहीं हुआ, हिन्दी में भी इसने अत्यन्त लोक-प्रियता प्राप्त की। इसके अनुवाद हुए, रूपान्तर हुए तथा इसकी प्रेरणा से इसकी शैली के अनुकरण में भी कितने ही ग्रथ लिखे गये। अतः इसका महत्व स्वयंसिद्ध है। प्रबोधचन्द्रोदय पहले तो नाटक है,

नाटक भी ऐसा जिसमें 'पात्र' रूपक-पात्र है—जिससे इसे 'Allegorical' नाटक कहा जा सकता है।
रूपक, आध्यात्मिक तथा धार्मिक तत्वों को मूर्तरूप देकर प्रस्तुत किया है। फलतः यह एक धार्मिक नाटक है: धार्मिक नाटक भी ऐसा कि जिसमें विविध धर्मों और सप्रदायों की आलोचना है और उनके दार्शनिक तत्वों का विवेचन भी है।

इस प्रकार इस नाटक में कितनी ही विशेषताएँ एक साथ ही प्रस्तुत कर दी गयी हैं। धर्म और दर्शन के नीरस तत्वों को कथातत्व, अभिनय तथा रस-संचार से युक्त करके सभी कोटि के व्यक्तियों के लिए इसे ग्राह्य बना दिया गया था। ऐसे अनोखेपन ने ही इसे इतना लोकप्रिय तथा अनुकरणीय बनाया।

भारतीय साहित्य के इस अमूल्य रत्न का मूल्य हिंदी के लिए भी सोलहवीं शती से चार सौ वर्षों तक अक्षुण्ण बना रहा है। इसी के अन्तर्दर्शन तथा इसकी परंपरा के स्वरूप को हृदयंगम करने कराने के लिए इस विदुषी लेखिका ने यह शोध-प्रबंध प्रस्तुत किया है और पाठक देखेंगे कि लेखिका इस प्रयत्न में सफल हुई है।

मैं आरंभ से ही लेखिका के प्रयत्नों से परिचित रहा हूं, अतः भली प्रकार कह सकता हूं कि इसने किसी भी अड़चन को अडचन नहीं माना और अपने धैर्य को

कभी नहीं छोड़ा। सामग्री प्राप्त करने के जितने भी और जैसे भी स्रोत हो सकते थे सभी तक यह पहुंच गयी है। इस सामग्री का अध्यवसायपूर्वक अध्ययन भी लेखिका ने किया है। इस संबंध में भी विविध विद्वानों से संपर्क स्थापित करने में इसने कसर नहीं छोड़ी। इस प्रकार इसने सामग्री और उसके अध्ययन को वैज्ञानिक प्रणाली से इस प्रबंध में गूंथ दिया है।मेरी तुच्छ सम्मति में तो इसने साहित्यिक अनुसंधान का एक नवीन आदर्श प्रस्तुत किया है। मैं आशा करता हूँ। कि इस कृति का हार्दिक स्वागत होगा।

सत्येन्द्र

क० मुं० हिन्दी तथा भाषा विज्ञान	एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्
विद्यापीठ आगरा विश्वविद्यालय, आगरा	कार्यवाहक संचालक

आमुख

'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक अपनी अनोखी रूपक-शैली के कारण संस्कृत-वाङमय के नाटक-साहित्य में अद्वितीय है। परन्तु आज से कुछ वर्ष पहले यह तथ्य प्रायः अज्ञात-सा था कि इस नाटक-रत्न के न केवल संस्कृत में, अपितु देश की अन्य भाषाओं में भी, अनुवाद पाये जाते हैं। मैं तो प्रारम्भ में इस नाटक की शैली पर ही मुग्ध थी, पर अध्ययन का क्रम जब कुछ आगे चला और धीरे-धीरे इसकी विशाल परम्परा में आने वाली कुछ कृतियाँ दिखाई देने लगीं तो मन में इस विषय पर अनुसन्धान करने का विचार जाग्रत हो चला। इसी अंकुरित विचार को मूर्त-रूप देने के हेतु जब इसकी परम्परागत कृतियों की खोज में मैं निरत हो गई और कुछ दिनों के उपरान्त जब हिन्दी में ही इससे प्रभावित कितनी ही रचनाओं का पता चलने लगा तो केवल 'प्रबोधचन्द्रोदय' की हिन्दी परम्परा के ऊपर अनुसन्धान-कार्य करने की प्रेरणा मिली। इसी प्रेरणा का फल प्रस्तुत अध्ययन है। प्रस्तुत-प्रबंध में रूपक शैली का विकास, रूपक नाटक प्रबोधचन्द्रोदय का अध्ययन और उसकी हिन्दी परम्परा का अध्ययन सम्पन्न किया गया है।

इस अनुसन्धान के मध्य कठिनाइयाँ भी कम नहीं आयीं। सबसे प्रमुख और जटिल समस्या थी 'प्रबोधचन्द्रोदय' के अनुवादों और रूपान्तरों की अप्रकाशित रचनाओं के संकलन की। इसके लिए मुझे अनेक पुस्तकालयों तथा संस्थाओं तक पहुँच करनी पड़ी। फलस्वरूप, कुछ हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ, अपने व्यय से, कराकर मँगानी पड़ीं, जिससे यह कार्य बहुव्यय साध्य सिद्ध हुआ। मुझे जिन महानुभावों और संस्थाओं से हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ प्राप्त करने में सहायता मिली, वे निम्न हैं:—

१. पुस्तक प्रकाश पुस्तकालय, जोधपुर।

२. अभय जैन ग्रन्थालय, बीकानेर।

३. दिगम्बर जैन क्षेत्र, श्री महावीर जी, अनुसन्धान विभाग, महावीर भवन, सवाई मानसिंह हाइवे, जयपुर।

४. नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।

दूसरी समस्या 'प्रबोधचन्द्रोदय' की परम्परा के नाटकों की थी। हिन्दी

साहित्य में, स्वतन्त्र रूप से, रूपक नाटकों पर न तो कोई अध्ययन ही किया गया है और न हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में इनके सम्बन्ध में कोई विवरण ही मिलता है। अतएव मुझे इस दिशा में स्वतन्त्र रूप से कार्य करना पड़ा है। इन नाटकों को अनेक पुस्तकालयों में निरन्तर खोज से, परिश्रम के साथ प्राप्त किया जा सका है। इस कार्य में मुझे जिन पुस्तकालयों से सहायता मिली है, वे निम्न हैं :—

१. चिरंजीव पुस्तकालय, आगरा।

२. नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा।

३. मारवाड़ी पुस्तकालय, दिल्ली।

४. आगरा विश्वविद्यालय केन्द्रिय पुस्तकालय, आगरा।

मेरी इन समस्याओं को सुलझाने में सहायता देने वाले श्री अगरचन्द्रजी नाहटा, श्री कस्तूरचन्द जी कासलीवाला तथा उपर्युक्त पुस्तकालयों के अध्यक्षों को मैं साभार धन्यवाद देती हूँ।

श्री महेचन्द्र प्रसाद जी, डा० जयदेव, श्री मोहनवल्लभ पन्त और श्री ज्ञान-दत्त जी सिद्ध ने अपनी पुस्तकें भेज कर मुझे कृतार्थ किया। अतएव मैं उनकी कृतज्ञ हूँ और साथ ही उन संस्थाओं और सज्जनों की भी, जिन्होंने बिना विलम्ब किये, मेरे प्रत्येक पत्र का उत्तर देकर मुझे प्रोत्साहित किया है।

रामस्वरूप गर्ल्स कॉलेज की प्रबन्ध समिति को मैं शत शत धन्यवाद देती हूँ, जिसने मुझे अनुसन्धान कार्य के लिए अनुमति और यथासमय अवकाश प्रदान कर सहयोग दिया।

पण्डित हरिश्चन्द्र जी विद्यालंकार, जगदेव सिंह जी सिद्धान्ती शास्त्री, पं० दीना नाथ जी शास्त्री, पं० भीमसेन जी शास्त्री, श्री सत्यानन्द जी शास्त्री, पं० मथुराप्रसाद द्विवेदी शास्त्री, पं० श्रीकान्त पाण्डेय और पं० सुखदेव जी शास्त्री ने संस्कृत साहित्य से सम्बन्धित प्रकरण पर अपने शुभ परामर्श देकर मुझे कृतार्थ किया है, इन विद्वानों की मैं सदा ऋणी रहूँगी।

कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ के संचालक डा० विश्वनाथ प्रसाद के सुयोग्य संचालन में प्राप्त समस्त सुविधाओं से मैंने पर्याप्त लाभ उठाया है अब उन्होंने पुस्तक के लिए भूमिका लिखकर जो विशेष कृपा की है तदर्थ मैं उनकी सदैव अनुगृहीता रहूँगी। श्रीयुत उदयशंकर जी शास्त्री ने भी उचित परामर्ष, उपयोगी सूचनाएँ देकर मुझे सहायता पहुँचाई। अतः वे एवं हिन्दी विद्यापीठ आगरा विश्वविद्यालय के पुस्तकालयाध्यक्ष तथा अन्य कर्मचारी भी मेरे धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने मेरे अनुसन्धान के निमित्त मुझे सभी सुविधाएँ प्रदान कीं!

डा० हजारी प्रसाद जी द्विवेदी, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, डा० दशरथ ओझा, डा० उदयभानु सिंह, डा० विजयेन्द्र स्नातक, डा० गोपीनाथ तिवारी, डा० भगीरथ मिश्र, डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, डा० सोमनाथ गुप्त, डा० ओम प्रकाश गुप्त, डा० के० एन० दुबे 'यतीन्द्र', डा० सुधीर कुमार गुप्त, डा० राजकुमार जैन, श्री पं० धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार तथा श्री एस० वी० पन्त (पिलानी) को समय समय पर मुझे उचित परामर्श देकर लाभान्वित करने के हेतु मैं अपना हार्दिक धन्यवाद देती हूँ।

इस विशाल परम्परा का यह अध्ययन जो दो वर्ष की अल्प अवधि में सम्पन्न हो सका है उसका समस्त श्रेय पूज्य डा० श्री सत्येन्द्र जी के आदर्श एवं सहानुभूति-पूर्ण निर्देशन को ही है। अनेक कठिनाइयों के सामने आने पर उन्होंने मुझे कभी निराश और हतोत्साह नहीं होने दिया और परिश्रम से शोधकार्य में निरत रहने की पवित्र प्रेरणा देकर उसे शीघ्र सम्पन्न करने का साहस दिया इसके अतिरिक्त मेरी प्रार्थना पर डा० साहब ने इस पुस्तक का भावपूर्ण प्राक्कथन लिखकर जो अनुग्रह किया है उसके लिए मैं सदैव उनकी आभारी रहूँगी।

'प्रबोध चन्द्रोदय और उसकी हिन्दी परम्परा' पुस्तक मूलरूप में आगरा विश्व-विद्यालय की पी० एच० डी० की उपाधि के लिए प्रबन्ध (Thesis) रूप में प्रस्तुत की गई थी, उसी को यथास्थान संशोधित कर अब प्रकाशित कराया जा रहा है।

मेरी प्रार्थना पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के अधिकारी गण इस पुस्तक को प्रकाशित करने के लिए सहर्ष तैयार हो गये। जिस प्रयास और तत्परता के साथ सम्मेलन ने पुस्तक को प्रकाशित किया है उसके लिए मैं सम्मेलन के आदाता महोदय श्रीयुत जगदीश स्वरूप और अन्य कार्यकर्ताओं को धन्यवाद देना अपना परम कर्त्तव्य समझती हूँ।

—सरोज अग्रवाल

प्रबन्ध के संकेत और संक्षेप

अ०	– अध्याय
का०	– कारिका
द० रू०	– दशरूपक
ना० शा०	– नाट्यशास्त्र
प०	– परिच्छेद
पृ०	– पृष्ठ
प्र० च०	– प्रबोधचन्द्रोदय
पू० भा० ना० साहि०	– पूर्व भारतेन्दु नाटक साहित्य
भा० का० ना० साहि०	– भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य
सा० द०	– 'साहित्य-दर्पण'
हि० ना० सा० इति०	– हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास
हि० सा० इति०	– हिन्दी साहित्य का इतिहास
हि० ना० उद० वि०	– हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास

विषय सूची

तृतीय अध्याय : अनुच्छेद १०६–४१६

चतुर्थ अध्याय : अनुच्छेद ४१७–४३०

प्रथम अध्याय

प्रबोधचन्द्रोदय का रचयिता और उसका इतिवृत्त

कृष्ण मिश्र

संस्कृत के सुप्रसिद्ध नाटक प्रबोधचन्द्रोदय ने अपने जन्मकाल से ही साहित्यिकों और धार्मिकों को अत्यन्त प्रभावित किया और इसी कारण यह अनेक भाषाओं में अनूदित भी हो चुका है। प्रबोधचन्द्रोदय के रचयिता कृष्ण मिश्र हैं। इतिहासों और अनुवादों में प्रबोधचन्द्रोदय के रचयिता का नाम 'श्रीकृष्ण मिश्र' ही मिलता है।[1] प्रबोधचन्द्रोदय की उपलब्ध प्रतियों[2] की प्रस्तावना में सूत्रधार ने नाटक के रचयिता का नाम कृष्ण मिश्र ही लिया है। प्रबोधचन्द्रोदय के हिन्दी अनुवादों में द्वैध है। कुछ में नाम कृष्ण मिश्र है, कुछ में कृष्ण भट्ट।[3] 'भट्ट' शब्द सम्भवतः विद्वान पण्डित के अर्थ में लिख दिया गया है।[4] इस प्रकार अन्तरंग और बहिरंग

---

१. नाटककार के समय पर विचार करते हुए इतिहासों और अनुवादों के नाम दिये हैं।

२. (१) चौखम्बा बनारस, (२) निर्णय सागर प्रेस, (३) त्रिवेन्द्रम सीरीज प्रस्तावना-सूत्रधार—ततो यत्पूर्वमस्मद्गुरुभिस्तत्रभवद्भिः श्री कृष्णमिश्रैः प्रबोध चन्द्रोदयं नाम नाटकं निर्माय भवतः समर्पितमासीत्।

३.

मिश्र नाम	भट्ट नाम	नाम नहीं है
१. महेशचन्द्र प्रसाद, पृ० २	१. मल्ह कवि, पृ० १	१. जसवन्त सिंह
२. कार्ष्णि गोपालदास, पृ० १०	२. ब्रजवासीदास, पृ० २	२. अयोध्याप्रसाद चौधरी
३. गुलाब सिंह, पृ० ४		
४. भुवदेव दुबे, पृ० ३		

४. भट्ट शब्द के अर्थ हिन्दी विश्वकोश में निम्न प्रकार से दिये हैं—(१) जाति विशेष (ब्रह्मवैवर्त पु० ब्रह्म : ब १० अ०), (२) स्वामित्व, (३) वेदाभिज्ञ, (४) पण्डित, (५) योद्धासूर, (६) भाट, (७) ब्राह्मणों की एक उपाधि, (८) महाराष्ट्र ब्राह्मणों की एक उपाधि। इसके धारण करने वाले दक्षिण भारत मालव

प्रमाणों से यह सिद्ध है कि प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के रचयिता का नाम कृष्णमिश्र ही है।

कृष्ण मिश्र का व्यक्तित्व

२. प्रबोधचन्द्रोदय जैसे महान् ग्रन्थ (नाटक) का प्रणयन करने वाले कृष्ण मिश्र का व्यक्तित्व अवश्य ही महान् रहा होगा। उनकी विद्वत्ता, पाण्डित्य और निरीक्षण शक्ति अवश्य ही अपूर्व रही होगी, तभी वह सामयिक धर्म दर्शन से समन्वित भावात्मक रूपक शैली के नाटक की नूतन उद्भावना कर सके। उनकी मेधा-शक्ति तीक्ष्ण थी। उनमें निर्भीक आलोचना की गहन गम्भीर प्रतिभा थी और साथ ही समाज-हितैषिणी भावना भी विशेष रूप से बलवती थी। समाज के धार्मिक, चारित्रिक पतन से उनको जो मर्मान्तिक पीड़ा थी, वह प्रबोधचन्द्रोदय के समसामयिक वर्णनों से स्पष्ट है।

३. कृष्ण मिश्र का यह विलक्षण व्यक्तित्व तो था ही, वह एक श्रेष्ठ गुरुपूज्य भी थे। उनको सूत्रधार प्रबोध चन्द्रोदय की प्रस्तावना में गुरुपूज्य स्वीकार करता है।[1] इसके अतिरिक्त मिश्र के सम्बन्ध में जो किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं उनमें भी वह तपस्वी,[2] परम विद्वान[3] और हितैषी गुरु के रूप में प्रसिद्ध हैं। इन्हीं किंवदन्तियों

आदि कई प्रान्तों में पाये जाते हैं। (९) महाराष्ट्र ब्राह्मण भट्ट--१. मोक्षपद मीमांसा के प्रणेता। २. आलंकारिक, अलंकार सर्वस्व में उनका नामोल्लेख है। ३. संस्कृतज्ञ और वेदपारंग ब्राह्मणों की उपाधि।

--हिन्दी विश्वकोश, भाग १५, नगेन्द्र वसु (१९२८)।

१. सं० प्रबोधचन्द्रोदय प्रस्तावना, प्रथम अंक, पृ० ६--
"अस्मदगुरुभिस्तत्रभवद्भिः श्रीकृष्णमिश्रैः।"

२. मल्ह कवि, पृ० २।
"गंगा सागर पहुंचे जाय। तहं कोइ रह्यो समाधि लगाय।

३. (क) नानकदास, पृ० १।
तहा रहे कृष्णदास भट नाम, अति प्रवीन पंडित गुन ग्राम।।
परम विवेकवान हरि भगत, अहि निश कृष्ण भगति आसकत।।
तिनका एक शिष्य था मूढ, जो वनकर चंचल वडह हूड।।
× × ×
कृष्णदास भट थे परवीने। शास्त्र पुरान सभै जिन चीने।।

(ख) ब्रजवासी दास, पृ० २।
परम दयाल दीन हितकारी। जीवन को पूरण चित कारी।।
शिष्यन करैं ज्ञान उपदेशा। जनम मरन जिहि मिटैं कलेशा।।
मोह तिमिरनाशक जिमि धामा। कृष्णदासभट अस ता नामा।।

के आधार पर (प्र० च० का उद्देश्य बताते समय), उनके सम्बन्ध में, हिन्दी अनुवादकों ने गुरु-शिष्य की कथा एवं तपस्वी होने की कथा का संकेत किया है।

कृष्ण मिश्र का निवास-स्थान

४. कृष्ण मिश्र के निवास-स्थान के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक विवरण उपलब्ध नहीं होता। अतः असन्दिग्ध शब्दों में यह कह सकना कठिन है कि उन्होंने अपने जन्म से किस प्रदेश को अलंकृत किया था। 'प्रबोधचन्द्रोदय' के टीकाकारों और अनुवादकों ने यद्यपि अनुश्रुतियों और अन्तःसाक्ष्य आदि के आधार पर कृष्ण मिश्र के निवास-स्थान के सम्बन्ध में कल्पनाएँ की हैं, परन्तु उनकी कल्पनाएं अज्ञान और जातीय तथा प्रान्तीय पक्षपात की दुर्बल भित्ति का सहारा लेने के कारण केवल कल्पनाएँ ही रह गई हैं, अतएव वे ग्राह्य भी नहीं हो सकतीं। फिर भी यह समझकर कि सम्भव है इन लोगों के मतों को समीक्षा से कोई ऐसा सूत्र पकड़ में आ जावे जिससे हम मिश्र जी के निवास-स्थान के सम्बन्ध में कुछ निश्चित संकेत दे सकें। अनुवादकों और टीकाकारों के एतत् सम्बन्धी मतों की समीक्षा कर लेनी आवश्यक है।

५. 'प्रबोधचन्द्रोदय' के हिन्दी अनुवादकों में से मल्ह कवि,[1] ब्रजवासी दास[2] और नानकदास[3]—आदि ने कृष्ण-मिश्र को दक्षिण का निवासी बतलाया

(ग) निर्णय सागर प्रेस से प्रकाशित—प्रकाश और चन्द्रिका व्याख्या संस्कृत टीका, पृष्ठ १।

१. मल्ह कवि–प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ ३।

..........., नट पयान दछिन दिस कीयो।
गंगासागर पहुंचे जाय, तहां कोइ रह्यो समाधि लगाय॥

× × ×

कृश्नभट्ट कौ आयसु लयौ, तव पांय लाग्यौ विदा नट भयौ॥

२. ब्रजवासीदास, प्र० च० अ०, पृ० २।

दक्षिनभूमिभयौ एक पण्डित।
भक्ति ज्ञान विद्या गुणमण्डित॥

× × ×

कृष्णदास भट अस ता नामा॥

३. नानकदास, प्र० च० अ०, पृष्ठ १।

है और साथ ही उन्हें 'मिश्र' के स्थान पर 'भट्ट' की उपाधि से विभूषित किया है।

६. ब्रजवासी दास ने तो उन्हें केवल दक्षिण का निवासी मान कर ही सन्तोष कर लिया है, किन्तु मल्ह कवि और नानकदास, क्रमशः गंगा सागर और अवन्ती नगरी का भी इस सम्बन्ध में उल्लेख करना नहीं भूले। परन्तु विचार करने पर पता चलता है कि उक्त तीनों ही अनुवादकों ने केवल अनुमान की शरण लेकर मिश्र जी को दक्षिण का निवासी माना है क्योंकि आज तक ऐसा एक भी प्रमाण उपलब्ध नहीं हो सका जो मिश्र जी को दाक्षिणात्य सिद्ध करता—उसके विपरीत जैसा कि हम आगे देखेंगे उनके उत्तर भारत का निवासी होने की अधिक संभावनाएं हैं। प्रतीत होता है कि जिस किसी सूत्र से प्राप्त मिश्र जी की मिथ्या 'भट्ट' उपाधि के आधार पर उपरोक्त महानुभावों ने उन्हें दक्षिण का निवासी मान लिया।

७. प्र० च० के अंग्रेजी अनुवादक जे० टेलर महोदय कृष्ण मिश्र को मगध के राजा कीर्तिवर्मा जो कि ईसा की ७वीं शताब्दी में वर्तमान था, का आश्रित राज-कवि मानकर उन्हें मिथिला का निवासी मानने के पक्ष में हैं।[1] परन्तु जैसा कि हम 'कृष्ण मिश्र का समय' शीर्षक में देखेंगे—जे० टेलर महोदय का कृष्ण मिश्र को मगध के कीर्तिवर्मा का आश्रित सिद्ध करना, उनकी भूल है, क्योंकि इतिहास के पृष्ठों से यह तथ्य प्रमाणित हो चुका है कि कीर्तिवर्मा जिसके आश्रय में कृष्ण मिश्र रहे—बुन्देलखण्ड का चन्देलवंशी राजा था और उसका स्थिति काल ७वीं शताब्दी न होकर ११वीं ई० शताब्दी है। अतः मगधराज के आश्रय में रहने के कारण मिश्र जी मिथिला या मगध के थे—जे० टेलर महोदय का यह मत पुष्ट प्रमाणों के अभाव में स्वतः धराशायी हो जाता है।

८. जे० टेलर महोदय के ही आधार पर प्रस्तुत किया गया एक मत हिन्दी अनुवादक महेशचन्द्र प्रसाद का है जिसमें उन्होंने मिश्र जी को 'मकबनी' स्थान का निवासी बतलाया है।[2] परन्तु टेलर महोदय के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका की जो

दक्षण देश अवंती नगरी, जांकी प्रजा धरम रत सगरी।।
तहाँ रहे कृष्णदास भट नाम, अति प्रवीन पंडित गुन ग्राम।।

१. Introduction, page 1.

"——This work was written by Krishana Misra of Maithila, one of greatest scholars and philosophers of his time. . ."

२. महेशचन्द्र प्रसाद——भूमिका, पृष्ठ २।

"टेलर साहब, जिन्होंने इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया है लिखते हैं कि ग्रन्थ-

प्रतिलिपि हमारे पास है उसमें कहीं भी 'मकवनी' स्थान का निर्देश उपलब्ध नहीं होता। सम्भव है, अपने अनुवाद में कहीं अन्यत्र उन्होंने इस सम्बन्ध में कुछ लिखा हो। परन्तु अनुवाद के अभाव में इस मत की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कुछ कहा नहीं जा सकता।

९ ऊपर के ही मत से मिलता-जुलता एक दूसरा मत 'प्रबोधचन्द्रोदय' के हिन्दी अनुवादक श्री विजयानन्द जी त्रिपाठी का है। उनके मतानुसार मिश्र जी सरयूपार के 'मधुबनी' गांव के सरयूपारीण ब्राह्मण थे। 'चेतसिंह विलास' और 'तवारीख बनारस' नामक पुस्तकों के आधार पर उनका यह भी कहना है कि वे काशी के तत्कालीन राजा 'यवनारि' के यज्ञ में आहूत होकर आए थे और राजा के द्वारा 'दातृपुर' नामक एक गांव, धोखे में उन्हें देने पर, उन्होंने क्रुद्ध हो कर राजा को राज्यभ्रष्ट होने और भविष्य में अपने वंशधरों के द्वारा काशी के राज्य का उपभोग किये जाने का शाप दे दिया। इसके अनन्तर मिश्र जी दातृपुर में ही रहने लगे। उन्होंने आगे चलकर यह भी बताया है कि बनारस के वर्तमान महाराज मिश्र जी की पुत्री के वंशज हैं।[१]

१०. त्रिपाठी जी ने अपने मत के समर्थन में 'चेतसिंह विलास' और 'तवारीख बनारस' नामक जिन पुस्तकों की चर्चा की है वे मुझे खोजने पर भी न मिल सकीं। परन्तु त्रिपाठी जी द्वारा दिया गया उपर्युक्त वर्णन यदि उन्हीं पुस्तकों के आधार पर दिया गया है तो यह निश्चय है कि पुस्तकें अप्रामाणिक हैं। क्योंकि आज तक मुझे किसी भी प्रामाणिक ऐतिहासिक ग्रन्थ में उपरोक्त विवरण नहीं मिला है। इसलिये त्रिपाठी जी का मत अप्रामाणिक होने के कारण ग्राह्य नहीं है।

११. पं० रामचन्द्र मिश्र ने 'प्रबोध चन्द्रोदय' की भूमिका में इस सम्बन्ध में अपना मत प्रस्तुत करते हुए उन्हें 'बिहार' का निवासी माना है। उनके विचार में 'प्रबोधचन्द्रोदय' में निर्दिष्ट अन्तःसाक्ष्य के आधार पर मिश्र जी का बिहार-वासी होना सिद्ध है।[२] रामचन्द्र जी का यह मत कुछ प्रामाणिकता की सीमा का स्पर्श करने के कारण विचारणीय है।

१२. जैसा कि हमने ऊपर के विवेचन में देखा है, मिश्र जी के निवास-स्थान के सम्बन्ध में जितने भी मत प्रतिपादित किये गये हैं, अधिकांश में उनका आधार

कार का निवास तिर्हुत और हिन्दुस्तान को नेपाल से पृथक् करने वाली पर्वत-श्रेणी के मध्य-स्थित वर्त्तमान "मकवनी" नामक स्थान में था।"

१. विजयानन्द त्रिपाठी—प्र० च० अ० भूमिका, पृष्ठ ६।

२. रामचन्द्र मिश्र—प्रबोधचन्द्रोदय की भूमिका, पृष्ठ ३।

किंवदन्तियाँ और अनुमान ही रहे हैं। हमने यह भी देखा है कि उपरोक्त मतों से हम किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सके। इस अवस्था में हमें यदि कहीं से सहायता की आशा हो सकती है तो वह है प्रबोधचन्द्रोदय का अन्तःसाक्ष्य। वस्तुतः प्रत्येक कवि अपने जीवन की परिस्थितियों और अपने चारों तरफ के वातावरण से प्रभावित होकर किसी न किसी रूप से उनका अंकन अपनी कृति में करता है। अतः यदि मिश्र जी की निवास-भूमि के सम्बन्ध में उनकी कृति के अन्तःसाक्ष्य से कोई प्रकाश पड़ता है, तो कोई आश्चर्य नहीं।

१३. 'प्रबोधचन्द्रोदय' में कृष्ण मिश्र ने राढा, गौड़, काशी, उत्कल, 'गंगातट का चक्रतीर्थ और मन्दार तथा शालिग्राम क्षेत्र आदि स्थलों का वर्णन किया है।[1] इन स्थानों में प्रथम दो का सम्बन्ध आज के बंगाल से, तीसरे का उत्तर प्रदेश से, चौथे का उड़ीसा और पांचवें तथा छठें का सम्बन्ध बिहार से है। इन स्थानों के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि कृष्ण मिश्र इन चारों प्रान्तों से परिचय रखते थे। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हम इसी अध्याय के 'कृष्ण मिश्र का समय' शीर्षक के अन्तर्गत

---

१. (क) गौड़ और राढा--द्वितीय अंक, श्लोक ७, पृष्ठ ५१।
अहंकार--गौडं राष्ट्रमनुत्तमं निरुपमा तत्रापि राढापुरी।
(ख) काशी--द्वितीय अंक, श्लोक १२, पृष्ठ ५८।
दम्भ--विद्याप्रबोधोदयजन्मभूमिर्वाराणसी ब्रह्मपुरी निरत्यया।
(ग) उत्कलदेश--द्वितीय अंक, गद्य पंक्तियाँ, पृष्ठ ७४।
पुरुष--अहमुत्कलदेशादागतोऽस्मि।
(घ) चक्रतीर्थ--चौथा अंक, गद्य पंक्तियां, पृष्ठ १३७-३८।
श्रद्धा--देव्या एतदेवमुक्तम्। अस्ति राढाभिधानो जनपदः। तत्र भागीरथीपरिसरालंकारभूते चक्रतीर्थे मीमांसानुगतया।
(ङ) मन्दार--छठा अंक, गद्य पंक्तियां, पृष्ठ २१५, २३१।
श्रद्धा--यथा मन्दाराभिधाने शैले विष्णोरायतने देव्यां गीतायां।
× × ×
उपनिषद्--ततो मन्दारशैलोपकल्पितस्य मधुसूदनायतनस्य नातिदूरे।
(च) शालिग्राम क्षेत्र--अंक पांच, गद्य पंक्तियाँ, पृष्ठ १६८।
श्रद्धा--आदिष्टास्मि देव्या विष्णुभक्त्या। वत्से श्रद्धे, अहमत्र हिंसाप्रायसमरदर्शनपराङ्मुखी। तेन वाराणसीमुत्सृज्य शालिग्रामाभिधाने भगवतः क्षेत्रे कंचित्कालमतिपालयामि

देखेंगे, कृष्ण मिश्र का आश्रयदाता कीर्तिवर्मा का भी राज्य उत्तर भारत के बुन्देलखण्ड में ही था। इसलिए यह बहुत ही सम्भव है कि कृष्ण मिश्र उत्तर भारत के बंगाल, उड़ीसा, बिहार और उत्तर प्रदेश में से किसी एक प्रान्त से सम्बन्धित रहे हों। परन्तु गौड़ और राढा (बंगाल) के प्रति उनकी दुर्भावनाएं[1] और बिहार—शालिग्राम क्षेत्र और मन्दार—के प्रति अधिक पक्षपात[2] से अधिक संभावना इसी बात की है कि शालिग्राम क्षेत्र—जो कि आज के मिथिला जनपद के अन्तर्गत गण्डकी नदी के तट पर है—के निवासी रहे हों।

कृष्ण मिश्र का समय

१४. 'प्रबोधचन्द्रोदय' के रचयिता श्री कृष्ण मिश्र ने अपने ज्ञाति-जनों तथा जन्म-काल के सम्बन्ध में कहीं भी संकेत नहीं दिया है। उनकी कृति 'प्रबोधचन्द्रोदय' के कालान्तर में किये गये अनुवादों एवं उससे प्रभावित अन्य रचनाओं तक में उनके समय के सम्बन्ध में किसी प्रकार का संकेत नहीं मिलता। कृष्ण मिश्र के समसामयिक उपलब्ध शिलालेखों तथा अन्य ऐतिहासिक विवरणों में भी उनके जीवन का कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता है। कृष्ण मिश्र विषयक सभी उल्लेखों में केवल नाटककार का नाम देकर पुस्तक की प्रशंसामात्र की गई है। इन प्रशंसात्मक अल्प-संकेतों के द्वारा केवल उस शताब्दी का पता लग जाता है जिसमें कि कृष्ण मिश्र जीवित रहे होंगे। शेष सभी तथ्य अज्ञात ही रह जाते हैं। फिर भी 'प्रबोधचन्द्रोदय' के अन्त:साक्ष्यों और शिलालेखों में उपलब्ध विवरणों की समीक्षा से हम उनके जीवन-काल की सीमा निर्धारित करने में समर्थ हो सकते हैं।

१५. कृष्ण मिश्र के जीवन-काल के सूचक जो भी संकेत आज तक उपलब्ध हो चुके हैं, उन्हें हम मुख्यत: दो वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—(क) अन्त:साक्ष्य और (ख) बहि:साक्ष्य।

---

१. देखिये—प्रबोधचन्द्रोदय, अंक १, श्लोक ७, पृष्ठ ५१।

'गौड़ और राढा' के प्रति कृष्ण मिश्र की दुर्भावना का पता उनके उस वाक्य से लगता है जिसमें उन्होंने गौड़ और राढा को अहंकार की जन्म-भूमि बतलाया है।

२. मिश्र जी ने शालिग्राम क्षेत्र में विष्णु भक्ति के कुछ काल तक निवास करने और मन्दार पर्वत पर स्थित विष्णु-आयतन में रहने वाली गीता देवी में उपनिषद देवी के आश्रय ग्रहण करने का वर्णन करने के कारण शालिग्राम क्षेत्र और मन्दार पर्वत के प्रति अपना आदर भाव प्रकट किया प्रतीत होता है।

—प्रबोधचन्द्रोदय, अंक चौथा, पृष्ठ १३८

तथा छठा अंक, पृष्ठ २१५, २३१।

१६ (क) अन्तःसाक्ष्य—के अन्तर्गत हम कृष्ण मिश्र की उपलब्ध एकमात्र कृति 'प्रबोधचन्द्रोदय' में उपलब्ध संकेतों को ही लेते हैं। प्रस्तुत नाटक की प्रस्तावना में ही लेखक ने उस राजा का उल्लेख किया है जिसकी सभा में नाटक का अभिनय किया गया था। इस ऐतिहासिक उल्लेख के आधार पर नाटक के रचना-काल और रचयिता के जीवन-काल के निर्णय की चेष्टा की गई है। यह उल्लेख है—राजा कीर्तिवर्मा का, उसके सहायक गोपाल का तथा उसके शत्रु चेदिपति कर्ण का। कीर्तिवर्मा का राज्य राजा कर्ण के द्वारा छीन लिया गया था, उसे ही गोपाल ने अपने बाहुबल से जीता और कीर्तिवर्मा को उसके राजा के रूप में पुनः अभिषिक्त किया। 'येन भूयोऽभ्यषेचि' के 'भूयः' पद से कीर्तिवर्मा के पुनः अभिषिक्त किये जाने और 'अभ्यषेचि' इस भूतकालीन क्रिया से नाटक निर्माण के पूर्व ही उसके अभिषेक का बोध होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि कीर्तिवर्मा के नये राज्याभिषेक के उपलक्ष्य में ही गोपाल की आज्ञा से इस नाटक का प्रणयन और अभिनय हुआ होगा।[1] इसके अतिरिक्त कीर्तिवर्मा के पूर्वजों के लिये 'चन्द्रान्वय भूषणानाम्' और कर्ण के लिये 'चेदिपतिना' जैसे विशेषण भी इस नाटक में प्रयुक्त हुए हैं—जिसके आधार पर जैसा कि हम आगे के पृष्ठों में देखेंगे—विद्वानों ने कीर्तिवर्मा को 'चन्देलवंशी' और कर्ण को 'चेदिराज' माना है।

१७. (ख) बहिःसाक्ष्य—बहिःसाक्ष्य के अन्तर्गत हम उन प्रमाणों को लेते हैं जो शिला-लेखों और दान-पत्रों के रूप में राजा कीर्तिवर्मा और कर्ण के युद्ध तथा उनके राज्य आदि के सम्बन्ध में विवरण प्रस्तुत करते हैं। इनमें शिला-लेख तो कीर्तिवर्मा से सम्बन्ध रखते हैं और दानपत्र कर्ण से। इन उपलब्ध सभी शिला-लेखों और दानपत्रों का कालक्रमानुसार संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जा रहा है।

१८. कीर्तिवर्मा से सम्बन्धित शिला-लेख—(१) कालिंजर के नीलकण्ठ मन्दिर में उत्कीर्ण २० पंक्तियों के शिला-लेख जो कि १०९० ई०

---

१. हमें गोपाल की आज्ञा से नाटक के अभिनय का संकेत नाटक की प्रस्तावना ही में मिलता है—यथा—आदिष्टोऽस्मि....श्रीमता गोपालेन।

......ततो यत्पूर्वमस्मद्गुरुभिस्तत्रभवद्भिः श्रीकृष्णमिश्रैः प्रबोधचन्द्रोदयं नाम नाटकं निर्माय भवतः समर्पितमासीत् तदद्य राज्ञः श्रीकीर्तिवर्मणः पुरस्तादभिनेतव्यं भवता।

—प्रबोधचन्द्रोदय, प्रथम अंक, पृष्ठ ४–७।

का है, की एक से सात तक की पंक्तियों में स्पष्ट रूप से कीर्तिवर्मा का उल्लेख मिलता है।[१]

(२) कीर्तिवर्मा का दूसरा शिला-लेख देवगढ़ में मिला है जो कि १०९८ ई० का है। इसके पांचवें श्लोक में कीर्तिवर्मा को चन्देलवंशी विद्याधर का पोता तथा विजयपाल का पुत्र बतलाया गया है। कीर्तिवर्मा के मंत्रियों में एक मुख्य मन्त्री वत्सराज था जिसने कीर्तिगिरि नामक किला और वत्सराज घाट का निर्माण कराया था। इसकी भी सूचना इसी शिला-लेख से मिलती है।[२]

(३) अजयगढ़ के वीरवर्मा सन् १२६१ ई० के शिला-लेख में भी कीर्तिवर्मा का उल्लेख पाया जाता है। इसमें कीर्तिवर्मा के सम्बन्ध में लिखा है कि उसने कर्ण को हराया था। परन्तु कीर्तिवर्मा के द्वारा कर्ण के हराये जाने की तिथि का कोई उल्लेख नहीं।[३]

(४) महोबे में कीर्तिवर्मा का बिना तिथि का शिला-लेख भी मिला है।[४] उसमें कीर्तिवर्मा के द्वारा कर्ण के हराये जाने का उल्लेख स्पष्ट रूप से अलंकारिक शैली में किया गया है।

(५) मदन वर्मा के मऊ वाले शिला-लेख में जो कि बिना तिथि का है, कीर्तिवर्मा के पश्चात् राज्य का अधिकारी होने का उल्लेख है।[५]

कर्ण से सम्बन्धित दो दानपत्र

१९. प्रथम दानपत्र १०४२ ई० का बनारस से मिला है, जिसमें अपने पिता के श्राद्ध के अवसर पर उसने प्रयाग में त्रिवेणी में स्नान कर काशी के आसपास की भमि का दान किया—ऐसा उल्लेख है।[६] दूसरा दानपत्र जो कि कलचुरी वंश

---

१. Annual Report of the Archaeological Survey of India, page 93.

२. IA. Vol. XVIII, p. 238, Line 2-3.

३. EI, Vol. I, p. 327-29, Plate No. XXXVIII.

४. EI. Vol. I, p. 219-22.

५. EI. Vol. I, p. 198, V. 7.

६. (a) BI., Vol. II, pp. 297 ff.

(b) Inscriptions of Kalachuris of Tripuri, p. 28-39, No. 48, Plate XXXVIII.

के यशःकर्ण (कर्ण का पुत्र) का १०७२–७३ ई० का है। यह बतलाता है कि अपने पिता लक्ष्मी कर्ण की ही तरह यशःकर्ण ने भी काशी में दान दिया था।[१]

(२०) इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिनसे अन्य राजाओं के द्वारा कर्ण के हराये जाने का पता चलता है।[२] वे प्रमाण निम्नलिखित हैं—

(१) विल्हण के 'विक्रमांकदेव चरित' के सर्ग १, श्लोक १०२ से कल्याणी के प्रथम सोमेश्वर (१०४०–६९ ई०) के द्वारा हराये जाने का पता चलता है।[३]

(२) नागपुर प्रशस्ति के अनुसार भोज के उत्तराधिकारी (१०५९–८७ ई०) उदयादित्य परमार ने कर्ण को पराजित किया था।[४]

(३) वैयाकरण हेमचन्द्र ने लिखा है कि भीमदेव (प्रथम) चालुक्य (१०२१-६४ ई०) ने कर्ण को हराया था।[५]

(४) बंगाल के विग्रहपाल (१०५५–८१ ई०) ने कर्ण को पराजित किया था।[६]

२१. इन चारों राजाओं के द्वारा कर्ण के परास्त होने के प्रमाण के आधार पर चन्देल इतिहास में कर्ण के पराजय का काल १०६० से १०६४ ई० के आसपास का स्वीकार किया गया है।[७]

२२. उपर्युक्त अन्तःसाक्ष्य और बहिःसाक्ष्य के प्रमाणों को आधार बनाकर विभिन्न विद्वानो एवं ऐतिहासिक ग्रन्थों ने कीर्तिवर्मा और कर्ण के समय निर्णय के सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार प्रस्तुत किये हैं—

(१) श्री आर० सी० मजूमदार के मत में कीर्तिवर्मा के चन्देल राज्य का अधिकारी बनने का समय १०७३ ई० के कुछ पूर्व है।[८] कीर्तिवर्मा का शत्रु कलचूरि

---

१. (a) EI. Vol. XII, p. 205.

(b) Inscriptions of Kalachuris of Tripuri, p. 289, No. 56. Plate XIV.

२. The Dynastic History of Northern India-H.C. Ray, p. 699.

३. Vikramanka-deva-carita I, 102-103.

४. EI, Vol. II, p. 185-85, Vs. 32-34.

५. EI. Vol. II, p. 303.

६. Ramacarita, MASB, Vol. III, p. 22.

७. History of Chandalla—N. S. Bose, p. 78.

८. The Struggle for Empire—R. C. Majumdar, Vol. V, p. 58.

राज्य का अधिकारी चेदिवंशी कर्ण था तथा इस पर विजय सामन्त गोपाल के पराक्रम से हुई थी।

(२) केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया में चन्देल राजा कीर्तिवर्मा का राज्य १०४९ से ११०० ई० स्वीकार किया गया है।[१]

(३) श्री केशवचन्द्र मिश्र ने लिखा है कि कीर्तिवर्मा ने १०६० से ११०० ई० तक ४० वर्ष के लगभग राज्य किया था।[२] उसके समय के कई अभिलेख मिले हैं—एक तो सन् १०९८ ई० का है और दूसरे पर तिथि नहीं है।

(४) हिन्दी विश्वकोश में श्री नगेन्द्रनाथ वसु लिखते हैं कि कीर्तिवर्मा ने १०५० ई० से १०९८ ई० तक राज्य किया था।[३] उसका अपना यह राज्य वीर सामन्त गोपाल से मिला था।

(५) आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया के अनुसार १०६५ ई० में कीर्तिवर्मा ने विजय महोत्सव आयोजित किया था, जिसमें कि 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक का अभिनय बड़े उल्लास के साथ किया गया था।[४]

(६) डा० जयदेव ने प्रबोधचन्द्रोदय का रचनाकाल और श्री कृष्ण मिश्र का समय ग्यारहवीं ई० श० उत्तरार्द्ध १०८० ई० स्वीकार किया है।[५]

(७) डा० कीथ महोदय ने कीर्तिवर्मा का राज्यकाल १०९८ ई० के लगभग बताया है।[६] क्योंकि कीर्तिवर्मा का एक शिला-लेख इस तिथि का प्राप्त होता है,

---

१. The Cambridge History of India, Vol. III, p. 510. ——Gangeyadeva Kalachuri of Chedi...his son Karnadeva, ... Some years later Karnadeva suffered several defeats at the hands of his enemies, the chief of whom were Kirtivarman Chandol, who reigned from 1049 to 1100.

२. चन्देल और उनका राजत्व काल—श्री केशवचन्द्र मिश्र, पृष्ठ १०६।

३. हिन्दी विश्वकोश—श्री नगेन्द्रनाथ वसु, चतुर्थ भाग, पृष्ठ ७६१।

४. The Oxford History of India—Third Edition, Chapter 2, page 203.

५. Thesis of Dr. Jai Dev, page 203.
"——The play commemorates the victory of Kirtivarman over Lakshmi Karna and must have been written immediately after that event. Therefore the date of composition of the play cannot be later than 1080. A. D.

६. Sanskrit Drama—Keith, page 251.

इसके अतिरिक्त अन्य सूत्रों से यह भी ज्ञात होता है कि कीर्तिवर्मा का शत्रु चेदिराज कर्ण १०४२ ई० में जीवित था, उसने राज्य के प्रारम्भ काल में कीर्तिवर्मा को पराजित किया था। किन्तु कीर्तिवर्मा ने 'गोपाल' के पराक्रम से उसे पुनः प्राप्त कर लिया था।

(८) बलदेव उपाध्याय के मत में कीर्तिवर्मा का शत्रु चेदिराज कर्ण १०४२ ई० में जीवित था।[१] कीर्तिवर्मा ने सेनापति गोपाल की सहायता से कर्ण को पराजित किया था। अतः ग्यारहवीं ई० श० नाटक का रचनाकाल सम्भव है।

(९) प्रबोधचन्द्रोदय के अंग्रेज़ी अनुवादक जे० टेलर महोदय ने कीर्तिवर्मा को मगध का राजा माना है। उनके मतानुसार उसके समय में बुद्ध मत का पतन हो रहा था, जिसकी चर्चा प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में भी है। इस कीर्तिवर्मा का राज्य-काल ६४८ ई० में था।[२]

(१०) हिन्दी अनुवादक विजयानन्द त्रिपाठी ने कीर्तिवर्मा को कालिंजराधिपति विजयपाल का पुत्र बताया है। यह कीर्तिवर्मा चन्देलवंशी था और उसके सेनापति का नाम गोपाल था। इसका राज्यकाल ११०७ वि० सं० (सन् १०५०) के लगभग प्रारम्भ हुआ। यह वर्णन 'चेतसिंह विलास' और 'तवारीख बनारस' नामक पुस्तकों के आधार पर है।[३]

(११) हिन्दी अनुवादक महेशचन्द्र प्रसाद ने मैकडोनल साहब के मतानुसार कीर्तिवर्मा का राज्यकाल १०५०–१११६ ई० माना है।[४]

(१२) 'हिन्दी नाटकों का इतिहास' में डा० दशरथ ओझा ने चन्देल राजा कीर्तिवर्मा का राजत्व काल, शिला-लेखों के आधार पर (सं० ११०७) सन् १०५० से प्रारम्भ माना है। उन्होंने शिला-लेखों के सम्बन्ध में विशेष उल्लेख किये बिना ही केवल जनश्रुति के आधार पर लिखा है कि कीर्तिवर्मा का सेनापति गोपाल था जिसने अपनी योग्यता से शत्रु चेदिराज कर्ण को पराजित किया था।[५] ओझा जी ने भ्रमवश कीर्तिवर्मा को कृष्ण वर्मा लिख दिया है।

(१३) बाबू ब्रजरत्नदास ने अपने इतिहास में कालिंजराधिपति कीर्तिवर्मा को चन्देलराज स्वीकार किया है और कर्ण को चेदि नरेश। उन्होंने कीर्तिवर्मा के

---

१. सं० सा० का इतिहास—बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ५५६।
२. अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका, पृष्ठ १।
३. प्र० च० हिन्दी अनुवाद की भूमिका, पृष्ठ ११।
४. वही , पृष्ठ २।
५. हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास, पृष्ठ १४५।

सम्बन्ध में लिखा है कि वह अपने शत्रु कर्ण से राज्य के प्रारम्भ काल में पराजित हुआ था। किन्तु कुछ दिनों पश्चात् उसके मित्र और सेनापति गोपाल ने कर्ण को परास्त कर कीर्तिवर्मा को पुनः गद्दी पर बैठाया था। बाबू ब्रजरत्नदास ने कर्ण के दानपत्र सन् १०४२ (सं० १०९९) के प्राप्त होने का उल्लेख भी किया है।[1]

(१४) डा० गोपीनाथ तिवारी ने कीथ के अनुसार प्रबोधचन्द्रोदय का रचनाकाल ग्यारहवीं ई० शताब्दी माना है।[2]

२३. इस प्रकार इन सभी इतिहासकारों और अनुवादकों ने कीर्तिवर्मा, गोपाल और कर्ण के सम्बन्ध में जो उल्लेख किये हैं उनका अध्ययन हम संक्षिप्त रूप से निम्नप्रकार के विभाजन द्वारा कर सकते हैं—

२४. (१) कीर्तिवर्मा और (२) कर्ण के सम्बन्ध में मतों का संक्षिप्त विवरण देखिए—

१. कीर्तिवर्मा

(क) १. १०४९–५० से ११०० ई० राज्यकाल।
समर्थनकर्त्ता संख्या—२, ४, १०, ११, १३

२. १०७३ ई० से कुछ पूर्व राज्यकाल प्रारम्भ।
समर्थनकर्त्ता संख्या—१

३. १०६० से ११०० ई० राज्यकाल
समर्थनकर्त्ता संख्या—३।

४. १०६५ ई० विजय महोत्सव, कीर्तिवर्मा के राज्य में आयोजित।
समर्थनकर्त्ता संख्या—५।

५. उपलब्ध शिला-लेख के आधार पर राज्य लगभग १०९८ ई०।
समर्थनकर्त्ता संख्या—७।

(ख) १. ६४८ ई० मगध के राजा कीर्तिवर्मा का राज्यकाल।
समर्थनकर्त्ता संख्या—९।

२. चेदिराज कर्ण

१. १०४२ ई० में कर्ण जीवित था।
समर्थनकर्त्ता संख्या—२, ७, ८।

२. १०४२ ई० का कर्ण का दानपत्र प्राप्त।
समर्थनकर्त्ता संख्या—१४।

---

१. भारतेन्दु नाटकावली (द्वितीय भाग) भूमिका, पृष्ठ ५।
२. भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य, पृष्ठ ८।

२५. कीर्तिवर्मा और कर्ण से सम्बन्धित उपर्युक्त मतों का विवेचन निम्न-प्रकार से है :—

१. कीर्तिवर्मा

(क) १. कीर्तिवर्मा के राज्यकाल के सम्बन्ध में पहला मत १०४९-५० से ११०० ई० का है। इस मत के अनुसार कीर्तिवर्मा का राज्यकाल १०४९–५० ई० के लगभग प्रारम्भ हुआ था। कीर्तिवर्मा को अपने राज्य के प्रारम्भ काल में ही चेदिनरेश कर्ण ने पराजित कर दिया था। कुछ वर्षों के पश्चात् पराक्रमी गोपाल ने कर्ण को पराजित करके कीर्तिवर्मा को पुनः राज्यासीन किया था। इसका संकेत नाटक प्रबोधचन्द्रोदय से भी प्राप्त होता है।[1] इससे अनुमान होता है कि १०५० ई० के लगभग कीर्तिवर्मा को राज्याधिकार मिला होगा। राज्य के प्रारम्भकाल सन् १०५० से सन् १०५५ ई० तक में कर्ण ने उसे हरा दिया होगा। १०५५ ई० के कुछ वर्ष बाद (कीर्तिवर्मा के पराजय सम्बन्धी दुख को दूर करने के लिए) १०६० ई० के लगभग परम हितैषी गोपाल ने कर्ण से युद्ध प्रारम्भ किया होगा। १०६० ई० से युद्ध प्रारम्भ होने से कुछ वर्ष भीषण युद्ध[2] में व्यतीत हुए होंगे और विजय के अनन्तर शान्ति स्थापित[3] की गई होगी। अतः १०६५ ई० के लगभग ही कीर्तिवर्मा का विजय महोत्सव आयोजित किया गया होगा। १०९८ ई० का एक शिला-लेख कीर्तिवर्मा के नामोल्लेख के साथ प्राप्त होता है। उसके अनुसार कीर्ति-वर्मा का राज्य सम्भवतः ११०० ई० तक अवश्य ही रहा होगा। अतः कीर्तिवर्मा के राज्यकाल का समय इस मान्यता (१०५०–११०० ई०) के अनुसार ५० वर्षों का एक लम्बा समय हो जाता है जिससे निश्चित रूप से उसके राज्य की तिथि को मान्यता देते हुए कहा जा सकता है कि चन्देल राजा कीर्तिवर्मा का राज्य ग्यारहवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध में ही था, और इसके ही विजय महोत्सव के अवसर पर प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक का अभिनय हुआ था।

(२) दूसरे मत के अनुसार कीर्तिवर्मा का राज्य १०७३ ई० से कुछ पूर्व प्रारम्भ हुआ था। यद्यपि १०७३ ई० का समय १०५० ई० के समय से बहुत पीछे

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय नाटक––प्रथम अंक––प्रस्तावना, श्लोक ४।

२. सं० प्र० चं०, पृष्ठ ९।

"....निरन्तरनिपतत्तीक्ष्णविशिखनिक्षिप्तमहास्त्रपर्यस्तोत्तुंगमातंगमहा-महीधरसहस्रम्, भ्रमद्भुजदण्डमन्दराभिघातघूर्णमानसकलपत्तिसलिलसंघातम्..

३. सं० प्र० चं०, पृष्ठ १०।

"....पृथिव्यामाधिपत्यं स्थिरीकर्तुमयमस्य संरम्भः।"

का है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह मत प्रामाणिक रूप से ज्ञात कर्ण के राज्यावसान काल (१०७३ ई०) पर आश्रित है। इस मत में कर्ण के साथ कीर्तिवर्मा के संघर्ष की घटना प्रसिद्ध होने के कारण मतदाता ने १०७३ ई० से कुछ पूर्व का कीर्तिवर्मा के राज्य की सम्भावना की है। इससे कर्ण पर विजय के पश्चात् कीर्तिवर्मा के पुनः राज्यासीन होकर, विजय महोत्सव आयोजित करने के समय से ही, कीर्तिवर्मा के राज्यकाल का प्रारम्भ स्वीकार करते हुए, १०७३ ई० से कुछ पूर्व का समय स्वीकार किया गया है।

(३) तीसरे मत में कीर्तिवर्मा का राज्यकाल १०६० ई० से ११०० ई० माना गया है। १०५० ई० से राज्य प्रारम्भ मानने के मत से इसका समय लगभग दस वर्ष पीछे है। इससे यह अनुमान होता है कि पूर्व पराजित कीर्तिवर्मा को पुनः राज्यासीन करने के उद्देश्य से गोपाल के द्वारा युद्ध प्रारम्भ किये जाने के समय से ही कीर्तिवर्मा के राज्य का आरम्भकाल स्वीकार किया गया है।

(४) चौथे मत में कीर्तिवर्मा के विजय महोत्सव का समय १०६५ ई० के लगभग स्वीकार किया गया है। पहली मान्यता के अनुसार राज्य के प्रारम्भकाल और विजय महोत्सव में १५ वर्षों का अन्तर है। यह अन्तर अनुचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि उत्तराधिकार मिलने के बाद, कीर्तिवर्मा की कर्ण के द्वारा पराजय तत्पश्चात् पुनः प्रयत्न, भीषण युद्ध, विजय, फिर शान्ति स्थापना के बाद विजय महोत्सव का आयोजन करने में इतना समय लग जाना स्वाभाविक माना जा सकता है।

(५) पांचवें मत में १०९८ ई० के शिला-लेख के आधार पर कीर्तिवर्मा के राज्यावसान का समय ११०० ई० तक स्वीकार किया गया है जिससे कीर्तिवर्मा का राज्यकाल १०५० ई० से ११०० ई० तक सिद्ध होता है।

(ख) १. कीर्तिवर्मा के सम्बन्धित मतों के (ख) खण्ड में प्रो० जे० टेलर महोदय ने कृष्ण मिश्र के आश्रयदाता कीर्तिवर्मा को ६४८ ई० में स्वीकार किया है। किन्तु उपलब्ध शिला-लेखों और ऐतिहासिक प्रमाणों (जिनकी हम चर्चा कर चुके हैं) के आधार पर टेलर महोदय का मत निर्मूल सिद्ध होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने कीर्तिवर्मा के विजय पराजय अर्थात् शत्रु कर्ण से संघर्ष की ऐतिहासिक घटना को, (कीर्तिवर्मा के समय निरधारण में) महत्व नहीं दिया था। केवल बौद्ध मत के पतन के आधार पर युग विशेष का अनुमान कर लिया था, जिससे उनकी धारणा भ्रमपूर्ण ही रही। अतः इस मत को प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है।

(२) कर्ण के सम्बन्ध में जो दो मत हैं वे कर्ण के दानपत्र के समय १०४२ ई०

के आधार पर ही, उसकी स्थिति उस समय विशेष में सिद्ध करते हैं। शत्रु कर्ण की स्थिति इस समय होने से, कीर्तिवर्मा की स्थिति भी ग्यारहवीं ई० शताब्दी में प्रामाणिक रूप से सिद्ध हो जाती है। कर्ण का राज्यकाल १०४२ ई० में प्रारम्भ होने से कीर्तिवर्मा का राज्य उसके पश्चात् का स्वयं ही निःसन्दिग्ध हो जाता है, जिससे कीर्तिवर्मा से सम्बन्धित मतों के विवेचन से प्राप्त परिणाम की सत्यता में सन्देह नहीं रह जाता है।

२६. इस प्रकार उपर्युक्त मतों का निष्कर्ष यह है कि राजा कीर्तिवर्मा प्रथम बार १०५० ई० के लगभग अभिषिक्त हुआ और इसके अनन्तर १०५५ ई० के लगभग चेदिपति कर्ण के द्वारा पराजित हुआ। कीर्तिवर्मा के कुछ वर्ष दुखी रहने के पश्चात् १०६० से उसके प्रधान सहायक गोपाल के द्वारा, राजा कर्ण के विरुद्ध युद्ध छेड़ा गया, जो लगभग १०६४ ई० तक समाप्त हुआ। १०६४ ई० के आसपास ही गोपाल ने कर्ण को पराजित करने के उपरान्त कीर्तिवर्मा का पुनः राज्याभिषेक करने के लिए, (राज्य में शान्ति स्थापित करने में कुछ समय व्यतीत होने से) राज्याभिषेक का समारोह आयोजित किया। इसके पश्चात् उसने ११०० ई० तक राज्य किया था। अतएव कीर्तिवर्मा का राज्यकाल १०५० से प्रारम्भ होकर (१०६५ ई० में विजय महोत्सव पुनः आयोजित कर) ११०० ई० तक था।

२७. इधर हमें जो प्रमाण उपलब्ध होते हैं उनके आधार पर बिना किसी संकोच के हम कह सकते हैं कि राजा कीर्तिवर्मा के सम्बन्ध में निर्णीत उपर्युक्त तथ्यों पर आसानी से पहुँचा जा सकता है। (जैसा कि हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं) राजा कीर्तिवर्मा के शत्रु राजा कर्ण का दानपत्र १०४२ ई० का और दूसरा उसके पुत्र यशःकर्ण का—जो कि कर्ण के बाद ही उसके सिंहासन का अधिकारी हुआ होगा—१०७२-१०७३ ई० का मिलता है। इन दोनों दानपत्रों के आधार पर हम बिना किसी सन्देह के कह सकते हैं कि कर्ण का राज्य १०४२ से १०७२-७३ ई० के लगभग रहा होगा। उधर कर्ण को पराजित करने वाले राजाओं—चालुक्य सोमेश्वर (प्रथम) १०४०-१०६९, उदयादित्य परमार (१०५९-१०८७), चालुक्य भीमदेव प्रथम (१०२१-१०६४ ई०) और बंगाल का पालवंशी राजा विग्रहपाल (१०५५-१०८१) के काल पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि १०५९-१०६४ ई० तक का समय ऐसा है, जिसमें अथवा उसके पश्चात् चारों राजाओं ने कर्ण को पराजित किया होगा। अर्थात् १०५९-१०६४ ई० का समय कर्ण के पराजय काल का प्रारम्भ अवश्य रहा होगा। यह भी बहुत सम्भव है कि गोपाल ने कर्ण को उसके इस पराजयकाल के प्रारम्भ में पराजित किया हो। अतएव अब यह सिद्ध-सा हो गया कि कर्ण का पराजय काल १०६०-६४ ई० के लगभग ही रहा

होगा और गोपाल ने कर्ण को १०६५ ई० पूर्व पराजित किया होगा। इस प्रकार कीर्तिवर्मा के शत्रु कर्ण के राज्य का प्रारम्भकाल १०४२ ई०, विजयकाल १०४२-५९ ई० और पराजयकाल १०६०-६४ ई० से प्रारम्भ तथा राज्यावसान काल १०७२-७३ ई० था। शत्रु कर्ण के राज्य के इस उपलब्ध प्रामाणिक विवरण के आधार पर निश्चित-सा मान सकते हैं कि कीर्तिवर्मा के राज्यकाल का प्रारम्भ १०५० ई० (प्रामाणिक इतिहासों में मान्य), कीर्तिवर्मा की प्रथम पराजय का समय (१०५०-५५ ई०) के लगभग, गोपाल की सहायता से पुनः युद्ध तथा विजय प्राप्ति १०६०-६४ ई० तक और तदनन्तर सिंहासनोपलब्धि १०६५ ई० में हुई होगी। कीर्तिवर्मा के राज्यकाल की अन्तिम सीमा निर्धारित करने के लिए हमें १०९० और १०९८ ई० के शिला-लेख उपलब्ध होते हैं जिनसे सहज ही कीर्तिवर्मा के राज्यकाल की अन्तिम सीमा ११०० ई० सिद्ध होती है।

२८. इस प्रकार कीर्तिवर्मा के राज्यकाल (१०५०-११०० ई०) में, १०६५ ई० में विजय प्राप्ति पर पुनः सिंहासनारूढ़ होने के उपलक्ष्य में प्रबोधचन्द्रोदय नाटक का अभिनय किया गया होगा। यह प्रामाणिक प्रतीत होता है।

२९. प्रबोधचन्द्रोदय के इस अभिनय काल से इसके रचयिता कृष्ण मिश्र का समय ११वीं ई० शताब्दी का मध्यकाल सिद्ध होता है।

कृष्ण मिश्र का समय

आश्रयदाता सम्राट् कीर्तिवर्मा के राज्यकाल के सम्बन्ध में प्राप्त प्रमाण एवं विभिन्न मत

संख्या एवं प्रमाण के प्रकार	मतदाता	कीर्तिवर्मा के संबंध में उपलब्ध संकेत	देश	राज्य संकट एवं शत्रु का विवरण	सम्राट् कीर्तिवर्मा का राज्यकाल
१. अंतःसाक्ष्य	प्रबोध चन्द्रोदय नाटक रचयिता—कृष्ण मिश्र	कीर्तिवर्मा चन्देलवंशी सम्राट् था उसका सहायक गोपाल और गुरु कृष्ण मिश्र थे।		कर्ण ने पहले कीर्तिवर्मा को पराजित किया था उसके पश्चात् फिर कीर्तिवर्मा का प्रतापी राजा चेदिपति कर्ण से संघर्ष हुआ और गोपाल की सहायता से उसने कर्ण को पराजित किया।	
२. बहिःसाक्ष्य (क) शिलालेख	१. 'एनुअल रिपोर्ट आफ द आरक्योलोजिकल सर्वे आफ इंडिया'—कलिन्जर के नीलकण्ठ मन्दिर का एक अभिलेख।	सम्राट् कीर्तिवर्मा का स्पष्ट उल्लेख			१०९० ई०

२. इण्डियन एन्टिक्वेरी, भाग १८, पृष्ठ २३८ देवगढ़ का शिलालेख	चन्देल वंश के राजा कीर्तिवर्मा विजयपाल के पुत्र और विद्याधर के पोते थे। उनका एक मंत्री वत्सराज था जिसने कीर्तिगिरि नाम का किला बनवाया और अपने नाम से वत्सराज घाट बनवाया था।		१०९८ ई०
३. ई० आई०, भाग १ पृ० ३२७-२९ अजयगढ़ से प्राप्त वीर-वर्मा का शिलालेख—१२६१ ई०	कीर्तिवर्मा, चंदेल सम्राट्	चन्देल कीर्तिवर्मा ने चेदि-नरेश, कर्ण को हराया था।	
४. ई० आई०, भाग १, पृ० २२०-२२, महोबे से प्राप्त बिना तिथि का शिलालेख।	चन्देल सम्राट् कीर्तिवर्मा पुरुषोत्तम भगवान् के समान था।	कीर्तिवर्मा ने चेदि कर्ण के सेना रूप समुद्र को मथ कर विजयलक्ष्मी प्राप्त की थी।	
५. ई० आई०, भाग १ पृ० १९८ वी० ७ मऊ से प्राप्त मदनवर्मा का शिलालेख	कीर्तिवर्मा विजयपाल के पश्चात् राज्य का अधि-कारी बना।		

संख्या एवं प्रमाण के प्रकार	मतदाता	कीर्तिवर्मा के सम्बन्ध में उपलब्ध संकेत	देश	राज्य संकट एवं शत्रु सम्राट् का विवरण	कीर्तिवर्मा का राज्यकाल
(ख) दानपत्र	१. (अ) ई.आई. भाग २, पृ० २९७ एफ. एफ. (ब) इंसक्रिप्शन्स आफ द कलचूरीज़ आफ त्रिपुरी, पृ० २३६-३९, नं० ४८ प्लेट ३८, बनारस का दानपत्र–१०४२ ई० २. (अ) ई.आई. भाग १२, पृ० २०५ (ब) इंसक्रिप्शन्स आफ द कलचूरीज़ आफ त्रिपुरी पृ० २८९, नं० ५६, प्लेट X LV. दानपत्र १०७२-७३ ई०			**शत्रुकर्ण का विवरण** कलचूरि राज्य के अधिकारी चेदिवंश के सम्राट् कर्ण ने बनारस में अपने पिता के श्राद्ध के अवसर पर दान दिया था। चेदिनरेश कर्ण के पुत्र यशःकर्ण ने पिता के श्राद्ध में दान दिया था।	
(ग) अन्य प्रमाण	डाइनेस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दन इंडिया, पृ० ६९९ के अनुसार १. विक्रमांक देवचरित, सर्ग प्रथम, पृष्ठ १०२-१०३			शत्रु कर्ण को पराजित करने वाले अन्य सम्राटों के राज्यकाल का विवरण कल्याणी के चालुक्य सोमेश्वर सम्राट् (प्रथम) १०४० – ६९ ई० राज्यकाल	

	२. नागपुर प्रशस्ति के अनुसार ई.आई. भाग, २ पृ० १८१, वीएस ३२-३४ ३. वैयाकरण हेमचन्द्र की प्रशंसा ई.आई. भाग २, पृ० ३०३ ४. रामचरित MASB Vol III P. 22.			भोज के अधिकारी उदयादित्य परमार १०५९–१०८७ ई० राज्यकाल चालुक्य नरेश भीमदेव प्रथम १०२१–१०६४ ई० राज्यकाल बंगाल का पाल राजा विग्रहपाल १०५५–१०८१ ई० राज्यकाल	
३. विभिन्न मत	१. आर० सी० मजूमदार	सम्राट कीर्तिवर्मा विजयपाल का पुत्र, देववर्मन का भाई।	चन्देल राज्य का अधिकारी	कलचुरि कर्ण ने कीर्तिवर्मा को हराया किन्तु कुछ दिनों बाद कीर्तिवर्मा ने गोपाल की सहायता से कर्ण को पराजित किया	राज्याधिकार १०७३ ई० कुछ पूर्व १०४९-११०० ई०
	२. केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया	चन्देल राजा कीर्तिवर्मा			
	३. केशवचन्द्र मिश्र	राजा कीर्तिवर्मा देववर्मन का भाई, चन्देल राज्य की कीर्ति को पुनः प्रतिष्ठित करने वाला सम्राट्।	चन्देल राज्य का अधिकारी	चेदिशासक कर्ण से संघर्ष	सन् १०६० से ११०० ई० तक राज्यकाल, अभिलेख सन् १०९८ ई०

संख्या एवं प्रमाण के प्रकार	मतदाता	कीर्तिवर्मा के सम्बन्ध में उपलब्ध संकेत	देश	राज्य संकट एवं शत्रु सम्राट् का विवरण	कीर्तिवर्मा का राज्यकाल
	४. हिन्दी विश्व कोश डा० नगेन्द्रनाथ वसु	चन्देलवंशीय कालंजराधिप विजयपाल का पुत्र और देववर्मन का भाई	चन्देल राज्य-बुंदेलखण्ड तथा महोबा	प्रधान सेनापति गोपाल की सहायता से कीर्तिवर्मा ने चेदिराज कर्ण को हराया	१०५० ई० से १०९८ ई० चंदेल राजाओं की शिलालिपि
	५. आक्सफोर्ड हिस्ट्री आफ इंडिया	'चन्देल सम्राट्' कीर्तिवर्मा	राज्य बुंदेलखण्ड में, जो जेजाकभुक्ति के नाम से प्रसिद्ध था।	चेदिनरेश कर्ण से संघर्ष	ग्यारहवीं ई० श० उत्तरार्द्ध
	६. डा० जयदेव	'सम्राट्' कीर्तिवर्मा	चन्देल राज्य का अधिकारी	—	ग्यारहवीं ई० श० उत्तरार्द्ध
	७. डा० कीथ	'सम्राट्' कीर्तिवर्मा	जेजाकभुक्ति के चंदेल राज्य का अधिकारी शिलालेख १०९८ ई०	चेदिराज कर्ण को गोपाल की सहायता से हराया। कर्ण की स्थिति १०४२ ई० में थी।	—
	८. बलदेव उपाध्याय	कीर्तिवर्मा सम्राट् था	चंदेल राज्य का अधिकारी	चेदिनरेश कर्ण को हराया कर्ण का दानपत्र १०४२ ई० का प्राप्त	

९. जे० टेलर	कीर्तिवर्मा सम्राट् था	मगध का राजा, उस काल में बुद्ध-मत का पतन		६४८ ई०
१०. विजयानन्द त्रिपाठी	कालिंजराधिप विजय-पाल का पुत्र चंदेलवंशी राजा, सहायक गोपाल	चंदेल राज्य का अधिकारी		१०५० ई० के लगभग गद्दी पर बैठा
११. महेशचन्द्र प्रसाद	कीर्तिवर्मा राजा था		—	१०५०-१११६ई०
१२. डा० दशरथ ओझा	चन्देल राजा कीर्तिवर्मा	चंदेल राज्य का अधिकारी	चेदिराज कर्ण से संघर्ष	१०५० से राज्य प्रारम्भ
१३. बाबू ब्रजरत्नदास	चन्देल राजा कीर्तिवर्मा	कालिंजर में राज्य था	चेदिनरेश कर्ण से संघर्ष	—
१४. डा० गोपीनाथ तिवारी				ग्यारहवीं ई. श.

कृष्ण मिश्र की रचनाएं

३०. प्रबोधचन्द्रोदय कृष्ण मिश्र का एक प्रसिद्ध नाटक है। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के अतिरिक्त कृष्ण मिश्र कृत किसी रचना का उल्लेख किसी ऐतिहासिक व साहित्यिक पुस्तक में नहीं मिलता है। मुझे अपने अनुसंधान में केवल दो स्थानों पर ही उनकी कतिपय रचनाओं का उल्लेख मिला है:—

१. हिन्दी विश्व कोष।

२. संस्कृत प्रबोध चन्द्रोदय का हिन्दी अनुवाद विजयानन्द त्रिपाठी।

३१. डा० नगेन्द्रनाथ वसु के द्वारा सम्पादित हिन्दी विश्वकोष में कृष्ण मिश्र के नाम से प्रबोध चन्द्रोदय के अतिरिक्त अन्य पांच रचनाओं का उल्लेख मिलता है। उनके मत में कृष्ण मिश्र ने 'प्रायश्चित मनोहर', 'वीर विजय' नामक इहामृग, 'सर्वतोभद्रचक्रावली' नामक ज्योतिष ग्रन्थ, 'चिन्तामणि' नामक न्याय ग्रन्थ का प्रणयन किया था। उन्होंने 'कात्यायन श्राद्ध सूक्त, पर 'श्राद्ध काशिका' नामक भाष्य की भी रचना की थी[1]। इन ग्रन्थों के रचयिता श्रीकृष्ण मिश्र हमारे आलोच्य कृष्ण मिश्र से भिन्न थे या अभिन्न, इस विषय में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

३२. संस्कृत प्रबोध चन्द्रोदय के हिन्दी अनुवादक विजयानन्द त्रिपाठी 'प्रबोध चन्द्रोदय' के हिन्दी अनुवाद की भूमिका में[2], कृष्ण मिश्र की कृतियों पर विचार करते हुए लिखते हैं—"प्रायश्चित मनोहर, वीर विजय, सर्वतोभद्रादिचक्रावली, चिंतामणि, और श्राद्धकाशिकादि अनेक ग्रन्थों का पता चलता है, जिनके रचयिता कृष्ण मिश्र हैं। परन्तु अनेक पुरुषों के एक नाम होने की सम्भावना से बिना पुष्ट प्रमाणों के यह नहीं कहा जा सकता कि इन ग्रन्थों के रचयिता और प्रबोध-चन्द्रोदयकार एक व्यक्ति थे।"

३३. इस प्रकार कृष्ण मिश्र के कुछ ग्रन्थों का परिचय हिन्दी विश्व कोष और विजयानन्द त्रिपाठी के द्वारा ज्ञात होता है, किन्तु इन दोनों महानुभावों ने इन ग्रन्थों के प्राप्ति-स्थान वा सूचना स्थान के सम्बन्ध में कोई विशेष विवरण नहीं दिया है। इसलिए अनुमानित संकेतों के आधार पर हम निश्चित मत देने में असमर्थ हैं। केवल उपलब्ध नाटक प्रबोधचन्द्रोदय के आधार पर हम सम्भावना कर सकते हैं कि सम्भवतः अगाध पाण्डित्यपूर्ण व्यक्तित्व से युक्त मिश्र जी द्वारा ही ये ग्रन्थ प्रणीत हुए हों, और कालान्तर में किसी कारणवश प्रबोधचन्द्रोदय की भांति अधिक प्रसिद्ध एवं सुरक्षित न रह सके हों। साथ ही यह भी सम्भव है कि इन ग्रन्थों की रचना

---

१. हिन्दी विश्व कोष, भाग ५, सम्पा० श्री नगेन्द्रनाथ वसु, पृष्ठ ३०१।

२. भूमिका, पृष्ठ ७।

प्र० च० के रचयिता कृष्ण मिश्र ने न की हो, अपितु कृष्ण मिश्र नाम के अन्य व्यक्ति (या व्यक्तियों) ने की हो। परन्तु प्रबोध चन्द्रोदय जैसी प्रौढ़ रचना के रचयिता के लिए, अन्य ग्रन्थों की रचना असम्भव नहीं कही जा सकती। अतएव जब तक हमें उपर्युक्त कृतियों के कर्तृत्व से कृष्ण मिश्र को वंचित करने वाले कोई पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होते तब तक हमें इन कृतियों को 'प्रबोध चन्द्रोदय' के रचयिता कृष्ण मिश्र की मानने में कोई विशेष आपत्ति प्रतीत नहीं होती। इन कृतियों को प्रबोध चन्द्रोदयकार की मान लेने पर भी यह विवादास्पद विषय है और संदिग्धावस्था में है। अतः अन्त में हम यह कह सकते हैं कि अन्य किसी कृति के कर्तृत्व का श्रेय मिश्र जी को मिले या न मिले उनकी एकमात्र उपलब्ध कृति प्रबोध चन्द्रोदय ही उन्हें संस्कृत साहित्य में अमर कर देने के लिए पर्याप्त है।

द्वितीय अध्याय

संस्कृत साहित्य में 'रूपक' नाटक प्रबोधचन्द्रोदय का स्थान एवं उसकी परवर्ती परम्परा

प्रबोधचन्द्रोदय एक रूपक नाटक

३४. प्रबोधचन्द्रोदय नाटक शास्त्रीय परिभाषा की दृष्टि से किस कोटि में आयेगा ? यह एक महत्व पूर्ण प्रश्न है। विद्वानों के विचार से यह एक रूपक नाटक है। कीथ[1] मैकडोनल[2] और जे० टेलर[3] महोदय प्रबोधचन्द्रोदय को एलीगरिकल (Allegorical) 'रूपक' नाटक मानते हैं। शोधकर्ता डा० जयदेव[4] ने भी प्रबोधचन्द्रोदय को एलीगरिकल 'रूपक' नाटक ही कहा है।

३५. संस्कृत साहित्य के इतिहास में श्री हंसराज अग्रवाल[5] और पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय[6] ने प्रबोधचन्द्रोदय को 'रूपक' नाटक स्वीकार किया है। किन्तु बलदेव उपाध्याय[7] प्रबोधचन्द्रोदय को प्रतीक नाटक मानते हुए लिखते हैं—"यहां इस प्रकार के नाटकों को हमने 'प्रतीक नाटक' (एलीगरिकल ड्रामा) कहा है।"

३६. डा० सोमनाथ गुप्त[8] ने हिन्दी नाटकों के इतिहास में प्रबोधचन्द्रोदय को सांकेतिक और अन्योक्ति शैली की रचना कहा है। डा० दशरथ ओझा[9] ने इस नाटक को प्रतीकात्मक या भावात्मक नाटक (एलीगरिकल) माना है।

---

१. संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ २५१।
२. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ३६७।
३. अनुवाद की भूमिका, पृष्ठ १।
४. प्रबोधचन्द्रोदय के टेक्स्ट का शोधकार्य, पृष्ठ ४५।
५. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३१२।
६. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ० २१८।
७. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५५५।
८. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, पृ० ५१।
९. हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास, पृ० २२२, २२३।

३७. इस प्रकार यह विदित होता है कि प्रायः प्रत्येक विद्वान् ने प्रबोधचन्द्रोदय के प्रकार को अंग्रेजी शब्द ऐलीगरी (Allegory) के द्वारा ग्रहण किया है। सभी ने उसे ऐलीगरी माना है, किन्तु हिन्दी में ऐलीगरी के लिए जो शब्द इन विद्वानों ने दिये हैं वे अलग अलग हैं। एक ने 'रूपक' नाम दिया है, दूसरे ने उसे 'प्रतीक' नाटक कहा है। तीसरा सांकेतिक और अन्योक्ति शैली का नाटक मानता है। यह स्पष्ट है कि ऐलीगरी के पर्याय के रूप में यहां जो शब्द दिये गये हैं, वे हिन्दी संस्कृत में एक ही अर्थ के द्योतक नहीं हैं। हमें जहाँ यह जानना आवश्यक है कि ऐलीगरी क्यों है, वहां यह भी निर्णय कर लेना अपेक्षित है कि हिन्दी में प्रयुक्त कौन सा शब्द ऐलीगरी के पर्याय की दृष्टि से समीचीन है।

३८. **रूपक**--पहले रूपक शब्द को ही लेते हैं। इस शब्द के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों के विचार यहां दिये जाते हैं:—

(१) रूप क्रियायाम्। रूपस्य दर्शनं करणं वा रूप क्रिया[१]।

(२) 'रुप्यते प्रत्यक्षीक्रियते योऽर्थ :'[२]

(३) रूपक--(सं० क्ली०) रूपयतीति रूपिण्वुल। मूर्तिप्रतिकृति। रूपक अलंकार। निरपह्नव विषय में जहाँ रूपित का आरोप होता है वहां यह अलंकार हुआ करता है।[३]

(४) रूपक (पु० सं०) (रूप का आरोप करना) एक अर्थालंकार अभिनय दर्शन युक्त दृश्य काव्य।[४]

(५) रूपक-(सं० पु०) प्रतिकृति, मूर्ति। दृश्य काव्य एक अर्थलंकार[५]।

(६) "Rupaka—mfn. having form, figurative, metaphorical, illustrating by figurative language, form, figure, shape, appearance, image, likeness."[६]

(७) "संस्कृत साहित्य में एक नये प्रकार के रूपक उपलब्ध होते हैं, जिसमें श्रद्धा, भक्ति आदि अमूर्त पदार्थों को नाटकीय पात्र बनाया गया है।

---

१. वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी, भट्टोजी दीक्षित, तृतीय भाग, पृष्ठ २८९।
२. अभिनव भारती, भाग दो, पृष्ठ ४०६।
३. हिन्दी विश्व कोष, सम्पा० श्री नगेन्द्र वसु, उनविंश भाग, पृष्ठ ६४३।
४. बृहत् हिन्दी कोष, सम्पा० श्री कालिकाप्रसाद, पृष्ठ १११।
५. राष्ट्रभाषा कोष, पं० ब्रजकिशोर मिश्र, पृष्ठ ९३८।
६. Sanskrit English Dictionary, Sir M. Monier Williams, New Ed., page 886.

कहीं तो केवल अमूर्त पदार्थों की ही मूर्त कल्पना उपलब्ध होती है और कहीं पर मूर्त अमूर्त का मिश्रण है। साधारण नाटक के लक्षण से इसमें किसी प्रकार पार्थक्य नहीं मिलता। इसीलिए नाट्य के लक्षणकर्ताओं ने इसका पृथक् वर्गीकरण नहीं किया है। यहाँ इस प्रकार के नाटकों को हमने 'प्रतीक नाटक' (Allegorical drama) कहा है। क्योंकि इनमें पात्र अमूर्त पदार्थों के प्रतीक मात्र होते हैं, उनकी भौतिक जगत में स्वतंत्र सत्ता नहीं होती।"[१]

(८) "भारत दुर्दशा" (१८८० ई०) यह ६ अंक का नाटक है। इसमें भारत के प्राचीन गौरव की याद दिलाते हुए उसकी वर्तमान बुरी अवस्था बताकर भारत के उद्धार की प्रेरणा दी गई है। राजनीतिक वातावरण को नाटकीय रूप देने का यह प्रथम प्रयास है। भारत, भारत दुर्दैव, भारत दुर्दशा, सत्यानाश, निर्लज्जता, मदिरा, अन्धकार, रोग आदि इसके पात्र हैं।

वास्तव में यह प्रबोधचन्द्रोदय वाली सांकेतिक परम्परा का नाटक है जिसमें पात्रों का मानवीकरण (Personification) कर दिया गया है।"[२]

(९) "भारत दुर्दशा" एक प्रतीक नाटक (Allegorical Play) है। प्रतीकात्मक या भावात्मक नाटक की कई श्रेणियां होती हैं। उनमें तीन श्रेणियां मुख्य हैं। प्रथम श्रेणी में नाटक की स्वाभाविक या प्रस्तुत कथा तो रसात्मक होती ही है, उस कथा से नाम, रूप तथा गुण साम्य के द्वारा जो रहस्यमय अर्थ आद्योपान्त परिलक्षित होता है, वह भी चमत्कारपूर्ण होने से विज्ञजनों का आनन्दविधायक होता है। ऐसे नाटकों में स्थल-स्थल पर दूसरे रहस्यमय अर्थ की ओर संकेत-मात्र होता है, पंक्ति-पंक्ति में उस अर्थ की ओर संगति खोजना ठीक नहीं। इस प्रकार का नाटक विद्यासुन्दर है, जिसमें हम दूसरे अर्थ की प्रतिध्वनि पाते हैं।

दूसरी कोटि में वे नाटक आते हैं, जिनके प्रस्तुत और स्वाभाविक अर्थ में इतना चमत्कार नहीं होता है। प्रबोधचन्द्रोदय ऐसा नाटक है। तीसरी श्रेणी मिश्र प्रतीकात्मक नाटकों की है। इसमें कतिपय पात्र

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, श्री बलदेव उपाध्याय, पृष्ठ ५५५।

२. हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, डा० सोमनाथ गुप्त, पृष्ठ ५१।

मानवीय होते हैं, कतिपय मानवीकरण के रूप में दृष्टिगत होते हैं। इस श्रेणी में कभी अधिक संख्या मानवीपात्रों की होती है और कभी मानवीकरण द्वारा प्रदर्शित पात्रों की। 'चैतन्य चन्द्रोदय' इसी कोटि का नाटक है। भारतेन्दु जी का 'भारत दुर्दशा' नाटक इस तीसरी श्रेणी में रखने योग्य है[१]।

(१०) "भारतीय साहित्य में रूपकात्मक साहित्य एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें अमूर्त भावों को मूर्त रूप में उपस्थित किया जाता है। हृदय के सूक्ष्म अमूर्त भाव इन्द्रियों का विषय नहीं बन सकते। जब वही भाव उपमा या रूपक द्वारा स्थूल मूर्ति रूप ग्रहण कर लेते हैं तो वे इन्द्रियगोचर हो जाने से अधिक स्पष्ट और बोधगम्य बन जाते हैं। इन्द्रियों के द्वारा साक्षात रूप में प्रत्यक्ष होने पर ये सूक्ष्मभाव सजीव रूप धारण कर लेते हैं और हृदय को अत्यधिक प्रभावित करने में समर्थ होते हैं। इसी कारण काव्य में अमूर्त का मूर्त रूप में अरूप का रूपाकार में विधान प्रचलित हुआ।[२]

(११) "रूपक" शब्द संस्कृत में दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। एक तो साधारण रूप से नाट्य के अर्थ में, दूसरे रूपक अलंकार के अर्थ में जिसमें उपमान का उपमेय पर अभेद आरोप होता है। पर इन दोनों के अतिरिक्त, रूपक का तीसरा प्रयोग आजकल एक विशिष्ट अर्थ में किया जाता है। उस अर्थ में जिसमें अंग्रेजी का शब्द ऐलीगरी (Allegory) आता है। इस रूप में भी रूपक का सम्बन्ध रूपक अलंकार से ही है। रूपक अलंकार की तरह ही इसका आधार भी साम्य ही है—अन्तर यह है कि अलंकार में यह साम्य क्षणिक और अस्थायी होता है, लेकिन 'रूपक' में स्थायी और आरम्भ से अन्त तक रहने वाला। रूपकातिशयोक्ति को इन दोनों की मध्यवर्त्तिनी अवस्था समझिए। वहां वह अभेद साम्य वर्णन में गुम्फित रहता है। 'रूपक' में समस्त कथा के तन्तुओं में परिभाषा की उलझन में न पड़ कर मोटे रूप में शायद हम कह सकते हैं कि 'रूपक' से तात्पर्य उस कथा से है जो किन्हीं सिद्धान्त विशेष का माध्यम बन कर हमारे सम्मुख आती है। रूपक के अमूर्त सिद्धान्तों में

---

१. हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास, डा० दशरथ ओझा, पृष्ठ २२२, २२३।

२. 'अपभ्रंश साहित्य' डा० हरिवंश कोछड़, पृष्ठ ३३४.

और मूर्त कथावस्तु में समानान्तर चलने वाली एक साम्य भावना होना अनिवार्य है। यह साम्य प्रायः अत्यन्त स्पष्ट और कथा का आवरण इतना झीना होता है कि सिद्धान्त ही स्वयं बोलते हुए सुनाई पड़ते हैं। रूपक के दो स्वरूप दृष्टिगोचर होते हैं, एक में तो मनुष्य की अन्तर्वृत्तियां अथवा गुण-दोष सीधे-सादे मूर्त रूप धारण कर पात्ररूप में हमारे सम्मुख आते हैं और दूसरे पात्र में साधारण स्त्री-पुरुष होते हैं, लेकिन उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं होता, वे भावनाओं के प्रतीक-मात्र होते हैं। इनमें स्वभावतः पहला स्वरूप अधिक स्थूल और अधिक सित है।"[१]

12. Allegory—"A figurative representation conveying a meaning other than and in addition to literal."[२]

13. Allegory—(from Greek allo, some thing else and agoreuein, to speak) a figurative representation in which the signs (words or forms) signify something besides their literal or direct meaning, each meaning being complete in itself.[३]

14. Allegory—speaking otherwise than one seems to speak. Description of a subject under the guise of some other subject of aptly suggestive resemblance.[४]

३९. उपर्युक्त विचारों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि संस्कृत में रूपक शब्द दो विशेष अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। रूपक में आरोप के भाव से एक अर्थ नाटक है, नाटक में अभिनेता में ऐतिहासिक या कल्पित चरित्र आरोप द्वारा दृश्य होता है। दूसरा अर्थ भी इस आरोप के अर्थ से ही अर्थालंकार विशेष है। अर्थालंकार के अन्तर्गत रूपक अलंकार में आरोप्यमाण तद्रूप तथा अभेद से आरोप होता है। अंग्रेजी शब्द "मैटाफर" दो रूपक के समकक्ष माना जा सकता है, पर ऐलिगरी स्पष्टतः मैटाफर नहीं हैं।[५] यह तो कुछ अन्योक्ति के समकक्ष विदित होता है।

---

१. आधुनिक हिन्दी नाटक, डा० नगेन्द्र, पृष्ठ ७३, ७४।

२. Encyclopaedia Brittanica, Vol. I, page 645.

३. The Encyclopaedia Americana, Vol. I, page 411.

४. The Oxford English Dictionary, Vol. I.

५. ऐनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका में अन्तर बताया गया है :—

"An allegory is distinguished from a metaphor by being longer sustained and more fully carried out in its details, and

४०. रूपक का प्रयोग एक तीसरे अर्थ में किया जा सकता है। रूपक का तीसरा अर्थ भी आरोप से ही सम्बन्धित है। यह (तीसरा) 'रूपक' विशिष्ट अमूर्त तत्वों की मूर्त कल्पना के आरोपण से रूपक होता है। इसमें अमूर्त (लोभ मोह) की मूर्त कल्पना करके पात्र में आरोप किया जाता है। इस प्रकार तीसरे विशिष्ट अर्थ में हम रूपक की परिभाषा में कह सकते हैं कि अमूर्त तत्वों की मूर्त कल्पना का पात्रों में आरोप होना 'रूपक' है। जिस साहित्य में अमूर्ततत्व की मूर्त कल्पना का पात्रों में आरोप हो, वह 'रूपक' साहित्य कहलाता है और उसके पात्र, 'रूपक' पात्र होते हैं।

४१. रूपक का यह तीसरा अर्थ ऐलीगरी से भिन्न है। क्योंकि 'रूपक' के तीसरे अर्थ में अन्य अर्थों के द्योतन का प्रश्न नहीं उठता, जो कि ऐलीगरी के लिए अनिवार्य है। उसमें तत्व तो वही एक होता है केवल उसकी मूर्तकल्पना उसी नाम के पात्र में उस तत्व के तादात्म्य से आरोपित करके दृश्य बना दी जाती है। अतः यह 'रूपक' अंग्रेजी के ऐलीगरी से और संस्कृत के रूपक (नाटक) से तथा रूपक अर्थालंकार से भिन्न है।

प्रतीक

४२. प्रतीक शब्द भी रूपक से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता है। प्रतीक शब्द के अर्थ विद्वानों ने निम्न प्रकार से किये हैं:—

(१) प्रतीक—"अंग प्रतीकोऽवयवोंऽपधनो [१]

(२) प्रतीक—"अंग, अवयव, अंश, भाग [२]

(३) प्रतीक—"सं० पु० : प्रतिकन् निपातनात् दीर्घः। अवयवअंग। पता, चिह्न निशान। [३]

४. Symbol—the term given to a visible object representing to the mind the resemblance of something which is not shown but realized by association with it.[४]

---

from an analogy by the fact that the one appeals to the imagination and the other to the reason."

—Encyclopaedia Brittanica, Vol. I, page 645.

१. अथामरकोषः, श्रीमदमरसिंह विरचितः।

२. बृहत् हिन्दी कोष, कामता प्रसाद, पृष्ठ ८६५।

३. हिन्दी विश्वकोष, (चतुर्दश भाग) पृष्ठ ५४६।

४. Encyclopeadia Brittanica, Vol. 21, page 700.

५. Symbol—some thing that stands for, represents, or denotes some thing else (not by exact resemblance, but vague suggestion or by some accidental or conventional relation), esp. a material object representing or taken to represent some thing immaterial or abstract, as a being, idea, quality or condition, a representative or typical figure, sign, or token, a type of some quality.[१]

४३. उपर्युक्त विचारों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि 'परम्परा अथवा मान्यता से जब कोई सम्बद्ध या असम्बन्धित, अंश या वस्तु किसी मूर्त या अमूर्त पूर्ण तथ्य का द्योतक बन जाता है तो वह वस्तु या अंश प्रतीक कहलाता है। जैसे कमल सौन्दर्य का और त्रिशूल शिवजी का प्रतीक कहलाता है। इस प्रकार प्रतीक में संपूर्ण की अप्रत्यक्ष अभिव्यक्ति निहित होती है।

४४. अतएव रूपक और प्रतीक की परिभाषा से स्पष्ट है कि रूपक में अमूर्त को मूर्त एवं साकार कर देने की विशेषता है, वह प्रतीक में नहीं है। प्रतीक का मूर्त रूप, पूर्ण तथ्य का द्योतक मात्र होता है, उसमें पूर्ण तथ्य की मूर्त अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष नहीं होती अप्रत्यक्ष ही रहती है। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में अमूर्त तत्व (लोभ, मोह, विवेक, श्रद्धा) की मूर्त कल्पना पात्रों में आरोपित है जिससे अमूर्त भावनाएं पात्र रूप में मूर्त और प्रत्यक्ष हो गई है। कथा में उनके मूर्त सम्बन्धों की कल्पना और नाटकीय योजना है। इसलिए प्रबोधचन्द्रोदय न संकेत, न अन्योक्ति और न प्रतीक शैली में है वरन् अमूर्त तत्वों की मूर्त कल्पना का आरोप पात्रों में होने से 'रूपक' शैली में है। 'रूपक' शैली की नाटकीय योजना होने से यह एक 'रूपक' नाटक है।

प्रबोधचन्द्रोदय से पूर्ववर्ती रूपक शैली का विकास

४५. पंचतत्वों से निर्मित बाह्य जगत् के अतिरिक्त मानव में अन्त:जगत् भी है। यह उसका भावात्मक और आध्यात्मिक जगत् है। स्थूल बाह्य जगत् की अपेक्षा अन्तर का भाव जगत् सूक्ष्म और अदृश्य है। इस भाव जगत् में आत्म और अनात्म भावों का अन्तर्द्वन्द्व है। बाह्य जगत् की अपेक्षा भाव जगत् के अन्तर्द्वन्द्व और समस्याएँ तथा अन्तर का आध्यात्मिक जगत् अधिक महत्वपूर्ण है। किन्तु अमूर्त होने के कारण स्थूल इन्द्रियों का विषय नहीं बन पाता है। किन्तु यही अमूर्त भावात्मक आध्यात्मिक जगत् 'रूपक' के द्वारा मूर्त होकर स्थूल इन्द्रियों के लिए गोचर हो जाता है। इन्द्रियगोचर होने से, भाव के लिए अधिक बोधगम्य एवं प्रभावशाली हो

१. The Oxford English Dictionary, Vol. 10.

जाता है। इसी अमूर्त को मूर्त रूप देने में रूपक काव्य की सृष्टि होती है। इस प्रकार 'रूपक' साहित्य की रचना भाव जगत् के मूर्त व्यक्तीकरण का परिणाम है। इसमें अमूर्त जगत् के परिष्कार और विकास की प्रेरणा, अमूर्त को मूर्त बनाकर दी जाती है।

४६. भारतीय प्रतिभाशाली कवि मनीषी संस्कृत भाषा में रूपक साहित्य का सृजन प्र० च० से पूर्व प्राचीनकाल से करते रहे हैं। संस्कृत भाषा में अमूर्त को मूर्त रूप देने की रूपक शैली का क्रमिक विकास निम्न प्रकार से हुआ :—

(१) आलंकारिक रूप में—रूपक अलंकार के माध्यम से वेदों में अमूर्त को मूर्त रूप में व्यक्त किया गया है।

(२) परस्पर सम्बन्धों की योजना—अमूर्त से मूर्त रूप में परस्पर संबंधों की योजना से रूपक शैली का बिस्तार ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में भी मिलता है।

(३) दृष्टान्त-कथा-रूपक—अमूर्त को मूर्त रूपों से व्यक्त करने में संबंधों और कार्यकलापों की योजना प्रतीकों में होने से, अमूर्त जगत् के मूर्त रूपक दृष्टान्त-कथा-रूपक, का रूप धारण करने लगे। मानव का भावात्मक और आध्यात्मिक जगत् मूर्त जगत् के राजा और रानी की कथाओं के माध्यम से व्यक्त किया जाने लगा। इन कथाओं में राजा और रानी भावात्मक का आध्यात्मिक पात्रों के प्रतीक मात्र होते हैं; अतः उनकी कथा संकलित प्रतीकों का एक विस्तृत रूपक बन जाती है। जिसका अभिप्राय कथा के अन्त में स्पष्ट होता है। सम्भवतः इस कारण से इन्हें "दृष्टान्त-कथा" माना गया और साथ ही रूपक होने से "दृष्टान्त-कथा-रूपक" नाम दिया गया। दृष्टान्त के अर्थ हैं : (दृष्ट + अन्त) अन्त में दृष्टिगोचर होने वाला तथ्य। "इन कथाओं में राजा और रानी की सम्पूर्ण कथा जान लेने के पश्चात् अन्त में ज्ञात होता है कि राजा और रानी किन अमूर्त तत्वों के प्रतीक हैं। इन दृष्टान्त कथा-रूपकों का प्रयोग उपनिषद् और भागवत आदि पुराण ग्रन्थों में अधिकता से मिलता है।

(४) **रूपक कथाएं**—रूपक कथाओं में अमूर्त पात्रों का स्वतंत्र प्रयोग होता है। अमूर्त तत्व, अपने मूल रूप में, मूर्त कल्पना से आरोपित मूर्त रूप धारण कर पात्र बन जाते हैं। इन रूपक कथाओं

का अभिप्राय प्रत्यक्ष और स्पष्ट होता है, प्रतीकों के पीछे छुपा हुआ नहीं होता है।

४७. जैन धर्म में प्राचीन काल से इन रूपक कथाओं का विशाल साहित्य उपलब्ध होता है। यह संस्कृत प्राकृत अपभ्रंश आदि भाषों में है और हिन्दी भाषा में भी इसकी परम्परा पल्लवित एवं विकसित हुई है[१]।

४८. इस प्रकार प्रबोधचन्द्रोदय से पूर्व रूपक शैली का विकास, रूपक कथाओं तक ही हुआ था। इन रूपक कथाओं का प्रयोग नाटक की शैली में नहीं हुआ था। अर्थात् रूपक शैली, रूपक कथाओं का रूप धारण करने के पश्चात् भी, प्रबोध-चन्द्रोदय से पूर्व, नाटकीय रूप में विकसित नहीं हुई थी। रूपक शैली को नाटकीय रूप देने का श्रेय कृष्ण मिश्र को ही प्राप्त हुआ है। उनका प्रबोधचन्द्रोदय 'रूपक' शैली का प्रथम नाटक है।

४९. संस्कृत साहित्य में रूपक शैली के विकास का अध्ययन करने पर हमें उसका विकास सर्वप्रथम आलंकारिक रूप में ही मिलता है।

आलंकारिक रूप

५०. मानव में रूपकात्मक वर्णन की प्रवृत्ति पाई जाती है। रूपक शैली में वह अपने भावों को दूसरों को हृदयंगम कराने में सरलता से समर्थ होता है। रूपक शैली का आलंकारिक रूप तो संसार के प्राचीनतम साहित्य-वेद संहिताओं में भी दीख पड़ता है। वहां सूक्ष्म-रहस्य को मूर्त रूपकों के माध्यम से व्यक्त किया गया है :—

---

१. (अ) संस्कृत — १. 'उपमितिभव प्रपंच कथा', सिद्धर्षि
२. 'मदनपराजय', नागदेव
३. 'मोहराज पराजय', यशपाल

(ब) प्राकृत — १. 'धर्मपरीक्षा', जयराम
२. 'कुमारपालप्रतिबोध', सोमप्रभाचार्य

(स) अपभ्रंश — १. 'मयण पराजय', हरदेव
२. 'धम्मपरिक्खा' हरिषेण

(द) हिन्दी — १. 'समयसार', कवि बनारसीदास
२. 'तेरहकाठिया', ,,
३. 'पंचेन्द्रियसंवाद', भैया भगवतीदास
४. मधुबिन्दुक चौपाई भगवतीदास

५१. सामवेद पूर्वार्चिक, आग्नेयकाण्ड, प्रथम प्रपाठक, नवमी दशति, नवम खण्ड के दशम मंत्र में मननशील आचार्य को उपासक का पिता और श्रद्धा को माता कहा गया है। (पितायत्कश्यपस्याग्निः श्रद्धामाता मनुः कविः)। ऋग्वेद के सातवें मण्डल में (७।१०४।२२) एक मंत्र है जिसमें मोह व अज्ञान, क्रोध, मात्सर्य, काम, अभिमान व अहंकार और लोभ इनको क्रमशः उलूक, शुशलूक (भेड़िया) कुत्ता, चिड़ा (पक्षी विशेष), गरुड़ और गृद्ध से उपमा दी गई है।[1] वेदों की आलंकारिक रूपकात्मक शैली में यम यमी संवाद आदि अनेक नाटकीय संवाद भी मिलते हैं। निरुक्त अध्याय २, खण्ड ४ में विद्या ब्राह्मण से कहती है "हे ब्राह्मण तू मेरी रक्षा कर, मैं तेरी अक्षय निधि हूं।"[2] यजुर्वेद में मन की मूर्त्त व्यक्ति के रूप में अनेक शक्तियों का वर्णन किया गया है।[3]

अमूर्त के मूर्त रूपक सम्बन्धों की योजना

५२. अमूर्त के मूर्त रूपकों में सम्बन्धों की योजना का विस्तार हुआ। यह रूपकात्मक शैली ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में भी मिलती है।

५३. शतपथ ब्राह्मण का, मनु, श्रद्धा व इड़ा का प्रसंग रूपकात्मक शैली में ही वर्णित है। मनु, श्रद्धा व इड़ा के सम्बन्धों और सम्बन्धित कार्यकलापों की उसमें विस्तृत योजना है।[4] छान्दोग्य उपनिषद में मानव की सद्-असद् प्रवृतियों का विरोध, देवों और असुरों के परस्पर शत्रु-सम्बन्ध से व्यक्त किया गया है। देवासुर संग्राम के रूप में ज्ञानेन्द्रियों का सद्-असद् संग्राम वर्णित हुआ

---

१. उलूक यातुं शुशुलूकयातुंजहिश्वयातुभुतकोकयातुम्।
सुपर्णायातुमुत गृधृयातुं वृष देव प्रमृण रक्ष इन्द्र।

२. "विद्या हवै ब्राह्मण्म आजगाम गोपायमा शेवधिष्टे"

३. सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्मेनीयतेऽभीषुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं यविष्ठं तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु।
—यजुर्वेद, अध्याय ३४। मंत्र ६।

४. (अ) जल-प्लावन का वर्णन—शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड के आठवें अध्याय में मिलता है।

(ब) श्रद्धा के साथ मनु सृष्टि प्रारम्भ करने का प्रयत्न करते हैं: श्रद्धा देवो वै मनुः (का० १ प्र० १४.१५)।

(स) इड़ा की उत्पत्ति और मनु से वार्तालाप का प्रसंग शतपथ ब्राह्मण में (शतपथ ६, प्र० ३ ब्रा०) मिलता है।

है।[1] "परम आध्यात्मिक ज्ञान" की उपासना के अभाव में, यदि मानव ज्ञानेन्द्रियों देव (सत्) को असुर (असत्) पर विजयी बनाना चाहता है तो असुर (असत्) उसे पाप से युक्त किये ही रहते हैं। किन्तु जब मानव ज्ञानेन्द्रियों के देवता (सत् प्रवृत्ति) से विशुद्ध ज्ञान रूप उद्गीथ की उपासना करने लगता है, तब असुरों का नाश स्वयं हो जाता है।[2]

५४. महाभारत के आदि पर्व में (६६, १४, १५) धर्म की दस पत्नियां मानी गई हैं। यह पत्नियां कल्पित और आलंकारिक ही हैं। इनके नाम हैं—कीर्ति, लक्ष्मी, धृति, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, मति आदि।[3] इसके अतिरिक्त इसी आलंकारिक रूप में धर्म के तीन पुत्रों और तीन पुत्रों की तीन वधुओं का संकेत है। धर्म के ये तीन पुत्र शम, काम, और हर्ष हैं, जो संसार को अपने प्रताप से धारण करते हैं।[4] काम की पत्नी रति है, शम की पत्नी प्राप्ति और हर्ष की पत्नी नन्दा है।[5] इस प्रकार इन ग्रन्थों में पूर्ण और विस्तृत

---

१. छान्दोग्योपनिषद्—प्रथम अध्याय का द्वितीय खण्ड—

तेवासुर ह वै यत्र संपेतिर उभये प्राजापत्यास्तद्ध देवा उद्गीयमाजह्रुरने मैनानभिभविष्याम इति ॥१॥

तेह्नासिक्यं प्राणमुद्गीथमपासांचक्रिरेत ह्रासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मा-तेनोभयंजिघ्रतिसुरिभि च दुर्गन्धि च पाप्याना ह्योषा विद्धिः ॥२॥

अथहत्वाचमुद्गीथम्.....वदति सत्यं चानृतं च पाप्मना ह्येषा विद्धः ॥३॥

वाणी....... ॥३॥ (सत्य, असत्य)।

चक्षु....... ॥४॥ (दर्शनीय अदर्शनीय)।

श्रोत्र....... ॥५॥ (श्रवणीय अश्रवणीय)।

मन ...... ॥६॥ (संकल्पनीय, असंकल्पनीय)।

२. अथ ह एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथ मुपासांचक्रि रे तहासुरा ऋत्वा विदध्वंसुर्य थाश्मानमारवणभृत्वाविध्व सेत ॥७॥

३. कीर्तिर्लक्ष्मी धृतिर्मेधा, पुष्टिः श्रद्धा क्रिया तथा।
बुद्धिर्लज्जामतिश्चैव पत्नयो धर्मस्य ता दश।
दाराण्येतानि धर्मस्य, विहितानी स्वयम्भुवा। (६६.१४.१५)

४. त्रयस्तस्य वराः पुत्राः सर्वभूत मनोहरा।
शमः कामश्चहर्षश्च तेजसा लोकधारिणाः ॥६६–३२॥

५. कामस्य तु रतिभार्या शमस्य प्राप्तिरंगना।
नन्दा तु भार्या हर्षस्य यासु लोकाः प्रतिष्ठिताः ॥६६–३३॥

आलंकारिक रूप में सम्बन्धों की योजना मिलती है, जिनमें काव्य सौष्ठव ही विशेष है।

दृष्टान्त कथा रूपक

५५. रूपकात्मक शैली का विकास दृष्टान्त-कथा-रूपक के रूप में हुआ। इन दृष्टान्त-कथा-रूपकों में सूक्ष्म आध्यात्मिक तत्वों की व्याख्या अनेक प्रकार से होने लगी। उपनिषद् और भागवतादि पुराण ग्रन्थों में अनेक दृष्टान्त-कथा-रूपक मिलते हैं।

५६. छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठ प्रपाठक[1] के तेरहवें और चौदहवें खण्ड में श्वेतकेतु अपने पिता से कहते हैं कि आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में मुझे और अधिक स्पष्ट करके समझाइये। तब उनके पिता एक राजा के बालक की कथा सुनाकर, सूक्ष्म आध्यात्मिक तत्व की व्याख्या करते हैं। इस कथा में एक राजा के बालक को चोर पकड़ कर वन में ले जाते हैं। उसके वस्त्राभूषण सब उससे छीन लेते हैं और आंखों पर पट्टी तथा शरीर को रज्जु से बांध कर चले जाते हैं। भयंकर वन में अकेला बालक दुःखी होता, रोता और भटकता है। ऐसे समय में उसे एक साधु सहायता करता और मार्ग बताता है। उस मार्ग का अनुसरण करने से वह बालक क्रमशः अपने गन्तव्य स्थल पर पहुंच जाता है। प्रस्तुत कथा में सत् चैतन्यदेव राजा है, चिदाभास जीव बालक है। संस्कार और अभ्यास रूप दो तस्कर हैं। अज्ञान रूप पट्टी है, तृष्णा रूप रज्जु है। वन संसार है।

५७. श्रीमद्भागवत पुराण में (चौथे स्कन्ध के २५ से २९वें अध्याय में वर्णित राजा पुरंजन की प्रसिद्ध कथा है। उसमें जीव और परमात्मा के सूक्ष्म आध्यात्मिक व्याख्या है। यह कथा एक राजा की कथा है। प्राचीन काल में एक राजा वर्हिष थे, जो यज्ञादि कर्मकाण्ड में फंसे रहते उनका ध्यान भक्ति में नहीं लगता

---

१. छान्दोग्य षष्ठ प्रपाठक—तेरहवां खण्ड

सय एषोऽणिमैतदात्म्यमिद सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्वमसि श्वेतकेतो इति भूय एवं मा भगवन् विज्ञापयात्विति तथा सौम्येति होवाच॥३॥

छान्दोग्य षष्ठ प्रपाठक में चतुर्दशः खण्ड।

यथा सौम्य पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमनीय तं ततोऽति जने विसृजेत्स यथा तत्र प्राङ्वा उदङ्वाऽधराङ्वाप्रध्मायिताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः॥१॥

तस्य तथा अभिहतं प्रमुच्य—सम्पत्स्य इति॥२॥

था। नारद जी ने दया करके राजा को उद्धार का उपाय बताया।[1] उद्धार का उपाय समझाने के लिए अनेक दृष्टान्त दिये हैं। इन दृष्टान्तों में, दृष्टान्त-कथा-रूपक राजा पुरञ्जन की कहानी है। राजा पुरञ्जन-जीव का रूप है और उसका मित्र अविज्ञात ईश्वर का रूप है।[2] राजा अपने मित्र से पृथक् होकर भटकता है। मोह में पड़ा हुआ, वह दुख भोगता है। उसके भटकने और दुख भोगने की एक लम्बी कहानी है, जिसमें उसके विवाह, राज्यशासन आदि का वर्णन भी है। अन्त में उसका मित्र अज्ञात ही भक्ति के उपाय से उसे मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर कर देता है।[3] इस कथा का अभिप्राय है कि जीवात्मा ईश्वर से अलग होकर, शरीर में अपने स्वरूप को भूली हुई रहती है, अनेक दुःख उठाती है। अन्त में ईश्वर की भक्ति उपासना से ही उसका मोक्ष होता है।

५८. इस प्रकार दृष्टान्त-कथा-रूपकों में रूपक शैली का विकास हुआ। प्रतीकों की सहायता से दृष्टान्त-कथा-रूपक में सूक्ष्म अदृश्य जगत् की अप्रत्यक्ष व्याख्या विस्तार से होने लगी।

रूपक कथा

५९. रूपक शैली का पूर्ण विकास रूपक कथाओं के रूप में हुआ। प्रथम दो प्रकारों में रूपक शैली का संक्षिप्त रूप था। तृतीय प्रकार में प्रतीक और अभिप्राय की, कथा के अन्त में होने वाली व्यंजना किन्हीं अंशों में बाधक ही थी, क्योंकि इस व्यंजना को स्पष्ट करने की आवश्यकता बनी रहती थी। अतः संक्षिप्तता और अस्पष्टता को छोड़कर रूपक कथाओं के रूप में रूपक शैली पूर्ण रूप में विकसित हुई। सूक्ष्म आध्यात्मिक जगत् के उपकरण को ही मूर्त रूप देकर रूपक कथा की सृष्टि होने लगी, जिससे न तो संक्षिप्तता रही, न अस्पष्टता ही रही।

---

१. प्राचीन बर्हिषं क्षत्रः कर्म स्वासक्तमानसम्।
नारदोऽध्यात्मतत्वज्ञः कृपालु प्रत्यबोधयत्॥३॥

२. आसीत्पुरंजनो नाम राजा राजन् बृहच्छ्रवाः।
तस्याविज्ञातनामाऽऽसीत्सखाविज्ञातचेष्टितः॥१०॥
—श्रीमद्भागवत—चतुर्थस्कन्ध पंचविंशोअध्यायः।

३. पुरुषं पुरंजनं विद्याथद् व्यनकत्यात्मनः पुरम्।
एकद्वित्रिचतुष्पादं बहुपादमपादकम्॥२॥
योऽविज्ञाताहृतस्तस्य पुरुषस्य सखेश्वरः।
यन्न विज्ञायते पुम्भिर्नामभिर्वा क्रिया गुणैः॥३॥
—श्रीमद्भागवत—चतुर्थस्कन्ध एकोनत्रिंशोऽध्यायः।

६०. बौद्ध धर्म[1] और जैन धर्म में रूपक कथाओं का विशाल साहित्य उपलब्ध होता है। दसवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग जैन साहित्य में कुछ रचनाओं के नाम मिलते हैं—सन् ९०५ ई० (सं० ९६२) में श्रीयुत सिद्धर्षि सूरि की 'उपमिति भव प्रपंच कथा' नामक संस्कृत रचना[2] और सं० १०४४ के पूर्व कविवर जयराम की प्राकृत रचना 'धम्म परिक्खा' उपलब्ध होती है।[3]

६१. 'उपमिति भव प्रपंच कथा' रूपक शैली में लिखा गया एक वृहत् काव्य ग्रन्थ है जिसे काव्यात्मक उपन्यास कहा जा सकता है। इस वृहत् काव्य रचना में अनेक भावात्मक रूपक कथायें हैं। इन रूपक कथाओं के काव्यात्मक वर्णनों में कहीं-कहीं नाटकीयता मिलती है, किन्तु इससे उसे नाटक नहीं कहा जा सकता। वह एक वृहत् वर्णनात्मक काव्य ग्रन्थ है। इसमें जीव के संसार परिभ्रमण और कष्ट सहन का वर्णन रूपक कथाओं के द्वारा किया गया है। लेखक ने ग्रन्थ की भूमिका में ही, ग्रन्थ के ज्ञानोपदेश को बहुमूल्य भेषज, ग्रन्थ की कथा को साधारण कठौती से उपमा देकर रूपक शैली में नाटकीय ढंग से कहा है—"सब लोग इन औषधियों को ग्रहण करने लगें, इसका अब एक ही सर्वोत्तम उपाय है। वह यह कि लोगों से खचाखच भरे हुए इस राजा के आंगन में इन तीनों भेषजों को एक बड़ी भारी कठौती में (लकड़ी के पात्र में) रखकर तुझे एक ओर विश्वास करके बैठ जाना चाहिए, ऐसा करने से जो लोग तेरी दरिद्रता का स्मरण करके तेरे पास से औषधियां नहीं लेते हैं, परन्तु यथार्थ में उन्हें चाहते हैं, वे शून्य स्थान देखकर स्वयं ले लेवेंगे।[4]

---

१. जातक कथाओं का संकेत--
अपभ्रंश साहित्य, हरिवंश कोछड़, पृष्ठ ३३४।
मदनपराजय की भूमिका--'रूपक कथा साहित्य'।

२. BIBLIOTHECA INDICA : A Collection of Oriental Works Published by the Asiatic Society of Bengal New Series No. 1089, originally Edited by the Late Peter Peterson, M. A and continued by Professor Dr. Hermann Jacobi. Published in 1904.

३. 'अनेकान्त' पत्रिका का लेख--'रूपक काव्य परम्परा'--परमानन्द शास्त्री अप्रैल १९५७ का अंक, वीर सेवा मन्दिर, देहली।

४. (अ) 'उपमिति भवप्रपंच कथा' का हिन्दी अनुवाद, प्रथम प्रस्ताव--नाथूराम प्रेमी, पृ० ४९-५०।

६२. जैन सिद्धान्त के अनुसार सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र से ही सांसारिक प्रपंचों में फंसे हुए जीव का मोक्ष सम्भव है। इन तीनों रत्नों से युक्त कथा को लेखक ने जीव उद्धार के लिए लिखकर राजा रूपी ईश्वर के आंगन रूप संसार में रख दिया है। 'उपमिति भव प्रपंच कथा' के नाम से स्पष्ट है, कि इस कथा में भव-संसार के प्रपंचों का उपमाओं के द्वारा वर्णन है।

६३. जैन श्वेताम्बर मतानुयायी सिद्धर्षि मुनि ने यह छन्दोबद्ध काव्य ग्रन्थ आठ प्रस्तावों में लिखा है। प्रथम प्रस्ताव में रचना का उद्देश्य वर्णित है और अन्य प्रस्तावों में जैन सिद्धान्त को हृदयंगम कराने के हेतु अनेक रूपक कथायें हैं। द्वितीय प्रस्ताव में रूपक बांधते हुए कवि ने लिखा है—"संसार नाटक में राग और द्वेष नाम के दो मृदंग हैं और दृष्टाभिसन्धि (बुरे परिणाम) नाम का पुरुष उनको बजाता है। क्रोध, मान आदि सुन्दर कण्ठ के गवैये हैं। महामोह सूत्रधार नाटक का प्रवर्तक है, रागाभिलाष नान्दी मंगल का पढ़ने वाला है, काम नामक विदूषक है, जो अनेक प्रकार की, हावभाव कटाक्षादि युक्त चेष्टाएँ करता है—कृष्ण, नील, कपोत, पीत, पद्म और शुक्ल, लेश्या नाम के रंग-विरंगे श्रृंगार हैं जिनसे पात्र सजाये जाते हैं। सचित्र शीतादि योनियां नाटक में प्रवेश करने वाले पात्रों की नेपथ्य भूमियां (सजकर आने का स्थान) हैं। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा नामक कांशिका (झाझिं) हैं, लोकाकाश नाम की विशाल रंगभूमि है, और पुद्गल स्कन्ध नाम की शेष सामग्रियां (दीगर चीजें) हैं। इस तरह इस सारी सामग्रियों से परिपूर्ण नाटकगृह में वह कर्मपरिणाम राजा नाना प्रकार के पात्र सजाता है। उन्हें बार-बार लौटता पलटता है, किसी को कुछ

(ब) अथ निश्चित्य गर्भार्थं कार्यस्येत्थमभाषत।
एक एवात्र हेतुः स्याद् ग्राहणे सर्वसंश्रयः ॥५२॥
राजाजिरे विधायेदं काष्ठापात्र्यां जनाकुले।
वस्तुत्रयं विशालायां तिष्ठ विश्रब्धमानसः ॥५३॥
स्वयमेव ग्रहीष्यन्ति शून्यं दृष्ट्वा तदर्थिनः।
स्मरन्तो रोरभावं हि त्वत्कारात्ते न गृह्णते ॥५४॥
आदद्यात् कश्चिदेकोऽपि यदि तत्सगुणो नरः।
तेन स्यात्तारितो मन्ये यत एतदुदाहृतम् ॥५५॥
किञ्चिज्ज्ञानमयं पात्रं किंचित्पात्रं तपोमयम।
[illegible] ॥५६॥

बनाता है, किसी को कुछ। और यों उन सबको हैरान करके आप मुदित होता है।[1]

६४. इस प्रकार 'उपमिति भवप्रपंच कथा' वर्णनात्मक और औपन्यासिक ही है। कथा में रूपकतत्व पात्रों में भावात्मकता और प्रतीकात्मकता है।[2] इससे

---

१. (अ) 'उपमिति भव प्रपंच कथा' का हिन्दी अनुवाद--द्वितीय प्रस्ताव नाथूराम प्रेमी, पृष्ठ ७-८।

(ब) 'उपमिति भवप्रपंच कथा' के द्वितीय प्रस्ताव पृष्ठ १५१

संसारनाटकं चित्रं नाटयत्येष लीलया।।
रागद्वेषाभिधानौ द्वौ मुरजौ तत्र नाटके।
दुष्टाभिसन्धिनामा तु तयोरास्फालको मतः।।
मानक्रोधादिनामानो गायनाः कलकण्ठकाः।।
महामोहाभिधानस्तु सूत्रधारप्रवर्तकः।।
भोगाभिलाषसंज्ञोऽत्र नान्दीमंगलपाठकः।
अनेकविब्बोककरः कामनामा विदूषकः।।
कृष्णादिलेश्यानामानो वर्णकाः पात्रमण्डनाः।
योनिः प्रविश्यत्पात्राणां नेपथ्यं व्यवधायकम्।।
भयादिसंज्ञा विज्ञेयाः कंशिकास्तत्र नाटके।
लोकाकाशोदरा नाम विशाला रंगभूमिका।।
पुद्गलस्कन्धनामानः शेषोपस्करसंचयाः।
इत्थं समग्रसामग्रीयुक्ते नाटकपेटके।।
नानापात्रपरावृत्या सर्वलोकविडम्बनाम्।
अपरापररूपेण कुर्वाणोऽसौ प्रमोदते।।

२. (क) 'उपमितिभव प्रपंच कथा' के तृतीय प्रस्ताव--पृ० २१० शुभ परिणाम नाम के राजा के राज्य का वर्णन--

रागद्वेषमहामोहक्रोधलोभमदभ्रमाः।
कामेर्ष्याशोकदैन्याद्या ये चान्ये दुःखहेतवः।।
+ + +
तेषामुद्दलनं राजा स कुर्वन्नवतिष्ठते।।
ज्ञानवैराग्यसंतोषत्यागसौजन्यलक्षणाः।
+ + +
तेषां स राजा सततं परिपालनतत्परः।

ज्ञात होता है कि संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय से पूर्व जो रूपक शैली अलंकार की शैली मात्र में व्यवहृत थी, वही आवश्यकतानुसार दृष्टान्त-कथा-रूपकों और विस्तृत

धीधृतिस्मृतिसंवेगशमाद्यैः परिपूर्यते।
भाण्डागारं यतस्तस्य गुणरत्नैः प्रतिक्षणम्॥

अर्थात् राग, द्वेष, महा, मोह, क्रोध, लोभ, मद, भ्रम, काम, ईर्ष्या, शोक और दैन्य आदि तथा दूसरे जो दुख के कारण हैं उनका विनाश करता हुआ वह शुभपरिणाम राजा अवस्थित रहता है।...ज्ञान, वैराग्य, सन्तोष, त्याग और सौजन्य आदि, जो सुख के कारण हैं, उनकी रक्षा वह राजा सदा किया करता है।...बुद्धि, धैर्य, स्मृति, संवेग और शम आदि गुण रत्नों से उसका भाण्डागार सदैव पूर्ण रहता है।

(ख) 'उपमिति भव प्रपंच कथा' के तृतीय प्रस्ताव में पृ० २२९ सम्राट् महामोह का वर्णन है--

....यतोऽस्य देवस्य रागकेसरिणो बालाबलादीनामपि सुप्रतीतोऽनेकाद्भुतकर्मा भुवनत्रयप्रकटिताभिधानो महामोहो जनकः। तथाहि--

महामोहो जगत्सर्वं भ्रामयत्येष लीलया।
शक्रादयो जगन्नाथा यस्य किंकरतां गताः॥

\+ \+ \+

रागकेसरिणो दत्वा ततो राज्यं विचक्षणः।
महामोहोऽधुना सोऽयंशेते निश्चिन्ततां गतः॥
तथापीदं जगत्सर्वं प्रभावेण महात्मनः।
तस्यैव वर्ततेनूनं कोऽन्यः स्यादस्य पालकः॥
तदेषोऽद्भुतकर्तव्यः प्रसिद्धोऽपि जगत्रये।
महामोहनरेन्द्रस्ते कथं प्रष्टव्यतां गतः॥

अर्थात् राग केसरी का जनक महामोह बच्चों और स्त्रियों तक में प्रसिद्ध तथा अनेक आश्चर्यजनक कार्यों का सम्पादक है उसका नाम त्रिलोकी में प्रसिद्ध है। वह लीलापूर्वक तीनों लोकों में भ्रमण करता है। इन्द्रादि लोकपाल भी इसके सेवक हैं। ....यद्यपि वह मेधावी महामोह सम्प्रति अपने पुत्र राग को राज्य देकर निश्चिन्त हो सो रहा है, फिर भी उसी के प्रभाव से इस जगत का व्यवहार चल रहा है। उसे छोड़ कर इस संसार का स्वामी और कौन है। अतः तुमने अद्भुत कर्मा नरेन्द्र महामोह से प्रश्न कैसे किया?

रूपक कथाओं के रूप में विकसित हुई। किन्तु नाटकीय रूप में इसका प्रथम प्रयोग कृष्ण मिश्र के नाटक संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय में ही मिलता है। अतः कहा जा सकता है कि रूपक शैली का नाटकीय प्रयोग कृष्ण मिश्र की मौलिक उद्भावना है।

प्रबोधचन्द्रोदय की पूर्ववर्ती नाटक प्रणाली का स्वरूप

६५. प्रबोधचन्द्रोदय की रचना रूपक शैली में ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी में हुई। इससे पूर्व संस्कृत भाषा में नाटक साहित्य का विकास हो चुका था। भास, कालिदास और अश्वघोष की अमर रचनाएं नाटक साहित्य को समृद्ध कर चुकी थीं। इस पूर्ववर्ती समृद्ध नाटक साहित्य में रूपक शैली के प्रयोग का क्या स्वरूप था, इसका परिचय प्रबोधचन्द्रोदय की पूर्ववर्ती नाटक प्रणाली के अध्ययन से ही ज्ञात हो सकता है।

६६. संस्कृत का प्रथम नाटककार कौन था? भास या अश्वघोष? इस प्रश्न के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद मिलता है। किन्तु भास प्रामाणिक अनुसंधान के आधार पर, अब ईसा पूर्व की पांचवीं शताब्दी के सिद्ध हो चुके हैं,[1] अतः भास

---

१. विद्वानों का एक दल अश्वघोष, भास और कालिदास के नाटकों की प्राकृत-भाषा की तुलना कर समय की दृष्टि से अश्वघोष को प्रथम, भास को द्वितीय तथा कालिदास को तृतीय स्थान देता है। (कीथ--हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट० पृ० ८० संस्कृत ड्रामा--पृ० ९४) इसके अतिरिक्त ये विद्वान कालिदास (चौथी ई० श०) और भास की प्राकृत में अत्यधिक साम्य और कालिदास के द्वारा भास का उल्लेख किये जाने के कारण, भास को कालिदास का निकट पूर्ववर्ती--और भास के ग्रन्थों में अश्वघोष के ग्रन्थों की अपेक्षा अत्यन्त अर्वाचीन प्राकृत शब्दों के रूप पाये जाने के कारण (कीथ--हिस्ट्री आफ सं० लि०--पृ० ८२) भास को अश्वघोष का दूरतर पश्चात्वर्ती (कीथ--संस्कृत ड्रामा, पृ० ९३) स्वीकार करते हैं। किन्तु प्रामाणिक अनुसंधानों के आधार पर कालीदास ई० पूर्व की प्रथम शताब्दी के सिद्ध हो चुके हैं (देखिए--काल निर्णय कालीदास)। कालिदास ने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्र' की प्रस्तावना में भास की प्रशंसा सफल नाटककार के रूप में की है। जिससे भास ई० पू० के सिद्ध होते हैं। इस मत के समर्थक विद्वानों का दल अनेक प्रमाणों जैसे कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायण के एक श्लोक के उल्लेख पाये जाने के आधार पर, भास को कौटिल्य से पूर्ववर्ती अर्थात् ई० पू० पांचवी शताब्दी का मानता है। (बलदेव उपाध्याय सं० सा० का इतिहास,

को ही संस्कृत नाटक साहित्य का प्रथम उपलब्ध नाटककार मानना उचित प्रतीत होता है। भास के नाटक 'प्रतिज्ञायोगन्धरायण', 'स्वप्नवासवदत्तम्', 'उरुभंग', 'बालचरित्र', 'दूतघटोत्कच', 'दूतवाक्य', 'कर्णभार', 'मध्यामव्यायोग', 'पंचरात्र', 'अभिषेक नाटक', 'प्रतिमानाटक', 'अविमारक' और 'चारुदत्त' आदि हैं। इन नाटकों का सम्बन्ध इतिहास-प्रसिद्ध उदयन, महाभारत और रामायण तथा सुप्रसिद्ध किंवदन्तियों से है। भास के 'बालचरित' नाटक में हमें कुछ रूपकात्मकता का आभास मिलता है।[१] इसमें जब यमुना पार ले जाकर, वसुदेव बालकृष्ण को, नन्द को सौंपते हैं, तब वह बालक इतना भारी हो जाता है, कि उसे लेकर नन्द को आगे चलना कठिन लगता है। उस समय कृष्ण के दिव्य अस्त्र तथा वाहन मानव रूप में उपस्थित होते हैं। किन्तु ऐसे स्थल पर, रूपकात्मकता नहीं मानी जा सकती। हम यहां दिव्य तत्वों के बीच हैं और दिव्य तत्वों की दिव्यता ही है कि वे चाहे जिस रूप में प्रस्तुत हो सकते हैं, जहां कवि द्वारा रूपक कल्पित हुआ हो, रूपक वहीं हो सकता है।

६७. 'बालचरित' के द्वितीय अंक में कंस की दशा का वर्णन है। इस वर्णन में भी रूपकात्मकता है। इसमें 'शाप' तथा 'राज्यश्री' स्वयं पात्र रूप में प्रवेश करते हैं। ये पात्र ठीक वैसे ही हैं जैसे प्रबोधचन्द्रोदय के विवेक और मोह आदि। इनका प्रसंग यों है कि कंस के पास जाने के हेतु, 'शाप' चाण्डाल के वेष में मुण्डों की माला पहने हुए, महल में प्रवेश करना चाहता है। महल का दरबान मधूक उसे द्वार पर ही रोकता है। चाण्डाल वेषी 'शाप' अपनी शक्ति से, उसे बलपूर्वक हटा कर, महल के मध्य में पहुंच जाता है। उसी समय कंस के विशाल राज्य वैभव की प्रतीक 'राज्यश्री' स्त्री पात्र के रूपक में उपस्थित होकर उसे रोकती है। चाण्डाल उससे कहता है कि मुझे क्यों रोकती हो मैं विष्णु की अनुमति से ही जाना चाहता हूँ। इस उत्तर से राज्यश्री स्वयं हट जाती है और उसे जाने देती है। चाण्डाल रूप में शाप कंस के पास जाकर उसमें प्रवेश कर जाता है। जिसके प्रभाव से कंस की व्याकुलता बढ़ने लगती है।

६८. प्रस्तुत वर्णन में 'शाप' और 'राज्यश्री' आदि अमूर्त तत्वों का पात्र रूप में उपस्थित होना, रूपक शैली का नाटकीय प्रयोग है। इस प्रकार भास के 'बालचरित' नाटक में कतिपय पात्र ही रूपक पात्र हैं। सम्पूर्ण नाटक रूपक

पृ० ४३९ पर निर्दिष्ट टी० गणपति शास्त्री का मत) यही मान्यता हमें भी उचित प्रतीत होती है।

१. कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ ९८, ९९।

नहीं है। अतएव प्रबोधचन्द्रोदय से पूर्व रूपक शैली में कतिपय भावतात्विक पात्रों का नाटकीय प्रयोग ही मिलता है। इसे प्रबोधचन्द्रोदय की शैली का बीज माना जा सकता है। पर इसकी सीधी परम्परा स्थापित नहीं हुई, अतः यह निश्चित-पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यही बीज प्रबोधचन्द्रोदय में पल्लवित हुआ। भास के सम्बन्ध में कितने ही विद्वानों ने कितने ही प्रकार के सन्देह किये हैं। इस ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस प्रसंग से भास के नाटकों का विशेष महत्व नहीं है।

६९. भास के उपरान्त कालिदास आते हैं। कालिदास में संस्कृत नाटक का चरम विकास हुआ है। कालिदास[1] का समय ई० पू० प्रथम शताब्दी के लगभग का माना गया है।[2] कालिदास के नाटक 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय', 'अभिज्ञान शाकुन्तल' आदि हैं। 'मालविकाग्निमित्र' नाटक में—सम्राट अग्नि-मित्र और मालविका की—, 'विक्रमोर्वशीय' नाटक में उर्वशी और सम्राट विक्रम की, 'अभिज्ञान-शाकुन्तल' नाटक में—सम्राट दुष्यन्त और शकुन्तला की प्रणय कथा है। तीनों नाटकों में भावतात्विक रूपक शैली के पात्रों का प्रयोग नहीं है। शकुन्तला नाटक के चतुर्थ अंक में रूपकात्मक का कुछ आभास अवश्य मिलता है। शकुन्तला की विदा की तैयारियां होती हैं, उस समय वन के वृक्षों में से किसी ने चन्द्रमा के सदृश्य शुभ्र क्षोभ (रेशमी वस्त्र), किसी ने लाक्षारस और किसी

---

१. कालिदास के सम्बन्ध में बहुत मतभेद मिलते हैं। कुछ विद्वान तो काव्य रचयिता और नाटक रचयिता कालिदास को एक नहीं मानते। इसी कारण कालि-दास के काल-निर्णय करने में भी बहुत विवाद और भ्रम मिलता है। अब तक वीर विक्रमादित्य के अस्तित्व में भी सन्देह किया जाता था (कीथ---हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० ७४-८२, मैकडोनल-हिस्ट्री आ० सं० लि०, पृ० ३२५) अब स्थित सुधरी है। अब इतिहासकार ई० पू० प्रथम शती में विक्रम का अस्तित्व मानने लगे हैं और कालिदास को भी उनका राज्य कवि माना जाने लगा है। (सं० सा० इति० बलदेव उपा० पृ० १४४, डा० राजबलि पाण्डेय)। अश्वघोष को कालिदास का ऋणी सिद्ध कर दिया गया है। (डेट आफ कालिदास'---क्षेत्रेश-चन्द्र चट्टोपाध्याय, रीप्रिन्ट फ्राम द इलाहाबाद यूनी०, स्टडीज भाग २) १९२६ (पृ० ८२-१०६) कालीदास से संबंधित, ई० पू० प्रथम शती० का, प्रयाग में भीटा नामक स्थान पर एक पदक प्राप्त हुआ है। (सन् १९०९-१० ई० के भारतवर्ष के पुरातत्व विभाग संबंधी अनुसंधान के वार्षिक विवरण के पृष्ठ ४०, ४१ पर प्रकाशित (अतः) हम भी इसी परम्परा को मान्यता देते हैं।

२. बलदेव उपाध्याय---संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १४६।

ने (कोमल किसलय रूपी वन देवता के करतलों के द्वारा) आभूषणों का दान दिया है। जब शकुन्तला वन-वृक्षों से अनुमति लेकर चलना चाहती है, तब कोकिल के शब्दों में वन-वृक्ष उसे अनुमति देते हैं। उसके पश्चात् आकाशवाणी के रूप में वन देवता का आशीर्वाद शकुन्तला को मिलता है। लतायें पीले पत्तों के रूप में आंसू बहाती हैं। किन्तु यह रूपकात्मकता नहीं है। वृक्षादि, वृक्ष रूप में ही ये व्यापार करते हैं। इसमें अमूर्त एवं भावतात्विक पात्र रूपक शैली में प्रयुक्त नहीं हुए हैं।

७०. कालिदास के अनन्तर संस्कृत साहित्य में जिन नाटककारों की नाट्य-कृतियां हमें आज उपलब्ध हैं, उनमें शारिपुत्र प्रकरण (शारद्वावपुत्र प्रकरण) के रचयिता महाकवि अश्वघोष ईसा की प्रथम शताब्दी में थे, यह पुष्ट प्रमाणों[१] के आधार पर सिद्ध हो चुका है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने कालिदास को गुप्तयुगीन और भास को उनके निकट पूर्ववर्ती मानकर अश्वघोष को संस्कृत साहित्य के प्रथम

---

१. (क) विद्वानों ने अश्वघोष को कनिष्क (ई० की प्रथम शताब्दी का समकालीन माना है। (कीथ के इतिहास पृ० ५५ पर निर्दिष्ट—Cf. Smith, EHI. pp. 272ff, Foucher, L'Art Grico-Bouddhique, ii 484ff. 506 ff. जो कनिष्क का समय लगभग ८१ ई० मानते हुए, शक संवत् को मौर्य सम्वत् की पांचवी शताब्दी का प्रारम्भ मात्र समझते हैं। Cf. D. R. Sahini, TRAS. 1924. pp. 399ff.

(ख) प्रो० ल्यूडर्स ने तुरफान से शारिपुत्र प्रकरण की प्रति को प्राप्त किया था (कीथ-संस्कृत ड्रामा, पृ० ८०, ८१ पर निर्दिष्ट—For the Fragments see Liiders, Bruchstiicke buddhistischer Dramen (1911).
प्रो० ल्यूडर्स में प्राप्त प्रति की रचना को कनिष्क या हुविष्क के समय की स्वीकार किया है। (डा० व्यास—संस्कृत कविदर्शन पृ० ४२ पर निर्दिष्ट)

(ग) डा० कीथ ने एक कवि मातृचेट को अश्वघोष से प्रभावित सिद्ध किया है—(कीथ—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६४ पर निर्दिष्ट—Cf. Thomas, ERE. Vill 495, इसके अतिरिक्त पृ० ६६ पर निर्दिष्ट —Gawronski, Studies about the sank Buddh. Lit., pp. 49ff. मातृचेट कवि कनिष्क के समय में वर्तमान थे) बलदेव उपाध्याय का इतिहास पृ० १७९ पर निर्दिष्ट-इण्डियन एण्टिक्वेरी में भाग ३२, १९०३, पृ० ३४५।

नाटककार होने के गौरव से मण्डित करने का प्रयास किया है।[1] किन्तु इनसे पूर्व भास (ई० पू० ५वीं शती० में) और कालिदास (ई० पू० प्रथम शती) की स्थिति अनुसंधान के पुष्ट प्रमाणों के आधार पर निश्चित हो चुकी है।[2] इसलिए अश्वघोष को संस्कृत साहित्य का तीसरा नाटककार मानना हमें उचित प्रतीत होता है। इनका एक नाटक शारिपुत्र प्रकरण (शारिद्वाव पुत्र प्रकरण) नाम से मिलता है। इस नाटक में शारिपुत्र ब्राह्मण क्षत्रिय कुमार महात्मा बुद्ध से शिक्षा ग्रहण करता है। इस नाटक की तुरफान से प्राप्त हस्तलिखित प्रति में भावतात्विक रूपक शैली में लिखे हुए चार पृष्ठों की एक खण्डित प्रति उपलब्ध होती है। उस प्रति में धृति, दया, क्षमा आदि रूपक पात्र के रूप में उपस्थित होकर परस्पर वार्तालाप करती है। रूपकात्मक भावतात्विक पात्रों के प्रयोग की यह शैली प्रबोधचन्द्रोदय से समता रखती है। इस खण्डित प्रति से रचना के पूर्ण स्वरूप का, लेखक के रचनाकाल आदि का पता नहीं लगता है। डा० कीथ आदि विद्वानों ने अध्ययन के आधार पर खण्डित प्रति को अश्वघोषकृत स्वीकार किया है।[3] और डा० जान्सटन ने बुद्धचरित के अंग्रजी अनुवाद की भूमिका में इस प्रति को अश्वघोषकृत ही सिद्ध किया है।[4]

७१. इस प्रकार भास और अश्वघोष की रचनाओं में कतिपय रूपक पात्रों का प्रयोग किया गया है। दोनों की रचनाओं में रूपक शैली के पात्रों का प्रयोग

---

१. कीथ--संस्कृत ड्रामा (अ) पृ० ९३, ९४।

(ब) नाटककारों का क्रम अश्वघोष, पृ० ८०, भास पृ० ९१, कालिदास, पृ० १४३।

२. देखिये कालनिर्णय--भास, कालिदास।

३. कीथ--संस्कृत ड्रामा, पृ० ८३

There is no evidence of their authorship, other than the fact that they appear in the same manuscript as the work of Acvaghose, and that they display the same general appearance as the work of that writer. That they are Acvaghosa's is much more probable than that they are the work of some unknown contemporary.

४. कीथ--संस्कृत ड्रामा, पृ० ८४

"but the fragments are too short to give us any real information on the general trend of the play."

मिलने से अनुमान होता है कि रूपक शैली के नाटकीय प्रयोग की कोई पूर्ववर्ती परम्परा रहीं होगी। किन्तु पुष्ट प्रमाणों का अभाव होने से इस पूर्ववर्ती परम्परा का कोई स्वरूप स्थिर करना सम्भव नहीं है।

७२. अश्वघोष की रचनाओं के पश्चात् संस्कृत नाटक साहित्य में शूद्रक कृत 'मृच्छकटिक' नामक एक प्रसिद्ध सामाजिक नाटक मिलता है। इसके रचयिता (शूद्रक) के सम्बन्ध में सन्देह होने से[1] कीथ महोदय ने अपने अनुमान द्वारा मृच्छकटिक को भास के पश्चात् और कालिदास के पूर्व का सिद्ध किया है। उन्होंने कालिदास को चौथी शताब्दी का स्वीकार करके, कालिदास द्वारा उल्लिखित रौमिल्ल सौमिल्ल से मृच्छकटिक के रचयिता का सम्बन्ध जोड़ने की कल्पना की है। किन्तु कालिदास की स्थिति चौथी शताब्दी में मानना निर्मूल सिद्ध हो चुकी है और मृच्छकटिक ईसा की पांचवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध या छठीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में निर्मित[2] माना जाता है।

---

१. मृच्छकटिक नाटक की प्रस्तावना में शूद्रक की मृत्यु का संकेत होने के कारण (मृच्छकटिक प्रथम अंक, पद्य ३, ४, ५) शूद्रक को रचयिता मानने के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। (कीथ---संस्कृत ड्रामा---पृ० १२८, १३१), (मैकडोनल-संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३६१) ये विद्वान प्रसिद्ध नाटककारोंसे मृच्छकटिक के रचयिता का सम्बन्ध जोड़ते हैं। किन्तु पुष्ट प्रमाणों के अभाव में किये गये अनुमानों की मान्यता की अपेक्षा यही सम्भव प्रतीत होता है कि लोकप्रिय सामाजिक नाटक होने से (शूद्रक द्वारा) रचना के पश्चात् किसी प्रतिलिपिकार के द्वारा प्रमादवश अथवा अभिनयकर्ता के द्वारा दर्शकों के सूचनार्थ, शूद्रक की मृत्यु के श्लोक मृच्छकटिक की प्रस्तावना में सम्मिलित कर दिये गये हैं।

२. (क) मैकडोनल ने संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३६१ पर छठीं ई० श० रचनाकाल स्वीकार किया है।

(ख) 'मृच्छकटिक' निश्चय ही भास के 'दरिद्रचारुदत्त' का उपबृंहित संस्करण है (कीथ-संस्कृत ड्रामा, पृ० १२८) अतः भास के समय ई० पू० पांचवीं शताब्दी के अनन्तर ही इसकी रचना हुई होगी यह असन्दिग्ध है। इधर ईसा की आठवीं शताब्दी में उत्पन्न वामन के द्वारा शूद्रक का मृच्छकटिक के लेखक के रूप में उल्लेख इस बात का साक्ष्य है कि इसकी रचना ८वीं ई० श० पूर्व हो चुकी थी। (कीथ---संस्कृत ड्रामा---पृ० १२८)। इसके अतिरिक्त 'मृच्छकटिक' के लेखक ने नवम अंक में बृहस्पति को 'अंगार कविरुद्धस्य' (मृच्छकटिक ९।३३) कहा है, जो कि वराहमिहिर के पूर्व का मान्य सिद्धान्त था। वराहमिहिर की मृत्यु ५८९ ई०

अतः पांचवीं ई० उत्तरार्द्ध (या छठी पूर्वार्द्ध) के मृच्छकटिक का सम्बन्ध, ई० पू० प्रथम शताब्दी में स्थित कालिदास के उल्लेख से स्वीकार करना सम्भव नहीं है। जिससे मृच्छकटिक का स्थान संस्कृत नाटक साहित्य में कालक्रमानुसार भास, कालिदास और अश्वघोष के पश्चात् स्वीकार करना ही न्याय-संगत है। मृच्छकटिक नाटक में ब्राह्मण चारुदत्त और गणिका वसन्तसेना के प्रणय की कथा है। इसमें भाव-तात्विक रूपक शैली के पात्रों का प्रयोग नहीं है।

७३. सामाजिक नाटक मृच्छकटिक की रचना के अनन्तर संस्कृत नाटक साहित्य में एकमात्र प्रसिद्ध राजनैतिक नाटक 'मुद्राराक्षस' का प्रणयन हुआ। विशाखदत्त ने इसकी रचना ई० की छठी शताब्दी में की थी।[1] नाटक की कथा कूट-

---

में हुई थी। (बलदेव उपाध्याय, पृ० ४६१) अतः मृच्छकटिक का रचनाकाल उसके भी पूर्व सिद्ध होता है। इस नाटक में चित्रित सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के आधार पर भी विद्वानों ने (डा० व्यास—संस्कृत कवि दर्शन, पृ० २८१) इसे पांचवीं श० उत्तरार्द्ध और छठी शताब्दी पूर्वार्द्ध की रचना माना है। अन्तरंग और बहिरंग प्रमाणों के आधार पर यही मान्यता उचित है।

१. 'मुद्राराक्षस' के रचनाकाल के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। इस सम्बन्ध में ईसा की चौथी शताब्दी से पांचवी, छठी वा नवीं ई० शताब्दी तक विचार किया गया है। किन्तु अधिकांश विद्वानों ने अनेक प्रमाण देते हुए ईसा की छठी शताब्दी को इसका रचनाकाल स्वीकार किया है। इस मतभेद का आधार मुद्राराक्षस के अन्तिम श्लोक के 'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः' पार्थिवोदन्तिवर्मा, पार्थिवोऽवन्तिवर्मा आदि पाठ भेद हैं। तेलंग (तेलंग्स इन्ट्रोडक्शन टू हिज़ एडीशन आफ मुद्राराक्षस)ने तीसरे पाठभेद को प्रामाणिक मानते हुए अवन्ति वर्मा को राजा हर्ष (६०६–६४८ ई०) के बहनोई ग्रहवर्मा का पिता बताया है। जिससे ग्रहवर्मा के पिता का समय छठी ई० शताब्दी उत्तरार्द्ध होने से रचनाकाल भी छठी ई० शता० का उत्तरार्द्ध ही हुआ। मैकडानल SKT. Lit. p. 365) तथा रैप्सन (JRAS. 1900 p. 535) भी यह मत स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रसिद्ध इतिहासकार विन्टरनिट्ज़ ने विशाखदत्त की दूसरी रचना 'देवीचन्द्र गुप्तम्, के आधार पर उनका समय छठी ई० शता० माना है। (Winternits) ('Historical Dramas in Sanskrit Lit. Krishnaswamy Aiyangar com. Vol. p. 360) दृष्टव्य संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ० १९०-१९१। इस प्रकार अनेक प्रमाणों के आधार पर विशाखदत्त का रचनाकाल ईसा की छठी शता० मानना उचित

नीतिज्ञ आचार्य चाणक्य के महान् राजनैतिक कार्यों से सम्बन्धित है। विशाखदत्त की दूसरी रचना 'देवीचन्द्रगुप्तम्' चन्द्रगुप्त द्वितीय के जीवन से सम्बन्धित है। दोनों नाटकों में भावतात्विक रूपकात्मक शैली के पात्रों का प्रयोग नहीं है।

७४. मृच्छकटिक के पश्चात् हर्षवर्धन की महत्वपूर्ण नाट्य कृतियां संस्कृत-नाटक-साहित्य के क्षेत्र में अवतीर्ण होती हैं। हर्षवर्द्धन का समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना गया है।[1] रत्नावली की प्रियदर्शिका और नागानन्द इनकी ये तीन रचनायें हैं।[2] 'रत्नावली' में—उदयन और रत्नावली की, 'प्रियदर्शिका' में—उदयन और प्रियदर्शिका की प्रणय कथा है। नागानन्द एक बौद्ध आख्यान है। इन तीनों में रूपक-शैली के पात्रों का प्रयोग नहीं मिलता है।

७५. हर्षवर्द्धन के कुछ काल पश्चात् आठवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में आविर्भूत

प्रतीत होता है। डा० कीथ ने रत्नाकर (नवीं ई० शता०) द्वारा किये गये उल्लेख के आधार पर विशाखदत्त के रचनाकाल की अन्तिम तिथि नवीं ई० श० स्वीकार (कीथ—संस्कृत ड्रामा २०४) करते हुए भी, उसके इससे पूर्व की रचना होने की संभावना को स्वीकार किया है।

१. हर्षवर्धन कन्नौज और स्थानेश्वर का सम्राट था। इसका राज्यकाल विद्वानों ने निश्चित रूप से ६०६ से ६४८ ई० माना है। (कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृ० १७० पर निर्दिष्ट—M. Ettinghausen Harsa Vardhana, Lou vain, 1905; S. P. Pandit, Gaiidavaho, pp. cvii ff; K. M. Panikkar, Shri Harsha of Kanauj, Bombay, 1922.
अतः हर्षवर्धन का रचनाकाल भी सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही मानना न्याय-युक्त है।

२. कुछ विद्वान् हर्ष की कृतियों को उनके स्वयं की रचना मानने में शंका करते हैं। (कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृ० १७१, मैकडोनल—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ३६२) उनकी शंका का आधार मम्मट के द्वारा काव्य प्रयोजन प्रतिपादक कारिका के अर्थ कृते प्रत्येक की वृत्ति में उल्लिखित 'श्री हर्षादेर्धावका दीनामिवधनम्' यह वाक्य ही है। जिसका कि वास्तविक अर्थ हर्ष के द्वारा धावक आदि कवियों को धन की प्राप्ति होना है। इस वास्तविक अर्थ में कल्पना-मात्र के द्वारा सन्देह करके कि हर्ष ने धन देकर धावक से रचनाएं करवायी थीं—हर्ष को कृतित्व के अधिकार से वंचित करना, उनके दान में स्वार्थ की शंका करना, अनुचित है। प्रामाणिक विरोध के अभाव में हमें हर्ष की कृतियों को उनकी ही रचना स्वीकार करना मान्य प्रतीत होता है।

महाकवि भवभूति ने तीन नाटकों – 'मालतीमाधव', 'महावीर चरित' और 'उतर रामचरित' का प्रणयन किया है।[1] 'मालतीमाधव, में मालती और माधव की प्रणय कथा है। 'महावीर चरित' में रावण राम के नाश का उपक्रम करता है। 'उत्तररामचरित' में सीता के द्वितीय बार वन जाने की कथा है। इस नाटक में कुछ रूपक पात्रों का प्रयोग है, जैसे तमसा और मुरला नदियां पृथ्वी वनदेवता, वासन्ती (बनदेवी) आदि हैं। किन्तु ये रूपक पात्र प्रबोधचन्द्रोदय के रूपक पात्रों से भिन्न हैं। इनमें मूर्त जड़ पदार्थों की मानवीय कल्पना का पात्रों में आरोप है। प्र० च० की भांति अमूर्त तत्व की मूर्त कल्पना पात्रों में आरोपित नहीं है। इससे कहा जा सकता है कि प्र० च० की यह भावतात्विक रूपक शैली का प्रयोग नहीं है। प्रसंगवश प्रकृति के उपकरणों का रूपक शैली के पात्रों के रूप में प्रयोग किया गया है।

७६. आठवीं ई० शताब्दी के पूर्वार्द्ध में 'उत्तर रामचरित' के रचयिता भवभूति के अनन्तर, आठवीं शता० के पूर्वार्द्ध में भट्टनारायण ने 'वेणी संहार' नाटक

---

१. (क) मैकडोनल-इतिहास, पृष्ठ ३६३।

(ख) कल्हण की राजतरंगिणी के सर्ग ४, श्लोक १४४ से पता चलता है कि भवभूति और वाक्पति राजा यशोवर्मा के राज्याश्रय प्राप्त कवि थे तथा काश्मीर के राजा ललितादित्य ने यशोवर्मा को ७३६ ई० के लगभग परास्त किया था (कीथ-संस्कृत ड्रामा, पृ० १८६) इस मान्यता का आधार सूर्यग्रहण की घटना है। वाक्पति राज ने अपने गौड़वाहो की ८२९वीं गाथा में सूर्यग्रहण का उल्लेख किया है। जो कि याकोबी के मतानुसार १४ अगस्त ७३३ में हुआ था। (बलदेव उपाध्याय, इतिहास, पृ० ५०४) गौड़वाहो में ललितादित्य के द्वारा यशोवर्मा के परास्त किये जाने की घटना का वर्णन नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि यशोवर्मा ७३३ ई० के पश्चात् ७३६ ई० के लगभग परास्त हुआ होगा और उसका राज्यकाल ७३६ ई० तक रहा होगा। इसी से वाक्पतिराज के गौड़वाहों का रचनाकाल ७३३ के निकट पश्चात का निश्चित हो जाता है। वाक्पतिराज ने इसी गौड़वाहों के पांचवें सर्ग की ७९९ की गाथा में भवभूति की प्रशंसा (भवभूति जलनिधिनिर्गतकाव्यामृतरसकण) की हैं। (कीथ, पृ० १८७, बलदेव उपाध्याय, पृ० ५०६) जिससे भवभूति का आठवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में होना पुष्ट प्रमाणों के आधार पर मान्य है। किन्तु डा० कीथ ने यशोवर्मा का राज्यकाल ७३६ ई० तक स्वीकार करते हुए भी उसके राजाश्रय में वर्तमान साहित्यिक भवभूति को ७००वीं ई० श० का सिद्ध किया है, यह मान्य प्रतीत नहीं होता है।

की रचना की।[1] 'वेणी संहार' नाटक महाभारत की कथा से सम्बन्धित है। भट्टनारायण ने अपने इस नाटक में भावतात्विक रूपक शैली के पात्रों का प्रयोग नहीं किया है।

७७. ईसा की नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मुरारि ने 'अनर्घराघव' नाटक का प्रणयन किया।[2] इसमें रामायण की कथा है और भावतात्विक रूपक शैली के पात्रों का प्रयोग नहीं है।

७८. नवीं शताब्दी*तक अनेक नाटककारों की रचनाओं से संस्कृत साहित्य

---

१. (क) नवीं शताब्दी में वर्तमान आचार्य आनन्दवर्द्धन ने अपने ध्वन्यालोक में वेणीसंहार' के 'कर्ता द्यूतच्छलानाम्' पद्य को ध्वनि के उदाहरणार्थ उद्धृत किया है। (बलदेव उपाध्याय इतिहास, पृ० ४८८; कीथ—संस्कृत ड्रामा, पृ० २१२ पर एडीशन, के० एम, पृ० ८०, १५०)। वामन, पजिनका समय ८वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध प्रमाण सिद्ध है, ने भी अपने काव्यालंकार में 'बेणीसंहार' के 'पतितं वेत्स्यसि क्षितौ' वाक्य को उद्धृत कर 'बेत्स्यसि' पद पर विचार किया है। (बलदेव उपाध्याय-इतिहास, पृ० ४८८; कीथ——संस्कृत ड्रामा, पृ० २१२ पर निर्दिष्ट—वामन, चतुर्थ, ३.२८। अतः भट्टनारायण का समय ८वीं ई० शता० के निकट पूर्व या पूर्वार्द्ध का स्वीकार करना न्याय-संगत है।

(ख) कीथ महोदय ने (संस्कृत ड्रामा में पृ० २१२ पर) भट्टनारायण का समय आठवीं से पूर्व और मैकडोनल ने ताम्रपत्र के आधार पर ८४० ई० अर्थात् आठवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध (इतिहास पृ० ३६६) स्वीकार किया है।

२. महाकवि रत्नाकर ने (कीथ——संस्कृत ड्रामा पृ० २२५ पर निर्दिष्ट)——
XXXVIII. 68. For his date of Biihler, Kashmir Report, p. 42. See Bhattanathe Svamin, IA. xli. 141; Levi, TI. i. 277.

अपने 'हर विजय' महाकाव्य के सर्ग ३८ के श्लोक ६७ में बलदेव उपाध्याय, पृ० ५२५) श्लेषालंकार के द्वारा मुरारि का उल्लेख एक नाटककार के रूप में किया है। रत्नाकर का समय नवीं शताब्दी मध्यकाल था। (कीथ——संस्कृत ड्रामा——२२५) अतः मुरारि को रत्नाकर से पूर्ववर्ती मानना अर्थात् नवीं ई० शता० पूर्वार्द्ध का स्वीकार करना समीचीन है।

*टिप्पणी——प्राकृत भाषा में रूपक नाटक——'आगमाडम्बर' जयन्तभट्ट ने ९वीं ई० शताब्दी में लिखा था——

——Dr. Sita Bhatt Thesis–Introduction——

There is another allegorical play called Agamadambara

के समृद्ध हो जाने के पश्चात् दसवीं ई० शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राजशेखर[1] ने अपनी नाटक रचनाओं से संस्कृत भारती की शोभा को बढ़ाया। राजशेखर के चार नाटक 'बालभारत', 'बालरामायण', 'विद्धशालभंजिका', 'कर्पूरमंजरी', आदि हैं। 'बालभारत' में द्रौपदी का विवाह द्यूतसभा और द्रौपदी अपमान की कथा है। बालरामायण में रामायण की कथा है। 'विद्धशालभंजिका' में विद्याधर और मृगांकवती की तथ। 'कर्पूरमंजरी' में राजा चण्डपाल और कुन्तल कुमारी कर्पूरमंजरी की प्रणय कथा है। नाटकों में भावतात्विक रूपक शैली के पात्रों का प्रयोग नहीं है।

७९. रूपक शैली के पात्रों के प्रयोग से रहित दिङ्नाग की रचना भी दसवीं शताब्दी में मिलती है।[2] इस रचना 'कुन्दमाला' में सीता बनवास की कथा है।

८०. इस प्रकार ईसा पूर्व की पांचवीं शताब्दी से लेकर ईसा की दसवीं शताब्दी

---

by Jayanta, which is still in manuscript. If this Jayanta is identical with author of the Nyayamanjari then this play belongs to the 9th C. A.D.

१. 'बालरामायण' की प्रस्तावना श्लोक १८ (बलदेव उपाध्याय, पृ० ५२८) से यह विदित होता है कि राजशेखर कन्नौज के प्रतिहार वंशी राजा महेन्द्रपाल के आश्रित कवि थे। महेन्द्रपाल के समय के दो संकेत मिलते हैं--एक सन् ८९३ ई० और दूसरा ९०७ ई० का है। (कीथ--संस्कृत ड्रामा, पृ० २३२) कुछ दिनों तक अन्य राजा के आश्रित रहने के बाद पुनः महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल के सभासद हुए। जिसका वर्णन सन् ९१४ ई० से मिलता है। (कीथ–संस्कृत ड्रामा, पृ० २३२) इस आधार पर राजशेखर की रचना का समय दसवीं ई० शताब्दी पूर्वार्द्ध का सिद्ध होता है। किन्तु निश्चित ज्ञात न होने के कारण हम नवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध से दसवीं ई० शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक का मान सकते हैं।

२. डा० वेदव्यास ने और भनौत ने (इन्ट्रोडक्शन टू कुन्दमाला एडिटेड वेदव्यास और भनौत, लाहोर १९३१) कुन्दमाला के रचयिता दिङ्नाग को प्रसिद्ध बौद्धाचार्य दिङ्नाग से अभिन्न मानकर 'कुन्दमाला' की रचना ५वीं शताब्दी में माना है। उनका यह भी कहना है कि भवभूति (८वीं शताब्दी) उत्तररामचरित में कुन्दमाला से प्रभावित हुए हैं। परन्तु के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर ने (कुन्दमाला और उत्तररामचरित---के० ए० सुब्रह्मण्य अय्यर Pro. or Conf. १९३३, पृष्ठ ९१–९७ (इस आधार पर उपयुक्त मत को निराधार घोषित किया है कि कुन्दमाला में वैदिक धर्म और दर्शन का प्रभाव दृष्टिगत होने से वह बौद्धाचार्य

तक के नाटकों में, प्र० च० की पूर्ववर्ती नाटक प्रणाली के सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि रूपक पात्रों के प्रयोग से युक्त, कोई पूर्ण नाटक इससे पूर्व उपलब्ध नहीं है।[1]

८१. भास के नाटक बालचरित में कतिपय पात्र-रूपक शैली के हैं किन्तु पूर्ण नाटक रूपक शैली का नहीं है। कालिदास के नाटकों में भी रूपक शैली है, परन्तु भावतात्विक पात्रों का प्रयोग नहीं है। अश्वघोष के शारिपुत्र प्रकरण नाटक के साथ तुरफान में खण्डित रूप से किसी अन्य नाटक के चार पृष्ठ मिले हैं। जिनमें, बुद्धि, धृति जैसे रूपक पात्रों का प्रयोग है। ये अश्वघोष के लिखे भी हो सकते हैं। यह भी सम्भव है कि किसी अन्य नाटककार के हों। फिर भी सब कुछ देखकर यह तो कहा ही जा सकता है कि ये प्रबोधचन्द्रोदय से पूर्व के अवश्य हैं। इससे यही कहा जा सकता है कि कुछ प्रयोग उस काल में भी हुआ, पर परिपाटी नहीं बन सकी।

८२. अश्वघोष के पश्चात् भवभूति की रचना उत्तररामचरित में रूपक पात्रों का प्रयोग तो हुआ, है पर ये रूपक पात्र गंगा, तमसा तथा मुरला नदियां हैं। जिन्हें नदी होते हुए भी मानव रूप में प्रस्तुत होते देख रूपकत्व माना जा सकता है, पर यदि गंगा की भांति तमसा और मुरला को भी देवी मान लिया जाय तो रूपक का आरोप नहीं हो सकेगा। पृथ्वी और गंगा की भांति वे देवी रूप में दिव्य मानव शरीर धारण कर दृष्टिगोचर हो सकती है। साथ ही ये पात्र प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के भावात्मक रूपकात्मक पात्रों के समान नहीं हैं। इसी प्रकार संस्कृत के अन्य नाटककारों ने भी (प्रबोधचन्द्रोदय नाटक की रचना के पूर्व) भावतात्विक रूपक पात्रों के प्रयोग का पूर्ण नाटक, वा कतिपय भावतात्विक रूपक पात्रों का प्रयोग नाटक में नही किया है। अतः संस्कृत नाटक साहित्य में रूपक नाटकों की परम्परा प्रबोधचन्द्रोदय से पूर्व नहीं चली। प्रबोधचन्द्रोदय भावतात्विक, आध्यात्मिक और रूपकात्मक शैली का सर्वप्रथम नाटक है।

दिङ्नाग की कृति नहीं हो सकती। वास्तव में इसका रचयिता कोई और ही दिङ्नाग या धीरनाग है।

इस नाटक के उद्धरण सर्वप्रथम भोजदेव (१०१८ से १०६०) ने और उसके बाद रामचन्द्र-गुणचन्द्र (११०० ई०) ने नाट्य दर्पण में उद्धृत किये हैं। अतः भोजदेव के पूर्व अर्थात् १०वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में इसकी रचना हुई थी। यह निश्चित है। (चन्द्रशेखर पाण्डेय--संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, (पृष्ठ २१५, २१६)।

१. प्राकृत भाषा के रूपक नाटक 'आगमाडम्बर' का भी निश्चित समय ज्ञात नहीं है।

प्रबोधचन्द्रोदय से पूर्ववर्ती नाटक-प्रणाली

संख्या	समय	नाटककार	नाटक	अमूर्त तथा अमानवी भाव तत्वों का मूर्तिकरण तथा मानवीकरण
१	२	३	४	५
१	ई० पू० ५वीं शताब्दी	भास	बालचरित पंचरात्र, अभिषेक नाटक, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, उरुभंग, स्वप्नवासवदत्तम, दूतघटोत्कच, कर्ण-भार, मध्यम, व्यायोग, प्रतिमा आदि।	१. शाप : (चांडाल के रूप में) २. राजश्री
२	ई० पू० प्रथम शताब्दी	कालिदास	अभिज्ञान शाकुन्तल, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय	वन वृक्ष, वनदेवता
३	ईसा की प्रथम शताब्दी	अश्वघोष	शारिपुत्र प्रकरण—खण्डित प्रति	धृति, दया, क्षमा
४	५वीं या छठी ई०शताब्दी	शूद्रक	मृच्छकटिक	—
५	छठी ईसवी शताब्दी	विशाखदत्त	मुद्राराक्षस	—
६	७वीं ईसवी शताब्दी	हर्षवर्द्धन	रत्नावली, प्रियदर्शिका, नागानंद	—
७	८वीं ई० श० पूर्वार्द्ध	भवभूति	उत्तररामचरित, मालतीमाधव, महावीरचरित	तमसा, मुरला नदियां, पृथ्वी। वन-देवता, वासंती
८	" " "	भट्टनारायण	वेणीसंहार	—
९	९वीं ई० श० पूर्वार्द्ध	मुरारि	अनर्घराघव	—
१०	१०वीं ईसवी शताब्दी	राजशेखर	बालभारत, बालरामायण, विद्धशालभंजिका, कर्पूरमंजरी	—
११	" " "	दिङ्नाग	कुन्दमाला	—

संस्कृत नाटक साहित्य में प्रबोधचन्द्रोदय का स्थान

८३. पूर्ववर्ती नाटक साहित्य में सर्वप्रथम भास के नाटक 'बालचरित' में 'शाप' और 'राज्यश्री' आदि रूपक पात्रों का प्रयोग मिलता है। कालिदास के शकुन्तला नाटक में और भवभूति के 'उत्तररामचरित' में रूपक-शैली का प्रयोग है किन्तु रूपक शैली के भावात्मक पात्रों का प्रयोग नहीं है। अश्वघोष के नाटकों के साथ कुछ पन्ने रूपक नाटक शैली के हैं। अभी तक उन कुछ पन्नों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि इस शैली का क्या रूप उस समय स्थिर हुआ था। कुछ विद्वानों का मत है कि प्रबोधचन्द्रोदय से पूर्ववर्ती, इस प्रकार की कोई साहित्यिक परम्परा रही होगी, जिसका अनुकरण कृष्ण मिश्र ने किया। किन्तु अश्वघोष के पश्चात् रूपक-शैली के भावात्मक पात्रों का प्रयोग संस्कृत नाटकों में न मिलने से, वे विद्वान दूसरी सम्भावना यह करते हैं कि सम्भवतः अश्वघोष के पश्चात् वह परम्परा लुप्त हो गई हो और कृष्ण मिश्र ने मौलिक कृति की सृष्टि करके उसे पुनरुज्जीवित किया हो।[१] फिर भी उन्हें पूर्व परम्परा का होना अधिक सम्भव प्रतीत होता है। किन्तु पुष्ट प्रमाणों के अभाव में विद्वानों ने परम्परा के विषय को संदिग्ध ही छोड़ दिया है। इस संदिग्ध स्थिति में भी उनका मत प्रबोधचन्द्रोदय की मौलिकता स्वीकार करने के पक्ष में अधिक है।[२]

८४. वास्तव में कृष्ण मिश्र ने आध्यात्मिक दृष्टि से अमूर्त भावों की रूपक रचना से युक्त नाटक मौलिक रूप में प्रस्तुत किया है। इस रूपक नाटक में गंभीर दार्शनिक ज्ञान जनसुलभ हो गया है। उसमें मोक्ष की गहन समस्या वैसे ही मूर्त, स्पष्ट और सर्वसुलभ हो गई है, जैसे निर्गुण ब्रह्म साकार सगुण रूप में जनसाधारण के लिए अनुभव गम्य हो जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि भावात्मक रूपक पात्रों

---

१. अश्वघोष--कीथ, पृष्ठ ८४।

"It must remain uncertain whether there was a train of tradition leading from Acvagosha to Krishnamisra or whether the latter created a type of drama afresh, the former theory is more likely."

2. Keith—page 251.

"We can not say whether Krishnamisra's Prabodhacandrodaya was a revival of a form of drama, which had been practised ragularly if on a small scale since. Acvaghosa or whether it was a new creation as may easily have been the case."

को लेकर पूर्ण परिपाक से लिखी इस कृति से समस्त संस्कृत साहित्य की नाटक परम्परा में नाट्यशिल्प नाटक चरित्र-चित्रण, नाटक में अभिप्राय गुम्फन सभी में एक क्रान्ति दिखाई दी, यह एक अनोखी किन्तु सफल प्रयत्न था।

८५. इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रबोधचन्द्रोदय से पूर्ववर्ती संस्कृत नाटक साहित्य में प्रबोधचन्द्रोदय की शैली के सूत्र ही मिलते हैं, रूप (रूपक नाटक) नहीं मिलता है ; किन्तु कथा काव्यों में रूपक-शैली के भावतात्विक पात्रों का प्रयोग किया गया है। दसवीं ई० शताब्दी का सिद्धर्षि कृत ग्रन्थ 'उपमिति भवप्रपंच कथा' रूपक शैली के भावतात्विक पात्रों के प्रयोग से युक्त है। इसका परिचय रूपक शैली के विकास में दिया जा चुका है। डॉ० जयदेव ने प्रबोधचन्द्रोदय को इसी रूपक कथा-काव्य का अनुकरण माना है।[1] किन्तु प्रबोधचन्द्रोदय को केवल इस रूपक कथा-काव्य मात्र का अनुकरण मानना, इस मौलिक नाटक के साथ अन्याय सा प्रतीत होता है। इतना ही तथ्य मान्य प्रतीत होता है कि 'उपमितिभवप्रपंच कथा' के रूपक शैली के विकसित रूप ने कृष्ण मिश्र को प्रभावित किया था।[2] उन्हें रूपक शैली के प्रयोग की प्रेरणा दी थी। इस रूपक कथा काव्य में अनेक रूपक कथाएं भरी पड़ी है। जो कथाएं वर्णनात्मक, विस्तृत और उलझी हुई हैं। इन रूपक काव्यात्मक कथाओं को संक्षिप्त स्पष्ट नाटकीय रूप देना, भावात्मक पात्रों के मूर्त-चरित्रों में नाटकीय विशिष्टता ला देना, रूपक-शैली के नाटकीय रूप में ही अध्यात्मिक, सैद्धान्तिक एवं सामयिक धर्मदर्शन को समन्वित कर देना, सरस साहित्यिक छन्दों का प्रयोग, कृष्ण मिश्र की अपनी मौलिकता है। इससे कृष्ण मिश्र को अनुकरण कर्त्ता न कहकर, मौलिक रचना के प्रणयनकर्त्ता का श्रेय देना उचित ही प्रतीत होता है।

८६. प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के अध्ययन से भी यही ज्ञात होता है कि किसी एक चली आती हुई परम्परा का अनुकरण कृष्ण मिश्र ने नहीं किया था। ये वेद, उपनिषद, षटदर्शन पुराण आदि ग्रन्थों के प्रकाण्ड पण्डित थे। इसी विद्वता के प्रमाण

---

1. "There existed however another work (upmiti) which appears to me to have served as a perfect model for this drama."

2. "This first fully fledged allegorical novel of sidharsi, though essentially different in character from Prabodhachandrodaya....may well have suggested or been a source of inspiration for the latter."

Thesis part ii, Chapter iii,—Dr. Jai Dev.

स्वरूप वे कीर्तिवर्मा के राज्यसभा में गुरु के सम्मान से समादृत थे। उन्होंने अपने अध्ययन एवं मनन से पूर्ववर्ती साहित्य को आत्मसात कर लिया था। आत्मसात ज्ञान को युग परिस्थिति के कल्याणार्थ, मौलिकता प्रदान करने की अद्‌भुत प्रतिभा कृष्ण मिश्र में थी। इसी मौलिक प्रतिभा से कृष्ण मिश्र ने प्रबोधचन्द्रोदय का प्रणयन किया। मौलिकता से समन्वित होने के कारण ही प्रबोधचन्द्रोदय शैली में लिखे हुए, प्रथम नाटक के रूप में आज भी अपनी कीर्ति बनाये हुए हैं।[१] युगों से परिवर्तित परिस्थितियां उसे खण्डित नहीं कर सकी हैं। अनेक भाषाओं के अनुवादकों द्वारा यह अनूदित भी हो चुका है।

प्रबोधचन्द्रोदय की परवर्ती संस्कृत परम्परा

८७. प्रबोधचन्द्रोदय ने नाटक क्षेत्र में एक नयी शैली की स्थापना की, यह नयी शैली बाद के नाटक कर्त्ताओं को अनुकरण करने योग्य प्रतीत हुई। अतः उसके अनुकरण पर अनेक नाटकों की रचनाएं हुई हैं। संस्कृत साहित्य में प्रबोधचन्द्रोदय की इस परवर्ती परम्परा का प्रारम्भ १३वीं ई० श० में यशपाल के 'मोहराजपराजय'[२] नामक नाटक से हुआ प्रतीत होता है। यह आरम्भ, इस प्रकार मूल से लगभग दो शताब्दियों के उपरान्त हुआ।

८८. १३वीं ई० श० में 'मोहराजपराजय' नाटक की रचना (रूपक शैली में) जैन धर्म के प्रचार के उद्देश्य से यशपाल[३] ने की। इस नाटक में यह दिखाया गया है कि किस प्रकार प्रसिद्ध जैन गुरु हेमचन्द्र की कृपा से राजा कुमारपाल ने जैन धर्म का पालन किया और (हिंसा, जुआ, आदि की प्रथा को हटाते हुए) मोहराज

---

१. **मैकडोनल के विचार--**

"One of the most remarkable product piece of theologico-philosophical purport in which practically only abstract notions and symbolic figures act as persons, it is remarkable for dramatic life and vigour."

——History of Sanskrit Literature—A. A. Macdonell. London 1905, page. 367.

२. **'मोहराजपराजय'--यशपाल, गायकवाड़ा सीरीज़, नं० ९**

३. **यशपाल--चक्रवर्ती अजयदेव (१२२९-१२३२ ई०) के विशेष कृपापात्र थे। नाटक का अभिनय भी उनके ही राजत्व काल में यात्रा महोत्सव के अवसर पर हुआ था। --प्रथम अंक, पृष्ठ ३**

को जीत लिया। यह वर्णन रूपक नाटक शैली में हुआ है। इस नाटक में कुमारपाल और हेमचन्द्र आचार्यादि मानव-पात्रों के साथ भावतात्विक रूपक पात्रों को भी प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार इसमें मिश्र शैली का उपयोग है। कथानक में दो पक्षों का संघर्ष दिखाया गया है। एक ओर राजा कुमारपाल हैं, उनके सहायक हैं ज्ञानदर्पण विवेकचन्द्र आदि भावतत्वी पात्र तथा राजा को हेमचन्द्र से योग रूपी कवच मिला हुआ है।[1] दूसरी ओर है इनका प्रतिपक्षी महामोह अपने दलबल सहित। कुमारपाल इन्हें पराजित करने में सफल होता है। कुमारपाल की विजय व्यवस्था प्रस्तुत करते हुए तत्कालीन जैन धर्म का वर्णन किया गया है। नाटकीय गुणों की दृष्टि से नाटक में सरसता और सरलता है। भावतात्विक[2] पात्रों की कथा में सजीवता है एवं प्रभावशाली गति है। इस नाटक के कतिपय स्थलों में प्रबोधचन्द्रोदय के कितने ही भावों का अपूर्व साम्य पाया जाता है।[3]

८९. संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय की परवर्ती परम्परा में दूसरी महत्वपूर्ण कृति

---

१. अमात्यः——देव ! प्रसादनाम्नो राजपुरुषस्य हस्ते प्रहितमिदं गुरुणा श्री-हेमचन्द्रेण भवतो युद्धश्रद्धालुमनसो योगशास्त्रं नाम वज्रकवचम्। अमुना हि संवृतसर्वांगो न म्रियते रिपुप्रहरणपरंपराभिः।

(अंक ५, पृ० १२३)

२. मोहराजपराजय——भावतात्विक रूपक शैली के उदाहरण——अंक, ५, पृ० १३१-३२ "मोहराजः——(सविलक्षं) कुमार रागकेसरिन्। वत्सद्वेषगजेन्द्र। राजन्मदनदेव। अमात्य पापकेतो। भद्रा कलिकन्दलादयः। मोहमहाराजः खल्वहं न शत्रुपक्षभक्षनयित्वा शस्त्रं प्रतिसंहरामि।"

३. प्रबोधचन्द्रोदय से भाव साम्य——

(क) मोहराजपराजय——अर्द्धांगे गिरिजां बिभर्ति गिरिशो विष्णुर्वहत्यन्वहं
शस्त्रश्रेणिमथाक्षसूत्रवलयधत्ते च पद्मासनः।
——अंक ५, श्लोक ५६।

प्रबोधचन्द्रोदय, प्रथम अंक, श्लोक २८

(ख) मोहराजपराजय——किंचित्कुन्दप्रसवधवलं किंचिदुन्मेषधीरं
किंचित्लोलभ्रमरमधुरं किंचिदाकुंचिताक्षम्।
किंचिद्भावालसमसरलं प्रेक्षितं कामिनीनां
शस्त्रं दृष्ट्वा मम रणमुखे वैरिणो विद्रवन्ति ॥६०॥
——पृष्ठ १३१

प्रबोधचन्द्रोदय, प्रथम अंक, श्लोक १२।

'संकल्प सूर्योदय' के रूप में उपलब्ध होती है। 'संकल्प सूर्योदय' रामानुज सम्प्रदाय के प्रकाण्ड पण्डित कवितार्किक चक्रवर्ती, महाकवि वेंकेटनाथ[१] का प्रतिष्ठित रूपकात्मक नाटक है। इसमें रामानुज के मान्य सिद्धान्त 'विशिष्टाद्वैत-वाद, का प्रतिपादन 'प्रबोधचन्द्रोदय' की शैली में बड़े ही संरम्भ के साथ किया गया है। महाकवि के प्रस्तावनान्तर्गत कथन से इस नाटक का उद्देश्य, नाटक के व्याज से 'संकल्प सूर्योदय' के द्वारा अज्ञानान्धकार से जगत् की रक्षा करना ही प्रतीत होता है।[२]

९०. यह नाटक विशालकाय दस अंकों में विभक्त है, जिसे संस्कृत नाट्य-शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार यह 'महानाटक' पद का भागी है। प्रायः सम्पूर्ण नाटक में ही प्रौढ़ पाण्डित्य और विकट दार्शनिक विवेचन का प्राधान्य इसमें दिखाई पड़ता है, इसके कारण कथा प्रवाह में अति नहीं रह गई है। कवि के दार्शनिक पाण्डित्य ने नाटकीयता को दबा दिया प्रतीत होता है। वर्णनों का आधिक्य और विस्तार इतना है कि पाठक ऊब-सा लगता है। इतना होने पर भी अपने कुछ उदात्त गुणों के कारण यह नाटक सस्कृत के रूपक नाटकों की परम्परा में महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी माना जाता है।

९१. इसके कथानक का घटना-चक्र लगभग 'प्रबोधचन्द्रोदय' जैसा ही है, कुछ को छोड़ कर सामान्यतः प्रबोधचन्द्रोदय के पात्र भी यहाँ गृहीत है। जहां तक

---

१. महाकवि वेंकटनाथ का समय १२६९ से १३७९ ई० तक का है (बलदेव उपाध्याय भारतीय दर्शन, पृ० ४९१)। संकल्प सूर्योदय जैसी प्रौढ़ रचना कवि ने अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में, जब उसकी रचना शैली में परिपक्वता, भाषा में प्रौढ़ता और विचारों में गाम्भीर्य आ गया होगा--की होगी, यह निर्विवाद है। यह इसलिए भी असन्दिग्ध है, क्योंकि कवि ने प्रस्तुत कृति में 'वेदान्ताचार्य' और 'कवितार्किक सिंह' जैसी उपाधियों को प्राप्त करने तथा छात्रों के द्वारा दिग्-दिगन्त में अपने यश की पताका के फहराये जाने का उल्लेख किया है, जोकि उसके जीवन के पूर्वार्द्ध में असंभव है। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि 'संकल्प सूर्योदय' १४वीं ई० शताब्दी की रचना है।

२.　अपदिश्य　किमप्यशेषगुप्त्यै
　निगमान्तेषु　निरूढगौरवेण।
　प्रविभक्तहिताहितः　प्रयोगः
　कविना कारुणिकेन कल्पितोऽसौ ॥११॥

——संकल्प सूर्योदय, प्रथम अंक, पृष्ठ ३।

विषय का सम्बन्ध है, वह भी 'प्रबोधचन्द्रोदय' के विवेक और महामोह के संघर्ष जैसा ही है। यदि अन्तर है तो केवल फल के स्वरूप में--प्रबोधचन्द्रोदय में विवेक के द्वारा महामोह के पराजित कर दिये जाने पर, मन के विलय के साथ पुरुष को आत्मसाक्षात्कार रूप ब्रह्म की प्राप्ति हो जाती है, अर्थात् वह ब्रह्माकार हो जाता है, परन्तु संकल्प सूर्योदय' में जब विवेक महामोह को पराजित कर उसकी सम्पूर्ण सेना को नष्ट कर देता है, तो पुरुष का श्रद्धा के साथ समागम होता है और उसके अनन्तर उसको भगवान विष्णु का सारूप्य पद प्राप्त हो जाता है, जोकि भक्ति को प्रधान स्थान देने वाले 'विशिष्टाद्वैत' सिद्धान्त के लिये उपयुक्त ही हैं।

९२. इसके कई पद्यों में प्रबोधचन्द्रोदय की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती है।[1]

९३. इस परम्परा का तीसरा ग्रन्थ 'चैतन्य चन्द्रोदय'[2] है। प्रबोधचन्द्रोदय की रूपक शैली से प्रभावित होकर कवि कर्णपूर ने सन् १५७९ ई० में इस नाटक का प्रणयन किया था। इस नाटक में दस अंक हैं। श्री महाप्रभु चैतन्यदेव का जीवन वृतान्त नाटक का विषय है। कथानक में मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के पात्रों का मिश्रण है। अमूर्त पात्रों में भक्ति, विराग, कलि, अधर्म आदि हैं। मूर्त पात्रों में चैतन्य तथा उनके शिष्य ही प्रधान है। भाषा शैली सरल एवं प्रसाद गुण सम्पन्न है। इस नाटक के कतिपय स्थलों पर 'प्रबोधचन्द्रोदय' से भावसाम्य पाया जाता है।[3]

---

१. लोभ--

लब्धं न मुंचति विलक्षमतिर्न भुंक्ते धत्ते पुनः पुनरसौ महतीं धनायाम्।
निद्रारसं न लभते महतां निधीनां रक्षापिशाच इव संप्रति राजराजः ॥५०॥
--संकल्प सूर्योदय, अंक ४, पृष्ठ ४८।

--प्रबोधचन्द्रोदय, अंक २, श्लोक ३०। पृष्ठ ८०।

२. **चैतन्यचन्द्रोदयम्--कविकर्णपूरविरचितम्। (काव्यमाला ८७) द्वितीय संस्करण।**

३. **अधर्म (क) सखे (कलि) इयमपिमदस्यरीतिः**

मूकी करोत्यलमसूकमहो अनन्ध-
मन्धीकरोत्यबधिरं बधिरी करोति।
यो यं बली सुमनसं विमनी करोति
स श्रीमदोवदनकस्य महोपहत्ये ॥३४॥

--चैतन्यचन्द्रोदय, अंक प्रथम, पृष्ठ १५।
--प्रबोधचन्द्रोदय, द्वितीय अंक, श्लोक २९।

९४. चैतन्य चन्द्रोदय के पश्चात इस शैली के 'ज्ञान सूर्योदय'[१] नाटक की रचना हुई। यह जैन मत से सम्बन्धित है। वादिचन्द्रसूरि ने (वि० सं० १६४८) सन् १५९१ ई० में इसका प्रणयन किया था। प्रस्तुत नाटक में चार अंक हैं। प्रथम अंक में प्रस्तावना के पश्चात् विवेक और मति का, काम और रति के साथ संघर्ष है। द्वितीय अंक में मिथ्या मतमतान्तरों एवं बाह्याडम्बरों की आलोचना है। तृतीय अंक में विवेक की विजय है। चतुर्थ अंक में नायक पुरुष को 'प्रबोध' हुआ है। प्रस्तुत नाटक में प्रबोधचन्द्रोदय की भाँति आरम्भ में मोह और विवेक का विरोध दिखलाया गया है। इस विरोध के प्रसंग के मध्य में मतमतान्तरों की आलोचना की गई है और विवेक की विजय दिखाई गई है। विजय के अनन्तर वाग्देवी प्रबोध-चन्द्रोदय की विष्णुभक्ति के समान आविर्भूत होकर पुरुष के लिये प्रबोधोदय की योजना करती हैं। अष्टशती, प्रबोधचन्द्रोदय की उपनिषद् की भाँति अद्वैत के स्थान पर अर्हन्त का उपदेश देती है, जिससे प्रबोधोदय होता है।[२] ज्ञान सूर्योदय की दया पात्री प्रबोधचन्द्रोदय की श्रद्धा के समान है। पात्रों की समता के साथ ही

(ख) चैतन्यचन्द्रोदय--अंक ५, श्लोक २४, पृष्ठ ९६

'उत्तीर्णोऽद्यभवाब्धिरथापिहितंद्वारंयमस्यापि च।'

प्रबोधचन्द्रोदय, अंक ६, श्लोक ८।

१. 'ज्ञानसूर्योदय'--हिन्दी अनुवाद--नाथूराम प्रेमी; प्राप्तिस्थान--जैन साहित्य सदन, चांदनी चौक, देहली, पु० नं० १५१०।

'बहुत प्रयास करने पर भी ज्ञान सूर्योदय' की मूल-संस्कृत' प्रति उपलब्ध न हो सकी। इस नाटक के हिन्दी अनुवादकार श्री नाथूराम प्रेमी से भी पत्र-व्यवहार करने पर, पता चला था कि उनके पास न केवल मूल प्रति अपितु उनके द्वारा किया हुआ हिन्दी रूपान्तर भी उपलब्ध नहीं है। अतः जैन साहित्य सदन दिल्ली से प्राप्त इसके हिन्दी रूपान्तर से ही काम चलाना पड़ा है।

२. ज्ञान सूर्योदय--तृतीय अंक, पृष्ठ १०१।

पुरुष--भगवती! मैं नहीं जानता हूं कि वे अरहंत कौन हैं, जिनका अभी तुमने नाम लिया है।

अष्टशती--(किंचित् कोपित मुद्रासे) क्या आप अरहंत को नहीं जानते हैं?

पुरुष--(आनन्दित होकर) तो क्या मैं ही अरहंत हूं?

--प्रबोधचन्द्रोदय, छटा अंक, गद्यवार्ता, पृष्ठ २३३।

दोनों की शैली में भी समता है । यत्र-तत्र थोड़े परिवर्तन से श्लोकों और गद्य वाक्यों में भी समता मिलती है ।[1]

९५. आध्यात्मिक दृष्टि से 'ज्ञान सूर्योदय' में प्रबोधचन्द्रोदय के अद्वैत के स्थान पर दिगम्बर जैन मत का प्रतिपादन है, किन्तु अन्य मतों की समीक्षा कुछ थोड़े परिवर्तन से प्रबोधचन्द्रोदय की शैली के अनुकरण पर ही है । यह किंचित परिवर्तन स्वमत प्रतिपादन के कारण तथा प्रबोधचन्द्रोदय के उपरान्त की शताब्दियों में उदित तथा इसके समसामयिक मतमतान्तरों के समावेश के कारण किया गया है । जैसे द्वितीय अंक, में प्रबोधचन्द्रोदय के दिगम्बर मतानुयायी क्षपणक के स्थान पर श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के 'सितपटयति'[2] की आलोचना है । अन्य मतों में

---

१. ज्ञान सूर्योदय नाटक--(अनुवाद), तृतीय अंक, पृष्ठ ४९।

शान्ति--(स्वगत) जान पड़ता है, यह भय से कांपती हुई मेरी बड़ी बहिन दया आ रही है। इसलिये चलूं, और सम्मुख जाकर उसे नमस्कार करूं। (चलती है, क्षमा भी उसके साथ जाती है)

क्षमा--बेटी दये! ऐसी शून्य हृदय कैसे हो गई, जो अपनी माताको और बहिन को भी नहीं पहिचान सकती है?

दया--(देखकर और उच्छ्वास खींचकर) हाय! यह तो मेरी प्राणवल्लभा माता है। माता! यह तेरी बेटी कराल हिंसा की विकट दाढ़ से बच के आई है, और तुझे तथा बहिन को देख रही है। सो दोनों मुझे एक बार हृदय से तो लगा लो।

प्रबोधचन्द्रोदय, चतुर्थ अंक, पृष्ठ १३२, १३३।

२. श्वेताम्बर सितपटयति--पृ० ३९-४१।

यति--(गृहस्थ की स्त्री से) धर्मलाभ हो।

श्राविका--(उठकर) महाराज! अन्न तो नहीं है।

यति--तो जो कुछ प्रासुक वस्तु हो, वही मुनि को देना चाहिये। अन्नही का अन्वेषण क्या करती है?

श्राविका....एक दिन और एक रात पहले का पड़ा हुआ नवनीत (मक्खन) अवश्य ही रक्खा है।

यति--तो वही लाकर दे दो। भूख की ज्वाला पेट को जला रही है।

श्राविका--महाराज! क्या मक्खन भी यतियों के ग्रहण करने योग्य होता है? श्रीभगवतीसूत्र में तो इसका निषेध किया है।

बुद्धागम,[1] याज्ञिक,[2] ब्रह्माद्वैतवादी,[3] वैष्णव[4] आदि वाह्याडम्बरों की आलोचना है। सितपट यति की आलोचना क्षपणक (प्रबोधचन्द्रोदय) के समान है,

---

यति--इसीलिये तो कहते हैं कि, स्त्रियों को सिद्धान्त वचन नहीं पढ़ाना चाहिये। इस विषय में तू क्या विचार करती है? सुन,--

श्रीशांतिनाथ तीर्थंकर ने पूर्व भव में सम्यग्दृष्टि होकर भी कबूतर के शरीर के बराबर अपने देह का मांस काटकर गृद्ध पक्षी को दिया था। सो हे उपासिके! हम गृद्ध से भी निकृष्ट नहीं हैं।....

श्राविका--तो भगवन्! क्या गुरु के लिये हिंसा करना चाहिये?

यति--करना चाहिये, क्या इसमें तुझे कुछ सन्देह है?....

शान्ति--माता! इनमें भी मुझे दया नहीं दिखती है।

१. बौद्धागम--पृष्ठ २६-२७।

शान्ति--(विस्मित होकर) मा! यह इन्द्रजालिया सा कौन आ रहा है?

× × ×

बुद्धागम--....अतएव प्यारे शिष्यो! जीवसमूह का घात करनेवाले को, मांस भक्षण करनेवाले को, स्त्रियों के साथ स्वेच्छाचारपूर्वक रमण करनेवाले को...कोई पाप नहीं लगता।

२. याज्ञिक, पृ० ३०, ३१।

शान्ति--माता! यह स्नान किये हुए कौन आया? क्या बगुला है?

क्षमा--नहीं प्यारी! यह 'राम राम' जपने वाला है।

शान्ति--तो क्या तोता है?

क्षमा--नहीं, मनुष्याकार है। सारे शरीर में तिलक-छापे लगाये है। हाथ में दर्भ के (दूबा के) अंकुर लिये है। और कंठ में डोरा (यज्ञोपवीत) डाले हुए है।

शान्ति--तो क्या दंभ है?

क्षमा--नहीं, दंभ नहीं है, किन्तु उसके आश्रय से संसार को ठगनेवाला याज्ञिक ब्राह्मण है।

याज्ञिक--(यज्ञभक्तों को उपदेश देता है) मनु महाराज ने कहा है कि,--विधाता ने पशुओं को स्वयं ही यज्ञ के लिये बनाया है।

३. ब्रह्माद्वैत, पृष्ठ ३७-३८।

ब्रह्माद्वैत--(अपने शिष्यों को पढ़ाता है):--

बुद्धागम की आलोचना कृष्ण मिश्र कृत बौद्धागम के समान ही है। अन्य मतावलम्बियों की आलोचना सामयिक परिस्थितयों के अनुकूल और साधारण है। सामयिक मतों की इस आलोचना पर भी मिश्र जी की समीक्षा शैली का प्रभाव है। जैसे वादिचन्द सूरि ने अपने सामयिक वैष्णव मतानुयायी राम-भक्तों की जो आलोचना की है, यह कृष्ण मिश्र के दम्भी ब्राह्मणों की कटु समीक्षा से अधिक कठोर नहीं है। यह आलोचना प्रबोधचन्द्रोदय से प्रभावित प्रतीत होती है।[1]

९६. इसी परम्परा में आगे चलकर १६ वीं शताब्दी में श्री भूदेव शुक्ल ने

जितने पदार्थ हैं, वे सब ब्रह्म स्वरूप हैं। ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इस संसार में एक अद्वितीय ब्रह्म ही है।....जो भेद है, सो अनादि अविद्याजन्य संकप से है, मिथ्या है, यथार्थ में नहीं है।....

शान्ति....हे माता! अब यहां से भी चलो। यह मत भी सारभूत नहीं है। जिसमें दया-दान-पूजन-पठन-तीर्थयात्रादि व्यवहारों को सर्वथा जलांजलि दे डाली है, भला उसमें अपना मनोरथ कैसे सिद्ध हो सकता है?

४. वैष्णवों का प्रवेश, पृष्ठ ४६।

'क्षमा—तोते के समान जप तो राम राम का किया करते हैं, परन्तु वैसा मनोज्ञ आचरण नहीं करते हैं। मुखसे राम राम का गान करते हैं, और नेत्रों से मनोहर रामाका (स्त्रीका) पवित्र दर्शन करते हैं।....

हरिजन निशदिन मौज उड़ावें॥
मलय मनोहर केशर लेकर,
सीस कपोल भुजा लिपटावें।
कर्णकुहर कस्तूरीपूरित,
हृदय गुलाल लाल बिखरावें॥१॥

१. ज्ञान सूर्योदय के वैष्णवों की आलोचना—

चंचच्चन्दनकेशरांकितभुजाशीर्षप्रगण्डस्थलाः ।
संराजन्मृगनाभिकर्णकुहरा हृद्योच्छलच्चूर्णकाः॥
प्रेखत्पर्णसुरंगरागवदना नीत्वार्द्धरात्रं पुनः ।
शेषार्द्धं गमयन्ति वैष्णवजना दारैर्मुदा गेहिनाम्॥

प्रबोधचन्द्रोदय के दम्भी ब्राह्मणों की आलोचना—द्वितीय अंक, श्लोक १ और ६ में द्रष्टव्य।

'धर्मविजय' नाटक की रचना की।[1] यह परवर्ती परम्परा का पांचवां ग्रन्थ है। प्रबोधचन्द्रोदय के अनुकरण पर इसमें अपने समय की धार्मिक परिस्थितियों का चित्रण और शिव भक्ति का प्रतिपादन किया है। प्रबोधचन्द्रोदय की कथा का आधार लेकर, नवीन पात्रों की योजना से अपने उद्देश्यों की पूर्ति की गई है। नाटक में पांच अंक हैं। धर्मराज और अधर्मराज दो परस्पर विरोधी प्रतिपक्षी हैं। धर्मराज अपनी पत्नी उर्ध्वगति के साथ अपनी विजय की योजना बनाते हैं। इनके सैनिक अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, दान, दम, दया, शान्ति आदि हैं। अधर्म का पुत्र वर्णसंकर और पुत्रवधू नीचसंगति है।

९७. प्रथम अंक के विष्कम्भक में प्रबोधचन्द्रोदय के काम और रति ने जो कार्य किया, है इस नाटक में प्रथम अंक के विष्कम्भक में वर्णसंकर और नीचसंगति वही कार्य करती हैं। उसके पश्चात् विवेक और मति ने जो योजना बनाई है उसी प्रकार धर्मराज और उर्ध्वगति नामक पात्रों ने किया है। प्रबोधचन्द्रोदय के द्वितीय अंक में जिस पाखंड की चर्चा दम्भ और अहंकार ने की है, वही अनाचार और व्यभिचार नामक पात्रों ने इस नाटक में की है। इस नाटक में पौराणिक मत की आलोचना है। विष्कम्भक के पश्चात् प्रबोधचन्द्रोदय के महामोह के प्रवेश के स्थान पर अधर्मराज ने प्रवेश किया है। प्रबोधचन्द्रोदय के तृतीय अंक में शान्ति और करुणा, श्रद्धा की खोज में निकलती हैं। उसी प्रकार इस नाटक में पं० संगति और परीक्षा, वेदान्त विद्या की खोज में निकलती हैं। प्रबोधचन्द्रोदय की श्रद्धा के वियोग में व्याकुल शान्ति के समान, पं० संगति विद्या के वियोग में मरण स्वीकार करती है। प्रबोधचन्द्रोदय की करुणा के समान, परीक्षा भी पं० संगति की रक्षा करके उसे (प्रबोधचन्द्रोदय के जैन बौद्ध-दर्शन के स्थान पर) वैद्य, गणक और स्मार्त के पास ले जाती है। जहां पर कि शास्त्रों के अध्ययन के अभाव में तीनों मूर्ख और पाखण्डी सिद्ध होते हैं। चतुर्थ अंक में न्यायालय के दृश्य में न्यायाधीशों का अन्याय दिखाया गया है। इसके अतिरिक्त धर्मराज अपनी सेना सुसज्जित करके (प्रबोधचन्द्रोदय के विवेक के समान) शत्रु से युद्ध करने को काशी की ओर प्रस्थान करते हैं। पांचवें अंक में धर्मराज की विजय का प्रबोधचन्द्रोदय के विवेक की विजय के समान वृतान्त सुनाया गया है। छठे अंक में प्राकृत नाम की पात्री विद्या को ढूंढ़कर लाती है (प्रबोधचन्द्रोदय में जैसे शान्ति उपनिषद को)। विद्या (प्रबोधचन्द्रोदय की 'उपनिषद' के समान) राजा को उपदेश देती है। अन्त में नेपथ्य से

---

१. श्रीमद् भूदेव शुक्ल विरचितं धर्मविजयनाटकम्
—चिरंजीव पुस्तकालय, पुस्तक नं० ७०४१।

शिवभक्ति की आज्ञा सुनाई देती है जिससे सब प्रसन्न होते हैं। राजा शिवपूजन करता है और विद्या ही आशीर्वादात्मक वाक्य कहती है। तदनन्तर नाटक समाप्त हो जाता है।

९८. प्रस्तुत नाटक में प्रबोधचन्द्रोदय के अनुकरण पर अपने युग की परिस्थितियों का चित्रण है। जिनमें विद्या का अभाव और पाखण्ड का प्रचार था। शैली प्रसादगुण पूर्ण है। नाटकीयता साधारण कोटि की है। इसमें प्रबोधचन्द्रोदय से भाव साम्य के स्थल भी दृष्टव्य हैं।[1]

९९. १८ वीं ई० शताब्दी में भी श्री कृष्णदत्त मैथिल ने 'पुरंजन चरितम्'[2] नामक रूपक शैली का नाटक लिखकर 'प्रबोधचन्द्रोदय' की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखा। विष्णुभक्ति के प्रचार के उद्देश्य से नाटक की रचना की गई है। इसका कथानक भागवत के चतुर्थ स्कन्ध की पुरंजन की कथा से सम्बद्ध है। इसमें विष्णुभक्ति की यात्रा तथा महत्व प्रबोधचन्द्रोदय की रूपक नाटकीय शैली में वर्णित है। नवधाभक्ति (संसार में) भटकते हुए नायक[3] को ईश्वर का साक्षात्कार करा देती है। नाटक की भाषा में भावों की गति और प्रभाव है। श्लोकों में गीतगोविन्द का-सा माधुर्य है। इस प्रकार पुरंजन की पौराणिक कथा के रंगमंचीय प्रयोग में प्रबोधचन्द्रोदय की ही प्रेरणा प्रतीत होती है।

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय, प्रथम अंक, पृष्ठ २०, २१ पर काम और रति के वार्तालाप से धर्मविजय नाटक के प्रथम अंक पृष्ठ ७ के नीचसंगति और वर्णसंकर के वार्तालाप में साम्य ---

नीचसंगति---श्रुतं मया धर्मप्रमुखा अपि युष्माकमेव कुले प्रसूता इति।

वर्णसंकर---आः किमुच्यते, अस्मत्कुलप्रसूता इति। मत्तश्चतुर्थः कर्तृपुरुषः सर्वेषां मूलपुरुषः।

नीचसंगति---तद्विस्तरेण कथयत्वार्यः।

वर्णसंकर---अयमनादिनिधनो भगवान् कर्ता, तस्य च विहितक्रियायांच धर्मप्रधानोऽववायः समजनि।

नीचसंगति---तत्किमिति युष्माकमेतादृशो विद्वेषः।

वर्णसंकर---धर्मस्यैवापराधेन।

२. 'पुरंजन चरितम्'---श्री कृष्णदत्त मैथिल प्रणीतम्
सम्पादिका कु० नीलम सोलंकी, प्रथम संस्करण---१९५५।

३. पात्र---नायक---पुरंजन, प्रतिनायक---गन्धर्वराज चण्डवेग, अन्यपात्र विष्णुभक्ति, सितपक्ष, कालकन्यका' (जरा राक्षसी) नवलक्षण (भक्ति), अविज्ञात लक्षण आदि।

१००. १८ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आनन्दराय मखी[1] के द्वारा लिखित दो नाटकों ने प्रबोधचन्द्रोदय की उत्तरवर्ती परम्परा में एक कड़ी और जोड़ दी। इनमें पहला रूपक नाटक है 'विद्या परिणय'।[2] इस नाटक की प्रस्तावना में नाटककार ने पूर्ववर्ती तीन रूपक नाटकों की ओर भी संकेत किया है। सम्भवतः ये नाटक नाटककार के प्रेरणा स्रोत रहे हैं। इस नाटक में शिवभक्ति के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति दिखायी गयी है। साथ ही इसमें अद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन भी किया गया है। जैनमत, सोम सिद्धान्त, चार्वाक, सौगत आदि पात्रों का समावेश नाटक में हुआ है। जिनकी चर्चा प्रबोधचन्द्रोदय की शैली में की गई है। भाषा सरल एवं अभिनयानुकूल है।

१०१. आनंदराय मखी का दूसरा ग्रन्थ 'जीवानन्दनम्' आयुर्वेदिक सिद्धान्तों और नियमों का साहित्यिक अभिव्यक्तिकरण है। आयुर्वेद के सिद्धान्तों के सरस शैली में अभिव्यक्त करने के हेतु प्रबोधचन्द्रोदय की शैली का आश्रय लिया गया है।

---

१. (क) १८वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध (बलदेव उपाध्याय--सं० साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५५९।

(ख) आनन्दराय मखी ने १७२५ ई० में अपने युद्ध कौशल से मथुरा और पुदुकोटा राज्य की सम्मिलित सेनाओं को पराजित किया था। किन्तु अपने 'जीवानन्दनम्' की रचना उन्होंने अपने आश्रयदाता 'सहाजिराज' जिसका कि राजत्वकाल १६८४ ई० से १७१० ई० तक माना जाता है' के समय में ही अर्थात् १७१० के पूर्व ही की थी, ऐसा विद्वानों का अनुमान है।

--जीवानन्दनम्--भूमिका, सं० मे० दुरैस्वामी अय्यंगार, पृ० ११-१२।

२. (क) 'विद्यापरिणय' की रचना आनन्दराय मखी ने जीवानन्दनम् की रचना के पहले ही की होगी--ऐसा अनुमान विद्यापरिणय की प्रस्तावना को देखने से होता है। --जीवानन्दनम् --भूमिका, पृष्ठ ३०।

(ख) 'कृष्णमिश्रप्रभृतिभिरत्न प्रबोधचन्द्रोदयम्, संकल्पसूर्योदयम्, भावना पुरुषोत्तम इति न्यबन्धिनाम बहुधाप्राचीनैः।'

--जीवानन्दनम्, भूमिका, पृष्ठ २९।

यहां जिन नाटकों का उल्लेख हुआ है उनमें से दो का परिचय तो दिया जा चुका है। भावना पुरुषोत्तम एक तीसरा नाटक भी इनका पूर्ववर्ती रहा होगा, पर वह हमें मिला नहीं। विदित होता है कि समय की बाढ़ में यह लुप्त हो गया है, पर इसमें सन्देह नहीं कि आनन्दराय के समय में यह अवश्य लोकप्रिय रहा होगा। यह भी प्रबोधचन्द्रोदय की ही शैली का ही नाटक होगा।

कथानक में विज्ञान शर्मा और रोगराज यक्ष्मा नामक दो परस्पर प्रतिपक्षियों का विरोध है। विज्ञान का पक्ष आयुर्वेद के स्वास्थ्य के नियमों से सम्बंधित है, अतः प्रधान पक्ष है। यह पक्ष शिवभक्ति की कृपा से विजयी होता है। प्रतिपक्षी रोग-राज यक्ष्मा, मानव शरीर के रोगों का राजा है। यह अन्त में पराजित होता है। उसके साथ ही विषूची, पाण्डु, सन्निपात, गलगण्ड, कुष्ठ, गुल्म आदि सहयोगियों का भी नाश हो जाता है। नाटक में प्रत्येक रोग की उत्पत्ति और शमन का उपाय रूपक शैली के उपयोग के द्वारा बताया गया है। इसमें यथास्थान नवों रसों का वर्णन किया गया है, फिर भी इसमें शान्तरस ही प्रधान है। प्रबोधचन्द्रोदय के विवेक और मोह प्रस्तुत नाटक के विज्ञान शर्मा और रोगराज हैं। रोगराज, मोहराज के समान पराजित हो जाता है। विज्ञान शर्मा (विवेक के समान) विजयी होता है। और प्रबोधचन्द्रोदय के पुरुष को (प्रबोधोदय की प्राप्ति के समान) जीवराज को अन्त में शिव-पार्वती के दर्शन मिलते हैं तथा उनसे वरदान में पारद भी प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त प्रबोधचन्द्रोदय के श्लोकों से भी इसमें यत्र-तत्र अपूर्व साम्य है।[१]

१०२. नाटककार ने जीवराज पात्र के चरित्र के उदाहरण से यह सन्देश देने की चेष्टा की है कि भक्त-आत्माएं ज्ञान साधना के हेतु शारीरिक स्वास्थ्य के नियमों की अवहेलना न करें, क्योंकि ईश्वर प्राप्ति के हेतु शरीर विषयक स्वास्थ्य के नियमों का पालन आवश्यक है।[२]

१०३. आनन्दराय मखी के ग्रन्थों के अतिरिक्त सामयिक धार्मिक अवस्था के

---

१. जीवानन्दनम् का भरत वाक्य--

पर्जन्यः समयेऽभिवर्षतु फलं वाञ्छानुरूपं मही
प्रौयामात्यानिरूपिते पथि महीपालाः पदंतन्वताम्।
कर्णालंकृतयेभवन्तु विबुधां कान्ता, कवीनां गिरो
भूयावस्य कवेश्चिरायुररुजो भक्तिश्च शैवी दृढ़ा॥३५॥

--अंक ७, पृष्ठ ४८२।

प्रबोधचन्द्रोदय, अंक ६, श्लोक ३३।

२. परमेश्वर--(जीवराज से)

शश्वद्ज्ञानादभिन्नः सन् विज्ञानमपिमान्य।
एवं सति घटेयातां मुक्ति भुक्ति करेतव॥२९॥

--अंक ७, पृ० ४७४, ४७५।

चित्रण को आधार बनाकर रविदास द्वारा प्रणीत 'मिथ्या ज्ञान विडम्बनम्'[१] नाटक प्रबोधचन्द्रोदय की परम्परा में, एक बहुत ही साधारण नाटक के रूप में मिलता है। इस ग्रन्थ की लघुकाय भूमिका को देखने से विदित होता है कि रविदास के इस अधूरे ग्रन्थ की पूर्ति किन्हीं गोकुलचन्द शर्मा ने की थी। नाटक में दो अंक हैं। प्रथम अंक में वेद, वाग्देवी, करुणा, विष्णुभक्ति, न्यायवेदान्त आदि रूपक पात्र, सरस्वती के सम्मुख क्रमशः प्रवेश करते हैं। देवी उनसे धर्म दशा सुधारने को कहती हैं। किन्तु वे सभी अपनी पतितावस्था के कारण, असमर्थता व्यक्त करके चले जाते हैं। दूसरे अंक में विटावतंसी स्वामी, विटोपदेशा, अधौतगुदा आदि के व्यभिचार का वर्णन है। सामयिक युग परिस्थिति के साधारण चित्रण के अतिरिक्त इसमें कोई नाटकीय सौन्दर्य नहीं है। डॉ० दशरथ ओझा[२] ने कुछ और नाटकों का उल्लेख किया है। उनमें से एक 'अमृतोदय' है। इस नाटक में 'सृष्टि से संहार तक जीव की अध्यात्मिक उन्नति का क्रम दिखाया गया है।'[३] यह नाटक पांच अंकों का है और इसके रचयिता मैथिल गोकुलनाथ (संवत् १६७२ के लगभग) श्रीनगर में राजकवि थे। इसके अतिरिक्त श्री सामराज कवि ने 'श्रीदामाचरितनाटक' की रचना विक्रम सम्वत् १७३८ में की थी। 'इस नाटक में चैतन्य चन्द्रोदय' के समान कृष्ण सखा श्री दामा के चरित और अध्यात्मिक चिन्तन दोनों का सम्मिलन पाया जाता है'।[४] यतिराज नामक रूपक नाटक में वरदाचार्य ने रामानुजस्वामी की विजय दिखाई है।

१०४. इस प्रकार संस्कृत भाषा में प्रबोधचन्द्रोदय की शैली के अनुकरण पर अनेक नाटकों की रचना हुई। इनमें विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के हेतु रूपक शैली का अनुकरण किया गया। किन्तु ये परवर्ती नाटककार प्रबोधचन्द्रोदय की सरस साहित्यिक शैली, भावतात्विक और आध्यात्मिक व्यथा का रचना संगठन, आलोचना और दार्शनिक सिद्धान्तों के समन्वय का एक साथ अनुकरण इतनी उत्कृष्टता से नहीं कर सके हैं।[५] 'मोहराजपराजय' नाटक को कुछ सफलता अवश्य मिली है किन्तु अन्य नाटकों में ऐसा प्रभाव नहीं आ सका है।

---

१. मिथ्याज्ञानविडम्बनम्--रविदास कृत--प्रकाशन-सन् १८९४ ई०
२. हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास--पृ० १५०-१५१
३. वही
४. वही
५. Keith—Krishnamisra's example has caused the pro-

१०५. 'संकल्प सूर्योदय' पाण्डित्य प्रधान शुष्क शैली[१] में लिखा हुआ नाटक है। 'चैतन्यचन्द्रोदय' में शैली सरल अवश्य है किन्तु उसमें चैतन्य का चरित्र वर्णन मात्र है, सैद्धान्तिक विशेषता नहीं है। 'ज्ञानसूर्योदय' प्रबोधचन्द्रोदय का जैन धर्मानुकूल एक रूपान्तर मात्र प्रतीत होता है। क्योंकि उसमें थोड़े अन्तर से अधिकांश समता मिलती है। 'पुरंजन चरित्र' में शैली सरस और साहित्यिक है। उसमें भागवत् की अध्यात्मिक कथा को रूपक नाटक का रूप दे दिया गया है और भावात्मक पात्रों की विशेष योजना नहीं है। सामयिक व्यभिचार के चित्रण से युक्त 'धर्मविजय नाटक' साधारण कोटि का है। 'जीवानन्दन' नाटक में लेखक ने आयुर्वेद के नियमों को रूपक शैली में नाटकीय रूप दे दिया है जिससे यह साहित्यिक नाटक की अपेक्षा आयुर्वेद का रोचक ग्रन्थ मात्र होकर रह गया है। इस कारण प्रबोधचन्द्रोदय का स्थान अपने आप में अद्वितीय बना हुआ है।

---

duction of numerous dramas of the same type, but of much less value.——The Sanskrit Drama. page 253.

१. Keith——"The Sankalpasuryodaya of Venkatanatha of the fourteenth century is excessively dreary."

——The Sanskrit Drama. page 253.

प्रबोधचन्द्रोदय की परवर्ती संस्कृत परंपरा

समय	नाटक	नायक		अन्य पात्र	विशेष
		नायक	प्रतिनायक		
१३वीं ई० श० पूर्वार्द्ध	मोहराज पराजय —यशपाल	राजा कुमारपाल	मोहराज	१. विवेकानन्द २. ज्ञानदर्पण ३. द्यूतकुमार ४. मदनदेव	जैन धर्म के प्रचार का उद्देश्य
१४वीं ई० शताब्दी	संकल्प सूर्योदय —वेंकटनाथ	विवेक	महामोह	१. श्रद्धा २. सुमति ३. विचारण ४. कामदेव ५. रति ६. क्रोध ७. लोभ	विशिष्टाद्वैतवाद के प्रतिपादनार्थ
१५७९ ई०	चैतन्य चन्द्रोदय —कर्णपूर	चैतन्य	कलियुग	१. भगवान अद्वैत २. विराग ३. मैत्री ४. अधर्म ५. प्रेमभक्ति	महाप्रभु चैतन्य का जीवन वृत्तान्त
१५९१ ई०	ज्ञान सूर्योदय —वादिचन्द्र सूरि	विवेक	मोह	१. दया २. अष्टशती ३. मति ४. काम ५. रति	जैनमत के दिगंबर सम्प्रदाय का सम्पादन
१६वीं ई० शताब्दी	धर्मविजय नाटक —भूदेव शुक्ल	धर्मराज	अधर्मराज	१. उर्ध्वगीत २. अस्तेय ३. शौच ४. दान ५. वर्णसंकर ६. नीचसंगति	पाखण्डरहित होकर शिव पूजंन करने का सन्देश
१८वीं ई० शताब्दी	पुरंजनचरितम —कृष्णदत्त मैथिल	पुरंजन	गंधर्वराज चंडवेग प्रतापी	१. विष्णुभक्ति २. सितपक्ष ३. कालकन्यका ४. नवलक्षणा	विष्णुभक्ति का प्रचार
१८वीं ई० शताब्दी पूर्वार्द्ध	१. विद्यापरिणय	—	—	— —	शिवभक्ति का प्रतिपादन
	२. जीवानन्दन —आनंदराय मखी	विज्ञानशर्मा	रोगराज	१. विषूची २. पाण्डु ३. सन्निपात ४. कुष्ठ ५. गुल्म	आयुर्वेद के स्वास्थ्य नियमों का प्रतिपादन
१८९४ ई०	मिथ्याज्ञान विडम्बना —रविदास	सरस्वती	—	१. करुणा २. विष्णुभक्ति ३. न्यायवेदांत ४. विटोपदेश ५. अघौतगुदा	पाखण्डपूर्ण धार्मिक परिस्थितियों का चित्रण

तृतीय अध्याय

संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय का अध्ययन

१०६. संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय की रचना प्राचीन नाट्य शास्त्रके अनुकूल हुई है। प्राचीन नाट्यशास्त्र में नाटक में प्रधान रूप से तीन तत्व[1]—कथा, नायक और रस माने गये हैं। किन्तु आधुनिक काल में नाटक के छः तत्व[2] माने जाते हैं—कथा, पात्र, कथनोपकथन, वातावरण, भाषा-शैली और उद्देश्य। 'प्रबोधचन्द्रोदय' के प्राचीन नाटक होने के कारण इसका अध्ययन प्राचीन विधि-विधान (टेकनीक) की दृष्टि से भी करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त प्रबोधचन्द्रोदय एक आध्यात्मिक नाटक है। अतः प्रबोधचन्द्रोदय की आध्यात्मिक भाव-सम्पत्ति का भी अध्ययन करना उचित होगा। अतएव प्रबोधचन्द्रोदय का अध्ययन हम निम्न प्रकार से करेंगे:—

१. कथा
२. पात्र
३. कथनोपकथन
४. भाषा शैली
५. रस
६. देशकाल
७. प्राचीन टेकनीक
८. आध्यात्मिक भाव सम्पत्ति
९. उद्देश्य
१०. उपसंहार

प्रबोधचन्द्रोदय की कथा और उसकी समीक्षा

१०७. कथावस्तु—प्रबोधचन्द्रोदय नाटक की कथावस्तु में मन के अन्तर्द्वन्द्वों को आध्यात्मिकता के प्रकाश में अभिव्यक्त किया गया है। निम्न रेखाचित्र द्वारा इस कथा के पात्रों का परस्पर सम्बन्ध सुगमता से समझा जा सकता है:—

---

१. दशरूपक—"वस्तुनेतारसस्तेषांभेदकः" कारिका ११. प्रथम प्रकाश।
२. साहित्यालोचन, पृष्ठ १३८।
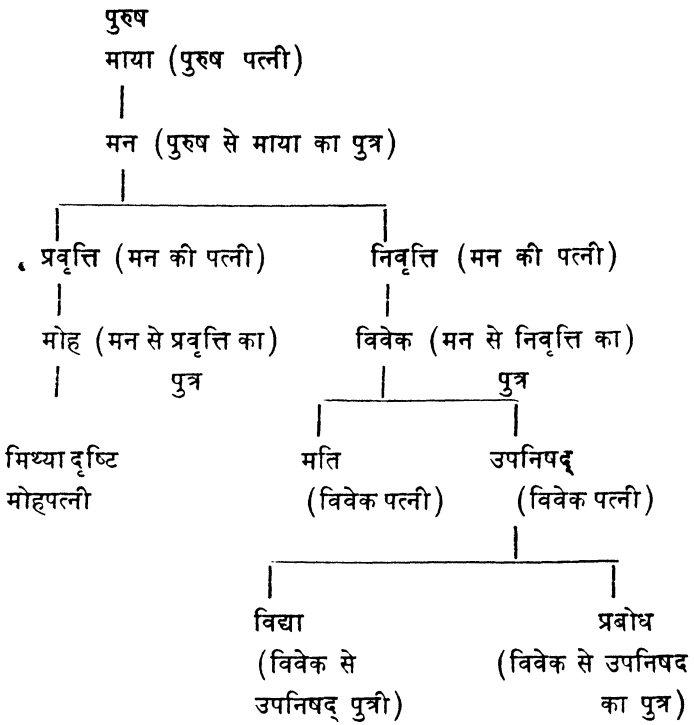
प्रथम अंक में मन की प्रवृत्ति और निवृत्ति नामक दो पत्नियों से क्रमशः उत्पन्न मोह और विवेक एक दूसरे के विरोधी हो जाते हैं। विवेक के पक्ष में शान्ति और श्रद्धा आदि तथा मोह के पक्ष में काम, क्रोध, लोभ, तृष्णा तथा हिंसा आदि हैं। काम और रति का रंगमंच पर प्रवेश होता है। रति काम से कहती है कि मोह का प्रतिपक्षी विवेक मोह के लिए एक आफत बन गया है। काम रति को समझाता है कि वह स्त्री होने के कारण डर रही है, अन्यथा विवेक की कोई हस्ती नहीं है। विवेक के मन्त्री यम-नियमादि के लिये तो हमारा चित्तविकार ही पर्याप्त है। रति के यह पूछने पर कि क्या आपलोगों और विवेक आदि का वंश एक ही है, काम उसे बताता है कि न केवल वंश ही अपितु हम सबके पिता भी एक ही हैं। पिता का प्रेमपात्र होने के कारण मैंने उसके द्वारा अर्जित संसार पर अपना अधिकार जमा लिया, अतएव विवेक हमें और पिताजी को उन्मूलित कर देना चाहता है। रति के यह प्रश्न करने पर कि इतना बड़ा पाप क्या मात्र विद्वेष से किया जा रहा है? काम ने उसे बताया कि उसके वंश में विद्या नामक राक्षसी उत्पन्न होने वाली है। राक्षसी का नाम सुनते ही रति भयभीत हो काम से लिपट जाती

है। काम उसे आश्वासन देता है कि उसके जीते जी विद्या की उत्पत्ति न हो सकेगी; अतः उसे (रति को) डरने की कोई आवश्यकता नहीं। इस पर रति के यह प्रश्न करने पर कि जो विवेक आदि विद्या की उत्पत्ति की कामना कर रहे हैं, क्या वह उनका विनाश न कर देगी? काम ने 'हाँ' में उत्तर दिया। उधर विवेक मति से कहता है कि—प्रिये, सुना तुमने, यह काम हम लोगों को पापी और स्वयं को पुण्यात्मा बतला रहा है, जब कि नित्य-शुद्ध-बुद्ध पुरुष को बन्धन में डाल रखने के कारण यह स्वयं पापी है। मति के यह पूछने पर कि स्वाभाविक आनन्दमय पुरुष इन लोगों के द्वारा क्योंकर आबद्ध हो सकता है? विवेक ने उसे बताया कि चतुर व्यक्ति भी स्त्रियों के द्वारा प्रतारित होकर बन्धन में पड़ जाते हैं। पुरुष भी माया के द्वारा ही बन्धन में डाला गया है। मति के द्वारा पुरुष के उद्धार का उपाय पूछने पर विवेक ने उसे बताया कि उपनिषद् के साथ उसका सम्बन्ध होने पर प्रबोध की उत्पत्ति होगी, तभी यह बन्धन छूट सकता है, मति ने इसमें कोई आपत्ति नहीं की।

१०८. दूसरे अंक के प्रारम्भ में मोह ने दम्भ को बुलाकर कहा कि विवेक ने प्रबोधोदय की प्रतिज्ञा की है और तीर्थों में शम, दम आदि को भेज दिया है। यह हमारे कुल के विनाश का समय आ गया है। अतः आप लोग जैसे भी हो, इसका प्रतिकार करें। संसार के सबसे बड़े मुक्ति-क्षेत्र काशी में जाकर चारों आश्रमों को भ्रष्ट करें। यहां पर तो मैंने अपना आधिपत्य पूर्ण रूप से जमा लिया है। ठीक इसी समय दक्षिण राढ़ा से आकर, अहंकार कहने लगा कि यहां के लोग बिलकुल मूर्ख हैं, फिर भी इन्हें पाण्डित्य का गर्व है। यहां के लोग मूंड मुड़ा लेने भर से वेदान्ती होने का दावा करने लग जाते हैं। इतना कह कर वह दम्भ के खूब सजे हुए आश्रम में पहुँच कर, उसे अपना रहने का आश्रयस्थल चुनता है। उसे वहां आते देखकर दम्भ के शिष्य बटु ने उससे कहा कि बिना पद-प्रक्षालन किए आप यहां न आयें। बटु के कथनानुसार वह अपने पैर को पखार कर वहां जाना चाहता है, पर दम्भ की मौन चेष्टा से बटु उसे फिर रोकता है। अहंकार को उसके विचित्र ब्राह्मणत्व पर आश्चर्य होता है और इसी सिलसिले में वह अपनी प्रशंसा करता है, जिससे दम्भ उसे पहचान जाता है तथा उसे पितामह कह कर उसके चरणों में प्रणाम कर, अपना परिचय देता है। अहंकार ने दम्भ से कहा कि उसने उसे द्वापर के अन्त में शिशु के रूप में देखा था, परन्तु उसके आज बड़े हो जाने और अपनी वृद्धावस्था के कारण, उसे पहचान नहीं सका। अनन्तर, दम्भ के यह कहने पर कि वे लोग भी यहीं हैं, अहंकार ने मोह के प्रति विवेक के द्वारा उपस्थित भय के बारे में पूछा। दम्भ ने उत्तर में कहा कि महाराज मोह इन्द्रलोक से आ रहे हैं और उन्होंने काशी

को अपनी राजधानी बनाना निश्चय कर लिया है। अहंकार के द्वारा यह जिज्ञासा करने पर कि मोह काशी में ही क्यों रहना चाहते हैं, दम्भ ने उसे बताया कि इसका कारण विवेकोपरोध ही है। यह सुनकर अहंकार के मन में कुछ आशंका हुई। दम्भ ने मोह के स्वागत में नगर परिष्कार की आज्ञा प्रचारित की। ठीक समय पर चार्वाक के साथ महाराज मोह का आगमन हुआ और चार्वाक ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया। चार्वाकीय सिद्धान्तों का श्रवण करने के उपरान्त प्रसन्न मोह ने चार्वाक की कुशल पूछी। 'सब कुशल है। कहकर चार्वाक ने यह बताया कि कलि के द्वारा प्रचार के रोक दिये जाने पर, विष्णुभक्ति नामक एक योगिनी का प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया है कि उसकी ओर ताकने तक का साहस किसी को नहीं होता। इसी समय मान का पत्र लेकर, पुरी से एक पुरुष आता है जिससे ज्ञात होता है कि शान्ति अपनी माता श्रद्धा के साथ विवेक को उपनिषद् के साथ मिलाने के लिये अहर्निश उपनिषद् को समझाती रहती है, कि काम सहचर होकर भी धर्म और वैराग्य के द्वारा फोड़ लिया गया है। अतः आप लोग इसका प्रतिकार करें। इस पर मोह ने कहा कि काम आदि विपक्ष में रहते, शान्ति कुछ नहीं कर सकती। तुम मदमान से मेरा यह सन्देश कह देना कि वह धर्म को बाँध कर रखा करे। इसी समय क्रोध और लोभ अपने गुण प्रकट करते हुए प्रवेश करते हैं। महामोह ने शान्ति को वश में करने के लिये, उसकी माता श्रद्धा को मिथ्या दृष्टि के द्वारा ग्रस्त कराने का विचार किया, ताकि वह मां के दु:ख में निकम्मी बन जाय। इसके लिये उसने मिथ्यादृष्टि को आदेश दिया और उसकी सफलता की कामना की।

१०९. तृतीय अंक में मिथ्यादृष्टि के द्वारा श्रद्धा तिरोहित कर दी जाती है। वन, पर्वत आदि में शान्ति उसे ढूंढ़ती फिरती है। करुणा के कथनानुसार वह श्रद्धा को पाखण्डालयों में भी ढूंढ़ने चलती है। वह वहां दिगम्बर जैन साधुओं को देखती है, जो अपने मत की श्रेष्ठता बताते घूमते रहते हैं। वहीं उसे तामसी श्रद्धा के दर्शन होते हैं। इसी सिलसिले में उसे बौद्ध भिक्षु और उसके यहां की तामसी श्रद्धा का साक्षात्कार होता है। अपने अपने मत को श्रेष्ठ बतलाने के लिए बौद्ध और जैन भिक्षुओं में शास्त्रार्थ होता है। शान्ति को आगे बढ़ने पर सोम-सिद्धान्त दिखाई दिया, जिससे जैनी साधु ने उसके दर्शन के सम्बन्ध में प्रश्न किया। उसने नारी और मदिरा के प्रलोभन से भिक्षु और क्षपणक दोनों को आकृष्ट कर लिया ओर कापालिकी के वेष धारण करनेवाली श्रद्धा ने उस दोनों का आलिंगन कर मदिरा पिलाई। नामसाम्य से शान्ति को उसके ऊपर अपनी माता का भ्रम हुआ, परन्तु करुणा के यह बतलाने पर कि उसकी माता विष्णु भक्ति के पास है, उसको सन्तोष हुआ। जैन भिक्षु के ज्योतिष के आधार पर धर्म और श्रद्धा को विष्णु-

भक्ति के आश्रय में बतलाने पर कापालिका ने अपनी विद्या से उन दोनों का आकर्षण करना चाहा।

११०. चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में मैत्री श्रद्धा से कहती है कि मैंने सुना है कि विष्णु भक्ति ने तुम्हें महाभैरवी के चंगुल से बचाया है। अतः मैं तुम्हें देखने आई हूँ। श्रद्धा ने महाभैरवी वाली घटना कह सुनाई। मैत्री ने भी अपनी कथा श्रद्धा से कही कि हम चारों बहनें महात्माओं के हृदयों में रहती हैं। विष्णुभक्ति की आज्ञा से विवेक ने वस्तुविचार को बुला भेजा है। विवेक ने उससे कहा कि मोह के साथ हम लोगों का संग्राम छिड़ गया है, इसलिये मैंने आपको अपना मुख्य सेनापति चुना है। वस्तुविचार के यह कहने पर कि काम को जीत लेना कौन बहुत बड़ा काम है, क्षमा ने कहा कि वह क्रोध को जीत लेगी और फिर क्रमशः हिंसा और मद आदि स्वयं परास्त हो जायेंगे। इसके बाद लोभ के विजेता सन्तोष को बुलाया जाता है और वह वाराणसी पर अभियान करने का परामर्श देता है। राजा भी उसका समर्थन करता है।

१११. पंचम अंक में विवेक की सेना के द्वारा मोहपक्ष का जब संहार हो जाता है तब श्रद्धा इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि स्वजनों का विरोध कुल को नष्ट करने वाला होता है। विष्णुभक्ति और शान्ति श्रद्धा से मिलती हैं। विष्णुभक्ति के श्रद्धा को मुनियों के हृदयों में रहने का वरदान देने और यह पूछने पर कि युद्ध का क्या समाचार है, श्रद्धा ने उसे सम्पूर्ण समाचार सुनाया। उसने यह बताया कि दोनों पक्ष की सेनाएं आमने-सामने खड़ी देखकर विवेक ने न्याय के लिए मोह के पास दूत भेज कर यह कहलवाया कि मोह देवस्थान को छोड़ कर चला जाय, अन्यथा उसका नाश कर दिया जायगा। इस सम्वाद को सुनकर मोह अतीव क्रुद्ध हुआ। इसी समय हमारी सेना के आगे सरस्वती प्रकट हुई। बड़ा घोर संग्राम हुआ, और सभी मोह पक्ष के मारे गये। मोह स्वयं कहीं जाकर छिप गया। जब मन ने यह समाचार सुना तो उसे बड़ा दुःख हुआ। उसी समय उसके पास वैयासकी सरस्वती ने पहुंचकर उसके मन संसार की वास्तविकता से परिचय कर वैराग्य की ओर झुकाया और निवृत्ति को पत्नी के पद पर अभिषिक्त किया जो कि प्रवृत्ति के नष्ट हो जाने के बाद रिक्त हो गया था। इसके बाद मन शान्त हो जाता है।

११२. षष्ठ अंक में, शान्ति ने श्रद्धा से राजकुल का सभी सामाचार पूछा और श्रद्धा ने विस्तार के साथ उसे बताया। श्रद्धा की बात से उसे पता चला कि मन ने माया के सम्बन्ध का परित्याग कर दिया है, तथा नित्यानित्य विचारना को प्रणयिनी, मुमुक्षा को सहचरी, वैराग्य को मित्र, शम दम आदि को सहायक तथा मैत्री आदि को परिचारिकाओं के रूप में अपना लिया है। उसे श्रद्धा के द्वारा इस

बात का भी पता चला कि मोह ने इस स्थिति में भी अपनी दुष्टता का परित्याग नहीं किया है और उसने मन को फुसलाने के लिए 'मधुमती' को नियुक्त किया है। मधुमती और उसके साथियों ने मन को अपनी ओर आकृष्ट करने, का सफल प्रयास किया, मन आकृष्ट हो गया, परन्तु पार्श्ववर्ती तर्क ने समय पर सबको आड़े हाथों लिया। उसने सम्पूर्ण मायाजाल का पर्दा फाड़ कर मन को सचेत कर दिया। तदनन्तर पुरुष ने विवेक को देखना चाहा और उपनिषद् को भी बुला भेजा। उपनिषद्-विवेक से मिलने में आनाकानी करती रही, परन्तु शान्ति के समझाने पर वह विवेक से मिली। पुरुष के यह प्रश्न करने पर कि उसने इतने दिन कहां बिताये उपनिषद् ने मठों आदि में अपना रहना, बताया। उसने यह भी बताया कि जब वह जाती हुई यज्ञविद्या के पास आश्रय के लिए गई तब उसने उसके कार्य के सम्बन्ध में प्रश्न किया और उसने अपना कार्य ब्रह्म-ज्ञान बतलाया। इस पर यज्ञ-विद्या ने कहा कि ऐसे अकर्ता पुरुष की मुझे कोई आवश्यकता नहीं। इसके बाद मीमांसा और तर्क की शरण में गई, किन्तु किसी ने भी उसे नहीं अपनाया। अनन्तर जब वह दण्डक वन में गई तो गदापाणि पुरुषों ने पीछा करने वाले तर्कों को भगा दिया। बाद में उपनिषद् ने आज्ञा का स्वरूप बतलाया और इसी समय निदिध्यासन प्रकट हुआ। उसने आकर पुरुष के समक्ष ही उपनिषद् से निवेदन किया कि आपके गर्भ से विद्या और प्रबोधोदय नाम की दो सन्तानें होंगी, उनमें विद्या को संकर्षन शक्ति द्वारा मन में सक्रांत करा दें और प्रबोधचन्द्र को पुरुष के हाथों सौंप कर विवेक के साथ उपनिषद् विष्णुभक्ति के पास चली जाय। वैसा ही हुआ, प्रबोधोदय होनेसे सबका अज्ञानान्धकार दूर हो गया और पुरुष को विष्णुभक्ति के प्रसाद से मुक्ति मिली।

११३. **कथावस्तु की विशेषता**—उपरोक्त कथावस्तु के ज्ञात हो जाने के उपरान्त उसकी कुछ विशेषताएं अभिव्यक्त होती हैं। प्रथम विशेषता, जिसे कि हम मुख्य विशेषता भी कह सकते हैं, इसकी कथावस्तु के प्रतिपाद्य विषय का मानसिक एवं आध्यात्मिक होना है। इसमें किसी पौराणिक देवता या मानव-विशेष के सुख-दुःख की लौकिक कथा का अंकन मात्र न होकर (समस्त) मानवमात्र के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का रूपक कथा के माध्यम से स्पष्ट एवं भव्य चित्र प्रस्तुत किया गया है। इस रूपक-कथा में धर्म, दर्शन एवं आत्मा के मोक्ष की गहन समस्या का यथातथ्य चित्र चित्रित कर, उसका सफल समाधान देने का प्रयास अन्तर्निहित है। यद्यपि शुष्क दार्शनिक तथ्यों से ही इसके कलेवर का निर्माण हुआ है। तथापि सरस लौकिक कथा की तरह पाठक को आवर्जित करने की विचित्र शक्ति का अस्तित्व जो कि इसमें 'पदे पदे' उपलब्ध होता है, इसकी अपनी अनन्य सामान्य विशेषता है।

११४. इसकी दूसरी विशेषता अमूर्त को मूर्त रूप देना है, अर्थात् अमूर्त भावनाओं की कथा मूर्त जगत के सम्बन्धों पर आरोपित करके लिखी गई है। भावनाओं की मूर्त कल्पना का पात्रों पर आरोप होने से कथानक ने भावतात्विक रूपकात्मकता का स्वयं में समाहार कर लिया है। अमूर्त भावनाओं के जन्म की, उनके माता-पिता, पुत्र, पत्नी तथा भगिनी के सम्बन्ध की, उनकी पारस्परिक शत्रुता और मित्रता की योजना, अतीव हृदयंगम शैली में, इस कथानक में उपनिबद्ध होकर हठात् सहृदयों के हृदय को अपनी ओर आवर्जित कर लेती है।

११५. विवेक और महामोह जैसे विरोधी अमूर्त भावों के संघर्ष का मनोवैज्ञानिक चित्रण भी इस कथानक की प्रमुख विशेषताओं में अन्यतम है। साधारण मानव-जीवन में हमें यदि कभी 'सत्' भावना की विजय होती दिखाई देती है, तो कभी 'असत्' भावना का प्राबल्य दृष्टिगत होता है। इन्हीं 'सत्' और 'असत्' भावनाओं के तुमुल संघर्ष की पृष्ठभूमि में, जिस अन्तर्द्वन्द्व का मनोवैज्ञानिक सूक्ष्म चित्र अंकित किया है, वह लेखक की विश्लेषण शक्ति का नितान्त परिचायक है। यह संघर्ष नाटक के अन्त में आनन्दमय मोक्ष के प्रसंग तक पहुँचने के पूर्व (सत् की विजय के रूप में) समाप्त हो जाता है।

११६. प्रस्तुत में अप्रस्तुत की झलक इस कथानक की चौथी विशेषता कही जा सकती है। कृष्ण मिश्र ने जिस राजा के आश्रय में रह कर प्रस्तुत नाटक की रचना की तथा जिसकी राज्य सभा में इसका अभिनय हुआ, उसके युद्ध करने और उसमें विजय प्राप्त करने के प्रसंग का अप्रस्तुत वर्णन नाटक की प्रस्तावना में अभिव्यक्त किया गया है।[1] राजा कीर्तिवर्मा अपने परम हितैषी मंत्री गोपाल के सहयोग से शत्रु कर्ण को परास्त कर विजयी होता है। ठीक इसी आशय के अप्रस्तुत राजा और राज्य की सुख तथा शान्ति की कामना—की व्यंजना हमें नाटक के अन्त के भरत-वाक्य में उपलब्ध होती है।[2] स्पष्ट है कि (प्रस्तुत) नाटक के 'पुरुष' पात्र के चरित्र का ही आरोप–अप्रस्तुत राजा कीर्तिवर्मा के चरित्र पर नाटककार ने किया है। इसी प्रकार अप्रस्तुत मंत्री गोपाल के चरित्र में प्रस्तुत विवेक के चरित्र का तथा अप्रस्तुत शत्रु कर्ण के चरित्र में प्रस्तुत महामोह के चरित्र की स्पष्ट झाकी हम पाते हैं। मंत्री गोपाल ने कर्ण राजा को पराजित कर कीर्तिवर्मा को राज्यसिंहासन पर प्रतिष्ठित किया—इस अप्रस्तुत वर्णन ने विवेक के द्वारा महामोहादि शत्रुओं का

---

१. द्रष्टव्य—प्रबोधचन्द्रोदय, प्रस्तावना के चतुर्थ और नवम् इलोक।

२. प्रबोधचन्द्रोदय, षष्ठ अंक, भरत वाक्य—राजानः क्ष्मां गलितविधिबोपप्लवाः पालयन्तु—आदि।

विनाश कर पुरुष (जीवात्मा) का स्वराज्य (प्रबोधरूप ब्रह्मा कार वृत्ति) में स्थापित किया जाना रूप अप्रस्तुत अर्थ स्पष्ट रूप से व्यंजित हो रहा है।

११७. इस प्रकार हम देखते हैं कि 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक के इस कथानक में हमें कुछ ऐसी विशेषताएं उपलब्ध होती हैं जिनकी सत्ता संस्कृत साहित्य के प्रबोध-चन्द्रोदय के पूर्ववर्ती नाटकों में तो एकान्त असंभव ही है। उसके परवर्ती रूपकात्मक शैली को आधार बनाकर लिखे गये कुछ नाटकों में यदि मिलती भी है, तो ठीक उसी रूप में—कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन के साथ–जैसी कि प्रबोधचन्द्रोदय में उपलब्ध है। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि इस कथा-वस्तु का संस्कृत नाटक साहित्य के कथानक के इतिहास में एक असाधारण महत्व का स्थान है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' को गौरवमण्डित पद पर आरूढ़ करने में उसके कथानक की इन विशेषताओं का मुख्य स्थान है यह निःसन्देह कहा जा सकता है।

११८. **कथावस्तु की नाट्यशास्त्र की दृष्टि से समीक्षा**—जैसा कि हम अभी देख चुके हैं—प्रबोधचन्द्रोदय की कथावस्तु में कुछ असाधारण विशेषताएं है, परन्तु एक नाटक की कथावस्तु के लिए इन विशेषताओं का मूल्य उस अवस्था में बिलकुल नगण्य ठहरता है, जब उसमें नाटकीयता का अभाव हो। किन्तु हमें यह देखकर कि दार्शनिकता और आध्यात्मिकता की दृढ़ आधार भूमि पर कथा-वस्तु के भव्य मन्दिर को प्रतिष्ठित कर कृष्ण मिश्र ने उसमें नाटकीयता की प्राणप्रतिष्ठा भी की है, हमें निराश नहीं होना पड़ता। अधिकतर यह देखा गया है कि प्रबोधचन्द्रोदय की शैली के नाटकों की कथावस्तु में नाटकीय-गति-प्रवाह या तो बिलकुल पाया ही नहीं जाता या पाया भी जाता है तो बहुत कम। उदाहरण के लिए हम वेंकटनाथ के 'संकल्प सूर्योदय' को जो एक प्रसिद्ध रूपकात्मक नाटक है–ले सकते हैं। इसकी कथावस्तु अत्यन्त शिथिल है। दार्शनिक पाण्डित्य के प्रवाह में कितने ही नाटकीय गुणों को बह जाना पड़ा है। सन्तोष की बात है कि कृष्ण मिश्र ने अपने समक्ष अपने मुख्य ध्येय को रखते हुए अपनी कृति में उपरोक्त दोषों को नहीं आने दिया है। वास्तविकता यह है कि अपनी इस कृति को एक अभिनेय नाटक का रूप देने के लिए उन्होंने स्तुत्य प्रयास किया है। और उसमें वे सफल भी हुए हैं। प्रस्तुत कृति के कथानक में उन्होंने भरत के नाट्यशास्त्रोक्त अवस्थाओं, सन्धियों और अर्थ प्रकृतियों का यथास्थान समुचित विन्यास किया है। अतः यह आवश्यक है कि 'प्रबोधचन्द्रोदय' के कथानक की समीक्षा भरत के प्राचीन नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि पर ही की जाय।

११९. **वस्तु का द्वैविध्य**—नाट्यशास्त्र के दृष्टिकोण से कथावस्तु के प्रधान

रूप से दो भेद होते हैं[1]—प्रथम आधिकारिक और द्वितीय प्रासंगिक। आधिकारिक वस्तु से तात्पर्य नाटक की मुख्य वस्तु से तथा प्रासंगिक से तात्पर्य गौण कथा-वस्तु से है।[2]

१२०. **प्रबोधचन्द्रोदय** की कथावस्तु में राजा विवेक की कथा आधिकारिक कथा है। राजा विवेक ही प्रधान नायक है जो प्रतिपक्ष मोह से संघर्ष करता और सहयोगियों के सहयोग से उस पर विजय प्राप्त करता है। विवेक की विजय के परिणामस्वरूप 'प्रबोधोदय' रूप फल प्राप्त होता है। इसी फल-प्राप्ति के अधिकार से राजा विवेक अधिकारी है और उससे सम्बन्धित कथा आधिकारिक है।[3]

१२१. प्रासंगिक कथावस्तु के दो भेद किये गये हैं—प्रताका तथा प्रकरी। जो कथावस्तु, नाटक या काव्य में बराबर चलती रहती है, उसे 'पताका'[4] कहते हैं। जो कथाकाव्य या रूपक में कुछ काल तक चलकर रुक जाती है, उस कथा वस्तु को 'प्रकरी'[5] नाम से अभिहित किया जाता है।

१२२. 'प्रबोधचन्द्रोदय' की कथावस्तु में विष्णुभक्ति की कथा 'पाताका' है। विष्णुभक्ति विवेक की रक्षा के लिये अनेक यत्न करती है। विवेक के सहायकों को शत्रुपक्ष के चंगुल से बचाकर विवेक की रक्षा के निमित्त नियोजित कर देती है।

१२३. वैयासकी सरस्वती की कथा प्रकरी है, क्योंकि वैयासकी सरस्वती पांचवें अंक के प्रवेशांक के पश्चात् रंगमंच पर मन को शान्त करने के हेतु प्रविष्ट होती है। और मन को शान्त करके, उसे 'प्रबोधोदय' की ओर अग्रसर करके, पांचवें अंक के अन्त में प्रस्थान कर जाती है। इस प्रकार उसका अल्पस्थायित्व सिद्ध होता है। मन में वैराग्य उत्पन्न कर विवेक की उपकारिणी भी यह है। अतएव वैयासकी प्रकरी का यह प्रसंग सफल एवं सार्थक है।

---

१. (क) इतिवृत्तं द्विधाचैव बुधस्तु परिकल्पयेत।
आधिकारिकमेकं स्यात् प्रासंगिकमथापरम्॥
ना० शा०, अ० १९, श्लोक २।

(ख) वस्तु च द्विधा......। दश रूपक, प्र० प्र०, कारिका ११।

२. तत्राधिकारिकं मुख्यमंगं प्रासंगिकं विदुः। द० रु० प्र० प्र० का० ११।

३. अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।
तन्निवृत्तमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम्। द० रु० प्र० प्र० का० १२।

४. सानुबन्धं पताकाख्यम्—द० रु० प्र० प्र० का० १३।

५. प्रकरी च प्रदेशभाक्, वही।

वस्तु की नाटकीय योजना : वस्तु योजना

१२४. भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के अनुसार वस्तु योजना में अर्थ प्रकृति, अवस्था और इनके संयोग से निर्मित सन्धियों का विचार किया जाता है। अर्थ-प्रवृत्तियां वस्तु के तत्वों से अवस्थाएं कार्य व्यापार से और सन्धियां रूपक—रचना के विभागों से सम्बन्ध रखती है।[1] इन तीनों के पांच-पांच भेद होते हैं, जो परस्पर एक दूसरे के सहायक और अनुकूल होते हैं।

१२५. 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक की कथावस्तु-योजना नाट्यशास्त्र के अनुकूल हुई है। अवस्था, अर्थ प्रकृति और सन्धियां सफलता के साथ इसमें संयोजित हैं।

१२६. **अवस्था**--'प्रबोधचन्द्रोदय' की कथावस्तु में पांचों अवस्थाएं—प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम[2]—हैं, जिनका अब हम विवेचन करेंगे।

१२७. किसी भी फल की प्राप्ति के लिये उत्सुकता-मात्र को नाट्यशास्त्रीय परिभाषा में 'आरम्भ' कहते हैं।[3] यह 'आरम्भ' नामक अवस्था प्रस्तुत नाटक के प्रथम अंक में मति के 'एवं दीर्घतर निद्रा विद्रावित प्रबोध परमेश्वरे कथं प्रबोधोत्पत्तिर्भविष्यति'—अर्थात् प्रबोध का उदय कैसे होगा'' इस वाक्य में है, क्योंकि इससे 'नाटक' के फल 'प्रबोधोदय' के प्रति नायिका मति की उत्सुकता की प्रतीति होती है।

१२८. प्रारम्भ के पश्चात् 'प्रयत्न' नामक अवस्था आती है। फल की प्राप्ति न होने पर, उसकी प्राप्ति के लिये किये गये त्वरान्वित व्यापार को 'प्रयत्न' कहा जाता है।[4] यह अवस्था प्रस्तुत नाटक के तृतीय अंक में शान्ति के द्वारा की गई श्रद्धा

---

१. श्याम सुन्दर दास--'साहित्यालोचन', पृष्ठ १६८।

२. (क) अवस्थाः पंचकार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमः।
द० रु० प्र० प० का० १९।

(ख) यही परिभषा साहित्य दर्पण षष्ठ परिच्छेद—का ७० और ७१ में है

३. (क) भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्य फलसिद्धये। सा० द० प्र० प० का० ७१

(ख) ओत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे।
द० रु० प्र० प्र० का० २०२।

४. (क) प्रयत्नस्तु तदप्राप्तो व्यापारोऽतित्वरान्वितः।
द० रु० प्र० प्र० का० २०३।

की खोज में है। क्योंकि प्रबल शत्रु मोह को पराजित कर 'प्रबोध' फल की प्राप्ति के लिये नायक के पक्ष से उपरोक्त-व्यापार- को 'त्वरा' के साथ सम्पादित किया गया है।

१२९. उपाय और विघ्न की आशंका से फल प्राप्ति का निश्चित न होना 'प्राप्त्याशा' अवस्था कहलाती है।[1] तात्पर्य यह है कि जब उपाय के द्वारा फल प्राप्ति की संभावना और साथ ही विघ्न की आशंका से फल प्राप्ति का निश्चय न हो तो उस अवस्था को 'प्राप्त्याशा' कहते हैं। कापालिक के द्वारा विष्णुभक्ति को फल का साधन बतलाना, विष्णुभक्ति के द्वारा श्रद्धा की रक्षा तथा विष्णुभक्ति की आज्ञा से विवेक के अपने सैनिकों को सुसज्जित कर वाराणसी में पहुंच जाने के बाद में, विवेक के सम्बन्ध में (विष्णुभक्ति के द्वारा) पराजय और अनिष्ट की आशंका आदि का होना 'प्राप्त्याशा' अवस्था है।

१३०. जब विघ्न के अभाव के कारण फल की प्राप्ति हो जाती है तो उसे नियताप्ति नामक अवस्था कहते हैं।[2] प्रस्तुत नाटक के विवेक का महामोह से युद्ध, विवेक की विजय के पश्चात् सरस्वती के उपदेश के द्वारा मन का वैरागी हो जाना आदि 'नियताप्ति' की अवस्था है, क्योंकि इन व्यापारों के द्वारा नायक विवेक को उसके 'फल', 'प्रबोधोदय' की प्राप्ति निश्चित सी हो जाती है।

१३१. पांचवीं अवस्था 'फलागम' कहलाती है।[3] नाट्यशास्त्र के अनुसार

(ख) प्रयत्नस्तु फलावाप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः।
सा० द० व० प० का० ७१।

१. (क) उपायापाय शंकाभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसंभवः।
द० रु० प्र० प्र० का० २१।

(ख) ईषत् प्राप्तिर्यदा काचित् फलस्य परिकल्प्यते।
भावमात्रेण तं प्राहुर्विधिज्ञाः प्राप्ति संभवम्।
ना० शा० अ० १९, श्लोक ७३।

२. (क) नियतां तु फल प्राप्तिं यदा भावेन परिपश्यति।
नियतां तां फल प्राप्तिं सगुणां परिचक्षते।।
ना० श० अ० १९, श्लोक ७४।

(ख) अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिः सुनिश्चिता।
द० रु० प्र० प्र० का० २१३।

३. (क) समग्र फल सम्पत्तिः फलयोगो यथोदितः।
द० रु० प्र० प्र० का० २२।

सम्पूर्ण फलों की उपलब्धि को फल-योजना या फलागम कहते हैं। मन के निर्विषय हो जाने पर पुरुष को ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान अर्थात् प्रकृष्ट बोध-प्रबोध का उदय होना ही फलागम है। क्योंकि इस 'प्रबोधोदय' में सभी फलों का समाहार पाया जाता है।

१३२. इस प्रकार हमने ऊपर के विवेचन के अनुसार देखा कि प्रस्तुत कृति में नाटककार के द्वारा अतीव सुन्दरता के साथ पांचों अवस्थाओं का यथास्थल निवेश किया गया है।

१३३. जैसा कि पहले कहा गया है कि अर्थ प्रकृतियां वस्तुतत्व से सम्बन्ध रखती हैं। इनकी संख्या पांच है—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य। प्रस्तुत नाटक के कथानक में यथास्थान इनका समावेश है।

१३४. नाटक के प्रारम्भ में उद्दिष्ट नाटक के फल के कारण तथा कथानक में अनेक रूप से पल्लवित तत्व को 'बीज'[1] कहते हैं। यह 'बीज' अर्थ प्रकृति-प्रस्तुत नाटक के प्रथम अंक के उस स्थल से प्रारम्भ होती है, जहां काम अपनी पत्नी रति से कहता है कि विवेक और उपनिषद् देवी के संगम से 'प्रबोधचन्द्र' के साथ विद्या का जन्म होगा। वस्तुतः विद्या की उत्पत्ति का कथन ही इस कथा का बीजतत्व है। इस तत्व से ही समस्त कथानक का विकास सम्पन्न हुआ है। विवेक—प्रबोध और विद्या के उदय के लिये प्रयत्न करता है। इस प्रयत्न में काम और मोहादि विरोध करते हैं। विरोध और द्वन्द्व से समन्वित समस्त कथानक इसी 'बीज' तत्व से विस्तार पाता है।

१३५. किसी दूसरी कथा से विच्छिन्न हो जाने पर कथानक को जोड़ने और आगे बढ़ाने के लिये जो कारण होता है, उसे 'बिन्दु'[2] कहते हैं। प्रस्तुत नाटक के

(ख) अभिप्रेतं समग्रं च प्रतिरूपं क्रियाफलम्।
इतिवृत्ते भवेद्यस्मिन् फलयोगः प्रकीर्तितः॥
नाट्य शा० अ० १९, श्लोक १३।

१. (क) स्वल्पमात्रं समुत्सृष्टं बहुधा यद्विसर्पति।
फलावसानं यच्चैव बीजं तत्परिकीर्तितम्।
ना० शा० अ० १९, श्लोक २२।

२. (क) अवान्तरार्थविच्छेदे विन्दुरच्छेदकारणम्।
सा० द० ष० प० का ६६।

(ख) प्रयोजनानां विच्छेदे यदविच्छेद कारणम्।
यावत्समाप्तिर्बन्धस्य स विन्दुः परिकीर्तितः॥
ना० शा० अ० १९, श्लोक २३।

द्वितीय अंक में प्रविष्ट होकर दम्भ और अहंकार महामोह के प्रबल प्रभाव की वार्त्ता करते हैं। इससे कथा के बीज का विच्छेद हो जाता है। किन्तु जब अहंकार भयभीत होकर दम्भ से कहता है कि विवेक से महामोह को महाभय उपस्थित है—यह बीज का अविच्छेदक कारण ही बिन्दु नामक अर्थ प्रकृति है। क्योंकि इस कथन से प्रधान कार्य की पुष्टि होती है।

१३६. 'पताका' नामक अर्थ-प्रकृति की परिभाषा कथानक के अन्तर्गत दी जा चुकी है। यह प्रासंगिक कथानक का ही एक भेद है। प्रस्तुत नाटक की 'विष्णु-भक्ति' की कथा 'पाताका' अर्थ प्रकृति है।

१३७. 'प्रकरी' नामक अर्थ प्रकृति भी प्रासंगिक इतिवृत्त का ही एक भेद हैं, जैसा कि पहले ही स्पष्ट प्रतिपादित किया गया है। प्रस्तुत नाटक की वैयासिकी सर-स्वती का प्रसंग प्रकरी नामक अर्थ प्रकृति है।

१३८. पांचवीं 'अर्थप्रकृति' कार्य है।[1] कार्य से तात्पर्य उस घटना से है जिसके लिए सब उपायों का आरम्भ किया जाय और जिसकी सिद्धि के लिये सामग्री इकट्ठी की गई है। प्रकृत नाटक के छठे अंक में पुरुष को प्रबोध का उदय और परम ज्ञान की सिद्धि होती है। पुरुष स्वयम्भू मुनि होने तथा सदानन्द पद पर प्रतिष्ठित होने का अनुभव करता है। यही 'कार्य' अर्थ प्रकृति है।

१३९. इस प्रकार विवेचन से स्पष्ट है कि पांचों अर्थं प्रकृतियों का यथास्थान रुचिर निवेश इस नाटक में हुआ है।

१४०. जिस प्रकार अवस्थाएं व्यापार-श्रृंखला की तत्तत् स्थितियों की द्योतक हैं और अर्थ प्रकृतियां कथावस्तु से सम्बन्ध रखती हैं, उसी प्रकार संधियाँ नाटक-रचना के विभागों की निर्देशिका हैं। किसी एक प्रयोजन से परस्पर सम्बन्धित कथांशों को जब किसी दूसरे एक प्रयोजन से समन्वित किया जाता है, तो उस सम्बन्ध को सन्धि[2] कहते हैं। इनके पांच भेद किये गये हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण।[3]

---

१. (क) अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः।
समापन्नन्तु यत्सिद्धयै तत्कार्यमिति सम्मतम्।
सा० द० ष० प० का० ६९-७०।

(ख) यदाधिकारिकं वस्तु सम्यक प्राज्ञैः प्रयुज्यते।
तदर्थो यः समारम्भस्तत्कार्यं परिकीर्तितम्॥
ना० शा० अ० १९, श्लोक २६।

२. अन्तरैकार्थ सम्बन्धः सन्धिरेकान्वयेसति।

३. मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः।

१४१. प्रकृत नाटक के तत्तत् स्थलों पर इन पांचों सन्धियों का सुभग सन्निवेश हुआ है।

१४२. प्रारम्भ नामक अवस्था से युक्त, नाना प्रकार के अर्थों और रसों को उत्पन्न करने वाली बीज की समुत्पत्ति को 'मुख' सन्धि कहते हैं।[1] प्रस्तुत नाटक के प्रथम अंक में मतिके कथन—प्रबोधोत्पत्तिर्भविष्यति"—अर्थात् प्रबोध की उत्पत्ति कैसे होगी। इस वाक्य से सूचित 'आरम्भ' अवस्था और काम के 'अस्माकं कुले काल रात्रिकल्पा विद्या नाम राक्षसी समुत्पत्स्यसे' अर्थात् हमारे इस कुल में काल-रात्रि के सदृश विद्या नाम की राक्षसी उत्पन्न होगी। इस वाक्य से व्यक्त बीज के मेल से 'मुख' सन्धि का निर्माण हुआ है।

१४३. उपरोक्त 'बीज' का कुछ-कुछ दिखाई देना और कुछ-कुछ न दिखाई देना—इस लक्ष्यालक्ष्य के रूप में बीज का उद्भिन्न होना 'प्रतिमुख' सन्धि कहलाती है।[2] यह प्रयत्न और 'विन्दु' के साथ-साथ रहती है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' के द्वितीय और तृतीय अंक में 'प्रतिमुख' सन्धि का ही विस्तार है। इन अंकों में कहीं तो मोह, अहंकारादि विरोधियों के प्रभाव का वर्णन है और कहीं विरोधियों के लिये नायक की ओर से किये गये प्रयत्नों से भय और पराजय की शंका भी उपस्थित की गई है, जिससे 'प्रबोधोदय' रूप फल कहीं गुप्त और कहीं स्पष्ट हो जाने से प्रतिमुख सन्धि का निर्माण हुआ है।

१४४. बीज के दृष्ट होने के बाद पुनः नष्ट होने पर बार-बार उसका अन्वेषण

---

१. (क) यत्र बीज समत्पत्तिर्नानार्थ रस सम्भवा।
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्तितम् ॥
सा० द० ष० प० का० ७६, ७७।

(ख) यत्र बीज समुत्पत्तिर्नानार्थं रससम्भवा।
काव्यं शरीरानुगता तन्मुखं परिकीर्तितम् ॥
ना० शा० अ० १९, श्लोक १९।

२. (क) लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्।
द० रु० प्र० प्र० का० ३०।

(ख) बीजस्योद्घाटनं यत्र दृष्ट नष्टमिव क्वचित्।
मखन्यस्तस्य सर्वत्र तद्वै प्रतिमुखं स्मृतम् ॥
ना० शा० अ० १९, श्लोक ४०।

किया जाना 'गर्भ सन्धि' कहलाती है।[1] इसमें पताका नामक अर्थ प्रकृति और प्राप्तयाशा नामक अवस्था का मिश्रण पाया जाता है। परन्तु पताका का होना बहुत अनिवार्य नहीं है। तृतीय अंक के अन्त में विष्णुभक्ति का 'पताका' रूप वृत्तान्त प्रारम्भ होने से गर्भसन्धि प्रारम्भ हो जाती है। चतुर्थ अंक में विष्णुभक्ति की प्रेरणा से विवेक अपने सैनिकों को नियुक्त और युद्ध करने प्रारम्भ करने का प्रयत्न करता है, जिससे प्राप्त्याशा की स्थिति पांचवें अंक के प्रारम्भ तक चलती है। अतः 'गर्भसन्धि' की योजना तृतीय अंक से प्रारम्भ होकर पांचवें अंक के प्रारंभ तक है।

१४५. चौथी 'सन्धि' अवमर्श या विमर्श है। क्रोध, व्यवसन या लोभ से जहां फलोपलब्धि के विषय में विमर्श किया जाय तथा जिसके बीज को 'गर्भसन्धि' के द्वारा प्रकट किया गया हो उसे 'विमर्श'[2] सन्धि कहते हैं। इसमें प्रकरी अर्थप्रकृति और नियताप्ति अवस्था की योजना रहती है। प्रस्तुत नाटक में श्रद्धा के द्वारा विष्णु-भक्ति को युद्ध का यह प्रसंग सुनाना कि मोह ने विवेक का सन्देश सुनने के अनन्तर क्रुद्ध हो युद्ध छोड़ दिया तथा युद्ध में कामादिकों के विनाश हो जाने के पश्चात् विवेक की विजय हो जाने पर भी, मोहादि के कारण मन दुःखी रह गया है तथा मोह कहीं छिप गया है। यह और विष्णुभक्ति के द्वारा प्रेषित सरस्वती के उपदेश से मोह का नाश होकर मन का निवृत्ति की ओर उन्मुख होना फल की उपलब्धि के नियत हो जाने से 'नियताप्ति' अवस्था के अन्तर्गत आते हैं। सरस्वती के उपदेश से मन का सहजानन्द सान्द्रत्व का अनुभव करना गर्भसन्धि के द्वारा बीज का प्रकट

---

१. (क) गर्भस्तु नष्टद्रष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः।
. . . पताका स्यान्नवा स्यात्प्राप्तिसंभवः॥
द० रु० प्र० प्र० का० ३६।

(ख) उद्भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव वा।
पुनश्चान्वेषणं यत्र स गर्भ इति स्मृतः॥
ना० शा व० १९, श्लोक ४१।

२. (क) क्रोधेनावमृशेयत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्।
गर्भनिर्भिन्न बीजार्थः सोऽवमर्श इति स्मृतः॥
द० रु० प्र० प्र० का० ४३।

(ख) गर्भनिर्भिन्न बीजार्थो विलोभनकृतोऽथवा।
क्रोधव्यसनयो वापि सविमर्श इति स्मृतः॥
ना० शा० अ० १९, श्लोक ४२

होना है। इसके अतिरिक्त सरस्वती का प्रसंग जो कि प्रकरी है—का मेल भी है। अतः 'विमर्श सन्धि' है।

१४६. पांचवीं सन्धि 'निर्वहण' है। जहां बिखरे हुए, बीज के सहित मुख आदि अर्थ, एक अर्थ में एकत्रित कर दिये जाते हैं, उसे 'निर्वहण'[1] सन्धि कहते हैं। इसमें 'फलागम' अवस्था और 'कार्य' अर्थप्रकृति की योजना रहती है। छठे अंक में विवेक की विजय और विषयादि शत्रुओं का नाश होने की शुभसूचना से लेकर 'प्रबोधोदय' रूप कार्य की सिद्धि पर्यन्त 'निर्वहण' सन्धि का विस्तार है। इसका अन्त शुभसूचक भरतवाक्य से होता है। इस प्रकार नाटक के छठे अंक में 'निर्वहण' सन्धि का सफल संगठन हुआ है।

१४७. इस प्रकार ऊपर किये गये विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कृष्ण मिश्र ने अवस्था, अर्थप्रकृति और सन्धियों का अपने इस नाटक में जो सन्निवेश किया है, वह किसी भी प्रकार नाटक की कथावस्तु को विशृंखल नहीं होने देता, अपितु उसके कारण नाटक में एक गति आ गई है।

२. प्रबोधचन्द्रोदय के पात्र—उनका चरित्र चित्रण

पात्र तालिका

पुरुष पात्र

१. सूत्रधार	८. पारिपार्श्वक, पुरुष, सारथी प्रतिहारिण
२. विवेक	९. महामोह
३. वस्तुबिचार	१०. चार्वाक
४. सन्तोष	११. काम, क्रोध, लोभ, दम्भाहंकाराः
५. पुरुष	१२. मन
६. प्रबोधोदय	१३. क्षपणक, भिक्षु, कापालिक
७. वैराग्य, निदिध्यासन संकल्प	१४. बटु, शिष्य, पुरुष, दौवारिक

---

१. (क) बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णायथायथम्।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हितत्॥
द० रु० प्र० प्र० का० ४८-४९।

(ख) समानयनमर्थानां मुखाद्यानां सबीजिनाम्।
नानाभावान्तराणां यद्भवेन्निर्वहणं तु तत्॥
ना० शा० अ० १९, श्लोक ४३।

स्त्री पात्र

१—नटी	८—सरस्वती
२—मति	९—क्षमा
३—श्रद्धा	१०—मिथ्या दृष्टि
४—शान्ति	११—विभ्रमावती
५—करुणा	१२—रति
६—मैत्री	१३—हिंसा
७—उपनिषद्	१४—तृष्णा

१४८. प्रस्तुत नाटक के कथानक और उसके अर्थप्रकृति अवस्था और सन्धियों से संचलित स्वरूप का ऊपर विवेचन कर लेने के उपरान्त, अब इसके 'पात्रों' का नाटकीय दृष्टि से अध्ययन करना क्रम प्राप्त है। इसके पात्र भावतात्विक और अमूर्त होते हुए भी सजीव और मूर्त जैसे प्रतीत होते हैं, मानव की भांति वे परस्पर संबद्ध हैं। भावतात्विक पात्रों के अतिरिक्त सैद्धान्तिक एवं मतमतान्तरों से सम्बन्धित पात्रों का भी स्वरूप मनोवैज्ञानिक और पर्याप्त रोचक है। नाटक की संकुचित सीमा में भी अनेक भावतात्विक एवं सैद्धान्तिक पात्रों का सफलतापूर्वक निवेश कर नाटककार ने अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। इन्हीं पात्रों का अध्ययन हम निम्न प्रकार से करेंगे :—

(१) नायक-नायिका निर्णय
(२) पात्रों के प्रकार
(३) पात्रों का चरित्र-चित्रण एवं उनकी मनोवैज्ञानिकता

१. नायक-नायिका निर्णय

१४९. 'प्रबोधचन्द्रोदय' में नाटककार ने नायक और नायिका का चित्रण प्रतिनायक के विरोधी चरित्र के साथ नाटकीय ढंग से ही किया है।

१५०. नाटक का नायक—प्राचीन नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटक का नायक वही माना जाता है, जिसे उद्देश्य एवं फल की प्राप्ति हो अथवा जो फल प्राप्ति के हेतु प्रारम्भ से अन्त तक प्रयत्नशील रहे। 'प्रबोधचन्द्रोदय' में राजा विवेक ही प्रारम्भ से अन्त तक फल-प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील है। उसे ही प्रारंभ से मोहादि के द्वारा 'ब्रह्म' को दीनदशा प्राप्त करा देने का क्षोभ होता है। और उसके निरन्तर किये गये शुभ प्रयत्नों से प्रबोध का उदय सम्भव होता है। अपनी पत्नी मति से शुभ परामर्श करके प्रबोधोदय के हेतु स्वीकृति प्राप्त कर लेता है तथा शमदमादि को नियुक्त कर देता है। महामोह जब अपना विस्तार अधिक कर देता है तब विवेक, वस्तु विचार

और सन्तोष आदि अपने सैनिकों को विशेष रूप से सतर्क कर देता है। विशेष वीर सैनिकों की सेना सुसज्जित करके वाराणसी में पड़ाव डाल देता है। सभी विपक्षी उससे हार जाते हैं और वह विजयी होता है। मन के वैरागी हो जाने के पश्चात् जब उपनिषद् देवी पुरुष को तत्वज्ञान का उपदेश देती है तब वह 'तत्वमसि' महावाक्य को पुरुष को समझा कर 'प्रबोधोदय' के योग्य बना देती है। इस प्रकार शत्रुओं को पराजित करना और ब्रह्म तथा आत्मा के तत्वज्ञान को विशेष स्पष्ट करके ग्राह्य बना देता है। विवेक का कार्य आदि से अन्त तक महत्वपूर्ण है। 'प्रबोधोदय' रूप फल-प्राप्ति के समय अपना कार्य सम्पन्न करके यद्यपि विवेक रंगमंच से विदा होता है और केवल पुरुष ही 'प्रबोधोदय' के प्रकाश का अनुभव करता है। किन्तु इससे विवेक के नायकत्व का महत्व कम नहीं होता, अपितु, उसकी महत्ता और अधिक बढ़ जाती है क्योंकि शुभसाधना करने के पश्चात् वह पुरुष को फल-प्राप्ति का अवसर देकर स्वयं विदा हो जाता है। उसकी विदा का कार्य भी 'पुरुष के प्रबोधोदय में सहयोग देता है।

१५१. विवेक ने 'ब्रह्म' को दीन दशा से मुक्त करने का जो कार्य आरम्भ किया उसको उसने पूर्णता की स्थिति तक पहुँचा दिया। अतः 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक के 'नायकत्व' का श्रेय विवेक को ही प्राप्त है।

१५२. शृंगार की दृष्टि से विवेक को दक्षिण नायक की पदवी प्रदान की जा सकती है। दक्षिण नायक के एक से अधिक पत्नियां होती हैं और वह सब में समान भाव से प्रेम रखता है। नायक विवेक भी अपनी महिषी मति से स्वीकृति लेकर उपनिषद् के साथ संयोग की आकांक्षा व्यक्त करता है। दोनों ही पत्नियों में समान स्नेह एवं आदर की भावना है। मति के यह पूछने पर कि प्रबोध का उदय कैसे सम्भव है, वह संकोच के कारण निरुत्तर हो जाता है। मति के विशेष आग्रह पर वह उसे बताता है कि चिरवियोगिनी उपनिषद् देवी से संयोग, तुम्हारे शांत रहने से ही सम्भव है। उसके इस संकोचपूर्ण उत्तर से मति प्रभावित हो जाती है और प्रसन्नता के साथ उसे उपनिषद् से मिलने की आज्ञा दे देती है। इस प्रकार दोनों पत्नियों को समान रूप से प्रसन्न रखने की योग्यता विवेक के चरित्र की विशेषता है, जो उसे गुणवान और दक्षिण नायक बनाने में समर्थ है।

१५३. एक 'धीरोदात्त' नायक के चरित्र में जिन विशेष गुणों का होना नाट्य शास्त्रकारों की दृष्टि में आवश्यक है, विवेक का चरित्र उन सभी गुणों से परिपूर्ण है। वह 'धीरोदात्त' नायक है, अतएव उन सभी गुणों का वह आकर है, जिनकी विद्यमानता 'धीरोदात्त' नायक में रहा करती है। धीर और साहसी है। वह स्वात्माभिमानी है किन्तु आत्मश्लाघी नहीं। विजयी होने पर भी, नम्रतापूर्वक अपने कार्य में रत रहना उसकी अपनी विशेषता है। वह ज्ञानी और पुरुष को 'प्रबोधोदय'

कराने में समर्थ है। सम्राट् होने पर भी उसमें आज्ञाकारिता है जिसका साक्षात्कार हमें उसके विष्णुभक्ति की आज्ञा शिरोधार्य कर, कार्य करने में होता है।

१५४. निष्कर्ष यह है कि विवेक 'प्रबोधचन्द्रोदय' का धीरोदात्त, दक्षिण नायक है।

१५५. **नाटक का प्रतिनायक**[1]—फल प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने वाले प्रधान नायक का विरोधी पात्र 'प्रतिनायक' कहलाता है। प्रतिनायक नायक के मार्ग में निरन्तर बाधाएं और कठिनाइयां उपस्थित करके संघर्ष को बढ़ावा देता है।

१५६. 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक में नायक विवेक प्रबोध की उत्पत्ति के हेतु प्रयत्न करता है किन्तु महामोह उसके इस पावन कार्य में बाधक बन जाता है। वह अपने पक्ष के व्यक्तियों को विवेक को पराजित करने के निमित्त प्रेरित एवं नियोजित करता है। वह काम, क्रोध आदि और विभिन्न मतमतान्तरों को अधिक से अधिक अपने विस्तार के लिये सतत प्रयत्नशील रहने को कहता है। ताकि विवेक का प्रभाव न बढ़ने पाये। जब उसे यह ज्ञात होता है कि श्रद्धा विवेक के कार्य में सहायता कर रही है तब उसे पकड़वाने का प्रयास करता है। युद्ध में भी वह अपने योद्धाओं के साथ विवेक से युद्ध करता है। किन्तु जब उसके सभी योद्धा पराजित हो जाते हैं तो वह भाग कर छिप जाता है। विवेक की विजय के अनन्तर जब विष्णुभक्ति सरस्वती को भेज कर शोक से दुःखी मन को अपने पक्ष में करके वैराग्य से निवृत्ति की ओर उन्मुख करने की चेष्टा करती है, तो छिपा हुआ पराजित मोह बाधा डालने का प्रयास करता है। वह मधुमती विद्या को मन के आकर्षण के हेतु इसलिए भेजता है कि मन निवृत्ति की ओर उन्मुख न होकर मधुमती के द्वारा आकर्षित हो जाय ताकि विवेक का प्रभाव न बढ़े और वह पुनः बाधाओं में फँस जाय किन्तु उसका यह प्रयास भी विवेक के सहायक तर्क शास्त्र की सतर्कता से निष्फल सिद्ध हो जाता है। अन्त में महामोह को हार खानी पड़ती है। यह पराजित महामोह ही नाटक का प्रतिनायक है जो विवेक को सफल न होने देने के हेतु, प्रारम्भ से अन्तिम समय तक प्रयत्न करता रहता है। इस प्रकार प्रतिनायक के रूप में महामोह एक सफल पात्र है।

१५७. **नाटक की नायिका**—नायक की पत्नी अथवा प्रधान कार्यों की सम्पादिका नायिका होती है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' के स्त्री पात्रों में मति, उपनिषद् देवी और विष्णुभक्ति ही प्रधान हैं। जिन्होंने कि 'प्रबोधोदय' की उत्पत्ति में सहयोग दिया

---

१. प्रतिनायक का ही दूसरा नाम 'खल नायक' भी है, जिसे अंग्रेजी में 'विलियन' Villain **कहते हैं।**

है। इनमें विष्णुभक्ति तो रंगमंच से दूर रह कर, स्वतंत्र रूप से आज्ञा प्रेषित कर, क्रियात्मक प्रेरणा द्वारा कार्य का संचालन करती है। महाभैरवी विद्या की समाप्ति, श्रद्धा की रक्षा, विवेक को युद्ध प्रारम्भ करने की आज्ञा मन के वैराग्य के हेतु सरस्वती की योजना आदि उनके ही संचालन-सूत्र के अंग हैं। श्रद्धा और शान्ति उनकी आज्ञा को प्रेषित करती है और आज्ञा प्राप्त व्यक्ति उसका पालन करते हैं। विष्णुभक्ति स्वयं रंगमंच पर आकर क्रियात्मक कार्य नहीं करती हैं। इस प्रकार विष्णुभक्ति 'रंगमंच से दूर ही रहती है। केवल फल-प्राप्ति के पश्चात् शुभाशीर्वाद के हेतु वह एक बार रंगमंच पर आती है। अतः विष्णुभक्ति के प्रसंग को स्वतंत्र पताका रूप में सहयोगी कथानक मानना ही उपयुक्त है। और इसीलिए विष्णुभक्ति नाटक की नायिका नहीं कही जा सकती।

१५८. अब शेष रह जाती हैं नायक विवेक की दो पत्नियां—मति और उपनिषद् जिनमें से प्रत्येक नायक की पत्नी होने के कारण नायिका-पद की अधिकारिणी हो सकती हैं। परन्तु इन दोनों में वास्तविक नायिका कौन है ? यह एक विचारणीय प्रश्न है। परन्तु विचार करने पर प्रधान नायिका का गौरवपूर्ण पद मति को ही मिलता दीखता है। हम देखते हैं कि प्रथम अंक में मति विवेक के साथ रंगमंच पर उपस्थित होती है। उस समय वह विवेक से ब्रह्म को दीन दशा से मुक्त करने का उपाय पूछती है। विवेक के निरुत्तर हो जाने पर एक सती-साध्वी प्रतिप्राणा पत्नी की भांति प्रत्येक प्रकार के कष्ट सहन करने का आश्वासन देती हुई आग्रह करती है कि विवेक उसे 'प्रबोधोदय' का पता दे। विवेक से यह ज्ञात होने पर कि 'उपनिषद् का संगम होने पर ही 'प्रबोधोदय' संभव है और उसके विलग होने की सम्भावना है,' मति सपत्नी के प्रति ईर्ष्यालु न होकर प्रसन्नता से कल्याणार्थ, उपनिषद् की खोज और मिलन की आज्ञा दे देती है। इस प्रकार मति प्रधान नायक को आज्ञा प्रदान करने का कार्य सम्पादित करके विदा हो जाती है। विवेक प्रसन्न होकर उपनिषद् की खोज में संलग्न होता है। इस प्रकार नायक को फल-सिद्धि की ओर प्रेरित करना रूपी महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करने के कारण मति ही प्रस्तुत नाटक की प्रधान नायिका सिद्ध होती है।

१५९. उधर यदि हम उपनिषद् देवी की ओर अपना दृष्टिपात करते हैं तो देखते हैं कि उपनिषद् देवी ने भी विवेक को 'प्रबोधोदय' प्राप्ति के हेतु अपना क्रियात्मक सहयोग प्रदान किया है। संकर्षण विद्या द्वारा मन में विद्या का प्रवेश और पुरुष में प्रबोध का प्रवेश करा कर, वह प्रस्थान कर जाती है। इसके अनन्तर निदिध्यासन की अवस्था में 'प्रबोधोदय' होता है। किन्तु यह सारा कार्य उसने नाटक के छठे अंक में प्रवेशक के बाद में रंगमंच पर आकर सम्पन्न किया है। इसलिये भारतीय नाट्य-

शास्त्र के अनुसार उसे नायक की पत्नी होने के कारण इस नायक की नायिका होना चाहिये, परन्तु मति की सपत्नी होने और विवेक के द्वारा केवल कार्यनिर्वाहिका के रूप में आहूत होने के कारण, उसे नायिका का गौरवमय पद नहीं मिल सकता। हाँ, पाश्चात्य मत के अनुसार जिसमें नायिका के लिये नायक की पत्नी होने की अपेक्षा नाटकीय कथा-प्रवाह में प्रमुख भाग लेना ही उसकी असाधारण विशेषता मानी गई है—उपनिषद् नायिका अवश्य कही जा सकती है–क्योंकि मति की अपेक्षा-जैसा कि हमने देखा है, उपनिषद् ने कथा-प्रवाह में अधिक प्रधान भाग ग्रहण किया है।

१६०. निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि भारतीय मत में नायक की महिषी होने के कारण मति प्रधान नायिका और कनिष्ठ पत्नी होने के कारण उपनिषद् द्वितीय नायिका है, इसके विपरीत पाश्चात्य मत के अनुसार फलोद्गम में सहायक होंने के कारण उपनिषद् प्रधान नायिका और मति कार्य करने के लिये विवेक को केवल आज्ञा देने के कारण द्वितीय नायिका है।

१६१. **प्रासंगिक कथा की नायिका**—'प्रबोधचन्द्रोदय' का प्रासंगिक कथानक नायिका-प्रधान है। प्रासंगिक कथानक की पताका और प्रकरी दोनों अंकों में नायिकाओं की प्रधानता है। पताका की नायिका विष्णुभक्ति है और प्रकरी की नायिका है वैयासिकी सरस्वती। नायिका के रूप में दोनों ने ही अपने कार्य का सफल सम्पादन किया है। विष्णुभक्ति ने नायक विवेक के कार्य की योजना बनाने का कार्य अप्रत्यक्ष रूप से किया जिससे फल-प्राप्ति संभव हो सकी। विष्णुभक्ति की यह योजना कल्याणकारी और निरन्तर सफलता की ओर अग्रसर करने वाली ही रही। फल-प्राप्ति के पश्चात् जब विष्णुभक्ति रंगमंच पर आकर 'प्रबोधोदय, प्राप्त पुरुष से सहायता की आवश्यकता के सम्बन्ध में प्रश्न करती है, कृतज्ञता व्यक्त करते हुए पुरुष की, 'स्वस्ति' कामना विष्णुभक्ति करती है।

१६२. मन में वैराग्य उत्पन्न करने के हेतु प्रकरी की नायिका के रूप में वैयासिकी सरस्वती रंगमंच पर प्रकट होती है। अपने सान्त्वनाप्रद ज्ञानोपदेश से मन में वैराग्य-भावना उत्पन्न कर निवृत्ति से सम्बद्ध कर देती है। इस प्रकार प्रकरी की नायिका के रूप में, नाटक के फल की प्राप्ति में सफल सहयोग प्रदान कर विदा हो जाती है।

१६३. विवेक के साथ युद्ध में मोहादिकों के नष्ट हो जाने के पश्चात् उनके लिये दुःखी और व्यथित मन को प्रवृत्ति से विरक्त करके निवृत्ति की ओर उन्मुख करने के हेतु सरस्वती ने जिस तत्परता से काम किया है, वह मां की ममता, बुद्धिमत्ता, कल्याणकारी हितोपदेश, दयालुता, सहानुभूति और सत्प्रयत्न का परिचायक है। इसी से कठिन से कठिन कार्य करने में वह सफल होती है। सरस्वती मन में मोहादिकों के प्रति वैराग्य उत्पन्न करने के हेतु उसे समझाती है कि पंचतत्व

का यह शरीर समुद्र के फेन के समान क्षणिक है। इसके पंचतत्व में मिल जाने से फिर दुःख क्यों? अनन्तर अनेक उपदेशों को सुनकर जब मन विरक्त होना चाहता है तब आग्रहपूर्वक सरस्वती ने उसको वैसा करने से मना कर, निवृत्ति के साथ उसका विवाह करा, विवेक और मैत्री आदि को भी उससे सम्बद्ध कर दिया। ज्ञानमयी सरस्वती के वात्सल्यपूर्ण व्यवहार से मुग्ध-मन का कल्याण हो जाता है। सरस्वती अपनी दक्षता और परिश्रम से विष्णुभक्ति के विश्वास को सार्थक कर देती है।

२. पात्रों के प्रकार

१६४. 'प्रबोधचन्द्रोदय' की कथा भावात्मक एवं आध्यात्मिक है। अतएव उसके पात्र भी भावतात्विक, आध्यात्मिक एवं विभिन्न मत सम्बन्धी है। दूसरे अध्याय में की गई 'रूपक' शब्द की परिभाषा के अनुसार, इस नाटक के जिन पात्रों में अमूर्त भावनाओं एवं आध्यात्मिक सिद्धान्तों की मूर्त कल्पना आरोपित की गई है वे पात्र 'रूपक' पात्र कहे जायँगे। रूपक पात्रों के अतिरिक्त इस नाटक के कुछ पात्र विभिन्न मत सम्बन्धी हैं जो अपने मत या वर्ग विशेष की विशेषता को लेकर, उन मतों या वर्ग विशेषों के प्ररूप (Typical) पात्र के रूप में आये हैं। इन पात्रों में तत्तत् मतों एवं वर्ग विशेषों की सभी विशेषताएं प्रतिबिंबित हैं।

१६५. किसी वर्ग विशेष की विशेषता से युक्त चरित्र या पात्र प्ररूप (Typical) कहे जाते हैं (Typical) शब्द की परिभाषा आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस से प्रकाशित द एडवानस्ड लर्नर्स डिसनरी आफ करेन्ट इंगलिश में इस प्रकार की गई है[1]-किसी श्रेणी अथवा वर्ग की विशेषता के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत व्यक्ति या वस्तु को (Typical) कहते हैं" इसी प्रकार पं० रामचन्द्र शुक्ल ने 'जायसी

---

1. Type—(taip) n. (i) (c) a person; thing, event, etc. considered as an example of a class, group or quality; a characteristic specimen. Abraham Lincoln was a fine type of American patriotism (of the American patriot). 2. (c) a class or group having common characteristiecs, as men of the Nordictype. A cowardly buldog is not true to type. Typical—(tipikal) adj. Serving as a type characteristic. Abraham Lincoln was a typical American patriot.

—By A. S. Hornby & E. V. Gatenty & H. Wakefield.

ग्रन्थावली' की भूमिका में कैकेयी और मन्थरा के चरित्रों को वर्गगत विशेषता वाले चरित्र बताया है।[1] इस प्रकार स्पष्ट है कि किसी वर्ग विशेष की विशेषता से युक्त पात्र प्रथम पात्र कहे जा सकते हैं। रूपक और प्ररूप पात्रों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी साधारण पात्र प्रस्तुत नाटक में हैं जो कथानक की नाटकीय योजना में सहयोग देते पाये जाते हैं।

१६६. उपर्युक्त विवेचन के आधार पर 'प्रबोधचन्द्रोदय' के पात्रों को तीन प्रकार के पात्रों में विभाजित किया जा सकता है :—

(क) रूपक पात्र, (ख) प्ररूप पात्र, (ग) साधारण पात्र

(क) 'रूपक' पात्रों के अन्तर्गत 'प्रबोधचन्द्रोदय' केनिम्न पात्र आते हैं:—विवेक वस्तुविचार, क्षमा, सन्तोष, श्रद्धा, शान्ति, मति करुणा, मैत्री, पुरुष, महामोह, काम क्रोध, लोभ, हिंसा, तृष्णा, दम्भ, अहंकार, रति मिथ्यादृष्टि, विभ्रमावती, मन, विष्णुभक्ति, सरस्वती, उपनिषद् संकल्प, वैराग्य, निदिध्यासन और प्रबोध।

(ख) 'प्ररूप' पात्रों में निम्नलिखित पात्र आते हैं :— चार्वाक, भिक्षु क्षपणक कापालिक और वट तथा शिष्य ।

(ग) 'साधारण' पात्र-इस वर्ग में सूत्रधार, परिपार्श्वक, सारथि प्रतिहारी और दौवारिक आदि हैं।

१६७. अब हम क्रमसे इन पात्रों के चरित्र-चित्रण और मनोवैज्ञानिक विशेषताओं का अध्ययन करेंगे।

३. पात्रों का चरित्र-चित्रण और उनकी मनोवैज्ञानिकता

१६८. 'प्रबोधचन्द्रोदय' के पात्र भावतात्विक और रूपकात्मक होते हुए, देश विशेष के प्रतिनिधि भी हैं। उनके कार्य-कलाप और परस्पर-सम्बन्ध की योजना में हमें मनोवैज्ञानिकता के दर्शन होते हैं। अब हम प्रबोधचन्द्रोदय के प्रथम प्रकार के रूपक पात्रों का चरित्र-चित्रण करेंगे।

(क) रूपक पात्र

१६९. **विवेक**—सम्राट् विवेक का पिता मन और माता निवृत्ति है। मति उसकी प्रधान पत्नी है तथा उपनिषद् द्वितीय पत्नी है। महामोह उसका सौतेला भाई

---

१. राम, लक्ष्मण, भरत और परशुराम आदि के चरित्रों में जैसी व्यक्तिगत विशेषताएं तथा कैकेयी, कौशल्या और मंथरा आदि के व्यवहारों में जैसी वर्गगत विशेषताएं, गोस्वामी तुलसीदास जी हमारे सामने रखते हैं, वैसी विभिन्न विशेषताएं जायसी अपने पात्रों द्वारा सामने नहीं लाते।

—जायसी ग्रन्थावली (भूमिका)—रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १२०

है। जिसने उसके राज्य का भी अपहरण कर लिया है। महामोह के असत् साम्राज्य से ब्रह्म दीन दशा को प्राप्त हो गये। अतः विवेक को अपने राज्य की उतनी चिन्ता नहीं होती, जितनी कि मोह के असत् साम्राज्य से ब्रह्म की दीन दशा का अनुभव करके दुख होता है। उसे चिन्ता है कि ब्रह्म को किस प्रकार दीन दशा से मुक्त किया जाय। विवेक अनन्त ब्रह्म की शक्ति और स्वरूप से परिचित है। इससे काम का नीचतापूर्ण आक्षेप उसे सहन नहीं होता है। वह रंगमंच पर प्रवेश करता हुआ मति से कहता है कि काम और अहंकार आदि दुर्जनों ने आनन्द रूप निर्मल निरंजन परमेश्वर को दैन्यावस्था में पहुँचा दिया। हम परब्रह्म को दीनता से बन्धन-मुक्त करने का प्रयत्न कर रहे हैं, तो यह हमें पापी कहकर, नीचतापूर्ण आक्षेप कर रहा है।

१७०. विवेक कामादि की दुष्ट प्रवृत्ति से परिचित है, जिसके प्रभाव से शुद्धान्तः-करण वाले विद्वान् भी सहज धैर्य छोड़कर अधीर हो जाते हैं। विवेक माया का विशेषण भी सूक्ष्मरूप से करता है कि माया स्वभाव से ही अनिष्टकारिणी होती है। वह अपने पुत्र मन को पुराण पुरुष के पद पर प्रतिष्ठित करना चाहती है। विवेक अपने पिता मन की चारित्रिक विशेषताओं एवं प्रभाव को भी जानता है। उसे ज्ञात है कि मन अपनी माता माया के स्वभाव वाला है। मन का कर्तृत्व, भोक्तृत्व धर्म आत्मा में प्रतिभासित होता है। मन का ज्येष्ठ पौत्र अहंकार है। जिसके प्रभाव से जीव मेरा जन्म, मेरा जनक मेरी माता और मेरा शत्रु मानता है। और ब्रह्मस्वरूप आत्मा को भूल कर शरीर को ही आत्मा मानने लगता है। विवेक अपनी पत्नी का उचित आदर करता है। वह स्त्रियों के ईर्ष्यालु मनोवैज्ञानिक तथ्य को समझता है। पत्नी की स्वीकृति से वह प्रसन्न होता और अपनी विजय को निश्चित मानता है। पत्नी की प्रेरणा से उत्साहित होकर कार्य प्रारम्भ करता है। विवेक विष्णुभक्ति का आज्ञाकारी है। उनके अनुशासन में ही अपने कार्यों का संचालन करता है। उनकी अनुमति से ही युद्ध के हेतु सैनिकों को सुसज्जित कर काशी की ओर प्रस्थान करता है।

१७१. विवेक विचारशील होने पर भी श्रद्धालु और आस्तिक भी है। पूर्ण निष्ठा से विष्णु मन्दिर में विष्णु की वन्दना एवं स्तुति करने के पश्चात, युद्ध भूमि की ओर गमन करता है। वहां वीरतापूर्वक शत्रु का नाश करके विजयी होता है। विजयी विवेक उन्मत्त नहीं होता है। ब्रह्म को दीन दशा से मुक्त करने का उपाय निरन्तर प्रारम्भ रखता है। वह विजयी होकर उपनिषद् को आमंत्रित करता है। उपनिषद् की ज्ञानवार्ता पुरुष (पात्र) समझने में असमर्थ होता है, तब वह सावधानी से तात्पर्य स्पष्ट कर देता है। तदनन्तर पुरुष में, उपनिषद् के सहयोग से प्रबोधोदय की योजना सम्पन्न कर, रंगमंच से विदा होता है। इस प्रकार

विवेक ने जिस उद्देश्य को लेकर कार्य प्रारम्भ किया, उसमें अनेक बाधाएँ आने पर भी प्रयत्न, साहस, धैर्य और ज्ञान से सफलता प्राप्त कर लेता है। मानव की विवेक भावना में जो उचित अनुचित के विचार का विधान होता है, वही विधान विवेक के प्रस्तुत चरित्र में भी है। विवेक का वार्तालाप, कार्यकलाप, धैर्य और गम्भीरता विवेक की मनोवैज्ञानिक भावना के अनुकूल ही है।

१७२. **वस्तुविचार**––वस्तुविचार सम्राट् विवेक का योग्य कर्मचारी है। उसके सम्मुख काम का प्रभाव क्षीण हो जाता है। सम्राट् विवेक ने वस्तुविचार को इसी कारण काम को पराजित करने के हेतु नियोजित किया है। वस्तुविचार स्त्री की मूर्ति को अपवित्र मानता है। वह नारी शरीर की वास्तविक वीभत्सता के वर्णन से विरक्ति उत्पन्न कर, काम पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होता है। उसका विचार है––नारी मांस से लिपटी हुई हड्डी रूप में, दुर्गन्धिमय वीभत्स होती है। विचित्र वेषभूषा, आभूषण आदि के द्वारा, अन्य गुणों का आरोप कर मानव मदोन्मत्त होता है और सोचता है कि नारी मुझे देखती, प्रेम करती है।

१७३. वस्तुविचार नारी के स्मरण रूप द्वार को भी बन्द करके, कुशलता से काम को पराजित करने का उपाय करता है। मानव आत्मा को काम विमुख करने के हेतु वह वन, नदी, पर्वत, उपवन, वसन्तोदय और घनगर्जन युक्त दिवसों से प्राप्त सात्विक आनन्द का वर्णन करता है। युद्ध क्षेत्र में अपने इन्हीं उपायों द्वारा काम को पराजित करके उसी प्रकार विजयी होता है जैसे अर्जुन जयद्रथ को मारने में सफल हुआ था। विवेक की प्रेरणा से उचित अनुचित का तात्विक विवेचन और अन्य उपायों की सहायता से, वस्तुविचार की कामोन्मूलन की योजना पूर्णतया मनोवैज्ञानिक है।

१७४. **क्षमा**––क्षमा में क्रोध को पराजित करने की शक्ति है। वह बिना परिश्रम के, अनायास ही क्रोध की भीषण ज्वालाओं को शान्त कर देती है। उसकी इस विशेष प्रतिभा के कारण सम्राट् विवेक क्रोध को पराजित करने के लिए उसे नियुक्त करता है।

१७५. धीर वीर मनुष्य, क्षमा की शक्ति से क्रोध की कटूक्तियों की चोट को सहन कर जाते हैं। उसकी सहायता से धैर्यशालियों को तनिक भी कष्ट नहीं होता है। न उनको चिन्ता होती है न शारीरिक पीड़ा होती है। वे सुगमता से सफल होते हैं। क्षमा में साहस भी है। वह क्रोध को उसी प्रकार नष्ट करती है जैसे कात्यायिनी ने महिषासुर का वध किया था। इसने क्रोध पर विजय प्राप्त करने का जो उपाय बताया है वह पूर्ण मनोवैज्ञानिक एवं कल्याणकारी है। वह कहती है मधुर मुस्कान से क्रोध की उपेक्षा कर देनी चाहिए। क्रोधी के आवेश में

आने पर-प्रसन्न होने की प्रार्थना करना, गालियां या अपशब्द कहना प्रारम्भ करने पर कुशलता पूछना, यदि वह मारे-तो यह समझना कि पाप कट रहे हैं, इससे क्रोध का नाश हो जाता है। इस प्रकार क्षमा दुर्जेय शत्रु क्रोध को पराजित करने वाली, परम हितैषिणी नारी है। इस प्रकार क्षमा के द्वारा आयोजित उपायों का वर्णन पूर्ण मनोवैज्ञानिक है।

१७६. **संतोष**--सन्तोष विवेक का शक्तिशाली सैनिक है। उसमें लोभ को वश में करने की शक्ति है। सम्राट् विवेक सन्तोष को लोभ को परास्त करने के हेतु नियुक्त करता है। उसके सम्मुख लोभ असमर्थ होकर भाग जाता है। इससे सन्तोष शत्रु पर विजयी होता है।

१७७. सन्तोष लोभियों का निन्दक है। उसका विचार है कि बनों में मीठे फल, नदियों में शीतल जल, पल्लव निर्मित शैय्या सहज सुलभ है। कृपण जन व्यर्थ में ही धनवानों का अपमान सहन करते हैं। धन से तृप्ति की आशा मृगतृष्णा के समान है। लोभान्धकार से आवृत मनुष्य को आशा राक्षसी ग्रसित कर लेती है। जिसके कारण वह अपना अनिष्ट नहीं देखता है। लोभ ग्रसित मानवों के प्रति सन्तोष के हृदय में दया और सहानुभूति है। वह उन्हें अपने सद् उपदेश से अमृत सागर के अलौकिक आनन्द का अनुभव कराना चाहता है। वह साहस के साथ लोभ को उसी प्रकार पराजित कर देता है जैसे राम ने रावण का नाश कर दिया है। सन्तोष का चरित्र भी पूर्ण मनोवैज्ञानिक है। सन्तोष की भावना से मनुष्य लोभ पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होता है।[१] सन्तोष में अधिकाधिक प्राप्ति की इच्छा नहीं होती है। अनिवार्य आवश्यकता पूर्ति से ही उसमें तुष्टि और पुष्टि का अनुभव होता है।

१७८. **श्रद्धा**--सात्विकी श्रद्धा विष्णुभक्ति की सखी और शान्ति की माता है। श्रद्धा को शान्ति बहुत प्रिय है। तृतीय अंक में शान्ति कहती है, "श्रद्धा मेरे ही साथ रहती, स्नान करती और खाती थी। मेरे बिना वह जीवन धारण में असमर्थ थी।" श्रद्धा के सम्बन्ध में करुणा की धारणा भी श्रेष्ठ है। उसका

---

१. वस्तुविचार, क्षमा और सन्तोष के उपायों के सम्बन्ध में शंका की जा सकती है कि इन उपायों का सहयोग साधारण जीवन में दुर्लभ है, किन्तु यह बात नहीं है। यह उपाय उनके हृदय में शीघ्र समाविष्ट हो जाते हैं, जिनके हृदय को मुदिता, करुणा, मैत्री और उपेक्षा आदि अपने निवेश से पवित्र कर चुकी हैं। ऐसे स्तर के मानसिक व्यक्तियों के लिए यह उपाय पूर्ण मनोवैज्ञानिक एवं सार्थक है। नाटक के चतुर्थ अंक के प्रवेशक में इसका संकेत मिलता है।

विचार है कि श्रद्धा जैसी पुण्यमयी नारी की पाखण्डालयों में दुर्गति असम्भव है। वह विपत्ति में नहीं पड़ सकती है।

१७९. श्रद्धा में नारी सुलभ भीरुता भी है। महाभैरवी के द्वारा पकड़ जाने की घटना से वह अधिक भयभीत हो उठती है। इस व्याकुलता में वह अपनी सखी मैत्री को भी नहीं देख पाती है। उसकी सखी ही उसे बुलाकर सान्त्वना देती है, तब उसे कुछ धीरज होता है। श्रद्धा विष्णुभक्ति की आज्ञाकारिणी सखी है। वह विष्णुभक्ति द्वारा प्रेषित विश्वसनीय सन्देशों को यथास्थान पहुँचा देती है। श्रद्धा द्वारा प्रेषित युद्ध के सन्देश को विवेक के पास पहुँचा देती है। रंगमंच से वर्जित घटित घटनाओं को भी, रंगमंच पर प्रत्यक्ष घटित होने वाली घटनाओं से सम्बन्धित करके, घटना प्रवाह में एवं कथा को अग्रसर करने में महत्व-पूर्ण सहयोग देती है। वाराणसी में घटित विवेक के युद्ध और विजय के वृत्तान्त को श्रद्धा, शालिग्राम में प्रतीक्षा करती हुई विष्णुभक्ति के सन्निकट पहुँचकर सुना देती है। उस वृत्तान्त को सुनकर विष्णुभक्ति सरस्वती को मन के शान्त करने के हेतु भेजने की योजना करती है। श्रद्धा के द्वारा ही विष्णुभक्ति रंगमंच से अप्रत्यक्ष रहकर अपने अनुशासन में सफल होती है। 'पुरुष' की आज्ञा का पालन भी श्रद्धा ने तत्परता से किया है। तत्वबोध की इच्छा से जब पुरुष विवेक को बुलाना चाहता है, तब श्रद्धा ही इस कार्य को सम्पन्न करती है। इस प्रकार यह सात्विकी श्रद्धा विष्णुभक्ति और प्रबोधोदय की सफल सहयोगिनी के रूप में नाटक में अवतरित हुई है। नाटक में सात्विक श्रद्धा के अतिरिक्त तामसी और राजसी श्रद्धा का भी प्रवेश हुआ है। तामसी श्रद्धा जैन और बौद्ध धर्म की सहयोगिनी के रूप में तथा राजसी श्रद्धा कापालिक-सोममतानुयायी की सहायिका के रूप में उपस्थित हुई है। इन दोनों के कृत्य भी सात्विकी श्रद्धा से पृथक और अपने अपने गुणों के अनुकूल पूर्ण मनोवैज्ञानिक है।

१८०. **शान्ति**--शान्ति श्रद्धा की पुत्री है। अपनी माँ श्रद्धा के प्रति शान्ति के हृदय में अगाध स्नेह है। श्रद्धा माँ के अन्वेषण में निराश होने से चिता में जलने को तत्पर हो जाती है। करुणा (पात्र) की सान्त्वना से आश्वस्त होकर वह पाखण्डालयों में माँ की खोज करती है। शान्ति को अपने समय के साधुओं की वेषभूषा और मतों का ज्ञान भी है। पाखण्डालयों में उसे जो साधु मिलते हैं, वह पहचान लेती है कि अमुक दिगम्बर मतानुयायी है या बुद्धागम है। माँ श्रद्धा का अन्वेषण शान्ति ने सतर्कता और सावधानी से किया है। जब क्षपणक गणित की गणना करके श्रद्धा के निवास स्थान का परिचय देता है, उस परिचय को उत्सुकता से सुनकर विष्णुभक्ति तक सब वृत्तान्त पहुँचा देती है।

१८१. शान्ति सहृदया और कार्य सम्पादन में चतुर नारी है। विष्णुभक्ति को चिन्तित देखकर उन्हें सान्त्वना देती है। विवेक का आवश्यकतानुसार कार्य सतर्कता से सम्पादित करती है। अपनी दुर्दशा से दुखी उपनिषद् को सुयोग्य परामर्श देकर ज्ञानोपदेश के हेतु तत्पर कर देती है। इस प्रकार शान्ति मातृभक्त और पर हितैषिणी नारी है। शान्ति के इस चरित्र में मनुष्य की शान्ति की भावना का मनोवैज्ञानिक चित्रण है।

१८२. **मति**--कथानायक सम्राट् विवेक, जो धैर्यवान और ज्ञानमय है, प्रधान महिषी मति है। प्रस्तुत कथानक की यही नायिका है। प्रारम्भ में विवेक के साथ ही विचार विमर्श करती हुई, रंगमंचपर प्रवेश करती है। यह विचार-शालिनी नायिका है। पति के द्वारा की गई शत्रु निन्दा पर भी वह विश्वास नहीं करती है। जिज्ञासापूर्ण प्रश्न करके सप्रमाण समाधान से ही सन्तुष्ट होती है। यह पतिपरायणा नारी है। माया के ठगने से ब्रह्म की दीनता के कारण पति को चिन्तित देखकर, उसकी दीन दशा दूर करने के हेतु आतुर हो उठती है। वह उन स्त्रियों में नहीं है जो पति के सुप्रयत्न में सपत्नी ईर्ष्या के कारण बाधा डालती हैं। पति को सत्कार्य सम्पन्न करने की आज्ञा सहर्ष प्रदान करती है। उसकी प्रसन्नता से प्रसन्न एवं सन्तुष्ट हो जाती है।

१८३. **करुणा**--करुणा, मुदिता और मैत्री आदि की बहिन है। वह प्रकृति से दयालु और सहानुभूतिपूर्ण है। शान्ति के दुख में वह दुखी एवं संवेदित होती है। शान्ति के प्रति संवेदना व्यक्त कर चिता में मृत्यु से उसकी रक्षा करती है। पाखण्डा-लयों में मां की खोज में सहयोग देकर, पुत्री को मां से मिलने में सफल बना देती है। पुण्य कर्मों के सुफल पर करुणा को पूर्ण विश्वास है। उसका विचार है कि पुण्य कर्म करने वाली, नारी को कष्ट और पीड़ा से व्यथित नहीं होना पड़ता है। इस प्रकार सुविचारों वाली करुणा, कष्ट एवं वेदनामय परिस्थिति में, संवेदना व्यक्त करने वाली सहृदया, हितैषिणी सहायिका सिद्ध होती है।

१८४. **मैत्री**--मैत्री, मुदिता उपेक्षा आदि की बहिन है। विष्णुभक्ति के प्रति निष्ठामयी और आज्ञाकारिणी है। वह अपनी बहिनों मुदिता, करुणा और उपेक्षा आदि के साथ महामोह के नाश के हेतु सज्जनों के हृदय में जाकर निवास करती है। श्रद्धा के प्रति भी उसके हृदय में स्नेह एवं ममता है। विष्णुभक्ति के द्वारा श्रद्धा की रक्षा का समाचार उसे हार्दिक प्रसन्नता प्रदान करता है। मैत्री श्रद्धा के प्रति संवेदना व्यक्त करती है, उससे श्रद्धा आश्वस्त हो जाती और कार्य सम्पादन में संलग्न हो जाती है।

१८५. **पुरुष**--पुरुष, आत्मा का रूपक पात्र है। मन के निवृत्ति की ओर

उन्मुख हो जाने के पश्चात् ही इसका प्रयत्न प्रारम्भ होता है। इसकी तत्वज्ञान प्राप्ति की इच्छा में विवेक और उपनिषद् सहायक सिद्ध होते हैं। पुरुष में आदर, सम्मान की भावना है। उपनिषद् का मां के सम्बोधन तथा चरण स्पर्श से सम्मान करता है। उपनिषद् की कुशलता पूछकर, उसकी कष्टप्रद यात्रा के प्रति संवेदना व्यक्त करता है। वह परम ज्ञान के प्रति जिज्ञासु है। उपनिषद् में 'तत्वमसि' के उपदेश को वह सहज ही नहीं ग्रहण कर पाता। विवेक उसकी सहायता कर, ज्ञान को ग्राह्य बना देता है। तत्व ज्ञान से युक्त पुरुष में निदिध्यासन की सहायता से, विद्या और प्रबोध का उदय होता है। जिससे पुरुष को परम ज्ञानमय प्रकाश और स्वरूपानन्द का अनुभव होता है। पुरुष कृतज्ञता को व्यक्त करना भी जानता है। विष्णुभक्ति जब उसे प्रबोधोदय के पश्चात् साक्षात् दर्शन देती है, तब वह उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करते हुए, उनके चरण स्पर्श करता है। इस प्रकार पुरुष अपनी तत्परता से प्रबोधोदय रूप मोक्ष को प्राप्त करने में समर्थ होता है।

१८६. **महामोह**--महामोह मन का परम प्रिय पुत्र है। वह विस्तृत साम्राज्य का सम्राट् है, कथानायक विवेक का प्रतिपक्षी अर्थात् कथा का प्रतिनायक है। यह आस्तिकों का निन्दक और नास्तिक विचारधारा का प्रशंसक और अनुयायी है। आत्मा और परलोक में विश्वास करने वालों की आशा को आकाश कुसुमवत् व्यर्थ समझता है। महामोह जाति पांति में विश्वास नहीं करता है। स्त्री और धन सम्पत्ति के भेदभाव को भी नहीं मानता है। हिंसा और पर स्त्रीगमन को वह दोष नहीं समझता है। इसको दोष मानने वालों को वह निष्पौरुष मानता है। महामोह के लिए प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। केवल अर्थ और काम पुरुषार्थ है। पंचभूत ही चैतन्य है। संसार के अतिरिक्त स्वर्ग नहीं है। मृत्यु ही अपवर्ग वा मोक्ष है। बृहस्पति शास्त्र को अपनी रुचि के अनुकूल मानता है। चार्वाक् के मिलने पर मित्रवत् उसका सहर्ष स्वागत करता है। और कुशल मंगल पूंछता है।

१८७. वह राजनीतिकुशल सम्राट् की भाँति राज्य सम्बन्धी समाचारों के प्रति सतर्क रहता है। कलि की कार्य प्रगति पूछकर, उसके सुप्रयत्न के प्रति साधुवाद भी देता है। कर्मचारियों का कायरता पूर्ण सन्देश उसे सहन नहीं होता है। कर्मचारियों पर क्रोधित होकर, भय के कारण को दूर करने की प्रेरणा और सतर्क रहने की आज्ञा देता है। राज्य के भय के कारण को दूर करने के लिए योग्य कर्मचारियों को नियुक्त करता है। उसके राज्य में नारियां भी निडर वीरों की भांति राजशत्रु के नाश में तत्पर रहती हैं। महामोह सपरिवार दुश्चरित्र और विलासी हैं। विभ्रमावती और मिथ्या दृष्टि की वार्ता से उसके परिवार का दुराचार व्यक्त होता है। मिथ्या दृष्टि के प्रति उसके विलासपूर्ण शृंगारिक व्यवहार से महामोह

की विलासिता प्रकट होती है। इस प्रकार महामोह का राज्य असत्य और अज्ञान का राज्य है। महामोह दुश्चरित्र राजा है। काशी में विवेक के द्वारा पराजित हो जाता है। पराजित होकर भी छिप जाता है। और छलकपट से मन को वश में कर, पुनः शक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। किन्तु अन्त में विवेक के सहायक से उसे अपमानित होकर भागना पड़ता है।

१८८. **काम**--काम पात्र महामोह के पक्ष का प्रधान है। विवेक का विरोध करता हुआ रंगमंच पर प्रविष्ट होता है। काम की पत्नी रति है। रति के साथ वार्तालाप एवं व्यवहार में उसकी चारित्रिक विशेषतायें स्पष्ट हो जाती हैं। यह शृंगारप्रिय, अभिमानी, साहसी, प्रभावशाली, पत्नी के प्रति उदार, विरोध होने पर भी श्रेष्ठ-भ्राता के प्रति पूज्य भावना वाला है। शृंगार प्रियता के कारण पत्नी के साथ आलिंगन किये हुए, रंगमंच पर प्रवेश करता है। उसके नेत्रों में मदोन्मत्तता एवं चंचलता है। (प्रस्तावना श्लोक १०)। अभिमानी होने के कारण शत्रु की प्रशंसा उसे असहनीय है। वह अपने अमोघ शस्त्रों के रहते हुए विवेक और प्रबोध का उदय असम्भव समझता है। उसके अमोघ शस्त्र हैं--नील, कमल के तुल्य नेत्रवाली नायिकाएं। उसे गर्व है कि यद्यपि उसके बाण कुसुममय हैं किन्तु सुर असुर भी उससे प्रभावित हैं। इन्द्र, ब्रह्मा, चन्द्रमा आदि उससे सभी मोहित और उन्मत्त हो चुके हैं।

१८९. काम स्वामीभक्त भी है। स्वामी महामोह की प्रशंसा करता है और विवेक पर आक्षेप करता है। विवेक को वह वक्रगति वाले धूल के समान स्व-जनक का नाश करने वाला कहता है। विवेक के साथ संघर्ष और वैमनस्य होने पर भी विवेक के सम्मुख आने पर ज्येष्ठ भ्राता के प्रति आदर की भावना से, उसके स्वाभाविक गुणों की प्रशंसा करता हुआ, उसके लिए स्थान छोड़ कर चला जाता है। उसके सम्मुख काम की निडरता और गर्व लुप्त हो जाते हैं। विवेक के ज्येष्ठ मानने के कारण, शिष्टाचार पूर्ण व्यवहार करने को बाध्य होता है। इस प्रकार मनुष्य की कामवासना का चित्रण पूर्ण मनोवैज्ञानिक रूप से ही किया गया है।

१९०. **क्रोध**--क्रोध महामोह का योग्य कर्मचारी है। उसमें अहम् भाव अधिक है। वह अपनी शक्ति से संसार को ऐसा अन्धा और बहरा बना देता है कि विद्वान और महान् व्यक्ति भी उचित अनुचित के विचार से रहित हो जाते हैं। वे अधीर और मूर्ख हो जाते हैं। परिश्रम और साधना से अधीत विद्या भी उन्हें विस्मृत हो जाती है। कितने ही ऋषि और देवता क्रोध से अनेकों का वध और नाश कर चुके हैं।

१९१. क्रोध की प्रभावशालिनी पत्नी हिंसा है। पत्नी के सहयोग से क्रोध के

लिए, माता-पिता और सहोदर भ्राता का वध भी कठिन कार्य नहीं रह जाता। उसके प्रभाव से सांसारिक जनों को अपने सम्बन्धियों का व्यवहार छलकपट पूर्ण प्रतिभासित होता है। और सर्वनाश करके ही वे शान्त होते हैं। इसी योग्यता के कारण सम्राट् उसे शत्रुपक्ष की भक्ति को पकड़ लाने का कार्य समर्पित कर गौरवान्वित करता है। क्रोध के कारण मनुष्य की जो विचित्र दशा हो जाती है, उसका मनोवैज्ञानिक चित्रण है।

१९२. **लोभ**--क्रोध के समान ही लोभ भी महामोह के विशेष कर्मचारियों में से है। यह सन्तोष का शत्रु है। उसके प्रभाव से सांसारिक जन मनोरथों और इच्छाओं के कठोर बन्धन में पड़ जाते हैं। जिससे अनेक कष्टों से पीड़ित होने पर भी वे नहीं छूट पाते हैं। वे इसी चिन्ता में रहने लगते हैं कि यह मतवाले हाथी, शीघ्रगामी घोड़े मेरे हैं, अभी और अधिक मुझे मिलेंगे। लोभ की पत्नी तृष्णा है। जो पतिव्रतानारी के समान उसकी सहायिका सिद्ध होती है। लोभ का प्रभाव उसकी सहायता से अधिकाधिक विस्तृत एवं दृढ़ हो जाता है। सामाजिक धन-लिप्मा में आसक्त होकर विपत्तियां उठाते रहते हैं। सम्राट् की आज्ञा से क्रोध के साथ ही वह कार्य योजना में नियुक्त होता है। लोभ से प्रभावित मनुष्य के विचित्र आकर्षणों का मनोवैज्ञानिक चित्रण है।

१९३. **हिंसा और तृष्णा**--हिंसा क्रोध की पत्नी और तृष्णा लोभ की पत्नी है। दोनों अपने पतियों की आज्ञाकारिणी नारियां हैं। पति के कार्य में तत्परता से सहयोग देती है। जिससे कि वे कार्य अधिक सफलता से सम्पन्न हो सकें। हिंसा तृष्णा की भावनाओं का जिन भावनाओं को पत्नियां कहा है, यह भी पूर्ण मनोवैज्ञानिक है।

१९४. **दम्भ**--आडम्बर पूर्ण दम्भ मोह का दास है। इसकी माता तृष्णा और पिता लोभ हैं। इसके पुत्र का नाम अनृत है। दम्भ अपने स्वामी महामोह की आज्ञा से काशी के धार्मिकों को वाह्याडम्बर पूर्ण बना देता है। वहां के धार्मिक उसके प्रभाव से वेश्यागमन सुरापानादि दुर्व्यसनों में फंसे होने पर भी दीक्षित, अग्निहोत्री, ब्रह्मज्ञ और तपस्वी बनने की घोषणा करते हैं। ये बृहस्पति, कुमारिल, शालिक मित्र आदि को नहीं पढ़ते हैं किन्तु फिर भी जनता उनके अद्भुत प्रभाव से प्रभावित होकर ध्यान से उपदेशों को सुनती है। संन्यासी, मस्तक घुटाकर भीख मांगने को, संन्यास धारण करते हैं। काशी में दम्भ अपने आश्रम को सजाये रखता है। उसके आश्रम में कृष्णाजिन, प्रस्तर खण्ड, समिधा, चषाल, ऊखल, मूसल आदि रखे रहते हैं। होम के धुएं से उसका आश्रम सुगंधित रहता है। अहंकार पात्र उसके आश्रम को गृहमेधी का पवित्र स्थान समझकर निवास स्थान की खोज में

जाता है। दम्भ अपने माथे, भुजाओं, पेट, कमर, पीठ, कपोल आदि सभी अंगों पर चन्द्राकार चन्दन लगाता है। यह शिखा, कान और हाथ में कुश लगाये रहता है।

१९५. अहंकार जब उसके आश्रम में प्रवेश करने लगता है तो उसे बिना पैर धोये, कुल परिचय बिना दिये, प्रवेश प्राप्त नहीं होता है। दम्भ छुआछूत को भी मानता है। पसीने की बूंदे हवा में उड़ आने के कारण शिष्य को दांत पीसकर क्रोधित होकर देखता है। उसके आसन पर किसी अन्य व्यक्ति को बैठने की आज्ञा नहीं है। शिष्य पर उसका पूर्ण प्रभाव है। सम्राट् भी अपने शीश किरीटों से उसकी देहली को प्रणाम करते हैं। दम्भ अहंकारी भी है। अपनी अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करता है। वह कहता है कि जब वह ब्रह्मा के घर गया तो ऋषि-मुनियों ने भी अपना आसन छोड़ दिया। इस प्रकार दम्भ के चरित्र में बाह्याडम्बर प्रधान है। उन्हीं बाह्याडम्बरों का मनोवैज्ञानिक वर्णन है।

१९६. **अहंकार**—अहंकार राढ़ापुरी का निवासी है। जिससे अहंकार पात्र गौड़ देश की राढ़ापुरी का प्रतिनिधित्व भी करता है। इस प्रकार प्रबोधचन्द्रोदय के भावतात्विक रूपक पात्र, प्रसंगवश देश विशेष के प्रतिनिधि के रूप में भी चित्रित कर दिये गये हैं।[1] अहंकार पात्र महामोह का दास है। उसमें तीनों लोकों को ग्रस लेने वाला अभिमान है। वह दर्प और अभिमान से युक्त है। वह वाक्पटु भी है और अपने वाग्जाल से समस्त संसार को तिरस्कृत कर देता है। उसे अपनी बुद्धिमत्ता पर गर्व है।

१९७. अहंकार में आलोचनात्मक प्रवृत्ति भी है। वह काशी में आकर वहां के निवासियों के आडम्बर पूर्ण व्यवहार की आलोचना करता है। उसे देश विदेशों के आचार व्यवहार का ज्ञान भी है। दम्भ के आश्रम में जब उसे घुसने की आज्ञा नहीं मिलती, उससे कुल परिचय देने एवं पैर धोने को कहा जाता है, तब वह आक्षेप करता है कि 'क्या मैं तुरकों के देश में हूँ' जहां पर श्रोत्रियों और अतिथियों को आसन देकर सत्कार नहीं किया जाता है। अहंकार अभिमानी होने पर भी स्वामिभक्त है। दम्भ से परिचय होते ही स्वामी महामोह की आपत्ति की चिन्ता करता है। अहंकार के रूप आकार और व्यवहार, वार्तालाप में पूर्ण मनोवैज्ञानिकता है।

१९८. **रति**—रति, काम की पत्नी है। वह शृंगार प्रिय मदोन्मत्त पति के साथ रंगमंच पर प्रविष्ट होती है। यह चपल नेत्रवाली सुन्दरी नारी है। उसके नेत्रों, कंकण शोभित उसकी भुजाओं और उच्च स्तनों में सम्मोहन है। रति

---

१. मद और मान नामक पात्रों को उत्कल देश का निवासी बताया गया है। पृष्ठ ७४।

शुभ परामर्शदात्री है। घमण्ड में भूले अपने पति को परामर्श देती है कि विवेक और उसके मंत्री आदि बलवान प्रतीत होते हैं, उनसे विरोध उचित नहीं है। संघर्ष से कुलनाश की वार्ता सुनकर वह शान्तम् पापम् कह उठती है।

१९९. वह भयभीत हृदया है। राक्षसी विद्या उत्पन्न होकर पितासहित दोनों कुलों का नाश करेगी। इस बात को सुनने से भयभीत हो जाती है। पति की सान्त्वना से उसका डर दूर होता है। यह जिज्ञासु प्रवृत्ति की भी है। जिज्ञासु प्रवृत्ति के कारण वह अपने पति से, उसका वंश परिचय, विरोध का कारण, वंश नाश के सम्बन्ध में प्रसिद्ध किंवदन्ती, विवेक का अपने ही वंश नाश का कारण, पूछ लेती है। रति अपने पति की आज्ञापालिका और कल्याणकारिणी नारी है।

२००. **मिथ्यादृष्टि**--मिथ्यादृष्टि महामोह के परिवार की एक प्रभावशालिनी नारी है। महामोह और उसके परिवार का पुरुष वर्ग उस पर आकर्षित है। मिथ्यादृष्टि विलास प्रिय एवं मिथ्या कार्यो में चतुर नारी है। वह सौभाग्यशालिनी भी है, क्योंकि उसकी सपत्नियां भी उससे सन्तुष्ट रहती हैं। इसीलिए महामोह मिथ्याजाल में निपुण मिथ्यादृष्टि को शत्रुपक्ष की शान्ति और श्रद्धा को पकड़ लाने का कार्य भार सौंप देता है। उसके अद्भुत गुणों से प्रभावित महामोह उसे क्रीड़ा पुत्तलिका के समान हृदय में अवस्थित कर लेना चाहता है।

२०१. **विभ्रमावती**--विभ्रमावती, महामोह के राज्य की सेविका है। अपने कर्तव्यों को तत्परता से सम्पादित करती है। नारी प्रकृति, स्वभाव एवं चारित्रिक विशेषताओं से परिचित है। मिथ्यादृष्टि से वार्तालाप करके उसके कार्यव्यापारों को पूछती एवं योग्यतापूर्वक आलोचना भी करती है। महाराज की मनोदशा का भी उसे पूर्ण ज्ञान है। महाराज महामोह के निमंत्रण को सुनकर जब मिथ्यादृष्टि कुछ संकुचित एवं भयभीत होती है, तब उसे विभ्रमावती (महाराज की विशेषता बताते हुए) सान्त्वना देती है कि --"महाराज आपको देखकर मोहित हो अपनी सुधबुध भूल जायेंगे।"

२०२. **मन**--मन माया का पुत्र है। मन की दो पत्नियां हैं। एक प्रवृत्ति दूसरी निवृत्ति है। उसके दो पुत्र भी हैं। मोह, प्रवृत्ति का पुत्र है और विवेक निवृत्ति से उत्पन्न है। मन को अपने मोह नामक पुत्र से अपेक्षाकृत अधिक स्नेह है। अपना अधिकांश साम्राज्य वह मोह को ही समर्पित करता है। विवेक के साथ संघर्ष में महामोह के पलायन के कारण शोकाकुल एवं व्यथित होता है। उसके वियोग में पश्चात्ताप करता है और मूर्च्छित हो जाता है। संकल्प के आश्वासन से जब उसका धैर्य नहीं बंधता तभी उसे सरस्वती देवी तथा पुत्र वैराग्य के अमृतोपम

उपदेशों से सच्ची शान्ति मिलती है। वह कष्ट और व्यथा से मुक्त होकर निवृत्ति की ओर सहज ही उन्मुख हो जाता है।

२०३. **विष्णु भक्ति**--विष्णुभक्ति प्रासंगिक कथा की नायिका है। नायक विवेक की हितैषिणी है। रंगमंच से अप्रत्यक्ष रहकर भी विवेक के सहायक कार्यों की योजना करती है। अपनी सखी श्रद्धा को, वह विवेक की सहायता में नियोजित कर देती है। किन्तु जब श्रद्धा और धर्म शत्रुपक्ष की महाभैरवी विद्या द्वारा पकड़े जाते हैं, तब महाभैरवी का नाश कर, दोनों की रक्षा करती है। विवेक को युद्ध की प्रेरणा देती है! विवेक के विजयी हो जाने के पश्चात भी उसके पिता मन की अनिश्चित परिस्थिति के कारण, पुनः महामोह के विस्तार की आशंका होती है। उस समय भी यह सरस्वती को आदेश भेजकर विवेक के कल्याण में नियोजित कर देती है। उसी प्रकार उपनिषद्, निदिध्यासन आदि को नियुक्त कर उन्हें उपाय आदि से विदित कर, प्रबोधोदय के कार्य को सम्पन्न कर सन्तुष्ट होती है। कार्य सम्पादन के पश्चात् अन्त में पुरुष को दर्शन देकर शेष कल्याण कामना को भी पूर्ण होने का शुभाशीर्वाद देती है। पुरुष इसीलिए उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हुआ कार्य सम्पादन का समस्त श्रेय उन्हें ही समर्पित करता है।

२०४. **वैयासिकी सरस्वती**--वैयासिकी सरस्वती विष्णुभक्ति के आदेश का पालन निष्ठा पूर्वक सम्पन्न करती है। मन की अनिश्चित अवस्था में सहायिका सिद्ध होती है। अपने पुत्र कलत्र आदि के शोक में व्यथित मन को, शान्त बना देती है। उसे संसार की नश्वर और क्षणिक अवस्था का ज्ञान कराती है। उसे सावधान करती है कि संसार के सभी सम्बन्धी यात्री के समान हैं। इनमें राग ही कष्टों का मूल है। अतः विष्णु उपासना से ही अलौकिक आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। उसके इस प्रभावशाली कल्याणकारी अमृतोपम उपदेश से मन प्रवृत्ति के प्रति आसक्ति छोड़कर निवृत्ति की ओर उन्मुख हो जाता है। सरस्वती, ज्ञानवती, दुर्जेय मन पर विजय प्राप्त कराने वाली निष्ठापूर्वक कर्त्तव्यपालिका, ममतामयी और वात्सल्यमयी नारी है।

२०५. **उपनिषद्**--उपनिषद् विवेक की पत्नी है। इसका स्थान मति के पश्चात् द्वितीय पत्नी के रूप में है। मति की अनुमति लेकर ही विवेक, वियोग में पीड़ित उपनिषद् को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। उपनिषद् दर्शनों की ज्ञाता ज्ञानमयी पतिव्रता नारी है। पति वियोग में अनेक स्थानों पर भटकती है किन्तु अपनी रक्षा करती हुई सिद्धान्त से विचलित नहीं होती है। इसकी पुत्री गीता है। तर्कविद्या मीमांसा आदि के पास जब उसे आश्रय नहीं मिलता, तब मन्दार पर्वत पर मधुसूदन मन्दिर में निवास करती हुई गीता, तथा विष्णु के द्वारा उसकी रक्षा

होती है। अपने पति विवेक द्वारा, अपनी उचित सुरक्षा न किये जाने का उसे क्षोभ होता है। किन्तु जब क्षुभित उपनिषद् को उसके पति की विवशता ज्ञात होती है तब वह अधिक पश्चात्ताप किये बिना ही शीघ्र रक्षा में तत्पर हो जाती है। पुरुष को तत्वज्ञान का उपदेश योग्यता पूर्वक देती है। अपनी संकर्षण शक्ति से, विद्या को मन में, प्रबोध को पुरुष में सर्मपित करके, पति के मनोवांच्छित उद्देश्य को सम्पन्न कर देती है। विभिन्न दर्शनों की ज्ञाता, तत्वज्ञान की उपदेशिका, उपनिषद् सती नारी के रूप में उपस्थित हुई है।

२०६. **संकल्प**--संकल्प सम्बन्धियों के वियोग में मूर्च्छित मन को सात्वना देता है। पश्चात्ताप से व्याकुल मन से चिता तैयार करने की आज्ञा पाकर भी, वह उसे धीरज बँधाता है और सरस्वती देवी के आने तक, मन को सहानुभूति पूर्ण वार्ता द्वारा सन्तुष्ट करने की चेष्टा करता है।

२०७. **वैराग्य**--वैराग्य, सरस्वती के उपदेशों द्वारा मन में उत्पन्न होने के कारण, मन का पुत्र है। सरस्वती की प्रेरणा से मन को वैराग्य से मिलने पर बहुत प्रसन्नता होती है। वैराग्य को वह बड़े प्रेम से गले लगाता है। इस प्रकार अपने पिता से समादृत वैराग्य उसके दुःख को दूर करने के लिए संसार की नश्वरता का उपदेश देता है। उसका उपदेश मन को वैरागी बताने में बड़ा प्रभावशाली एवं कल्याणकारी सिद्ध होता है।

२०८. **निदिध्यासन**--निदिध्यासन, विष्णुभक्ति का आज्ञाकारी और प्रबोधोदय का सहायक है। प्रबोध के उदय के हेतु विष्णुभक्ति की आज्ञा को उपनिषद् देवी को सुना देता है। उनके द्वारा आज्ञा सम्पादित किये जाने के पश्चात्, स्वयं भी पुरुष में प्रवेश कर जाता है। निदिध्यासन द्वारा सावधानी सतर्कता एवं निष्ठा से कर्तव्य पालन किये जाने के कारण ही, विद्या और प्रबोध का जन्म होकर, पुरुष का सच्चा कल्याण होता है और साथ ही नाटक की फलसिद्धि भी पूर्ण हो जाती है।

२०९. **प्रबोध**--प्रबोध प्रकाश रूप और परम ज्ञानमय है। निदिध्यासन की मुद्रा में बैठे पुरुष के अज्ञान और मोह को लेकर विद्या चली जाती है, तदनन्तर प्रबोध का जन्म होता है। प्रबोध के जन्म से शंकाओं एवं अज्ञान का अन्धकार शेष नहीं रह जाता। प्रबोध से ही आत्म साक्षात्कार एवं ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है।

२१०. इस प्रकार प्रबोधचन्द्रोदय के रूपक पात्रोंमें भावतात्विक तथा सैद्धान्तिक दोनों ही प्रकार के पात्र उपलब्ध होते हैं। भावतात्विक पात्रों का चरित्र चित्रण मानव के मनोभावों के अनुकूल ही है। सैद्धान्तिक पात्र, उपनिषद्, सरस्वती और

विष्णुभक्ति आदि अपने सिद्धान्त के अनुकूल ही व्यवहार करते और उपदेश देते हैं।

(ख) प्ररूप पात्र

२११. जैसा कि पूर्व विवेचन में कहा गया है, 'प्रबोधचन्द्रोदय' के कतिपय पात्र किन्हीं वर्ग विशेष या मत विशेष के टिपिकल (प्ररूप) पात्र के रूप में रंगमंच पर अवतीर्ण होते हैं। इन्हें ही हमने प्ररूप-पात्र कहा है।

२१२. **चार्वाक्**--चार्वाक् गुरु बृहस्पति का शिष्य और लोकायत मत का विचारक है। अपने सिद्धान्तों का प्रचार वह प्रभावशाली ढंग से निपुणता पूर्वक करता है। अपने शिष्य की शंकाओं का समाधान सप्रमाण करता है। यह महामोह का मित्र है। अपनी कुशलवार्ता से उसे प्रसन्न करता है। उसका व्यवहार शिष्टाचारपूर्ण है। मोह महाराज की जय करने के पश्चात् कलि की ओर से साष्टांग प्रणाम करता है। कुशलता पूछे जाने पर वह धन्यवाद करना भी जानता है। महामोह के सम्मुख चार्वाक् आत्मप्रशंसा नही करता है। वह नम्रतापूर्वक सफलता का श्रेय मोह को ही देता है। चार्वाक् राज्य-व्यवस्था और राज्य की दशा से परिचित है। उसे ज्ञात है कि उत्तर पश्चिम के व्यक्ति वेदों के प्रति आस्था रहित है। वेद जीविका साधन मात्र के हेतु शेष है और तीर्थो में ज्ञानोदय असम्भव है। निर्भीक और आलोचनापटु चार्वाक् विष्णुभक्ति से भयभीत हो और आतंकित है। इसके सम्बन्ध में महामोह को भी सावधान एवं सतर्क कर देता है। चार्वाक् नीतिकुशल भी है। विष्णुभक्ति से भयभीत होते हुए भी, उसके प्रति महामोह को कूटनीतिपूर्ण व्यवहार के लिए प्रेरित कर देता है।

२१३. **क्षपणक**--दिगम्बर जैन मत का अनुयायी साधु क्षपणक है। व्यक्तिगत रूप से क्षपणक, दुश्चरित्र और मूर्ख है। वह संसार की विषयवासना में लिप्त, लोभी तथा कामी है। अन्य मतावलम्बियों का विरोध और आलोचना करना उसका सहज स्वभाव है। क्षपणक को अपने शिष्यों को स्वार्थी और वासनाजनित उपदेश देने में संकोच नहीं है। श्रावकों को स्त्रियों से विहार करने देने का नीचतापूर्ण उपदेश निर्लज्जता से देता है। तामसी श्रद्धा उसे प्रिय है। अतः अपने श्रावक परिवारों को भी उसी से सम्बन्धित रखता है।

२१४. क्षपणक अहिंसक होने के साथ ही भीरु और विवादी भी है। कापालिक की आलोचना के कारण जब उसे तलवार से मारने की तत्परता दिखाई जाती है तो रक्षा के हेतु भिक्षु की गोद में छिपता है। क्षपणक की अपने धर्म में दृढ़ आस्था नही है। लौकिक विषय-वासनाएं उसे शीघ्र ही विचलित कर देती हैं। कापालिक जब राजसी श्रद्धा को क्षपणक को आकर्षित करने के हेतु नियुक्त कर देता है तो थोड़ी ही आनाकानी के पश्चात् वह राजसी श्रद्धा के मोह में पड़ जाता है।

और कापालिक मत को स्वीकार करने के प्रति उत्सुकता और आग्रह व्यक्त करता है। चरित्रहीन क्षपणक गणित शास्त्र में निपुण है। जब उसके साथी महामोह की सहायता में तत्पर होकर श्रद्धा का पता लगाने के हेतु प्रयत्नशील होते हैं तब क्षपणक ही सहायक सिद्ध होता है। वह गणित से गणना करके बता देता है कि श्रद्धा–जल, स्थल, कन्दरा, पाताल आदि में नहीं वरन् विष्णुभक्ति के साथ महात्माओं के हृदय में वास करती है।

२१५. **भिक्षु**––भिक्षु बौद्धमतानुयायी है। बौद्धमत की पुस्तक हाथ में लिए हुए रंगमंच पर प्रविष्ट हुआ है। तरुणताल वृक्ष के समान लम्बा है। लटकता हुआ केसरिया वस्त्र पहने, शिखा समेत सिर घुटाये रहता है। यह अन्य मतों को न तो जानने की जिज्ञासा व्यक्त करता है, न उनकी आलोचना करता है और न उनसे दुराग्रह। किन्हीं अंशों में हम भिक्षु को सहिष्णु कह सकते हैं। भिक्षु को तामसी श्रद्धा अधिक प्रिय है। उसमें व्यक्तिगत रूप से परस्त्रीगमन दोष भी है। अतः शिष्यों को दिया गया बौद्ध विज्ञानवाद का उपदेश भी इस दोष से मिश्रित होता है। भिक्षु अहिंसक है। वह रक्षा में तत्पर और उदार भी है। क्षपणक की भांति अधिक वाचाल नहीं है। किन्तु अपने चारित्रिक दोष के कारण कापालिक की राजसी श्रद्धा के वासनामय आकर्षण से अभिभूत हो, कापालिक मत स्वीकार करने को तत्पर हो जाता है।

२१६. **कापालिक**––सोममतानुयायी कापालिक अपने मत में दृढ़ आस्थावान है। अपने मत के अतिरिक्त अन्य मतावलम्बी होना उसे स्वीकार नहीं है। सोम-मत के विधिविधान और सिद्धियों के प्रति उसके मन में गौरव है। वह हिंसक और साहसी भी है। अन्य मतावलम्बियों के द्वारा अपने मत की आलोचना उसे असहनीय है। क्षपणक के आलोचना का साहस करने पर वह तलवार खींच कर उसे मारने को तत्पर हो जाता है। अतएव कापालिक अन्य मतावलम्बियों–– बौद्ध और जैन आदि को सोममतानुयायी बनाने में अपेक्षाकृत अधिक समर्थ है। उसे सोममत की सभी सिद्धियां प्राप्त हैं। वह अपने विद्याबल से जिसे चाहे पकड़ कर ला सकता है।

२१७. **बटु**––बटु दम्भ के आश्रम का निवासी और उसका शिष्य है। वह आश्रम में आने वाले नवागन्तुकों को गुरु की धारणाओं, नियमों और विशेषताओं से परिचित कराता है। वह गुरु की आज्ञाओं का पालन निष्ठापूर्वक करता है। कुशाग्र और निपुण शिष्य की भांति गुरु दम्भ की हुंकार का तात्पर्य और दृष्टि संकेत से मन के भावों को समझने में देर नहीं लगाता है। जैसे दम्भ जब क्रोध से दांत पीस कर बटु की ओर देखता है, तब बटु जान लेता है कि आगन्तुक के पसीने

की बूँदों के हवा में उड़कर पास आने से गुरु क्रोधित है और नवागन्तुक को गुरु के समीप जाने से वर्जित कर देता है। गुरु के प्रति दृढ़ आस्थावान है। आगन्तुकों के द्वारा की गई गुरु की कटु आलोचना से भी उसके मन में अन्तर नहीं आता है। वह अपने गुरु दम्भ की, गौरव और सम्मानपूर्वक अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा करता है। इस प्रकार बटु सेवा में तत्पर एक सच्चा गुरु-भक्त है।

२१८. **शिष्य**--चार्वाक् के साथ प्रविष्ट होने वाला शिष्य वैदिक मत का पक्षपाती एवं चार्वाक् मत के प्रति शंकालु प्रतीत होता है। चार्वाक् जब वेद, स्वर्ग, यज्ञ तथा श्राद्ध की निन्दा करता है। तब शिष्य वैदिक एवं पौराणिक व्रतों तथा नियमों का पक्ष लेकर उनके सम्बन्ध में प्रश्न और जिज्ञासायें सम्मुख रखता है।

'प्रबोधचन्द्रोदय' के इन प्ररूप पात्रों में पर्याप्त सजीवता है।

(ग) अन्य साधारण पात्र

२१९. 'प्रबोधचन्द्रोदय' के रचयिता ने कुछ ऐसे पात्रों का भी नाटकीय प्रयोग किया है। जिनका कथा के साथ कोई विशेष सम्बन्ध न होते हुए भी, नाटकीय इतिवृत्त को अग्रसर करने, कथा-प्रवाह को गति देने और कथासूत्र को संयोजित करने के कारण नाटक के कथानक में महत्वपूर्ण स्थान है।

२२०. ऐसे पात्रों में हमारे समक्ष सबसे पहले सूत्रधार आता है। नान्दी के अनन्तर यह रंगमंच पर अवतीर्ण होकर अपनी पत्नी नटी के साथ राजाज्ञा, राज्य-व्यवस्था, नाटककार का नाम, और नाटक का उद्देश्य आदि के सम्बन्ध में वार्तालाप करता है। इसके अनन्तर सामाजिकों के हाथ में कथा का सूत्र देकर, स्वयं प्रस्थान कर जाता है। इसका अभिनय कौशल प्रदर्शनीय कहा जा सकता है।

२२१. दौवारिक महामोह का द्वारपाल है। द्वारपाल के लिए आज्ञाकारिता और क्षिप्रकारिता आदि जिन गुणों की आवश्यकता होती है उनका पूर्ण सद्भाव इसमें पाया जाता है। उदाहरण के लिए महामोह की आज्ञा पाकर क्रोधादि को तुरन्त बुला कर आदेश का पालन करता है।

२२२. राजा विवेक की आज्ञाकारिणी द्वारपालिका प्रतिहारी है। वेदवती नाम की यह स्त्री पात्र विवेक के राज्य की शोभा बढ़ाती है। सम्राट् के द्वारा आहूत व्यक्तियों को ससम्मान उनके समक्ष उपस्थित कर राजाज्ञा का पालन करती है।

२२३. पारिपार्श्वक सम्राट् विवेक का हितैषी अंगरक्षक है। यह युद्ध में प्रस्थान के हेतु सुसज्जित रथ के साथ सारथी को सम्राट् के निकट बुला देता है। यही सारथी राजा विवेक को काशी के युद्धस्थल में पहुंचा देता है।

२२४. उपरोक्त सभी पात्र जिस विशेष प्रयोजन से नाटक में प्रयुक्त हुए हैं वह सुविधापूर्वक सम्पन्न हो गया है। दूसरी ओर इन पात्रों ने तत्कालीन राज्य परम्परा के अनुसार, वातावरण को बनाये रखा है।

उपसंहार

२२५. इस नाटक में रूपक और प्ररूप पात्रों की योजना नाटक के उद्देश्य की सिद्धि को सम्पन्न करती है। नाटक के नायक और प्रतिनायक का संघर्ष मानसिक (सत् ÷ असत्) अन्तर्द्वन्द्व है। अतः मानसिक पात्रों को सत् और असत् दो भागों में विभाजित किया जा सकता है।

सत्पक्ष के पात्र		असत्पक्ष के पात्र	
१. विवेक	६. शान्ति	१. महामोह	६. अहंकार
२. वस्तुविचार	७. मति	२. काम	७. रति
३. क्षमा	८. करुणा	३. क्रोध-हिंसा	८. मिथ्यादृष्टि
४. सन्तोष	९. मैत्री	४. लोभ-तृष्णा	९. विभ्रमावती
५. श्रद्धा	१०. पुरुष	५. दम्भ	१०. मन

२२६. भावतात्विक पात्रों के सत्, असत् पक्ष का संघर्ष दिखाने के साथ ही नाटककार ने सैद्धान्तिक रूपक पात्रों में भी यह संघर्ष दिखाया है। उसने अपने अभीष्ट सिद्धान्तों को विजयी चित्रित किया है। इन मतों को सात्विक और श्रेष्ठ बताया है। जिन मतों का वह निराकरण करना चाहता था, उन्हें महामोह के असत् पक्ष से सम्बन्धित वर्णित किया है। इस प्रकार बिना ही शुष्क आलोचना किये हुए सहज ही उनका निराकरण करने में तथा स्वमत प्रतिपादन करने में वह समर्थ हो सका है।

सत्पक्ष (नायक विवेक)	असत् पक्ष (प्रतिनायक महामोह)
१. विष्णुभक्ति	१. चार्वाक
२. सरस्वती	२. भिक्षु
३. उपनिषद	३. क्षपणक
४. संकल्प	४. कापालिक
५. वैराग्य	
६. निदिध्यासन	
७. प्रबोध	

२२७. भावतात्विक रूपक पात्रों के अन्तर्गत प्रत्येक पक्ष की सूक्ष्म भावनाओं की विजय-पराजय पर ही मोह और विवेक की विजय-पराजय निर्भर है। अतः नाटककार ने सूक्ष्म भावनाओं में से असद् भावनाएं सद्भावनाओं को किस प्रकार बहिष्कृत करके अपना प्रभाव विस्तार कर लेती हैं[1]? तथा सद्पक्ष की भावनाएं किन उपायों से विरोधी भावनाओं का निराकरण करती हैं इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी किया है। भावनाओं के संघर्ष के इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की श्रेष्ठता ने ही हिन्दी में 'मोह विवेक युद्ध' नामक रचनाओं की प्रेरणा दी। जिनमें केवल इस मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का ही सविस्तार वर्णन किया गया है।

२२८. भावतात्विक रूपक पात्रों के स्थान विशेष से सम्बन्धित प्रतिनिधि के रूप में होने का भी संकेत मिलता है। अहंकार राढ़ापुरी का, मद और मान उत्कल के तथा दम्भ काशी का निवासी है। जिससे मनोवैज्ञानिकता के साथ ही नाटककार के समाज की विशेषताओं के वेत्ता होने का भी परिचय मिलता है। सैद्धान्तिक रूपक पात्रों का चरित्र भी नाटकीय ही है। वे पात्र सिद्धान्त विशेष के प्रतिपादक निर्जीव (स्कैल्टन) नहीं हैं! मत विशेष के प्ररूप पात्र भी अपने तत्कालीन गुण दोषों से युक्त, कार्यशक्ति और प्रभाव से सम्पन्न, सजीव व्यक्ति हैं।

२२९. नाटक के इन पात्रों की इस विशेष योजना से प्रभावित होकर ही हिन्दी में एक विस्तृत परम्परा का निर्माण हुआ। जिस प्रभाव का अध्ययन हम आगे के अध्यायों में करेंगे।

शास्त्रीय निर्णय के अनुसार सम्बन्ध व्यक्त करने वाली पात्र-तालिका

१. सूत्रधार	—नाटक प्रयोग का प्रबन्धकर्ता	
२. नटी	—सूत्रधार की स्त्री	
३. विवेक	—प्रधान नायक	(आधिकारिक कथा का)
४. मति	—विवेक की स्त्री	दोनों नायिकायें
५. उपनिषद्	—मति की सपत्नी	

---

१. क्रोध—अन्धीकरोमि भुवनं बधिरीकरोमि
धीरं सचेतनमचेतनतां नयामि।
कृत्यं न पश्यति न येन हितं श्रृणोति
धीमानधीतमपि न प्रतिसंदधाति ॥२९॥
—द्वितीय अंक, पृष्ठ ७९।

६. वस्तुविचार —विवेकभृत्य (काम विजेता)
७. सन्तोष — ,, (लोभ विजेता)
८. क्षमा —विवेक की दासी (क्रोध को वशीभूत करनेवाली)
९. विष्णुभक्ति —प्रासंगिक कथा (पताका) नायिका–विवेक की शुभचिन्तिका।
१०. श्रद्धा —विष्णुभक्ति की सखी
११. शान्ति —श्रद्धा की पुत्री
१२. करुणा —शान्ति की सखी
१३. मैत्री —श्रद्धा की सखी
१४. सरस्वती —प्रासंगिक कथा (प्रकरी) नायिका (विष्णुभक्ति की सखी)
१५. पुरुष —पूर्वज पुरुष श्रेष्ठ
१६. प्रबोध —उपनिषद् का पुत्र
१७–१८. संकल्प, वैराग्य —मन के पुत्र
१९. निदिध्यासन
२०–२३. प्रारिपार्श्वक, पुरुष सारथी, प्रतिहारी — अन्यपात्र
२४. महामोह —प्रतिनायक
२५. मिथ्यादृष्टि —मोहजाया (प्रतिनायिका)
२६. विभ्रमावती —मिथ्यादृष्टि की सखी
२७. चार्वाक —मोह का मित्र
२८. काम —मोह का आमात्य
२९. क्रोध — ,,
३०. लोभ — ,,
३१. दम्भ — ,,
३२. अहंकार — ,,
३३. रति —काम की पत्नी
३४. हिंसा —क्रोध की पत्नी
३५. तृष्णा —लोभ की पत्नी
३६–३८. क्षपणक, भिक्षु कापालिक } —महामोह के किंकर, जैन, बौद्ध और सोममत के प्रवर्तक
३९–४२. बटु, शिष्य, पुरुष दौवारिक } —अन्य पात्र

३. कथोपकथन

२३०. पाश्चात्य नाट्य शास्त्री नाटक के छः तत्वों में कथोपकथन को एव पृथक् किन्तु महत्वपूर्ण मानते हैं। परन्तु भारत के प्राचीन नाट्य शास्त्रियों ने ऐस नहीं किया है। उनके मतानुसार कथोपकथन नाटक की कथावस्तु के ही अन्तर्गत है। इसका पता हमें उनके द्वारा किये गये वस्तु के विभाजन से चलता है। उनवे विचार में वस्तु तीन प्रकार की होती है—(१) सर्वश्राव्य, (२) अश्राव्य तथ (३) नियत श्राव्य। वस्तु के ये तीनों प्रकार आधुनिक दृष्टि में कथोपकथन के ही भेद हैं। एक चौथे प्रकार के भी कथोपकथन का उल्लेख नाट्य शास्त्रीय ग्रन्थों में पाया जाता है, जिसे आकाश भाषित कहते हैं। किन्तु प्रबोधचन्द्रोदय में इनमें से केवल दो प्रकार के कथोपकथन–सर्वश्राव्य और अश्राव्य मिलते हैं। नीचे हम प्रबोध चन्द्रोदय गत इन्हीं दोनों कथोपकथनों की समीक्षा करेंगे।

'सर्वश्राव्य' कथोपकथन

२३१. 'सर्वश्राव्य' कथोपकथन से तात्पर्य उस कथोपकथन से होता है जिसे अभिनेता रंगमंच पर स्थित सभी व्यक्तियों को सुनाना चाहता है। इसी कथोप- कथन का एक दूसरा नाम 'प्रकाश' भी है।[१] 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक में सर्वश्राव्य कथोपकथन को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। पात्रों के परस्पर वार्तालाप से कथा- वस्तु का विकास और पात्रों के चरित्र-चित्रण की रूपरेखाओं का निर्माण हुआ है। नाटककार ने अपने विचारों, सिद्धान्तों, आदर्शों तथा सामाजिक अवस्था को कथोपकथन के माध्यम से ही व्यक्त किया है।

२३२. कथावस्तु को अग्रसर करने वाले कथोपकथन—पात्रों के स्वाभाविक कथोपकथनों के मध्य कथा-सूत्र के संकेत मिलते हैं, जिनके सहयोग से नाटककार ने कथानक को गति दी है। प्रथम अंक में काम और रति के वार्तालाप में महामोह और विवेक के विरोध[२] तथा 'विद्या' और 'प्रबोध' के उदय[३] का संकेत हमें प्राप्त होता है। तृतीय अंक में कापालिक श्रद्धा को पकड़ने के हेतु महाभैरवी विद्या को भेजने का निश्चय करता है[४] जिससे विरोध को अधिक विकास प्राप्त होता है और कथा

---

१. सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यात्। द० रु० प्र० प्र० का० ६४।

२. पृष्ठ २२।

३. पृष्ठ २६।

४. पृष्ठ १३०।

अग्रसर होती है। इसी प्रकार चतुर्थ अंक में[1] विष्णुभक्ति का यह आदेश कि विवेक से कहो कि युद्ध प्रारम्भ करे, कथानक को अधिक विस्तार देता है।

२३३. चरित्र-चित्रण सम्बन्धी कथोपकथन—कथोपकथन के माध्यम से 'प्रबोधचन्द्रोदय, में पात्रों के चरित्र की विशेषताओं की रेखाएं स्पष्टता और कलात्मकता से चित्रित हुई हैं। भावात्मक और आध्यात्मिक पात्र अपने विशेष आकार प्रकार के साथ मूर्तिमान हो उठे हैं। प्रस्तावना में सूत्रधार ने काम और रति की उन्मत्तता, मादकता, चंचलता का जो वर्णन[2] किया है उससे काम और रति के चरित्र की विशेषताएं साकार हो उठी हैं। रंगमंच पर प्रवेश करते हुए चिन्तित विवेक को देखकर काम के द्वारा रति से की गई इस वार्ता में कि यह हमारे कुल में श्रेष्ठ, विवेक मतिदेवी के साथ आ रहे हैं तथा ये दुःख और विपत्ति के कारण कुहरे से घिरे चन्द्र के समान प्रतीत हो रहे हैं। विवेक का दुःख पूर्ण रूप से व्यक्त हो जाता है। द्वितीय अंक में चार्वाक विष्णुभक्ति के सम्बन्ध में कहता है कि विष्णुभक्ति महाप्रभावशालिनी योगिनी है। उसके कारण कलियुग का प्रचार बहुत कम हो गया है[3]। इससे विष्णुभक्ति की सच्चरित्रता, सत्य वादिता और दृढ़ता का विशेष परिचय मिलता है। तृतीय अंक के जैन, बौद्ध और कापालिक के पारस्परिक वार्तालाप में एक दूसरे पर आक्षेप करते हुए उन लोगों ने जिन विशेषणों का प्रयोग किया है, उनसे उनकी चारित्रिक विशेषताएँ रेखांकित हो उठती हैं[4]।

२३४. विचारों और सिद्धान्तों के व्यंजक कथोपकथन—नाटककार ने पात्र रूप में रंगमंच पर उपस्थित मतों और सिद्धान्तों का वार्तालाप करवाया है। इन पात्रों के परस्पर वार्तालाप में सरल और स्पष्ट रूप में मतों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन हो गया है। इस नाटकीय वार्तालाप के शुष्क आलोचना की कटुता से नाटक की रक्षा की है। परस्पर विरोधी मतों के द्वारा आलोचना और आक्षेप में एक अद्भुत प्रभाव आ गया है। जैन क्षपणक सौमसिद्धान्ती कापालिक से पूछता है कि तुम्हरा कैसा धर्म और कैसा मोक्ष है।[5] कापालिक ने उत्तर में कापालिक धर्म

---

१. पृष्ठ १३६।

२. श्लोक १०।

३. पृष्ठ ७२।

४. "आः पाप पिशाच मलपंकधर"—क्षपणक
"अरे विहारदासी भुजंग दुष्ट परिव्राजक"॥ पृष्ठ १०८, १०९।

५. क्षपणक—क एष कापालिकं व्रतं पुरुषो धारयति। तदेनमपि पृच्छामि।

की साधनाविधि और अर्चनीय का वर्णन किया है। अंक ३ पृ० १०७ पर क्षपणक ने बौद्धधर्म के क्षणिकत्व और विज्ञानवाद की कथा बौद्ध भिक्षु ने पृ० ११० श्लोक ११ परआत्मा की आलोचना पारस्परिक वार्तालाप में की है। पृ० ११२, ११३ पर जब कापालिक अपनी साधना सम्बन्धी हिंसक प्रक्रियाओं का वर्णन करता है तब भिक्षु और क्षपणक के संक्षिप्त कथोपकथन से सौम सिद्धान्त की आलोचना का कार्यसंपन्न हो गया है।[1] इसी प्रकार छठे अंक में उपनिषद् औरपुरुष के वार्तालाप में भिन्न दर्शनों की आलोचना और उपनिषद् के वेदान्त-दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हमें मिलता है।

२३५. सामाजिक अवस्था सम्बन्धी कथोपकथन—प्रथम अंक की प्रस्तावना में सूत्रधार के वार्तालाप से तत्कालीन राजनैतिक अवस्था की झलक मिलती है। द्वितीय अंक में दम्भ और अहंकार की वार्ता से तत्कालीन समाज के बाह्याडम्बर तथा पाखण्डों का वर्णन मिलता है। तृतीय अंक में शान्ति और करुणा की वार्ता से तात्कालिक समाज में सात्विकी श्रद्धा का अभाव तथा राजसी एवं तामसी श्रद्धा का प्रचार प्रतिध्वनित होता है। क्षपणक भिक्षु और कापालिक की वार्ता से उनके विशेष मतों की तत्कालीन धार्मिक अवस्था का वर्णन मिलता है।

अश्राव्य कथोपकथन

२३६. श्राव्य के पश्चात्, अश्राव्य कथोपकथन की हम समीक्षा करेंगे। अश्राव्य कथोपकथन से हमारा अभिप्राय उस कथोपथन से है जिसे अभिनेता अपने हृदयोद्-गारों को दूसरों को न सुनने देने की इच्छा से अपने मन में ही कहा करता है। इस कथोपकथन का ही दूसरा नाम 'स्वगत' या 'आत्मगत' भी है।[2] इस अश्राव्य या स्वगत कथोपकथन का प्रयोग 'प्रबोधचन्द्रोदय' में प्राचीन नाट्य परम्परा को देखते हुए ही किया गया है। यद्यपि आजकल कथोपकथन की इस 'आत्मगत' या 'स्वगत' प्रणाली को अस्वाभाविक कहा जाने लगा है क्योंकि रंगमंच पर स्थित वक्ता के अतिरिक्त दूसरे पात्र भी श्रोताओं के साथ उस स्वगत को सुन लेते हैं।

(उपसृत्यः) अरेरे कापालिक, नरास्थिमुण्डमालाधारक,कीदृशस्तव धर्मः की दृशस्तव मोक्षः ।।१।।—पृ० ११२।

१. भिक्षु—(कर्णापिधाय) बुद्ध-बुद्ध, अहो दारुण धर्मचर्या।
क्षपणक—अर्हन्, अर्हन्, घोर पाप कारिणा के नापि विप्रलब्धो वराकः।।
पृष्ठ ११२-१३।

२. अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह स्वगतं मतम्। सा० द० प० ६ का० १३७।

किन्तु इस अस्वाभाविकता के होते हुए भी प्राचीन काल से अद्यावधि नाटकों में स्वगत-कथन का प्रयोग अविच्छिन्न रूपसे होता आ रहा है। रंगमंच की दृष्टि पथ में रख कर नाटकों का प्रणयन करने वाले जयशंकर प्रसाद, रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और लक्ष्मीनारायण मिश्र जैसे आधुनिक नाटककारों की रचनाओं में भी स्वगत-कथन का थोड़ा बहुत प्रयोग मिलता ही है। इससे स्पष्ट है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से स्वगत-कथनों को कितना ही अस्वाभाविक क्यों न कह लें किन्तु नाटककारों की व्यावहारिक सुविधा को ध्यान में रखते हुए वह एक आवश्यक तत्व सा प्रतीत होता है। संस्कृत के नाटकों में तो स्वगत कथनों का प्रयोग होता ही रहा है। अतः 'प्रबोधचन्द्रोदय' के स्वगत-कथनों को भी हम अस्वाभाविक नहीं कह सकते।

२३७.. 'प्रबोधचन्द्रोदय' में स्वगत-कथन का प्रयोग मनोवैज्ञानिक और सार्थक है। आवश्यकता से अधिक लम्बे भावुकता के प्रलापमात्र स्वगत-कथन इसमें कहीं भी नहीं आए हैं। प्रस्तुत नाटक में पात्रों ने स्वगत कथन का अवलम्बन निम्नलिखित कार्यों के लिये किया है :—

(१) वासना-जनित विषयानन्द का अनुभव का वर्णन करने के लिये —पृ० २५।

(२) अन्य पात्रों को दूर से पहचानने के लिये—पृ० ५३, ५५, १३२।

(३) उपायों पर विचार करने के लिये —पृ० ५२, ७८, ११७।

(४) भय व्यक्त करने के लिये—पृ० ७२, ७५।

२३८. इस नाटक में प्रयुक्त स्वगत कथनों की यही सबसे बड़ी विशेषता है कि वे सप्रयोजन और संक्षिप्त हैं। जैसे—महामोह—(स्वगतम्) कार्यमत्याहितं भविष्यति। पुरुष नामक पात्र के पत्र लाने पर मन में महामोह विचार कर रहा है कि अवश्य ही कोई बुरा काम हुआ होगा। ऐसे ही संक्षिप्त और अपने स्वल्प कलेवर में विशाल अर्थ को छिपाये हुए अनेक स्वगत-कथनों का प्रयोग 'प्रबोधचन्द्रोदय' के कितने ही स्थलों पर हुआ है।[1]

---

१. स्वगत-कथनों के प्रयोगों की सूची—

(क) अंक प्रथम काम पृष्ठ २५ श्लोक २०

(ख) अंक द्वितीय अहंकार पृष्ठ ५२ गद्य

(ग) अंक द्वितीय अहंकार पृष्ठ ५३ गद्य

(घ) अंक द्वितीय अहंकार पृष्ठ ५५ गद्य

(ङ) अंक द्वितीय महामोह पृष्ठ ७२ गद्य

(च) अंक द्वितीय महामोह पृष्ठ ७५ गद्य

२३९. 'प्रबोधचन्द्रोदय' के कथोपकथन पात्र और परिस्थिति के अनुकूल सरल, स्पष्ट और ओजपूर्ण भाषा में है; कथोपकथन को रोचक और मनोवैज्ञानिक बनाने में नाटककार सफल हुआ है। भाषा मार्मिक, संयत और भाव व्यंजक है। भाषा की व्यंजना शक्ति ने ही प्रस्तुत नाटक के कथोपकथनों में अर्थगाम्भीर्य ला दिया है। इनमें अप्रत्यक्ष रूप से अनेक अर्थ ध्वनित होते हैं।

२४०. नाटककार ने (प्राचीन परिपाटी के अनुसार) कथोपकथनों में पद्यों का प्रयोग भी किया है। श्लोकों की विशेष लय, गति, प्रवाह एवं साहित्यिक भाषा ने इसमें सरसता और रोचकता का संचार किया है। श्लोकों के प्रयोग से—अपने मनोनीत आलोचनात्मक, सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को थोड़े शब्दों में विशेष ध्वन्यात्मक सौन्दर्य से व्यक्त करने में नाटककार समर्थ हुआ है। इन श्लोकों का भाव यदि गद्य में रखकर, नाटक से हटाया जाय तो नाटक प्राणहीन सा प्रतीत होगा। श्लोकों का प्रयोग विशेष भाव के व्यक्तीकरण के हेतु ही है, व्यर्थ तुकबन्दी के हेतु अथवा परम्परानुकरण मात्र के लिए नहीं है।

२४१. कथोपकथन में पात्रानुकूल संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओं का प्रयोग किया गया है। प्राकृत भाषा का प्रयोग स्त्रियों ने तथा साधारण अज्ञानी पुरुष पात्रों ने ही किया है। इसका प्रयोग केवल गद्य में ही नहीं पद्य में भी है। इसके श्लोक भी सौष्ठव से युक्त और सफल हैं।

२४२. इस प्रकार नाटक के प्रमुख अंग कथोपकथन की योजना कृष्णमिश्र ने पूर्ण कौशल से की है।

४. संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय की भाषा शैली

२४३. **भाषा** प्रबोधचन्द्रोदय की भाषा सरल एवं भावपूर्ण है। डा० श्यामसुन्दर दास ने भाषा की परिभाषा करते हुए लिखा है—'भाषा ऐसे सार्थक शब्द समूहों का नाम है, जो एक विशेष क्रम से व्यवस्थित होकर, हमारे मन की बात दूसरे के मन तक पहुँचाने और उसके द्वारा उसे प्रभावित करने में समर्थ होते हैं'[1]।—प्रबोधचन्द्रोदय की भाषा के सम्बन्ध में यह कथन अक्षरशः सार्थक प्रतीत होता है।

(छ) अंक द्वितीय महामोह पृष्ठ ७८ गद्य
(ज) अंक तृतीय कापालिक पृष्ठ ११७ गद्य
(झ) अंक तृतीय क्षपणक पृष्ठ १२० गद्य
(ञ) अंक चतुर्थ मैत्री पृष्ठ १३२ गद्य

१. साहित्यालोचन, पृष्ठ ३०१, ३०२।

नाटककार का संस्कृत भाषा पर पूर्ण अधिकार था। अतएव वह अपने आध्यात्मिक मन्तव्य को विषयानुकूल भाषा के माध्यम से व्यक्त करने में समर्थ हो सका है। प्रस्तुत नाटक की भाषा में कहीं भी जटिलता एवं अस्पष्टता नहीं है। सर्वत्र ही भाषा सरस, प्रवाहयुक्त और प्रभावपूर्ण है। भाषा में प्रसाद गुण की प्रधानता है। वह सरल और स्पष्ट होते हुए भी भावव्यंजक है[१]। उसमें प्रसाद और माधुर्य गुण का बाहुल्य है। ओज[२] गुण का पुट भाषा की गौरववृद्धि के रूप में है। भाषा में वैदर्भी रीति और कहीं-कहीं गौड़ी रीति का प्रयोग भी है।

२४४. धर्म दर्शन के सिद्धान्तों का वर्णन भी सरल और स्पष्ट भाषा में है।[३] पात्रों के परस्पर कथोपकथन की भाषा सरल और व्यंजना से पूर्ण है। भाषा अधिक शुष्क, जटिल व पाण्डित्य प्रदर्शन मात्र के रूप में नहीं है। उसमें कृत्रिमता

---

१. ज्ञातुं वपुः परमितः क्षमते त्रिलोकीं जीवः कथं कथय संगतिमन्तरेण। शक्नोति कुम्भनिहितः सुशिखोऽपि दीपो भावान्प्रकाशयितुमप्युदरे गृहस्य ॥११॥

—अंक तीसरा, पृष्ठ ११०।

वैदर्भी रीति में रचित यह सरल एवं सरस पद्य कितना अधिक भावपूर्ण है।

२. अद्याप्युन्मयातुधानतरुणीचंचत्करास्फालन-
व्यावल्गन्नृकपालतालरणितैर्नृत्यत्पिशाचांगनाः।
उद्गायन्ति यशांसि यस्य विततैर्नादैः प्रचण्डानिल-
प्रक्षुभ्यत्करिकुम्भकूटकुहरव्यक्तै रणक्षोणयः ॥५॥ अंक १, पृ० ८

इस पद्य के प्रत्येक पद से व्यंग्यमान ओजगुण द्रष्टव्य है।

३. द्रष्टव्य—लोकायतमत का सिद्धान्त—

(अ) आत्मास्ति देहव्यतिरिक्तमूर्तिर्भोक्ता स लोकान्तरितः फलानाम्। आशेयमाकाशतरोः प्रसूनात्प्रधीयसः स्वादुफलप्रसूतौ ॥१६॥

—प्र० च० अंक २, श्लोक १६, पृष्ठ ६१।

(ब) भिक्षुः—विज्ञानवाद—(बौद्धमत)
सर्वे क्षणक्षयिण एव निरात्मकाश्च
यत्रार्पिता बहिरिव प्रतिभान्ति भावाः।
सेवाधुना विगलिताखिलवासनत्वा-
द्धीसन्ततिः स्फुरति निर्विषयोपरागा ॥८॥

—प्र० च० अंक ३, श्लोक ८, पृष्ठ १०४।

की अपेक्षा व्यावहारिकता अधिक है।[1] नाटक में केवल कुछ स्थानों पर समास शैली का प्रयोग मिलता है। परन्तु भाषा की यह सामासिकता अधिक दुरूह नहीं है। जिस प्रसंग में इसका प्रयोग किया गया है। उस प्रसंग में इसके प्रयोग से विशेष साहित्य सौन्दर्य का संचार हुआ है। जैसे नटी के द्वारा किया गया गोपाल की विजय का वर्णनः—'नटी–(सविस्मयम्) आर्यपुत्र, आश्चर्यमाश्चर्यम्। येन तथाविधनिजभुजबलविक्रमैकनिर्भर्त्सितसकलराजमण्डलेन आकर्णाकृष्टकठिनकोदण्डदण्डबहुलवर्षच्छरनिकरजर्जरिततुरंगतरंगभालम्, निरन्तरनिपतत्तीक्ष्णविशिखनिक्षिप्तमहास्त्रपर्यस्तोतुंगमातंगमहामहीधरसहस्रम्, भ्रमद्भुज-दण्डमन्दराभिघातघूर्णमानसकलपत्तिसलिलसंघातम्, कर्णसेनासागरं निर्मथ्य मधुमथनेनैव क्षीरसमुद्रमासादिता समरविजयलक्ष्मीः[2]।" इस स्थल पर यदि नाटककार ने विकटबन्धवाली गौड़ी रीति और समासिकता का सहारा न लिया होता तो गोपाल के पराक्रम का ध्वनन असम्भव ही था।

२४५. नाटक में प्रसंगानुसार प्राकृत भाषा का भी प्रयोग किया गया है। प्राकृत का प्रयोग केवल गद्य में ही नहीं वरन् पद्य में भी उत्तमता के साथ करना नाटककार की प्राकृतज्ञता का परिचायक है[3]। पात्रों के द्वारा भी योग्यतानुसार संस्कृत और प्राकृत भाषा का प्रयोग किया गया है। योग्य, ज्ञानवान एवं सुसंस्कृत पात्रों (स्त्री, पुरुष) ने संस्कृत भाषा का और साधारण कोटि के पात्रों ने प्राकृत भाषा का प्रयोग किया है।

२४६. पात्रों के चरित्र एवं मतमतान्तर सम्बन्धी विशेषता के अनुकूल शब्दों के प्रयोग ने भाषा में सजीवता एवं चित्रात्मकता ला दी है। उदाहरण

---

१. द्रष्टव्य—महामोह — साधु संपादितम्। महत्खलु तत्तीर्थं व्यर्थीकृतम्।
चार्वाक — देव, अन्यच्च विज्ञाप्यमस्ति।
महामोह — किं तत्।
चार्वाक — अस्ति विष्णुभक्तिर्नाम महाप्रभावा योगिनी।...
—प्रबोधचन्द्रोदय–अंक, २, पृष्ठ ७२।

२. प्रबोधचन्द्रोदय, प्रथम अंक, पृष्ठ ९, १०।

३. द्रष्टव्य—करुणा—
विप्पट्टणीलुप्पललोललोअणा नरत्थिमालाकिदचालुभूषणा।
णिअम्बपीणत्थणमालमन्थला विहादि पुण्णेन्दुमुही विलासिणी॥१७॥
—प्र० च०, अंक ३, श्लोक १७, पृ० ११८।

के लिए क्षपणक के सम्बन्ध में शान्ति और करुणा का वार्तालाप कहा जा सकता है[1]।

२४७. इस प्रकार कृष्ण मिश्र ने भाषा की रंगमंचीय योग्यता प्रदान करके नाटक को विशेष रूप से सफल बना दिया है। काव्य एवं गद्य साहित्य की भाषा में साहित्यकार मनमानी जटिलता एवं चमत्कार ला कर पाठकों को चमत्कृत कर सकता है। किन्तु नाटककार के द्वारा यही प्रयत्न उसका सबसे बड़ा दोष माना जायगा। उसकी योग्यता इसमें है कि वह भाषा को (दर्शकों के हेतु) सहज सुलभ कर दे। सरल शब्दों से ही अपने गम्भीरतम भावों को सर्वग्राही बना दे। इस दृष्टिकोण से नाटककार विशेष रूप से सिद्धहस्त कहा जा सकता है।

शैली

२४८. भाषा के अतिरिक्त शैली में भी अनेक विशेषताएं हैं। जो इन रूपों में मिलती हैं। :—

(१) अलंकारों के कलात्मक प्रयोग के रूप में।
(२) अन्तःकथाओं के रोचक संकेत के रूप में।
(३) सूक्ष्म-भाव-गाम्भीर्य से युक्त सूक्तियों के प्रयोग के रूप में।
(४) विशेष छन्दों के प्रयोग के रूप में।

२४९. प्रबोधचन्द्रोदय में अलंकारों के कलात्मक प्रयोग ने भाषा के उत्कर्ष को बढ़ाया और रस-भाव को प्रभावात्मकता प्रदान की है। उमपा, रूपक, अपह्नुति, अर्थान्तरन्यास, दृष्टान्त, काव्यलिंग, विशेषोक्ति, समासोक्ति और दीपकालंकार आदि अनेक अलंकारों का प्रयोग किया गया है। उदाहरण के लिए ध्वन्यात्मक सौन्दर्य के साथ, दीपकालंकार का प्रयोग लिया जा सकता

---

१. प्र० च० तृतीय अंक, पृ० ९९ (गद्य वार्ता)
शान्ति — सखि, नायं राक्षसः। नीर्वीर्यः खल्वयम्।
करुणा — तर्हि क एष भविष्यति।
शान्ति — सखि, पिशाच इति शंके।
करुणा — सखि, प्रस्फुरन्महामयूखमालोद्भासितभुवनान्तरे—कथं पिशाचानामवकाशः ?
शान्ति — तर्हि अनन्तरमेव नरकविवरादुत्तीर्णः कोऽपि नारकी भविष्यति। (विलोक्य विचिन्त्य च) आः, ज्ञातम्। महामोहप्रवर्तितोऽयं दिगम्बरसिद्धान्तः।

है।[1] जिससे भाव और भाषा सौन्दर्य में वृद्धि हुई है। महामोह की वार्ता में उपमालंकार का उत्तम उदाहरण मिलता है :—

स्मर्यते सा हि वामोरु या भवेद्धृदयाद्बहिः।
मच्चित्तभित्तौ भवती शालभंजीव राजते॥३७॥

महामोह, मिथ्यादृष्टि को चित्र चित्रित पुतलिका के समान अपने हृदय में सुशोभित करना चाहता है। इस प्रकार नाटकार की शैली आलंकारिक सौन्दर्य से विभूषित है।

२५०. अन्तःकथाओं के रोचक संकेत—अलंकारों के अतिरिक्त अन्तःकथाओं के रोचक संकेतों ने विषय प्रतिपादन को अधिक स्पष्ट और प्राभावपूर्ण बना दिया है। इन अन्तःकथाओं के संकेत-प्रशंसात्मक वर्णन, शक्तिवर्णन, सान्त्वना और समता के उद्देश्य से दिये गये हैं।[2] प्रथम अंक की प्रस्तावना में नटी सूत्रधार से पूछती है कि भीषण ुद्ध करने वाले राजा कीर्तिवर्मा का शान्तरस की इच्छा करना कैसे सम्भव है? नटी की इस जिज्ञासा के समाधान के लिए, सूत्रधार ने परशुराम के इक्कीस बार युद्ध करने के पश्चात् शान्त हो जाने की कथा का प्रशंसात्मक वर्णन किया है। इस प्रकार प्रबोधचन्द्रोदय की अन्तःकथाओं ने विषय-सम्पादन में रोचकता का संचार किया है।

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय, प्रथम अक, श्लोक २७, पृष्ठ ३४-३५।
संमोहयन्ति मदयन्ति विडम्बयन्ति
निर्भर्त्संयन्ति रमयन्ति विषादयन्ति।
एताः प्रविश्य सदयं हृदयं नराणाम्
किं नाम वामनयना न समाचरन्ति॥२७॥

२. प्र० च० में प्रयुक्त अन्तःकथाओं की सूची :—

अन्तःकथा	पात्र	
परशुराम की कथा	सूत्रधार	प्रथम अंक, श्लो० ७,८, पृ० १२ ।
अहिल्या, ब्रह्मा, चन्द्रमा	काम	प्रथम अंक, श्लो० १४, पृ० १७ ।
पाण्डवों का संघर्ष	काम	प्रथम अंक, श्लो० १८, पृ० २१ ।
इन्द्र, ब्रह्मा	अहंकार	द्वि० अंक, श्लो० ११, पृ० ५५ ।
मदालसा	शान्ति	तृती० अंक, श्लो० ४, पृ० ९७,९८।
जयद्रथ, अर्जुन	वस्तुविचार	चतु० अंक, श्लो० १४, पृ० १४८ ।
राम, रावण	संतोष	चतु० अंक, श्लो० २४, पृ० १५६ ।

२५१. सूक्ष्म भाव गाम्भीर्य से युक्त सूक्तियों का प्रयोग—लोकचित्ताकर्षक सूक्ष्म-गाम्भीर्य से युक्तसूक्तियों ने भाषा सौन्दर्य और कला सौष्ठव की वृद्धि की है। पांचवें अंक में श्रद्धा ने विष्णुभक्ति को युद्ध का वृत्तान्त सुनाते हुए, दो कुलों के नाश के सम्बन्ध में कहा कि परस्पर वैर से कुलों का नाश वैसे ही होता है जैसे वृक्ष की दो शाखाओं के घर्षण से अग्नि द्वारा सम्पूर्ण वन भस्मसात् हो जाता है।—

> निर्दहति कुलविशेषं ज्ञातीनां वैरसंभवः क्रोधः।
> वनमिव घनपवनाहततरुवरसंघट्टसंभवोदहनः ॥१॥
>
> प्र० च०, अंक ५।

एक अन्य सूक्ति में विष्णुभक्ति ने विवेक के शत्रुओं के सम्बन्ध में उचित परामर्श देते हुए कहा है कि वैभव चाहने वाले को अपना छोटा शत्रु भी जैसे अग्नि और ऋण को शेष नहीं रहने देना चाहिए।

२५२. इन सूक्ष्म और गम्भीर भावों को अनेक सूक्तियों में[1] व्यक्त करके, पाठक के मन को नाटककार ने अभिभूत कर दिया है। इससे नाटककार की बहुलता और भाषा पर अधिकार भी व्यक्त होता है।

२५३. विशेष छन्दों का प्रयोग—प्राचीन परम्परा के अनुसार नाटककार ने छन्दों का प्रचुर प्रयोग किया है। ये छन्द विशेष प्रसंग के उपयुक्त प्रयोग में लाए गये हैं। इन छन्दों का संगीत मधुर, कोमल और आल्हादकारी है। इससे प्रतीत होता है नाटककार पिंगल शास्त्र के विशेष ज्ञाता थे।

प्र० च० में प्रयुक्त सूक्तियों का भाव	पात्र	अंक	श्लोक	पृष्ठ
१. मर्यादा	सूत्रधार	प्रथम अंक,	श्लोक ६,	पृष्ठ ११।
वंशविरोध	काम	प्रथम अंक,	श्लोक १८,	पृष्ठ २१।
नारी प्रभाव	विवेक	प्रथम अंक,	श्लोक २५,	पृष्ठ ३२।
शत्रुनाश	चार्वाक	द्वि० अंक,	श्लोक २७,	पृष्ठ ७३।
सच्चाप्रेम	मिथ्यादृष्टि	द्वि० अंक,	गद्य,	पृष्ठ ९१।
वैर	श्रद्धा	पां० अंक,	श्लोक १,	पृष्ठ १६६।
हितैषी की अनिष्ट शंका	विष्णुभक्ति	पां० अंक,	श्लोक ४,	पृष्ठ १६९।
एक ही वंशजों में मित्रता	श्रद्धा	पां० अंक,	श्लोक ८,	पृष्ठ १७४।
शत्रुनाश से स्थायी महानता	विष्णुभक्ति	पां० अंक,	श्लोक ११,	पृष्ठ १७९।

२५४. नाटककार ने शार्दूल विक्रीड़ित छन्द[1] का प्रयोग विशेष रुचि से किया है। इसके अतिरिक्त मन्दाक्रान्ता वसन्ततिलका, शिखरिणी, वंशस्थ, हिरिणी, अनुष्टुप, मालिनी, इन्द्रवज्रा आदि का भी कलापूर्ण प्रयोग मिलता है।[2] अतः इस सम्बन्ध में कृष्ण मिश्र का ज्ञान पूर्ण और मार्मिक था।

२५५. इस प्रकार भाषाशैली के विवेचन से स्पष्ट है कि नाटककार ने अपनी इस कृति में भाषा को प्रवाहपूर्ण गम्भीर, सरल और सरस रखते हुए भी उसे प्रसंग के अनुकूल बनाकर नाटक की अभिनेयता को अक्षुण्ण रखा है। वस्तुतः प्रबोध-चन्द्रोदय की भाषा, उसमें व्यक्त विचारों के सर्वथा अनुकूल, अतएव युक्तियुक्त है।

२५६. जहाँ तक नाटक की शैली का प्रश्न है उसके सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि धर्म और दर्शन जैसे शुष्क एवं जटिल विषय को सरस, रोचक और हृदयंगम बनाने का यदि किसी तत्व को श्रेय दिया जा सकता है तो केवल नाटककार की अपनी अनूठी शैली को। छोटे छोटे किन्तु गम्भीरतावाही शब्दों का प्रयोग, स्थान-स्थान पर भव्य सूक्तियों का विन्यास, भावों को स्पष्ट करने वाली अतः कथाओं का स्थापन, भावानुकूल कुछ विशिष्ट छन्दों का चयन तथा कतिपय स्थलों पर हास्य रस का पुट, इस नाटक की शैली की अपनी असाधारण विशेषताएँ हैं। तात्पर्य यह कि भाषा और शैली की दृष्टि से प्रबोधचन्द्रोदय नाटक पूर्ण सफल है।

---

१. शार्दूल विक्रीड़ित छन्द का प्रयोग--

(क) मध्याह्न मरीचिकासु...। अंक १, श्लोक १, प्र० च०, पृष्ठ १।

(ख) रम्यं हर्म्यतलं नवाः सुनयना गुंजद्‌द्विरेफा लताः
प्रोन्मीलन्नवमल्लिकासुरभयो वाताः सचन्द्राः क्षपाः।
यथेतानि जयन्ति हन्त परितः शस्त्राण्यमोघानि मे
तद्‌भोः कीदृगसौ विवेकविभवः कीदृक्प्रबोधोदयः॥१२॥

--प्र० च०, प्रथम अंक।

(ग) केवल प्रथम अंक में ८ शार्दूलविक्रीड़ित छन्दों का पाया जाना कवि की उसके प्रति विशेष रुचि सूचित होती है।

२. द्रष्टव्य---छन्दों की सूची--

(अधिक विस्तार में न जाकर केवल एक अंक के वृत्तों की सूची आगे दी गई है)।

प्रथम अंक -- छंद तालिका

छन्द क्रम संख्या	छन्दनाम
१.	शार्दूलविक्रीडित
२.	मन्दाक्रान्ता
३.	वसन्ततिलका
४.	शार्दूलविक्रीडित
५.	"
६.	अनुष्टुप
७.	स्रग्धरा
८.	इन्द्रवज्रा
९.	अनुष्टुप
१०.	वसन्ततिलका
११.	आर्यावृत्तम
१२.	शार्दूलविक्रीडित
१३.	पुष्पिताग्रा
१४.	शिखरिणी
१५.	अनुष्टुप
१६.	आर्या
१७.	उपजाति
१८.	वसन्ततिलका
१९.	शार्दूलविक्रीडित
२०.	शिखरिणी
२१.	पुष्पिताग्रा
२२.	अनुष्टुप
२३.	वसन्ततिलका
२४.	वंशस्थ
२५.	हरिणी
२६.	"
२७.	वसन्ततिलका
२८.	अनुष्टुप
२९,३०–३१	शार्दूलविक्रीडित

५. प्रबोधचन्द्रोदय में रस

२५७. रस निरूपण की दृष्टि से भी प्रस्तुत नाटक का भाव पक्ष अत्यन्त सफल एवं पूर्ण कहा जा सकता है। नाटककार ने अपनी इस कृति में नवों रसों की सरस योजना की है। विषय के धर्म और दर्शन से सम्बन्धित होने के कारण प्रस्तुत नाटक एक आध्यात्मिक नाटक है, अतएव आध्यात्मिक विषय का प्रतिपादन करने के कारण इसमें शान्तरस की अवतारणा प्रमुख रूप से हो सकी है। इसलिए प्रबोधचन्द्रोदय शान्तरस प्रधान नाटक कहा जा सकता है।

२५८. **शान्तरस**--जैसा कि ऊपर कहा गया है, प्रस्तुत कृति के शान्तरस प्रधान होने के कारण इसमें आदि से अन्त तक शान्त रस का ही साम्राज्य वर्तमान है। नाटक के आदि से शान्तरस का प्रारम्भ होकर अन्त तक इसका चरम उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। शास्त्रीय दृष्टि से शान्तरस का स्थायी भाव शम या निर्वेद है।[1] संसार की अनित्यता तथा दुःखमयता के कारण उसकी असारता का ज्ञान अथवा परमात्मा का स्वरूप इसके आलम्बन विभाव है। पवित्र आश्रम, तीर्थ, एकान्तवन तथा महात्माओं की संगति आदि इसके उद्दीपन विभाव तथा रोमांचादि अनुभाव और हर्ष, स्मरण, दया आदि संचारी भाव हैं।[2]

२५९. प्रस्तुत नाटक के नान्दी पाठ से ही इसके स्थायी भाव शम की सूचना मिलनी प्रारम्भ हो जाती है। नट कहता है कि यह संसार अज्ञानियों के हेतु मृगमरीचिका के समान तथा ज्ञानियों के लिए माला में सर्प के भ्रम के समान है। अतः मैं प्रत्येक ज्योति की उपासना करता हूँ। नान्दी के पश्चात् प्रस्तावना में नट कहता है कि "महान गोपाल ने आज्ञा दी है कि शान्तरस युक्त नाटक के अभिनय से आत्मा को आनन्दित करने की इच्छा है। अतः कृष्ण मिश्र कृत

---

१. (क) शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः।

—सा० द० प० ६, पृष्ठ २४।

(ख) निर्वेद स्थायिभावोऽस्ति शान्तोपि नवमो रसः।—का० प्र० ४।

२. अनित्यत्वादिना शेषवस्तुनिः सारतातु या।
परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते।
पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः।
महापुरुषसंगधास्तस्योद्दीपनरूपिणः।
रोमांचाद्याश्चानुभावास्तथास्युर्व्यभिचारिणः।
निर्विवहर्षस्मरणमतिभूतदयादयः॥

—सा० द० प० ६, पृष्ठ १२१।

'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक का अभिनय होना चाहिये।" इससे भी प्रस्तुत नाटक के शान्तरस प्रधानत्व की सिद्धि होती है। वस्तुतः धर्म और दर्शन की चर्चा, आध्यात्मिक विकास, आत्मिक शान्ति एवं ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का प्रतिवाद न होने से प्रस्तुत नाटक का मुख्य रस शान्त और स्थायीभाव 'शम' है, यह असन्दिग्ध है।

२६०. इस नाटक के शान्तरस का आलम्बन 'प्रबोधोदय' है। इसमें भावात्मक पात्रों के माध्यम से मन के अज्ञान (महामोह) और ज्ञान (विवेक) का संघर्ष दिखाकर उसमें ज्ञान को विजयी दिखाया गया है। ज्ञानी मन के • शान्त और विरक्त हो जाने के अनन्तर 'प्रबोध' का उदय होता है। द्वितीय और तृतीय अंक में चार्वाक, जैन, बौद्ध और सोम सिद्धान्त के प्ररूप पात्रों की सैद्धान्तिक आलोचनात्मक बातचीत काशी के आश्रमों और ब्राह्मणों का वर्णन, अन्यतीर्थों जैसे कुरुक्षेत्र, मन्दार पर्वत और चक्रतीर्थ आदि का वर्णन, संसार के सुख-भागों की असारता का प्रतिपादन और छठे अंक की दार्शनिक चर्चा आदि नाटक-प्रतिपाद्य मुख्यरस शान्त के 'उद्दीपन' विभाव हैं। 'ब्रह्म का अंशभूत 'आत्मा' (पुरुष) इस मुख्य शान्तरस का आश्रय है। 'प्रबोधोदय' होने के उपरान्त ब्रह्मानन्द का आस्वाद रूप शान्तरस का स्वाद यही चखता है। प्रबोधोदय से पूर्व पुरुष का ध्यान मग्न होना और उसके पश्चात आह्लादित होना आदि इसके अनुभव हैं। और स्थायी शम में क्षण प्रति क्षण उन्मग्न और निमग्न होने वाले, हर्ष, स्मरण और दया आदि भाव इसके संचारी भाव हैं। इन्हीं विभाव (आलम्बन और उद्दीपन) अनुभाव, और संचारी भावों के द्वारा पुष्ट होकर स्थायी भाव 'शम' नाटक के अन्त में शान्तरस के रूप में परिणत हो जाता है।

प्रबोधचन्द्रोदय के अंग (गौण) रस

२६१. प्रस्तुत कृति में शान्तरस की प्रमुखता होते हुए भी अन्य रसों की सफल योजना हुई है। शृंगार, वीर, करुण, रौद्र और वीभत्स आदि रसों ने शान्तरस के पोषण की दृष्टि से उसकी पृष्ठभूमि के रूप में प्रस्तुत होकर शान्तरस को मुख्यत्व प्रदान करने में पर्याप्त सहयोग दिया है। इन अंगभूत रसों में प्रधान है शृंगार। इस नाटक का प्रारम्भ इसी शृंगार से होता है और पर्यवसान होता है करुणरस की पृष्ठभूमि में। यह मनोवैज्ञानिक क्रम जीवन के लिए भी उतना ही स्वाभाविक एवं महत्वपूर्ण है जितना कि प्रस्तुत नाटक के लिए है। कारुण्य की अवस्था में व्याकुल हो व्यक्ति आप्तजनों के उपदेश से वैराग्य की ओर उन्मुख होता है। इस नाटक के मन का विकल होकर सरस्वती के शान्तरस के

उपदेश से निवृत्ति की ओर उन्मुख होना तथा पुरुष का शान्तरस का आस्वादन रूप मुक्ति को प्राप्त करना, बहुत कुछ उपर्युक्त तथ्य का स्वाभाविक निदर्शन है। अब हम प्रबोधचन्द्रोदय में से प्रधान रूप से पाये जाने वाले शान्तरस के अतिरिक्त अन्य आठ रसों के संक्षिप्त एवं क्रमिक विवरण प्रस्तुत करते हैं।

२६२. **श्रृंगार रस**--प्रथम अंक के श्लोक १० में सूत्रधार काम और रति नामक पात्रों के विलास-पूर्ण व्यवहार का वर्णन करता है कि काम रति के ऊंचे और स्थूल दोनों कुचों को पीड़ित किये हुए, रोमांचित भुजाओं से आलिंगन होकर, संसार को अपने चंचल मादक नेत्रों से मदमत्त बनाता हुआ इधर ही आ रहा है। इस वर्णन में स्पष्टतः श्रृंगार रस की प्रतीति हो रही है। इस श्रृंगाररस का स्थायीभाव है- काम पात्र का रति नामक भाव, आलम्बन है उसकी रति नामक पत्नी। इसी प्रकार रति के उत्तुंग और पीवर कुचद्वयी का उत्पीड़न और रोमांचित भुजाओं का आलिंगन, उद्दीपन विभाव, स्वयं काम आश्रय, उसके नेत्रों की चंचलता और मादकता आदि अनुभाव तथा हर्ष आदि संचारी भाव हैं। इस प्रकार इन भावों से पुष्ट होकर काम का रति रूप स्थायीभाव 'श्रृंगाररस' के रूप में परिणत हो जाता है।

२६३. **हास्य रस**--हास्यरस का उदाहरण हमें मिलता है द्वितीय अंक के श्लोक ६ में, जब अहंकार, विचित्र वेशभूषा को धारण करनेवाले आडम्बर-पूर्ण पाखण्डी दम्भ का वर्णन करता है। उसकी भुजाओं, उदर, कण्ठ, ओष्ठ, पीठ, कपोल, चिबुक और जानु पर तिलक लगा है तथा शिखा, कान, कमर और हाथों में उसने कुश ले रखा है। इस वर्णन को पढ़ने पर पाठक को बरबस हँसी आ जाती है। इसके द्वारा व्यक्त हास्यरस का स्थायी भाव है- हास्य और आलम्बन है दम्भी व्यक्ति। उसके विभिन्न अंगों में चन्दन का लेप और शिखा तथा कमर आदि में कुश का धारण करना, उद्दीपन, दर्शक या पाठक आश्रय, हास्य, अनुभाव तथा आश्चर्य, वैचित्र्य और हर्ष आदि इसके संचारी भाव हैं।

२६४. **रौद्र रस**--प्रबोधचन्द्रोदय के अंक द्वितीय श्लोक २९ में हमें 'रौद्र' रस के आस्वादन का सुअवसर मिलता है जब 'क्रोध अपने महाराज महामोह से शत्रुओं के प्रति अपने क्रोध को व्यक्त करता हुआ कहता है कि मैं संसार को नेत्रहीन एवं बधिर कर सकता हूँ, धीर, चेतन एवं विद्वान को अधीर, अचेतन और मूर्ख बना सकता हूँ जिससे वह अपने उचित कृत्यों का निर्णय न कर सकेगा, अपने कल्याण की बातों को नहीं सुन सकेगा तथा बुद्धियुक्त होते हुए भी अपने अधीत विषय को भूल जायगा इस उक्ति में स्पष्टतया 'क्रोध' व्यक्त हो रहा है। जो कि रौद्र रस का स्थायीभाव है। इसके अन्य उपकरणों--शत्रु पक्ष के व्यक्ति शान्ति और श्रद्धा आदि-आलम्बन, शत्रु पक्ष के व्यक्तियों का उसके

महाराज के विरुद्ध आचरण-उद्दीपन, स्वयं क्रोध-आश्रय, क्रोधपूर्ण वचनों का उच्चारण, संसार को नेत्रहीन और बधिर बना सकने आदि की उसकी गर्वोक्ति अनुभाव, तथा आवेग, असूया और चिन्ता आदि संचारी भाव हैं। इन भावों से पुष्ट 'क्रोध' नामक स्थायी भाव 'रौद्र रस' के रूप में व्यक्त होता है।

२६५. **वीर रस**--वैसे तो वीररस के कई स्थल प्रस्तुत नाटक में देखे जा सकते हैं, परन्तु चौथे अंक के श्लोक १४ में वस्तुविचार की राजा विवेक से हुई वार्त्ता में जो वीररस का उद्रेक हुआ है, वह अनूठा ही कहा जा सकता है। वस्तुविचार राजा से कहता है मैं 'वस्तुविचार' वाणों के समान चारों तरफ बिखरे हुए विचारों से, शत्रुओं की सेना का मंथन कर काम को उसी प्रकार मार सकता हूँ जैसे गाण्डीव धनुष को धारण करने वाले अर्जुन ने कौरवों की सेना को मथ कर, सिन्धुराज जयद्रथ को मारा था। वस्तुविचार की इस उक्ति में वीररस का सद्भाव है। वस्तुविचार में रहनेवाला उत्साह इसका स्थायीभाव, काम आलम्बन, काम का मादक प्रभाव, लौकिक विषय वासनाओं का विस्तार उद्दीपन, वस्तुविचार आश्रय, उत्साहपूर्ण वचनों का उच्चारण, और काम को मारने का संकल्प, अनुभाव तथा आवेग, धैर्य, मति, गर्व और तर्क आदि इसके संचारी भाव हैं। इन भावों से परिपुष्ट स्थायीभाव उत्साह रसाकार हो कर चर्वण कराता है।

२६६. **वीभत्स रस**--'प्रबोधचन्द्रोदय' में वीभत्सरस का भी अभाव नहीं है। इसका एक सुन्दर निदर्शन हमें उस समय मिलता है जब अंक ५, श्लोक १० में श्रद्धा विष्णुभक्ति से युद्ध का समाचार बतलाती हुई यह कहती है-'मांस रूपी कीचड़ से युक्त तथा कंकरूपी दीन प्राणियों से पूर्ण, रुधिर रूपी जल से भरी हुई नदियाँ बहने लगीं। बाणों से खण्डित सिर वाले हाथी रूप पहाड़ों से वेग के साथ गिरनेवाले छत्र उन नदियों के हंस प्रतीत होते थे। इस वर्णन में स्पष्टतया वीभत्सरस है। पाठकों या दर्शकों की 'जुगुप्सा' इसका स्थायी भाव है। मांस खून और कंकाल आदि आलम्बन, दर्शक या पाठक आश्रय, थूकना और मुंह फेरना आदि अनुभाव एवं आवेग, व्याधि आदि इसके संचारी भाव हैं।

२६७. **करुण रस**--करुणरस का एक उदाहरण हमें पांचवें अंक के १३वें श्लोक में दिखाई पड़ता है जिसमें मन अपनी प्रवृत्ति पत्नी के दिवंगत हो जाने पर एक लौकिक व्यक्ति की भाँति विलाप करता हुआ, चित्रित किया गया है। मन कह रहा है, 'देवी, तुम स्वप्न में भी मेरे विना सुखी नहीं होती, और मैं भी स्वप्न में तुमसे रहित होकर मृतक के तुल्य हो जाया करता हूँ। भाग्यवश तुम

मुझसे दूर कर दी गई हो तथापि जो मैं जी रहा हूँ इससे प्रतीत होता है कि प्राण बड़े कठिन हैं। इस विलाप से व्यंगमान मन का शोक प्रस्तुत करुणरस का स्थायी भाव, विनष्ट पत्नी आलम्बन, स्वयं मन आश्रय, संकल्प की प्रवृत्ति के सम्बन्ध में बातचीत करना तथा आश्वासन आदि उद्दीपन और प्रकृति के स्मरण में प्रलाप, उसके गुणों का कथन आदि अनुभाव एवं मोह, व्याधि स्मृति, विषाद, जड़ता, चिन्ता आदि इसके संचारी भाव हैं।

२६८. **अद्भुत रस**--प्रस्तुत कृति में हम 'अद्भुतरस' का भी एक सुन्दर उदाहरण पाते हैं। छठे अंक के ५ वें श्लोक में श्रद्धा ऐन्द्रजालिकी विद्या का वर्णन करती हुई कहती है-'यह सौ योजन दूर का शब्द सुन लेता है, इसको वेद-पुराण तथा महाभारत की कथाएँ और तर्क विद्याएँ प्रकट होती हैं, यह पवित्र पदों द्वारा शास्त्र या कविता का निर्माण करता है तथा समस्त लोक में भ्रमण करता हुआ मेरुपर्वत की रत्न की खानों को देखता है। इस वर्णन में चित्रित अभूत-पूर्व वस्तु को देखने से श्रद्धा के हृदय में उत्पन्न विस्मय इस अद्भुतरस का स्थायी भाव, मधुमती भूमिका, आलम्बन, मधुमती भूमिका का विचित्र प्रभाव, स्वर्णिम बालुकामयी नदियाँ, पथुजघना स्त्रियाँ आदि उद्दीपन, मन आश्रय, मन का अनुमति देना अनुभाव तथा आवेग, भ्रान्ति और हर्ष आदि इसके संचारीभाव हैं। इन उद्दीपन, विभाव और अनुभाव तथा संचारी के संयोग से विस्मय नामक स्थायी भाव ही 'अद्भुत रस' के रूप में परिणत हो जाता है।

२६९. ऊपर विवेचित रसों के और भी कितने उदाहरण प्रस्तुत नाटक के तत्तत् अंकों में देखे जा सकते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि नाटककार ने कितनी कुशलता से अन्य रसों को शान्तरस की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत कर, एक मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर शान्तरस को मुख्य स्थान दिया है। प्रबोधचन्द्रोदय के युगव्यापी प्रभाव के मुख्य कारणों में से एक रस की मनोवैज्ञानिक योजना भी है। मानव के लौकिक जीवन का केन्द्रविन्दु शृंगार रस है। सांसारिक मानव शृंगाररस के सरस वर्णन से सहज स्वाभाविक रूप से, आकर्षित हो जाता है। शृंगार के सद्भाव में मानव आध्यात्मिक नाटक के अध्ययन में भी प्रवृत्त हो जाता है। अन्य रसों की सरस योजना के बीच आध्यात्मिक सैद्धान्तिक विवेचन पाठक को सहज ही ग्राह्य हो जाते हैं। प्रस्तुत नाटक के तीन अंकों में तो लौकिक प्रभाव ही अधिक है। चौथे अंक से उत्तरोत्तर आध्यात्मिक प्रभाव बढ़ने लगता है। शृंगार का वीभत्स में परिणत हो जाना तथा करुण की शोक पूर्ण सजल अवस्था में, शान्तरस के अमृतोपम उपदेशों द्वारा संसार की नश्वरता का वर्णन एक विचित्र मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालता है। उसके उपरान्त

शान्तरस के परिपक्वावस्था रूप मोक्ष के ब्रह्मानन्द का अनुभव शृंगारी मनुष्य को भी सात्विकता की प्रेरणा अज्ञात रूप से दे ही देता है।

२७०. इस भाँति हम देखते हैं कि अंगरस और अंगीरस एक दूसरे के उसी प्रकार पूरक होकर आये हैं जैसे जीवन में अभ्युदय और निःश्रेयस एक दूसरे के पूरक होते हैं और मानव जीवन को पूर्ण बना देते हैं। प्रबोधचन्द्रोदय में मुख्य शान्तरस की सरस प्रभावशाली योजना अंगरसों को पृष्ठभूमि में रख कर ही हुई है। इनके अभाव से शान्तरस की योजना में, मनोवैज्ञानिक प्रभाव का भी अभाव हो जाता है। अतएव अंगरसों ने जहां एक ओर शान्तरस को शुष्क और प्रभावहीन होने से बचाया है, दूसरी ओर यह भी सिद्ध कर दिया है कि जहां अन्य रसों का अनुभव क्षणिक और नश्वर जीवन तक ही सीमित है, वहां शान्त की रसानुभूति उसे निःश्रेयस के परम पद पर प्रतिष्ठित कर देती है। इसलिए रस योजना की दृष्टि से प्रबोधचन्द्रोदय नाटक आध्यात्मिक होते हुए भी, सरस कहा जा सकता है।

६. देशकाल

२७१. प्राचीन नाट्यशास्त्र के अनुसार 'प्रबोधचन्द्रोदय' की यहां तक शास्त्रीय समीक्षा करने के पश्चात अब पाश्चात्य नाट्यशास्त्र के प्रमुख सिद्धान्त 'देशकाल' पर विचार करेंगे और यह देखने का प्रयास करेंगे कि कहां तक इस नियम का पालन 'प्रबोधचन्द्रोदय' में हो सका है। परन्तु इसके पूर्व कि हम 'देशकाल' नियम की समीक्षा करें, हमें 'संकलनत्रय' पर, जो कि 'देशकाल' का आधार माना जाता है, एक विहंगम दृष्टि डाल कर उसकी समीक्षा कर लेनी चाहिए।

२७२. **संकलनत्रय**--पाश्चात्य नाट्य शास्त्र में यह संकलनत्रय या नाटकीय-एकत्व[1] अतिशय महत्व का स्थान रखता है। संकलनत्रय का अर्थ है– काल संकलन, देश संकलन और कार्य संकलन अर्थात् नाटक की कथावस्तु एक ही काल की हो, किसी एक ही स्थान पर घटित हुई हो और केवल एक ही घटना या कार्य व्यापार से सम्बद्ध हो। इन सिद्धान्तों का प्रचार फ़्रांसीसी नाट्य शास्त्रियों ने प्रमुख रूप से किया। उनके विचार में अरस्तू ने इनका प्रतिपादन किया था। परन्तु जैसा कि हम अभी देखेंगे–उन्होंने केवल कार्य संकलन की अनिवार्यता को छोड़कर और किसी संकलन

---

१. देखिये--सीताराम चतुर्वेदी, 'अभिनव नाट्य शास्त्र' पृष्ठ ७। इसमें श्री चतुर्वेदी जी ने 'ड्रामेटिक यूनीटीज़' का वास्तविक अर्थ 'नाटकीय संकलन, न कर 'नाटकीय एकत्व' किया है, क्योंकि उनकी दृष्टि में 'यूनीटीज़' शब्द का अर्थ 'एकत्व' है, न कि संकलन, जैसा कि कुछ विद्वानों ने माना है।

की अनिवार्यता की व्यवस्था नहीं की थी। यह अवश्य है, कि उनके 'काव्य शास्त्र' में तीनों संकलनों का नाम मिलता है। परन्तु देश और काल संकलन की ओर उनका संकेत केवल परम्परा का उल्लेख मात्र प्रतीत होता है। दुःखान्त नाटक और महाकाव्य का अन्तर स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि दुःखान्त नाटक में यथाशक्ति घटना को एक दिन अथवा उससे कुछ अधिक काल तक सीमित कर देने का प्रयास दृष्टिगोचर होता है, परन्तु महाकाव्य में समय का कोई बन्धन नहीं होता।[1] इससे तो केवल यही प्रतीत होता है कि उस समय की परम्परा का उल्लेख मात्र उन्होंने कर दिया है। वस्तुतः नाटक की कथावस्तु एक दिन –२४ धण्टे या १२ धण्टे जैसा कि विद्वानों ने अरस्तू के सूर्य की एक परिक्रमा का अर्थ लगाया है[2]—में ही घटित होनी चाहिए—यह नियम अत्यन्त अनुचित प्रतीत होता है। स्वयं अरस्तू ने जिन नाटकों का परिगणन किया है, उन सबमें कई दिन और मास तक के विवरण सन्निहित हैं। अतएव जैसा कि श्री सीताराम चतुर्वेदी जी ने कहा है, एक कार्य या व्यापार न जाने कितने दिनों में पूर्ण होता है, इसलिए उसे दिन की सीमा के भीतर नहीं बांधा जा सकता, यह नियम अत्यन्त अव्यावहारिक और अस्वाभाविक है।[3]

२७३. ठीक इसी प्रकार अरस्तू ने 'स्थल-संकलन' के सम्बन्ध में भी कोई नियम नहीं बनाया है। इस नियम का तात्पर्य यह है कि नाटक की सम्पूर्ण घटना केवल एक ही स्थान पर दिखाई जाय, ताकि नाटक के पात्र नाटक के द्वारा निर्दिष्ट स्थलों पर यातायात करने में असमर्थ न हों।[4] यह संभव है, कि कुछ नाटकों में इसका सफलतापूर्वक आयोजन हो जाय, परन्तु नियमतः इसका पालन होना अतीव कठिन है। इसलिए यह नियम भी उतना ही अव्यावहारिक दीखता है जितना कि 'काल संकलन' का नियम।

२७४. अवश्य ही, अरस्तू ने कार्य संकलन का व्यापार के संबन्ध में नियम बनाया है। इस नियम की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं, 'किसी इतिवृत्त में एक नायक का वर्णन होने से ही कोई इतिवृत्त एक नहीं कहा जा सकता जैसा कि कुछ

---

१. द्रष्टव्य—सेठ गोविन्ददास अभिनन्दनग्रन्थ—में डा० कन्हैयालाल सहल का लेख—'संकलनत्रय' पृष्ठ १०५, और अभिनवनाट्य शास्त्र, पृष्ठ ५६।

२. द्रष्टव्य—सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ—में डा० कन्हैयालाल सहल के लेख—'संकलनत्रय', पृष्ठ १०५ में 'कार्नील' और 'डेसियर' का मत।

३. अभिनव नाट्य शास्त्र—पृष्ठ ५७।

४. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रंथ—डा० कन्हैयालाल सहल, 'संकलनत्रय', पृष्ठ १०६।

लोगों का विचार है। इसका कारण यह है कि एक ही मनुष्य के जीवन में अनन्त भिन्न-भिन्न धटनाएँ होती हैं, जिनको संकलित कर एक नहीं बनाया जा सकता। इसी प्रकार एक ही मनुष्य के द्वारा बहुत से चरित्र हो सकते है जिनको संकलित कर एक संगत कार्य नहीं बन सकता।'[१] इसका तात्पर्य यह निकला कि नाटक में ऐसी कोई धटना नहीं होनी चाहिये जिसका नाटक की मुख्य धटना से कोई सम्बन्ध न हो। इस सम्बन्ध में लावेल का कहना है कि जिस तरह शरीर के अंगों में पारस्परिक सम्बन्ध है उसी प्रकार नाटक के सभी भागों में परस्पर संयोजन और सम्बन्ध होना चाहिये।[२] जहां तक इस नियम का सम्बन्ध है, ठीक है, यह औचित्य की सीमा में है, क्योंकि स्वाभाविक होने के कारण संसार के सभी महान् नाटककारों ने इसका पालन अपनी अपनी कृतियों में किया है।

२७५. अंग्रेजी साहित्य में 'बेन' ने इन तीनों संकलनों का अपनी कृतियों में निर्वाह किया है। प्रसिद्ध नाटककार शेक्सपीयर ने 'टेम्पेस्ट' और 'कामेडी आफ एरर्स' में कुछ सीमा तक इन संकलनों की रक्षा की है, परन्तु अन्य नाटकों में उसने इसकी और कुछ भी ध्यान नहीं दिया। टाइडन और इब्सन के बाद में इन सिद्धान्तों को व्यर्थ सिद्ध किया है। हिन्दी में जयशंकर प्रसाद की ध्रुव-स्वामिनी को छोड़कर इनका पालन और कहीं नहीं हुआ है।[३]

२७६. इससे यह नहीं समझना चाहिये कि यूरोप मे ही केवल संकलनत्रय से सम्बन्धित विचार हुआ, भारत में नहीं। वस्तुतः संस्कृत ग्रन्थों में इस सिद्धान्त का भी संकेत पाया जाता है। भरत, नाटक लक्षण रत्न कोशकार और अभिनव गुप्त ने इन सिद्धान्तों का अल्प संकेत अपने ग्रन्थों में किया है।[४] इसी आधार को लेकर कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने लिखा है कि अभिनवगुप्त के साक्ष्य के रहते हुए डा० कीथ का यह कहना कि संस्कृत नाट्यकार समय और स्थान सम्बधी संकलनों के सिद्धान्तों से परिचय नहीं रखते थे, पूर्णतया निराधार है।[५]

---

१. अभिनव नाट्य शास्त्र, पृष्ठ ५६।

२. J. R. Lowell, The Old English Dramatists, page 55.

३. सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ--पृष्ठ १०७।

४. वही, पृष्ठ १०८।

५. "The statement of Prof. Keith in his Sanskrit Drama that Sanskrit dramatists were ignorant of the principles of unities of time and place, is based upon his own ignorance of technique of Sanskrit drama.
—Comparative Aesthetics, Vol. I, by K. C. Pande, Page 349.

२७७. अब हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि इन नियमों का पालन 'प्रबोध-चन्द्रोदय में किस सीमा तक हुआ है।

२७८. प्रस्तुत नाटक में वस्तुसंकलन आधुनिक मान्यता के अनुसार उचित कहा जा सकता है। आधिकारिक और प्रासंगिक कथाओं को अपने महत्व के अनुसार ही नाटक में स्थान मिला है। आधिकारिक कथा का मुख्य स्थान है और प्रासंगिक कथा का स्थान गौण होते हुए भी मुख्य कथा की सहायिका के रूप में ही है। कथा-वस्तु की समीक्षा के प्रसंग में हम इसकी कुशल योजना पर विचार कर चुके हैं। अतः हम कह सकते हैं कि नाटक में वस्तु संकलन की योजना सफल है।

२७९. कालसंकलन की दृष्टि से प्रस्तुत नाटक में लौकिक या ऐतिहासिक नाटक के समान वर्षों की गणना के क्रम से, घटनाओं की व्यवस्थित योजना का महत्व नहीं है। क्योंकि यह एक भावात्मक आध्यात्मिक नाटक है। अतः इसमें भाव जगत के मनोवैज्ञानिक परिवर्तन तथा आध्यात्मिक विकासानुकूल, धटना क्रम की सत्ता है। इस मनोवैज्ञानिक परिवर्तन तथा आध्यात्मिक विकास में वर्षों की सीमा नहीं है। कितने ही अगणित वर्ष इस परिवर्तन एवं विकास में व्यतीत हो सकते हैं। किन्तु वर्षों की सीमा न होने पर भी इस परिवर्तन तथा विकास में एक क्रम विशेष है। हम देखते हैं कि नाटककार ने इस क्रम की विशेष सर्तकता से योजना की है। साधारण लौकिक जीवन में अज्ञान की मोहावस्था से लेकर प्रबोधोदय के परम ज्ञान की अवस्था तक पहुँचने में, मानव को वर्षों और जन्म जन्मान्तरों में निरन्तर साधना करते जाना पड़ता है, तब प्रबोध (परम ज्ञान) का उदय सम्भव होता है। इस जन्मजन्मान्तरों में उपलब्ध होने वाले दुर्लभ परम-ज्ञान की प्राप्ति को चित्रित करने में नाटककार ने सुव्यवस्थित योजना प्रस्तुत की है। साधना के क्रमिक विकास में—(मोहविवेक का) संघर्ष युद्ध, (विवेक की) विजय, (मन की) निवृत्ति की अवस्था, तत्पश्चात तत्वज्ञान एवं मोक्ष आदि की धटनायें बिना किसी व्यतिक्रम के वर्णित हुई हैं। अतः इस दीर्धकालीन साधना का कालसंकलन युक्तियुक्त कहा जा सकता है।

२८०. देश वा स्थल संकलन की दृष्टि से प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में आध्यात्मिक रूपक कथा होने से स्थलों के संकेत नगण्य हैं। नाटककार ने अपनी विशेष बहुज्ञता से मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक पात्रों के स्थल विशेष से सम्बन्धित होने का वर्णन किया है। उदाहरण के रूप में निम्नलिखित स्थलों के संकेत उपलब्ध होते हैं:—१' गौड़ प्रदेश की राढ़ापुरी, २. उत्कल, ३. काशी, ४. चक्रतीर्थ, ५. शालिग्राम, ६. मन्दार पर्वत। इनमें से केवल तीन स्थलों–काशी, चक्रतीर्थ तथा शालिग्राम क्षेत्र-पर नाटकीय पात्रों की स्थिति दिखाई गई है। इन स्थलों पर

पात्रों के जाने आने का क्रम व्यवस्थानुसार है। अतः हम कह सकते हैं कि प्रस्तुत नाटक में स्थल संकलन में कोई विशेष दोष नहीं है।

२८१. इस प्रकार वस्तुसंकलन, कालसंकलन और स्थल संकलन की कसौटी पर आधुनिक दृष्टि से प्रबोधचन्द्रोदय की समीक्षा करने पर निष्कर्ष रूप में ज्ञात होता है कि प्रकृत नाटक में (आध्यात्मिक रूपक कथा होने से) काल तथा स्थल सकलन का विशेष महत्व नहीं है। किन्तु फिर भी इस संकलनत्रय का उद्देश्य-अस्वाभाविकता से रहित उचित व्यवस्था करना—इस नाटक में पूर्णतया प्रतिलक्षित है। इसमें कहीं भी व्यतिक्रम नहीं है।

२८२. संकलनत्रय की योजना पर विचार करने के पश्चात् अब हम प्रबोध-चन्द्रोदय के देशकाल की विशेष परिस्थितियों का अध्ययन करेंगे। (प्रबोधचन्द्रोदय की रचना का) ग्यारहवीं शताब्दी का समय राजनैतिक युद्धों और संघर्षों[१] का तथा सामाजिक और धार्मिक पतन का काल था।[२] उस समय देश में अमंगलकारी धार्मिक अनैक्य प्रबल था। बौद्ध, जैन, शैव और वैष्णव तथा अद्वैत आदि मतों में परस्पर विरोध और वैमनस्य था। उनका चारित्रिक पतन भी हो गया था।

२८३. तत्कालीन राजनैतिक संघर्ष का वर्णन नाटक की प्रस्तावना में,

---

१. द्रष्टव्य—लेखक का समय निर्णय।

2. "There has been much speculation regarding the causes of this general degradation of religious life in India. It is a significant fact that the sameperiod also witnessed agreat decline in the general intelectual and cultural level of the people in India.... But what ever may be cause, the most regrettable feature was the degradation in ideas of decency and sexual morality brought about by the religious practices.... The wealth and Luxury with its evervating effect upon character on the one hand and the degraded religious and social life on the other, sapped the vitality of the people and destroyed its manhood. The great fabric of culture and civilisation reared up in course of centuries was tottering and it was no longer a question of whether but when it would fall."

—The Struggle for Empire by R. C. Majumdar, Vol. V. page 400-401.

आश्रयदाता सम्राट के युद्ध और विजय के चित्रण में मिलता है। नाटक की कथा में भी मोह और विवेक नामक दो सम्राटों के (राज्य प्राप्ति के हेतु) परस्पर युद्ध का वर्णन है। जिससे कि तत्कालीन राजनैतिक संघर्ष प्रतिध्वनित होता है।

२८४. युद्ध के प्रसंग में, नायक की सेना के वर्णन में, तत्कालीन सैनिक व्यवस्था का विवरण निहित है। उस समय मदोन्मत हाथियों की सेना तैयार की जाती थी। जिनके मस्तक से द्रवित मद का पान करके भौरे मत्त हो जाते थे। प्रचण्ड वेग से वायु को भी हठात् पराजित करने वाले घोड़े जोते जाते थे। अश्वारोही-कृपाण हाथ में धारण कर आगे बढ़ते और पैदल सेना अपने भालों से, समस्त दिशाओं में नील कमल का वन सा बनाती हुई, प्रस्थान करती थी।[1]

२८५. प्रबोधचन्द्रोदय के द्वितीय अंक में सम्राट् महामोह के स्वागत का जो वर्णन किया गया है, उसमें तत्कालीन सम्राटों के स्वागत समादर की प्रथा का पता चलता है। उनके स्वागतार्थ नगर को सुसज्जित किया जाता था। स्फटिक शिला से बनी वेदिकाओं का चन्दन लेप से संस्कार किया जाता था। फव्वारे खोल दिये जाते थे। गृहद्वारों को जल से धोकर स्वच्छ किया जाता था। मणियुक्त तोरण सर्वत्र लटका दिये जाते थे। प्रासादों पर इन्द्रधनुष के समान चित्रवर्ण पताकाएं फहरा दी जाती थी।[2]

२८६. प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक विशेषताओं का भी संकेत मिलता है। सामाजिकों के शिष्टाचार उसमें यत्रतत्र वर्णित पाये जाते हैं। गृहमेधियों के आश्रम में गुरु के आसन पर कोई नहीं बैठ सकता था। राजा भी गुरुओं को दूर से साष्टांग प्रणाम करते थे। स्त्रियां पति को आर्यपुत्र कहकर सम्बोधित करती थीं। पुत्र माता को चरण छूकर प्रणाम करते थे। अतिथि-सत्कार को सर्वोत्तम माना जाता था। प्रबोधचन्द्रोदय के कतिपय स्थलों से सामाजिक विश्वास भी ज्ञात होते हैं। उस समय सामाजिकों की आस्था कर्त्तव्य पर न थी, भाग्य पर उन्हें विश्वास था। वे परिश्रम को महत्व न देकर भाग्य को भला-बुरा कहते थे।[3] किन्तु 'प्रतिकूले विधातरि किं किं न सम्भाव्यते।' वे मानते थे कि पुण्य कर्मों के द्वारा ही सुख-सुविधा मिलती है।[3] मंगल अनुष्ठान करके यात्रा की जाती थी।

२८७. चिता में जीवित जल जाने की प्रथा थी। केवल पति-वियोग में

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय, अंक, ४, श्लोक २३, पृष्ठ १५७।

२. प्रबोधचन्द्रोदय, द्वितीय अंक, श्लोक १५, पृष्ठ ६०।

३. प्रबोधचन्द्रोदय, पृष्ठ ९७। ३. वही, पृष्ठ १६१।

ही नहीं, अपनी माता, स्त्री तथा पुत्रादि के वियोग में भी ऐसा कर लेने की प्रथा थी।

२८८. धार्मिक व्यभिचार ने स्त्रियों की स्थिति को हेय बना दिया था। विधवाओं की दुर्दशा थी। उनका जीवन समाज में अपमानित समझा जाता था। धार्मिक साधु उनके साथ व्यभिचार करते थे। साधु संन्यासी विधवाओं से ही नहीं विवाहिताओं से भी व्यभिचार करते थे। कुलवधुओं का जीवन आदर और मर्यादा से सम्पन्न था। उनका नैसर्गिक शील यह माना जाता था कि विपत्ति में अपने पति की सहायता करें। स्वामी के उद्धार की एकनिष्ठ होकर प्रतीक्षा करें। कुलवधुएँ पूर्वजों के सम्मुख वार्तालाप नहीं करती थीं। उनसे वार्तालाप और प्रश्नोत्तर धृष्टता मानी जाती थी। विवाहित स्त्रियां आभूषणों और वस्त्रों से सुसज्जित होती थीं। उनकी बाहुओं में मणियों से जटित कंकण और केशपाश में चूडामणि सुशोभित होता था। वे पैरों में नूपुर और कण्ठ में मुक्तामालायें धारण करती थीं।

२८९. उपर्युक्त राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों के चित्रण के अतिरिक्त प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में तत्कालीन धार्मिक अवस्था का चित्रण भी विशेष विस्तार से मिलता है। तत्कालीन धार्मिकों में नैतिक दोष वेश्यागमन की प्रथा अध्ययन का अभाव और वाह्याडम्बरों का आधिक्य था? धार्मिक साधु और ब्राह्मण (वाराणसी में) चांदनी रातों में वेश्याओं के गृह में आकर मदिरापान करना और विहार करना पुरुषार्थ मानते थे। इस दोषपूर्ण कृत्य में वे रात्रि में लीन रहते किन्तु दिन में बाह्या-डम्बर के आधार पर दोष को छिपा लेते थे। दिन में वे सर्वज्ञ, अग्निहोत्री, ब्रह्मज्ञानी तथा तपस्वी बनने का ढोंग रचते थे।[१] ये साधु संन्यासी और ब्राह्मण आदि धार्मिक धर्म ग्रन्थों का अध्ययन नहीं करते थे। अध्ययन से वंचित इन अज्ञानी ब्राह्मणों और साधुओं के प्रति जनता की अगाध श्रद्धा थी।[२] सामाजिकों को केवल ठगने के हेतु वेदों का अध्ययन होता था। वेदों का अर्थ बिना समझे अस्पष्ट वाणी में पाठ किया जाता था। भिक्षा ग्रहण करने के उद्देश्य से यतिवेश धारण कर सिर मुँडा कर वेदान्त शास्त्रों का अध्ययन किया जाता था।[३] गंगा के किनारे शीतल शिला पर बैठकर एक हाथ में कुशा लेकर ब्राह्मण ध्यानावस्थित हो जाते थे। दाहिने हाथ की उंगलियों में रुद्राक्षकी माला लेकर, उसे क्रम से घुमाते हुए वे धार्मिकों का धनअपहरण करते थे।[४]

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय, अंक दो, श्लोक १, पृष्ठ ४३।
२. वही वही, श्लोक, पृष्ठ ४४,४५।
३. वही " पृष्ठ ४५।
४. प्रबोधचन्द्रोदय, अंक दो, श्लोक ५।

इस प्रकार इनमें वाह्याडम्बर बहुत बढ़ गया था। वे जीविका के लिए त्रिदण्ड धारण करते थे और वैदिक कर्मकाण्ड को न जानते थे, न पालन करते थे। ब्राह्मण जन अपने आश्रम में ऊँचे-ऊँचे दण्ड गाड़ लेते थे, यहां कृष्ण मृग का चर्म, समिधा, ओखल, मूसल, यज्ञपात्र आदि सजा लेते थे। ये ब्राह्मण, अपनी चोटी अपने कान, हाथ, कमर आदि में कुशा लगाये रहते थे। चन्दन का छापा तिलक वे अपने ललाट, दोनों बाहु, पेट और वक्षस्थल, कण्ठ, ओष्ठ, कपोल और घुटने पर लगा लिया करते थे।[1] इस प्रकार ब्राह्मण आडम्बरपूर्ण वेष धारण कर अपने आश्रम में बैठ जाते थे। उनके शिष्य किसी भक्त को उनके समीप न जाने देते थे। उनसे छुआछूत का व्यवहार किया जाता, कि कहीं पसीने की बूंदें गुरु को स्पर्श न कर लें। नवागन्तुकों को हाथ-पैर धोकर, कुल जाति का परिचय देने के अनन्तर, आश्रम में प्रवेश की आज्ञा मिलती थी। गौड़ देश की राढ़ापुरी में दम्भी और अहंकारी ब्राह्मण बहुत अधिक थे। उत्कल प्रदेश में मद और मान का प्रबल प्रभाव था।

२९०. इस पतित धार्मिक समाज में अनेक मतमतान्तर भी प्रचलित थे। नाटककार ने चार्वाक, जैन, बौद्ध, सौमसिद्धान्त आदि मतों तथा दर्शनों की तत्कालीन अवस्था का चित्रण भी किया है। नाटक में अन्य मतों की अपेक्षा चार्वाक मत का वर्णन सर्वप्रथम है। समाज में चार्वाक मतानुयायियों का प्रभाव था। वे ईश्वर और स्वर्ग को प्रमाण नहीं मानते थे। प्रत्यक्ष को प्रमाण न मानने से, उनकी जाति-व्यवस्था तथा धर्म-कर्म के नियम पालन में आस्था न थी। वे काम और अर्थ को ही पुरुषार्थ मानते थे। विषय-भोग ही उनके जीवन का उद्देश्य था। विशाल नेत्र तथा उच्च स्तनों वाली स्त्री के आलिंगन से प्राप्त आनन्द को ही वे आनन्द मानते थे। उनकी दृष्टि में भिक्षा, उपवास, व्रत, सूर्यकिरण से दाह भूखों का विधान था।[2] चार्वाक मत के प्रभाव से वैदिक महाजन स्वेच्छाचारी हो गये थे। वेश्यागमन, मद्यपान और द्यूतक्रीड़ा उनका व्यसन हो गया था उत्तरप्रदेश काश्मीर, पांचाल, पंजाब, काबुल, गांधार आदि देशों में वैदिक धर्म शेष नहीं था। शम दम अदि संयम नियम के पालन की कहीं चर्चा नहीं होती थी। गुजरात, महाराष्ट्र आदि देशों में वेदाध्ययन जीविका मात्र के हेतु था। कुरुक्षेत्र आदि धर्म-क्षेत्रों में विद्या और प्रबोध का उदय स्वप्न में भी सम्भव न था। मायापुरी के दाराश्रम बदरिकाश्रम में भी वेदाध्ययन धर्मदान जीविका मात्र रह गया था।

२९१. तृतीय अंक में चार्वाक मत के इस वर्णन के पश्चात् जैन मत की तत्का-

---

१. वही वही , श्लोक ६।

२. प्रबोधचन्द्रोदय, अंक ३, श्लोक २२।

लीन अवस्था का वर्णन नाटककार ने किया है। उस समय जैनमतानुयायियों में सात्विक श्रद्धा को स्थान न था। जैन साधु क्षपणक कहे जाते थे। ये राक्षस की भांति प्रतीत होते थे।[1] उनका शरीर मल के गिरते रहने से चिकना हो जाता था। गन्दगी के कारण उनके शरीर की छवि वीभत्स एवं दुष्प्रेक्ष्य थी। उनके बाल नुचे हुए होते थे। वे वस्त्रहीन दिगम्बर होते थे। हाथ में वे मयूरपच्छिका लिये रहते थे। अन्य मतावलम्बियों को वे तेजविहीन एवं नारकी प्रतीत होते थे। वे 'ऊण्मोजलिहन्ताणम्' का उच्चारण करते थे। अपने श्रावकों के प्रति उनके उपदेश थे कि ऋषियों को दूर से प्रणाम करो, मधुर स्वादिष्ट भोजन दो, यदि ऋषि श्रावक वधू के साथ विहार करें तो ईर्ष्या नहीं करनी चहिए। इस प्रकार प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के वर्णानानुसार तत्कालीन जैन साधु चरित्रहीन एवं व्यभिचारी होते थे। जैनमत में सुरापान वर्जित था किन्तु वे जैन साधु क्षपणक चरित्रहीनता के कारण उस दोष से अछूते न रह पाते थे। विषय-वासनाओं का आकर्षण उनमें प्रबल था।

२९२. तृतीय अंक में जैनमत के अनुयायियों के विवरण के पश्चात् बौद्धमतानुयायियों का विवरण मिलता है। वौद्धमतानुयायी, बौद्धागम, भिक्षु कहकर सम्बोधित होते थे उनमें सात्विकी श्रद्धा न थी, वरन् तामसी श्रद्धा का ही प्रचार था। ये भिक्षु रूप में अपने मत की पुस्तक लेकर स्वतंत्र विचरण करते थे। वे ताड़ की तरह लम्बे होते थे। इन भिक्षुओं के वस्त्र थे, लटकता हुआ केसरिया चोगा। ये शिखा समेत अपना सिर मुड़ाये रहते थे।[2] भिक्षुओं का चरित्र नैतिक दोष से पूर्ण था। उनके जीवन में नियम एवं संयम का पालन तथा चरित्र की पवित्रता न थी। ऊँचे ऊँचे भवन उनके निवासस्थान थे। सेठों की स्त्रियां उन्हें मनोनुकूल स्वादिष्ट भोजन देती थीं। वे सुकोमल सुसज्जित शय्या का सेवन करते थे। सुन्दरी युवतियां श्रद्धापूर्वक अंगदान देकर उनकी उपासना करती थीं। उनकी चन्द्रिका आलोकित शीतल रात्रियां आनन्द से व्यतीत होती थीं।[3] पीन पयोधरा विधवाओं को वे गले लगाते थे।[4] ये भिक्षु वेश्यागमन तथा सुरापान में लीन रहते थे।[5] इस प्रकार प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के अनुसार बौधिक भिक्षु चरित्रहीन और कर्तव्यच्युत थे।

२९३. तृतीय अंक में जैन और बौद्ध मतों के अनन्तर सोमसिद्धान्त के अनुयायियों

---

१. वही, वही, पृष्ठ ९८।
२. प्रबोधचन्द्रोदय, अंक ३, पृष्ठ १०५।
३. वही वही, पृष्ठ १०४,१०५।
४. वही वही, पृष्ठ १०९।
५. वही वही, पृष्ठ १२३।

का विवरण मिलता है। ये कापालिक कहलाते थे।[1] वे नर-अस्थि एवं मुण्डों की माला धारण करते तथा नृकपाल में भोजन करते थे। श्मशान उनका निवास स्थान था। इन कापालिकों में राजसी श्रद्धा का प्रचार था। ये शिवसाधना करते और महाभैरवी विद्या में पारंगत होते थे। कापालिक, कापालिकी के आलिंगन और सुरापान के अनुभव के अन्य मतावलम्बियों को आकर्षित कर लेते थे। इस प्रकार प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के अनुसार कापालिकों की अपने मत में इतनी दृढ़ आस्था थी कि वे अन्य मत को स्वीकार नहीं करते थे। उन्हे अनेक सिद्धियां भी प्राप्त होती थीं, जिससे वे अपने मत का प्रचार सरलता से कर लेते थे।

२९४. प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में जैन बौद्ध और कापालिक मतों के अनुयायियों का विवरण तो पृथक्-पृथक् किया ही गया है, किन्तु साथ ही तीनों मतावलम्बियों की जो वार्त्ता और अभिनय प्रदर्शित किया है उससे भी इनके सम्बन्ध में कुछ विशेषताएँ ज्ञात होती हैं। जैसे इन मतों में परस्पर झगड़े हुआ करते थे। इनका वाद-विवाद इतना बढ़ जाता था कि एक दूसरे को अपशब्द कहने तथा तलवार खीचकर मारने की स्थिति भी आ जाती थी। वे परस्पर वादविवाद में चारित्रिक दोषों पर आक्षेप करते थे। पापमलपंकधर, निर्बुद्धि, विहारदासीभुजंग, पाखण्डापसद तथा विप्रलम्भक आदि अपशब्दों का भी इनके द्वारा प्रयोग नाटक में मिलता है। इस विवरण के अतिरिक्त प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में, महामोह के पराजित होने से, जैन, बौद्ध और कापालिक मतों के विभिन्न देशों में चले जाने का भी वर्णन है। वौद्धमत के सिन्धु, गान्धार, पारसीक, मागध, आन्ध्र, हूण, वंग, कलिंग आदि म्लेच्छ देशों में चले जाने का तथा दिगम्बर और कापालिक मत के पांचाल, मालव, आभीर, आवर्त, सागरानूप देशों में छिपकर घूमने का वर्णन है।[2]

२९५. धार्मिक परिस्थिति के इस चित्रण में नाटककार दर्शनों की––भक्ति, उपनिषद और गीता की-तत्कालीन अवस्था का चित्रण करना भी नहीं भूला है। उस समय यज्ञविद्या के अनुयायी उपनिषद् की तात्विक व्याख्या को नहीं समझते थे। उनका धार्मिक व्यापार श्रोत्रिय यज्ञादि कर्मों तक ही सीमित था। उनके आश्रम, मृगचर्म, अग्नि, समिधा, घी, जूहू, श्रुवा आदि से तथा इष्टि, पशु सोमादि यज्ञों से सुशोभत थे। कर्मकाण्ड में मीमांसक उपदेश और अतिदेश की योजना करते हुए, उत्तर मीमांसानुसार कर्मकाण्ड में निरत थे। वे उपनिषद् के तात्विक ज्ञान की उपेक्षा करते थे। उनका विश्वास था कि कर्म से ही कर्म की निवृत्ति हो जाती है। तर्क

---

१. वही वही, पृष्ठ १११।

२. प्रबोधचन्द्रोदय, अंक ५, पृष्ठ १७७,७८।

विद्या के अनुयायियों की संख्या बहुत अधिक थी। वे तर्क के आधार पर ही संसार के तत्वों की गणना करते और उपनिषद् के तत्वों पर विचार भी करने का प्रयत्न नहीं करते थे। उस काल में कलियुग के कारण विष्णुभक्ति का प्रचार बहुत कम हो गया था। विष्णुभक्ति शालिग्राम क्षेत्र में विशेष रूप से प्रचलित थी। उसके भक्तों को कलियुग के दोष प्रभावित नहीं करत थे। ये विष्णुभक्त वास्तव में सच्चरित्र और श्रद्धालु होते थे[1]। उनसे दुर्जन भयभीत रहते थे। विष्णुभक्ति अनुयायियों पर उनका भक्ति के प्रभाव से कापालिकों की "भैरवी विद्या" और 'इन्द्रजाल' का कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। ऐन्द्रजालिकों का प्रयत्न उनकी भक्ति के प्रभाव से नष्ट हो जाता था। इससे अनुमान होता है—कृष्ण मिश्र के समय में विष्णुभक्ति की दशा अन्य मतों की अपेक्षा श्रेष्ठावस्था में थी। सम्भव है विष्णुभक्ति से प्रभावित होने के कारण नाटक में ऐसा वर्णन किया गया है, किन्तु यह कहना उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि उपनिषद् को महत्व पूर्ण स्थान देने पर भी नाटककार ने उसकी दुर्दशा का वर्णन किया है। उसकी करुण स्थिति चित्रित की है। उस काल में उपनिषद अध्ययन और मनन नहीं होता था।[2] धार्मिक जन उपनिषद् का अर्थ न समझकर व्यर्थ की कल्पनाएं किया करते थे।[3] उस युग में गीता को ही मान्यता थी। उपनिषद् उत्तराधिकारिणी गीता को ही माना जाता था। गीता के अनुयायियों का विशेष स्थान मन्दार पर्वत पर मधुसूदन का मन्दिर बताया गया है।

२९६. इस प्रकार हमें प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में तत्कालीन राजनैतिक सामाजिक एवं धार्मिक परिस्थितियों का चित्रण मिलता है। उससे अनुमान होता है कि उस काल में राजनैतिक क्षेत्र में साम्राटों में परस्पर संघर्ष था। सामाजिकों का जीवन भी धार्मिक पतन के कारण अव्यवस्थित था। धार्मिक समाज में विभिन्न मतमतान्तरों का चारित्रिक पतन, विष्णुभक्ति का श्रेष्ठ प्रभाव, उपनिषद् की उपेक्षा और गीता की मान्यता थी। अतः वह युग एक प्रकार से पतन का काल था। किन्तु उस पतन के काल में भी कृष्ण मिश्र जैसे, प्रकाण्ड विद्वान् की स्थिति और प्रबोधचन्द्रोदय ग्रन्थ का प्रणयन, इस बात का द्योतक है कि उस पतन के अन्धकार में भी कहीं कहीं ज्ञानमार्तण्ड की किरणें वातावरण को प्रकाशित अवश्य कर रही थीं। और देश के उत्थान की आशा-किरण शेष थी।

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय, अंक ३, पृष्ठ १३०।
२. वही, अंक ६, पृष्ठ २१८।
३. वही, अंक ६, पृष्ठ २१८।

७. प्राचीन 'टेकनीक'

२९७. प्राचीन एवं आधुनिक मान्यताओं के अनुसार कथावस्तु, पात्र और रस आदि मुख्य तत्वों का विवेचन करने के पश्चात्, अब हम प्राचीन नाट्यशास्त्र की दृष्टि से शेष कुछ विशेष विधिविधान का अध्ययन करेंगे। इस विधिविधान का अध्ययन हम निम्न शीर्षकों में कर सकते हैं:—

(१) प्रबोधचन्द्रोदय एक नाटक
(२) नाटक का नामकरण
(३) नान्दी
(४) प्रस्तावना
(५) वस्तुविभाग दृष्य-सूच्य
(६) वृत्तियां
(७) अभिनय संकेत और रंग संकेत
(८) प्रशस्ति श्लोक

२९८ इन उपर्युक्त शीर्षकों में नाटक में संयोजित प्राचीन टेकनिक की समीक्षा हम क्रम से करेंगें

२९९. **प्रबोधचन्द्रोदय एक नाटक**—संस्कृत साहित्य में काव्य के दो भेद हैं-दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य के अन्तर्गत रंगमंच पर अभिनीत रूपकों की गणना होती है। रूपकों के दस भेद होते हैं। उन दस भेदों में से एक भेद नाटक नाम से भी है नाटक की परिभाषा[१] में कहा गया है कि नाटक की कथा गौरवपूर्ण एवं सुप्रसिद्ध होती है। आधिकारिक कथावस्तु का नायक कुलीन एवं महान् गुणाभिपेत होता है। उसके प्रधान कार्य में अन्य व्यक्तियों का सहयोग भी होता है। जो प्रासंगिक कथा के नायक हो सकते हैं। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक की कथा मानव-मन की भावनाओं की मनोवैज्ञानिक चिरपरिचित कथा है। आधिकारिक कथा का नायक विवेक कुलीन और धीर-गम्भीर श्रेष्ठ नायक है। प्रधान कार्य में विष्णुभक्ति तथा वैय्यासिकी सरस्वती आदि ने सहयोग दिया है। जो प्रस्तुत नाटक की प्रासंगिक कथा, पताका और प्रघरी की नायिकायें हैं। प्रबोधचन्द्रोदय में शान्त रस प्रधान है। इस प्रधान रस के परिपाक के हेतु अन्य श्रृंगार वीर-आदि सभी रस सहायता पहुँचाने के हेतु कला-कौशल से संजोये गये हैं। प्राय: नाटक में पांच से दस तक अंक होने का विधान होता है। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में छ: अंक हैं। अत: प्रबोधचन्द्रोदय को रूपक के दस शास्त्रीय भेदों में से 'नाटक' की संज्ञा दे सकते हैं। यह रचना 'गो पुच्छ के अग्र

---

१. रूपक और रूपक रहस्य, पृष्ठ १५८।

भाग के समान' क्रमशः विकसित होती हुई उपसंहार में कलात्मकता से समन्वित हो जाती है। इस नाटक में पंच सन्धियों और अर्थ प्रकृतियों का प्रयोग भी यथोचित रूप से हुआ है। इस नाटक की निर्वहण सन्धि में चिर शान्तिदायक आनन्दपूर्ण मोक्ष की अद्भुत योजना भी हुई है। जिससे कि समग्र रूप से यह एक नाटक ही सिद्ध होता है।

३००. **नाटक का नामकरण**--अब हम इस नाटक के नामकरण पर विचार करेंगे। किसी भी नाटक का नामकरण प्रायः उसके नायक उद्देश्य, प्रस्तुत वस्तु एवं मुख्य घटना आदि के आधार पर किया जाता है। प्रस्तुत कृति का नाम 'प्रबोध-चन्द्रोदय' है जो कि इसमें घटित मुख्य घटना का उद्देश्य 'प्रबोधचन्द्रोदय' के उदय-के आधार पर किया गया प्रतीत होता है।

३०१. 'प्रबोधचन्द्रोदयम्' पद की व्युत्पत्ति है, प्रबोध और चन्द्र में तादात्म्य संबंध स्वीकार कर, रूपकालंकार मानते हुए—प्रबोध एव चन्द्रः, प्रबोधचन्द्र : तस्य उदयः यस्मिन् तत् अर्थात् प्रबोध से अभिन्न चन्द्र का उदय जिसमें हुआ हो। इस प्रकार रूपकालंकार के आधार पर की गई व्युत्पति में प्रबोध और चन्द्र के अभिन्न होने के कारण 'उदय' 'उद्गम' धर्म दोनों में अन्वित हो जाता है। अतएव यह व्युत्पत्ति ही समीचीन प्रतीत होती है, जिसका अर्थ है प्रबोधरूपी चन्द्र का उदय है जिसमें, ऐसा 'प्रबोधचन्द्रोदयम्'। प्रबोध शब्द की 'प्रबुध्यते अनेनेति प्रबोधः 'इस व्युत्पत्ति के आधार पर प्रबोध का अर्थ होता है—ब्रह्मस्वरूप या अज्ञानानावृत ब्रह्माकारान्तः करण वृत्ति और चन्द्र का अर्थ है उनको प्रकाशित करने वाला। प्रबोध और चन्द्र का समास होने पर 'प्रबोध चन्द्र' इस समस्त पद का अर्थ होगा—ब्रह्मस्वरूप या अज्ञानानावृत ब्रह्माकारान्तः करणवृत्ति का प्रकाशक। उस 'प्रबोधचन्द्रोदय' का उदय—उद्गम—साक्षात्कार-जिसमें हुआ हो उसे 'प्रबोधचन्द्रोदय' कहते हैं। इस नाटक में पुरुष को 'प्रबोधचन्द्रोदय' रूपी फल की प्राप्ति हुई है। अतः मुख्य फल के आधार पर किया गया इस नाटक का 'प्रबोधचन्द्रोदय' यह नामकरण उचित ही है। नामकरण के अर्थ पर अन्य विद्वानों के विचारों का उल्लेख करने के उपरान्त डा० सीता भट्ट ने भी इसी मत से समता रखते हुए अर्थ को ही स्वीकार किया है।[1]

---

1. "The name Probodha candrodayah has been translated vaiiously by various people. J. Taylor translated it as 'Rise of the Moon of Intellect,' Winternitizas 'Erkenntnismondaufgang; Macdonell as Rise of the Moon of Knowledge', S. K. De as

३०२. **नान्दी**—नाट्यशास्त्र के नियमानुसार प्रस्तुत कृति के आरम्भ में ही सूत्रधार के द्वारा दो श्लोकों का नान्दी-पाठ है। इस नान्दी का स्वरूप मंगलात्मक और नमस्कारात्मक है। साथ ही इसमें अभिधावृत्ति के द्वारा नाटक की मुख्य वस्तु का निर्देश भी किया गया मिलता है, जैसे प्रथम श्लोक में ब्रह्मज्योति की स्तुति है जो ब्रह्म के सच्चिदानन्द स्वरूप की उद्बोधिका है। दूसरे श्लोक में प्रत्यक्ष ज्योति की चर्चा से जीवात्मा के विजयी होने की मंगल कामना व्यक्त होती है। इसके अतिरिक्त पहले श्लोक के 'तत्' और द्वितीय श्लोक के 'त्वम्' पद से 'तत्वमसि' वाक्य की अद्वैत-परक व्याख्या के द्वारा जीवात्मा की मंगल-कामना की गई है।

३०३. इस नान्दी के प्रथम श्लोक द्वारा प्रस्तुत कृति के सम्बन्ध चतुष्टय—१, प्रयोजन, २. विषय, ३. सम्बन्ध और ४. अधिकारी व्यक्त किये गये हैं। उसके अनुसार जीवों का अज्ञान से निवृत्त होना, प्रस्तुत नाटक का प्रयोजन, प्रतिपाद्य (विषय) और प्रतिपादक (कर्त्ता) का भाव—इसका सम्बन्ध, अद्वैत सिद्धान्त के साथ विष्णुभक्ति का समन्वय विषय तथा अज्ञान-निवृत्ति की इच्छा करने वाला व्यक्ति इसका अधिकारी है। इस नान्दी के अर्थ से वस्तुविषय भी प्रतिध्वनित होता है। प्रथम श्लोक में 'अज्ञानतः' से महामोह, 'खंवायुः—त्रैलोक्य—मुन्नीलति 'से महामोह की सेना, 'यत्तत्वंविदुषां'—से विवेक का पक्ष, 'निमीलति' से दोनों पक्षों का नाश, ज्योति के आत्मावबोध से प्रबोध की उत्पत्ति का भाव प्रतिलक्षित हो रहा है। इस प्रकार इस नाटक की नान्दी गम्भीर, भाव पूर्ण, दार्शनिक और सार्थक है।

३०४. **प्रस्तावना**—नान्दी के पश्चात् प्रकृत नाटक की प्रस्तावना[1] के अन्तर्गत सूत्रधार और नटी का वार्तालाप है। इस प्रस्तावना में लेखक का नाम, उद्देश्य,

---

'the Moon Rise of true knowledge', and Dr. J. W. Boissevain as' Maansopgang der Ontwaking,

I prefer to translate it as 'the rise of the Moon of (Spiritual) awakening'—Dr. Sita Bhatt Thesis—Introduction.

१. (अ) **'रूपक और रूपक रहस्य', पृष्ठ १३८।**

(ब) **नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।**
सूत्रधारेण सहिता : संलापं, यत्र कुर्वते।
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु, विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा।

—साहित्य दर्पण, परिच्छेद ६, पृष्ठ १७६।

प्रेरणा तथा राज्याश्रय का परिचय दिया गया है।[1] प्रस्तावना के पांच प्रकारों[2] में यह प्रस्तावना कथोद्धात[3] नाम की है। 'सूत्रधार के समान घटना वाले वाक्य या वाक्यार्थ को लेकर तदनुकूल उक्ति का प्रयोग करते हुए, जब कोई नाटकीय पात्र मंच पर (प्रथम अंक में) प्रवेश करता है, तो उस प्रस्तावना को कथोद्धात कहते हैं। इस प्रस्तावना में सूत्रधार जैसे ही विवेक की विजय और प्रबोधोदय का संकेत करता है[4] वैसे, तुरन्त ही, उसके वाक्यार्थ को लेकर उसका विरोध 'काम' नामक पात्र नेपथ्य में से करता हुआ प्रवेश करता है।[5] जिस से सूत्रधार भयभीत होकर प्रस्थान कर जाता है। काम के रति के साथ रंगमंच पर, प्रवेश करने से कथा का क्रम प्रारम्भ हो जाता है। इस प्रकार सूत्रधार के वाक्य के वाक्यार्थ को लेकर काम नामक पात्र के विरोध से कथोद्धात नाम की प्रस्तावना है।

३०५. **वस्तुविभाग-दृश्य सूच्य**--प्रस्तावना के पश्चात् अब हम दृश्य और सूच्य नामक कथावस्तु के दो विभागों पर विचार करेंगे। दृश्य वस्तु के अन्तर्गत रंगमंच पर प्रत्यक्ष अभिनय के प्रसंग होते हैं। किन्तु रंगमंच की कुछ सीमायें भी होती हैं। जिनके कारण सभी प्रसंगों का अभिनय रंगमंच पर नहीं हो सकता है इसके लिए सूच्य विषयों का सहारा लेना पड़ता है। सामाजिकों को यह सूचना पांच प्रकार से दी जाती है–विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंक और अंकास्य। सूचना के पांच प्रकारों में विष्कम्भक का प्रयोग इस नाटक में है। इसका विष्कम्भक (मिश्र) संकीर्ण विष्कम्भक है।[6] इसमें मध्यम तथा अधम श्रेणी के पात्रों[7] के

१. प्रबोधचन्द्रोदय, प्रथम अंक, पृष्ठ ४–१४।

२. उद्घात्यकः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा।
प्रवृत्तकावलगिते पंचांगान्यामुखस्य तु॥३३॥
--ना० शा० विंशो अ०, पृष्ठ ९३।

३. सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमस्यवा।
भवेत्पात्र प्रवेशश्चेत्कथोद्धातः स उच्यते॥३॥
--साहित्य दर्पण, परिच्छेद ६, पृष्ठ १७६।

४. प्रबोधचन्द्रोदय, प्रथम अंक श्लोक ९, पृष्ठ १३।

५. वही, पृष्ठ १३।

६. वृतर्वातिष्यमाणानां कथांशानां निदेर्शकः।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्र प्रयोजितः॥५९॥
--दश रूपक, प्रथम प्रकाश

७. "संकीर्णा नीचमध्यकृतः'
--ना० शा० एकोनविंशोऽध्याय, श्लोक ११२, पृष्ठ ३५।

वार्तालाप द्वारा घटित घटनाओं या भविष्य की घटनाओं की सूचना मिलती है। इस नाटक के संकीर्ण विष्कम्भक में[1] काम तथा रति नामक शत्रु पक्ष के अधम श्रेणी के पात्रों का वार्तालाप है। यह वार्तालाप प्रबोधोदय की भावी घटना की सूचना देता है। प्रथम अंक के अतिरिक्त चतुर्थ अंक में शुद्ध विष्कम्भक[2] का प्रयोग है। क्योंकि इसमें श्रद्धा और मैत्री मध्यम श्रेणी के पात्र अतीत (श्रद्धा की दुर्दशा) और भविष्य (युद्ध की आज्ञा) की सूचना देते हैं।

३०६. सूच्य विषय के प्रवेशक का प्रयोग, प्रस्तुत नाटक में द्वितीय, पचंम तथा षष्ठ अंक में हुआ है। दो अंकों के मध्यभाग में स्थित, जिस दृश्य में अतीत या भविष्य की सूचना होती है उसे प्रवेशक[3] कहते हैं द्वितीय अंक[4] में दम्भ और अहंकार नामक शत्रुपक्ष के पात्रों का वार्तालाप है। जो महामोह के अद्भुत प्रभाव का वर्णन करते हैं। पंचमांक[5] के प्रवेशक में श्रद्धा और विष्णुभक्ति का वार्तालाप है। श्रद्धा ने विष्णुभक्ति को महामोह और विवेक के युद्ध का वृत्तान्त सुनाया है। तत्पश्चात् मन को शान्त करने की भविष्य की योजना बनाई है। षष्ठांक[6] के प्रवेशक में शान्ति और श्रद्धा का वार्तालाप है। जिसमें मन द्वितीय महामोह के प्रभाव से रक्षा किये जाने की अतीत की घटना का वर्णन तथा उपनिषद् और विवेक से सम्बन्धित भविष्य की सूचना है। विष्कम्भक और प्रवेशक के साथ ही इस नाटक में चूलिका का प्रयोग भी किया गया है। नेपथ्य से किसी अर्थ (कथावस्तु) की सूचना देना चूलिका कहलाता है[7]। यह चूलिका द्वितीय, चतुर्थ और छठे अंक में प्रयुक्त है। द्वितीय अंक

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय, प्रथम अंक, पृष्ठ १५-२९।

२. 'मध्यम पात्रैः शुद्धः'

—ना० शा० एकोनविंशोऽध्याय, श्लोक ११२, पृष्ठ ३५।

३. अंकान्तरानुसारी संक्षेपार्थमधिकृत्य बिन्दूनाम्।
प्रकरणनाटक विषये प्रवेशको नाम विज्ञेयः ॥११४॥

—ना० शा० एकोनविंशऽध्यायः।

४. प्रबोधचन्द्रोदय, द्वितीय अंक, पृष्ठ ४१–६१।

५. वही, पृष्ठ १६६–१७९।

६. वही, पृष्ठ २०२–२०९।

७. अन्तर्यवनिका संस्थैः सूतादिभिरनेकधा।
अर्थोपक्षेपणं यत्तु क्रियते सा हि चूलिका ॥११३॥

—ना० शा० एकोनविंशोऽध्यायः। पृष्ठ ६५।

में[1] नेपथ्य से महामोह के आगमन तथा स्वागत में सुसज्जित नगर का विवरण सुनाया गया है। चतुर्थ अंक में[2] नेपथ्य से सैनिकों को प्रस्थान की आज्ञा तथा विस्तृत सेना का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। षष्ठांक[3] में, रंगमंच पर बैठे हुए पुरुष के ध्यान में होते हुए प्रबोध के उदय का वर्णन नेपथ्य से किया गया है। इस वर्णन के पश्चात् प्रबोध नाम का पात्र रंगमंच पर प्रविष्ट होता है। सूच्य विषय के तीन प्रकारों विष्कम्भक, प्रवेशक और चूलिका के अतिरिक्त अंकास्य और अंकावतार का प्रयोग इस नाटक में नहीं है।

३०७. **वृत्तियाँ**––प्राचीन नियमों के अनुकूल नाटक में चार वृत्तियों–कैशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती का प्रयोग किया जाता है। प्रस्तुत कृति में इन चारों वृत्तियों का निवेश है।

३०८. **अभिनय संकेत और रंग संकेत**–– इस 'रूपक' नाटक में नाटकीयता लाने के हेतु अभिनय संकेत भी पर्याप्त मात्रा में दिये गये हैं। आंगिक, वाचिक, सात्विक तथा आहार्य आदि चारों प्रकारों के अभिनय संकेत यत्र-तत्र मिल ही जाते हैं। आंगिक अभिनय में पात्र शारीरिक अंगों से विशेष प्रकार की क्रिया सम्पादित करके अभिनय को पूर्ण बनाते हैं। उदाहरण के लिए:––

दम्भ––(हस्त संज्ञया समाश्वसयति)

दम्भ––(दन्तान् सम्पीड्य बटुं पश्यति)

भिक्षु––(कर्णौ पिधाय)

इस प्रकार हाथ से संकेत करना, दांत पीसना और कानों को दबा लेना आंगिक अभिनय के उदाहरण हैं। वाचिक अभिनय में वाणी के उतार-चढ़ाव का सहयोग लेकर अभिनय सम्पन्न करने की चेष्टा की जाती है। प्रस्तुत कृति में उदाहरण के हेतु दृष्टव्य है :––

'दम्भो हुंकारेण निवारयति'

'भिक्षुमालोक्योच्चैः शब्दः'

इस प्रकार हुंकार से निवारण करना तथा ऊँची आवाज में बोलना वाचिक अभिनय के उदाहरण हैं। आहार्य अभिनय के अन्तर्गत विशेष वेषभूषा और कृत्रिम सज्जा से अभिप्राय के स्पष्टीकरण के लिये अभिनय में सहयोग लिया जाता है। जैसे–प्रबोधचन्द्रोदय के भिक्षु का वर्णन––

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय, पृष्ठ ६०।

२. वही , पृष्ठ १५७।

३. प्रबोधचन्द्रोदय, पृष्ठ २३७।

"तरुणतालतरुप्रलम्बो लम्बमानकषायविशंगजीवरोमुण्डित सचूडमुण्डपिण्डइत एवागच्छति।"

इस प्रकार बौद्ध भिक्षु की विशेष वेष-भूषा के कारण, अभिनय को प्रभावशाली और सजीव बनाने में सहयोग मिला है। जैन और कापालिक साधुओं तथा काशी के ब्राह्मणों की वेषभूषा और सज्जा का वर्णन भी इसमें मिलता है। किन्तु भावतात्विक रूपक पात्रों की वेषभूषा का वर्णन नहीं किया गया है। अभिनय के अन्तिम अंग सात्विक अभियन ने नाटक के अभिनय को भावपूर्ण बनाने में सहयोग दिया है। पात्रों के भावपूर्ण होने के कारण सात्विक अभिनय के उदाहरण यत्र-तत्र मिल ही जाते हैं। जैसे—

प्रविशति बटु (ससंभ्रम्)
अहंकार—(सक्रोधम्)
महामोह—(सभयमात्मगत्म)
चार्वाक—(विहस्य)
राजा—(सलज्जमधोमुखस्तिष्ठति)

इस भांति व्याकुलता व्यक्त करने, क्रोधित होने, भयभीत होने तथा लज्जित होने आदि के कितने ही उदाहरण यत्र-तत्र नाटक में उपलब्ध होते हैं। जिससे ज्ञात होता है कि नाटककार के अभिनय संकेतों की योजना नाटक को अभिनेय बनाने में सहयोगी सिद्ध हुई है। अभिनय संकेतों को सप्राण बनाने के हेतु रंग संकेत अनिवार्य हैं। रंग-मंच की सजावट के विशेष संकेत इस नाटक में नहीं हैं। प्राचीन परम्परा में नाट्यशास्त्र के नियम रंगमंच के सम्बन्ध में इतने परिर्वातित थे कि नाटककार नाटक में उनके सम्बन्ध विशेष के विवरण नही दे सकते थे। किन्तु इसके कारण अभिनय में कठिनाई नहीं पड़ती थी। रंगमंच के शास्त्रीय नियमों के अनुकूल रंगमंच की व्यवस्था कर ली जाती थी। प्रस्तुत कृति में रंगमंच पर पर्दा उठने और गिरने की सुविधाजनक योजना है। पात्रों के प्रवेश और निष्क्रमण संयोजित हैं। नेपथ्य का प्रयोग भी स्वाभाविक है। इस कारण नाटक में रंगमंच की व्यवस्था उचित ही प्रतीत होती है। यह नाटक प्रधान रूप से मानसिक जगत का नाटक है। अतएव मानव नेत्र बंद करके भी अपने अन्तःजगत में ही इसके अभिनय को देखने के आनन्द का अनुभव कर सकता है। इसके लिए बाह्य रंगमंच की विशेष आवश्यकता नहीं है। मानस जगत में रंगमंच की इतनी ही योजना पर्याप्त है। मानव अन्तः मानस में इस नाटक का अभिनय नित्य प्रति किसी न किसी रूप से स्वभावतः हुआ ही करता है।

३०९. प्रशस्ति श्लोक—प्राचीन टेकनीक के अन्तर्गत अन्तिम रूप से,

अब हम नाटकान्त में प्रयुक्त होने वाली निर्वहण सन्धि के अन्तिम अंग प्रशस्ति[1] की योजना पर विचार करेंगे। 'शुभ की आकांक्षा प्रशस्ति कहलाती है।' इस प्रशस्ति को 'भरत वाक्य' भी कहते हैं।[2] क्योंकि नाट्यशास्त्र का यह प्राचीन विधान रहा है कि नायकादि के वर प्राप्ति के पश्चात् ग्रन्थ की समाप्ति होनी चाहिए।[3] इस हेतु शान्ति तथा शुभ कल्याणमयी भावनाओं की अभिव्यक्ति के साथ ग्रन्थ का अन्त करने का प्राचीन नियम रहा है। इसी के अनुसार कृष्णमिश्र ने भी विष्णुभक्ति के द्वारा फल प्राप्ति से सम्पन्न पात्र के लिए शुभ कल्याणमयी कामना के आशीर्वाद की योजना की है। इस मंगल में तत्कालीन मंगल कामना के साथ ही उदार और व्यापक भावी शुभाकांक्षा भी निहित है। वह प्रशस्ति वाक्य है कि पृथ्वी पर गम्भीर मेघमालाएं शीतल जल की पर्याप्त वर्षा करें। पृथ्वी अपेक्षित जल से शीतल हो जाय। अति-वृष्टि और अनावृष्टि दूर हों। भूपाल शत्रु के विरोधों, अपने देश या राज्य के अन्य उपद्रवों से निवृत्त होकर शान्तिपूर्वक, पृथ्वी का पालन और राज्यशासन करें। इस प्रशस्ति श्लोक की प्रारम्भिक दो पंक्तियों में लौकिक अभ्युदय की कामना के अनन्तर पारलौकिक निःश्रेयस की कामना भी है। वह यह है कि विष्णुभक्ति की कृपा से सत् आत्मायें सर्वज्ञान के विकास से सम्पूर्ण ही अज्ञान को नष्ट करके ज्ञानवान और महान् बनें तथा स्रक् चन्दन वनितादि विषयों से (ममता मोह के पंक से) पूर्ण भवसागर को पार करने की सामर्थ्य प्राप्त करें। इस भांति प्रस्तुत पूर्ण लौकिक और पारलौकिक कल्याण कामना से समन्वित विशाल और व्यापक है। अन्त में हम कह सकते हैं कि प्रस्तुत कृति में प्राचीन टेकनीक की योजना नियमानुकूल होते हुए भी साहित्यिक एवं कलात्मक कही जा सकती है। इसमें नान्दी, प्रस्तावना, विष्कम्भक और प्रवेशक आदि सभी क्रमिक रूप से यथास्थान सुसंयोजित हैं।

---

१. (क) प्रशस्तिः शुभशंसनम्।

—द० रू०, प्र० प्र०, श्लोक ५४, पृष्ठ ६३।

(ख) नृपदेशप्रशान्तिश्च प्रशस्तिरभिधीयते।

ना० शा० एकविंशोऽध्यायः, श्लोक १०४, पृ० ६१

(ग) साहित्यदर्पण में श्लोक ११४, परिच्छेद में नाट्यशास्त्र के अनुकूल ही परिभाषा है।

२. दशरूपक, प्रथम प्रकाश, पृष्ठ ६३।

३. वरप्रदानसंप्राप्तिः काव्यसंहार इष्यते।

—ना० शा० एकोनविंशोऽध्याय, पृष्ठ ६०।

८. प्रबोधचन्द्रोदय की आध्यात्मिक भावसम्पत्ति

३१०. पिछले पृष्ठों में की गई 'प्रबोधचन्द्रोदय' की शास्त्रीय समीक्षा से यद्यपि हम इसकी साहित्यिक एवं मनोवैज्ञानिक विशेषताओं से विशेष परिचय प्राप्त कर चुके हैं, तथापि इसकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता आध्यात्मिकता भावसम्पत्ति है जिसका कि हमें अभी अध्ययन करना है। प्रस्तुत नाटक के मतमतान्तरों एवं धर्म-दर्शनों के प्रतिपादन की समीक्षा की गई है। नाटककार के पूर्व के सभी धार्मिक सम्प्रदायों एवं मतों की स्वसमसामयिक स्थिति का यथातथ्य चित्रण तथा अपने अभीष्ट मत का प्रतिपादन इस नाटक में बड़ी ही स्पष्ट रीति से हुआ है। फलस्वरूप नास्तिक —लौकायत, बौद्ध और जैन —तथा आस्तिक—यज्ञविद्या, मीमांसा और तर्कविद्या—दर्शनों एवं उनके उपजीव्य उपनिषद् के सारभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन अतीव सफलता के साथ इसमें हो सका है। नाटककार ने शैवदर्शन के एक अंग 'कापालिक' को भी अपना आलोच्य विषय बनाया है। साथ ही विष्णु-भक्ति–पात्र के माध्यम से नाटककार ने वैष्णवदर्शन के स्वामिगत सिद्धान्त को भी इसमें व्यक्त करने का सफल प्रयास किया है। इसलिये, इसके पूर्व कि हम 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक में चित्रित धर्म और दर्शन का अध्ययन करें, हमें प्रस्तुत कृति की पृष्ठभूमि के रूप में उन सभी उपरोक्त दार्शनिक एवं धार्मिक सम्प्रदायों के सिद्धान्तों का सामान्य परिचय प्राप्त कर लेना चाहिये जिनका कि विवरण एवं संकेत आलोच्य ग्रन्थ में उपलब्ध होता है, जिससे उनके प्रकाश में 'प्रबोधचन्द्रोदय' के धर्म और दर्शन का अध्ययन किया जा सके।

३११. **प्रबोधचन्द्रोदय के धर्मदर्शन की पूर्व परम्परा**—उपनिषद्, यज्ञविद्या, मीमांसा और तर्कविद्या आदि का मूलाधार 'वेद' ही है। इसलिये इनके वास्तविक स्रोत का परिचय प्राप्त करने के लिये 'वेद' और उसमें प्रतिपादित सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवरण सर्वप्रथम दे देना आवश्यक प्रतीत होता है।

३१२. **वेद**—भारतीय धर्म और तत्वज्ञान के प्राचीनतम स्वरूप को समझने के लिये हमारे पास एक ही महान् साधन है और वह है विश्वसाहित्य के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ 'वेद'। ज्ञानार्थक 'विद्' धातु से निष्पन्न 'वेद' शब्द 'ज्ञान' का वाचक है। यह ज्ञान लौकिक एवं अलौकिक दोनों प्रकार का हो सकता है। वस्तुतः 'वेद' इन लौकिक और अलौकिक उभयविध ज्ञानों, विद्याओं का एक अपूर्व भाण्डागार है। विभिन्न देवताओं की स्तुतियों के रूप में अनेक महर्षियों के द्वारा रचित ऋचाओं के संकलन के रूप में प्रारम्भ में केवल एक ही 'वेद' था जिसे हम 'ऋग्वेद के रूप में जानते हैं। परन्तु कालान्तर में पुरोहित वर्ग में यज्ञों की महत्ता के अत्यधिक बढ़ जाने के कारण उसके द्वारा यज्ञीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर 'वेद' को

चार भागों में विभाजित कर दिया गया। ये चारों ही भाग 'वेद' नाम से अभिहित किये गये। इन वेदों की संहिताओं—मंत्र समूहों—के नाम हैं:—ऋग्वेद संहिता यजुर्वेद संहिता, सामवेद संहिता और अथर्ववेद संहिता है।

३१३. **प्रतिपाद्य विषय**—वेद भारतीय वाङमय के अति प्राचीन रूप को उपस्थित करते हैं, इसलिए यह भी अनिवार्य सा है कि उनके द्वारा भारत के प्राचीनतम रीति-रिवाज तथा धर्म और दर्शन के सम्बन्ध में भारतीयों के अभिमत का पता चले। जहां तक ऋग्वेद का सम्बन्ध है, वह भारतीयों के प्राचीनतम आचार-व्यवहार का भव्य रूप उपस्थित करता हुआ उनके अंधविश्वासों की ओर भी हमारे ध्यान को आकृष्ट करता है। वह हमें बताता है किस प्रकार आर्यों ने प्राकृतिक पदार्थों में देवता तत्व का आरोप कर उन्हें इन्द्र-वरुण-विष्णु और सविता आदि के रूप में प्रतिष्ठित किया है। ऋग्वेद के दशम मण्डल के 'नासदीयसूक्त' जैसे कुछ उच्च विचारपरक सूक्तों के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि सम्भवतः उस समय के आर्य सामान्य देवताओं से आगे बढ़कर उस एक शक्ति की खोज की ओर प्रवृत्त हो चुके थे—जो इस विश्व को उत्पन्न और नष्ट करने वाली मानी जाती थी तथा समस्त देवताओं को जिसका अंग माना जाता था। आगे चलकर, इसी सूत्र को उपनिषदों ने पकड़ा और उस मूलतत्व का नाम 'ब्रह्म' रखा।

३१४. अथर्ववेद को छोड़कर शेष दो वेदों में हमें यज्ञीय विद्या का विभ्राट् रूप देखने को मिलता है-इसके अतिरिक्त इनमें और कोई विशेषता नहीं। अथर्ववेद विशेष रूप से उस समय के नीचे धरातल में विद्यमान साधारण जनता के रीति-रिवाजों का वर्णन प्रस्तुत करता है। इसके अतिरिक्त हमें इसमें ऋग्वैदिक देवतातत्व का कुछ विकसित रूप भी मिलता है जिसका संकेत इसके कुछ दार्शनिक सूक्तों में उपलब्ध होता है।

३१५. जैसा कि आगे हम देखेंगे वेदों में सूत्र रूप में आए हुए—कर्मकाण्ड और दार्शनिक तत्वों को ही आधार बना कर परवर्तीकाल के—ब्राह्मण, उपनिषद् और उनके उपजीव्य मीमांसा और वेदान्त शास्त्रों ने अपनी प्राणप्रतिष्ठा की।

३१६. **ब्राह्मण और आरण्यक**—आगे चलकर जब वैदिक मंत्रों की रचना समाप्त हो गई तो पुरोहित-वर्ग की दृष्टि एकमात्र यज्ञीय क्रिया-कलाप पर पड़ी और उसका इतना अधिक विकास या कहिये आडम्बर हुआ कि उसके लिए विधि-विधानों के ग्रन्थों की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। कर्मकाण्ड को दृष्टि में रख कर लिखे गये इन ग्रन्थों को 'ब्राह्मण' कहते हैं। 'ब्राह्मण शब्द का अर्थ है—यज्ञ का प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ। अनन्तर इनको भी 'वेद' सिद्ध करने का प्रयास किया गया और वेदों की शाखाओं से इनका सम्बन्ध जोड़ा गया। इस

प्रकार 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद नामधेयम्' के अनुसार मन्त्र के समान ये भी 'वेद' के अन्तर्भूत माने जाने लगे। जैसा कि बताया गया है, वेदों की अनेक शाखाओं से सम्बद्ध होने के कारण प्राचीन काल में इनकी संख्या बहुत थी, परन्तु आजकल बहुत थोड़ी संख्या में ये उपलब्ध हैं। इनमें से 'शतपथ' सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

३१७. वैसे तो इनमें अपने प्रतिपाद्य विषय यज्ञगत कार्यकलाप का ही प्रबल और आडम्बरपूर्ण रूप से प्रतिपादन किया गया है किन्तु तत्कालीन समाज के वैचारिक मानदण्डों, उसके आचार-व्यवहारों तथा रीति-रिवाजों का भी सामान्य परिचय हमें यहाँ उपलब्ध हो जाता है। भारत के प्राचीन आर्यजनों के धार्मिक इतिहास की जानकारी के लिए इस विषय के जिज्ञासु व्यक्तियों के लिए इन ब्राह्मणों का अनल्प महत्त्व है।

३१८. ब्राह्मणों के ही अन्तर्गत आरण्यक भी आते हैं। इनमें यज्ञ के कर्मकाण्ड सम्बन्धी रहस्यों की व्याख्या की गई है। इन विषयों का विवेचन प्रायः अरण्यो में हुआ करता था, इसलिए यज्ञ-रहस्य का प्रतिपादन करनेवाले इन ग्रन्थों को 'आरण्यक' कहा जाने लगा। इनका भी प्रतिपाद्य विषय—जैसा कि स्पष्ट है—ब्राह्मणों जैसा ही है। यज्ञ के विधि-विधानों के अलावा इनमें समाज के अन्य विषयों की जानकारी बहुत ही कम मिलती है। वैसे इनका भी ब्राह्मणों के तुल्य धार्मिक महत्त्व तो है ही।

३१९. **उपनिषद्**—आगे चलकर हमें 'उपनिषदों' के रूप में वेद का चरम विकास उपलब्ध होता है। इनमें साक्षात्कृत धर्मा महर्षियों ने ब्रह्म, जीव और जगत की गूढ़ पहेलियों को सुलझाने का सफल प्रयास किया है। वस्तुतः अध्यात्म-ज्ञान के विश्व कोष-भूत इन उपनिषदों के कारण ही आज विश्व में वैदिक एवं संस्कृत साहित्य की महत्ता है।

३२०. 'उपनिषद्' शब्द की निष्पत्ति उप और नि उपसर्ग पूर्वक 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय लगा कर की गई है। 'सद्' धातु के तीन अर्थ होते हैं - १. विशरण अर्थात् नाश होना, २. गति अर्थात् प्राप्ति होना और ३. अवसादन अर्थात् शिथिल करना। वस्तुतः 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ 'सद्' धातु के इन तीनों ही अर्थों के अनुकूल है। क्योंकि यह संसार की बीजभूत अविद्या को नष्ट करती है, ब्रह्म की प्राप्ति कराती है, और गर्भवासादि अन्य क्लेशों को सदा के लिये शिथिल कर देती है। ज्ञान के प्रतिपादक होने के कारण इनका भी सम्बन्ध वेदों से जोड़ा गया था, सम्बन्ध ही नहीं जोड़ा गया अपितु इनकी ज्ञानगरिमा के कारण इन्हें वेद का अन्त अर्थात् पराकाष्ठा भी कहा जाने लगा। पश्चवर्ती काल में उद्भूत वेदान्त शास्त्र के मूल ग्रन्थ और प्रस्थानत्रयी में अन्यतम 'ब्रह्म-

सूत्रों' के उपजीव्य ये उपनिषद् ही हैं। वासुदेव कृष्ण द्वारा गीत 'श्रीमद्भगवद्गीता' का भी आधार ग्रन्थ होने का सौभाग्य इन्हीं उपनिषदों को ही प्राप्त है। इस प्रकार आध्यात्मिक साहित्य के क्षेत्र में 'उपनिषद्' विश्व-साहित्य की परम्परा में अद्वितीय स्थान के अधिकारी हैं।

३२१. यद्यपि आधुनिक अनुसन्धानों से २०० के लगभग 'उपनिषद्' ग्रन्थों की उपलब्धि हो चुकी है परन्तु प्रामाणिकता की दृष्टि से केवल १० उपनिषद् ही मान्य हैं:–ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्ड, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, एतरेय, छान्दोग्य और वृहदारण्यक—जैसा कि निम्नलिखित श्लोक से स्पष्ट है:—

ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमाडूक्यतित्तिरिः।
ऐतरेयंचछान्दोग्यं बृहदारण्यकं दश॥

३२२. **प्रतिपाद्य विषय**—जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो चुका है, इन उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय मुख्यतया ब्रह्मजीव और जगत् से सम्बन्ध रखता है। यहाँ इन तीनों के सम्बन्ध में उपनिषद् की धारणाओं और मान्यता से परिचय प्राप्त कर लेना कदाचित् अनावश्यक न होगा।

३२३. **ब्रह्म**—उपनिषदों में ब्रह्म के दो रूपों का विवेचन किया गया है—सगुण और निर्गुण का। उनके अनुसार ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों हैं। सगुण ब्रह्म को सविशेष और निर्गुण ब्रह्म को निर्विशेष कहा गया है। ब्रह्म का यह सगुणत्व और निर्गुणत्व या निर्विशेषत्व और सविशेषत्व गुणों और विशेषों को अंगीकार करने और न करने पर निर्भर करता है। ब्रह्म के इन दोनों रूपों का वर्णन करने के हेतु उपनिषदों ने दो विशेष लिंगों का प्रयोग किया है—सगुण के लिए पुंल्लिग और निर्गुण के लिये नपुंसक लिंग का।[1] ब्रह्म के इन दोनों ही रूपों को उपनिषदों ने एक माना है। यह ब्रह्म जगत् का उपादान और निमित्त दोनों कारण है।

३२४. जीव अथवा आत्मा—उपनिषदों में आत्मतत्व का विवेचन सूक्ष्म और गम्भीर है। कठोपनिषद् में आत्मा की श्रेष्ठता का प्रतिपादन सुन्दर रूपक के माध्यम से किया गया है। आत्मा के नित्यत्व के सम्बन्ध में यमराज ने नचिकेता को बताया है कि आत्मा नित्य, अजर, अमर तथा अविकृत है। माण्डूक्य में शुद्ध आत्मा को तुरीय कहा गया है। उपनिषदों की दृष्टि में ब्रह्म और आत्मा में एकत्व

---

१. (क) निर्गुण—यत् तद् अदेश्यमग्राह्मम्—मण्डूक उपनिषद् १।१।६
(ख) सगण—नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम्—वही १।१।६

माना गया है। वस्तुतः मायोपहित ब्रह्म ही जीवात्मा के रूप में जगत् में अवतीर्ण होकर कर्म के बन्धनों को स्वीकार करता है और कर्म के बन्धनों के क्षीण हो जाने तथा विवेक के द्वारा माया की निवृत्ति हो जाने पर, वह पुनः 'ब्रह्म' हो जाता है।[1]

३२५. **जगत्**--उपनिषदों में जगत् की सृष्टि के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है। उनकी दृष्टि में सृष्टि के आदि में कुछ भी नहीं था। केवल मृत्यु थी। बाद में मन, जल, तेजस्, पृथ्वी और अन्त में प्रजापति की सृष्टि हुई। इसके पश्चात् सुर और असुरों की उत्पत्ति हुई। पुरुष और स्त्री के संयोग से इस सृष्टि का क्रम चला--इसका भी उल्लेख उपनिषदों में है। वास्तव में इस जगत् की उत्पत्ति ब्रह्म से ही होती है और अन्त में जाकर यह उसी में लीन भी हो जाता है।[2] इस प्रकार ब्रह्म जगत् का उपादान और निमित्त दोनों ही कारण हैं। ब्रह्म का उपदेश देने वाली यही 'उपनिषद्' 'प्रबोधचन्द्रोदय' की उपनिषद् है।

दर्शन

३२६. मनुष्य एक बुद्धि-सम्पन्न प्राणी है। अतएव वह अपने समस्त कार्यों को बुद्धि की सहायता से सम्पन्न करता है। वह अपना तथा संसार का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर उसके अनुसार जीवन यापन करता है। मानव से पशु के भिन्न होने का कारण उसमें बुद्धि का न होना ही है। वस्तुतः बुद्धि मानव की एक व्यक्तिगत विशेषता है। बुद्धि की सहायता से ही वह युक्तिपूर्वक ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इसी युक्तिपूर्वक तत्वज्ञान प्राप्त करने के प्रयत्न को 'दर्शन' कहते हैं।[3] इस 'दर्शन' का उपयोग प्रत्येक मानव करता है। वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक 'दर्शन' होता है। क्योंकि वैचिभ्र्य और वैविध्य से परिपूर्ण इस संसार के किसी भी मानव की योग्यता, विचार और बुद्धि में समता नहीं होती। एक ही गन्तव्य स्थान पर जाने के हेतु प्रयत्नशील अनेक मानवों में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। युग और परिस्थिति की भिन्नता का तो कहना ही क्या ? ऐसी दशा में अतीन्द्रिय अंगों पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म ब्रह्म जैसे पदार्थ के अन्वेषण के सम्बन्ध में विचारकों के विचारों में विभेद का पाया जाना स्वाभाविक है। भारतवर्ष में 'दर्शनों' के अनेक भेद होने का मुख्य कारण यही है।

---

१. स्वयं निर्माय--बृहदारण्यक ४-३-९।

२. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिविशन्ति। --तैत्तरीय उपनिषद् ३-१।

३. भारतीय दर्शन (हिन्दी अनुवाद)--दत्ता एण्ड चटर्जी, पृष्ठ १।

३२७. माधवाचार्य ने अपने 'सर्वदर्शन संग्रह' में श्रुति पर आस्था और अनास्था के आधार पर (भारतीय) दर्शनों को आस्तिक और नास्तिक—इन दो वर्गों में विभाजित किया है, अर्थात् उनके अनुसार वेद को प्रामाणिक मानने वाले दर्शन आस्तिक और उसके प्रामाण को न स्वीकार करने वाले दर्शनों को नास्तिक कहते हैं। 'नास्तिकों वेदनिन्दकः'। इस मत के अनुसार हम निम्नलिखित रूप से आस्तिक और नास्तिक दर्शनों का विभाजन कर सकते हैं:—
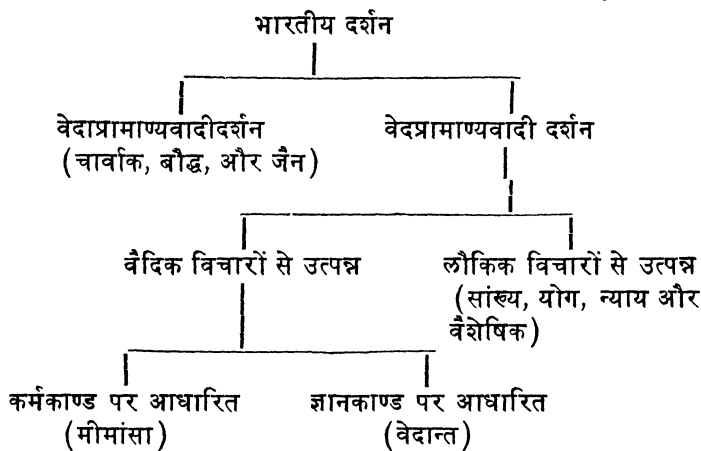
उपर्युक्त विभाजन से यह स्पष्ट है कि नास्तिक दर्शनों में चार्वाक, बौद्ध और जैन दर्शन तथा आस्तिक दर्शनों में सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त दर्शनों का परिगणन होता है। अब हम इसी क्रम से इन दर्शनों के मान्य सिद्धान्तों का सामान्य परिचय प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

नास्तिक दर्शन

३२८. **चार्वाक दर्शन**—श्रुतियों को अप्रामाणिक मानने वाले नास्तिक दर्शनों में चार्वाक दर्शन अपने असाधारण सिद्धान्तों और कट्टरता के लिए प्रख्यात है। इस मत का संकेत पुराणों और दार्शनिक ग्रन्थों में मिलता है। 'चार्वाक' शब्द की निष्पत्ति के विषय में विद्वानों में मतभेद दिखाई पड़ता है। कुछ लोग चार्वाक नामक किसी ऋषि के द्वारा चलाये जाने के कारण इसे 'चार्वाक' मत कहते हैं और कुछ का कहना है कि 'चार्वाक' शब्द भक्षणार्थक 'चर्व' धातु से निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है भोजन करने वाला—आध्यात्मिकता का एकान्त परिहार कर भौतिक सुखों को उपभोग करनेवाला। कतिपय विद्वान्

इसकी व्युत्पत्ति मधुर वाणी में आकर्षक उपदेश देने के कारण चारु+वाक् शब्द से मानते हैं। इसकी व्युत्पत्ति चाहे जो हो, परन्तु इसका एक दूसरा नाम 'लोकायत' दार्शनिक ग्रन्थों में प्रायः देखा जाता है। इस मत के प्रचारक या संस्थापक के रूप में किन्हीं आचार्य वृहस्पति का उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों में पाया जाता है।[1] नीचे हम इस मत के सिद्धान्तों को संक्षेप में दे रहे हैं।

३२९. प्रमाण--चार्वाकों के मत में प्रत्यक्ष ही एकमात्र प्रमाण है। जो दृश्य है, गोचर है, उपलब्ध है--उसी को चार्वाक माननीय, विचारणीय तथा एकमात्र सत्य मानते हैं। अनुमान को सन्देह और अनिश्चयात्मकता के कारण चार्वाक महत्व नहीं देते हैं। वेद और आप्त वचनों में भी उनका विश्वास नहीं। उनके विचार से प्रत्यक्ष को प्रमाण की क्या आवश्यकता है? इसलिए 'प्रत्यक्षमात्रं चार्वाकाः' कहा जाता है।

३३०. तत्व विचार--इस मत के अनुसार जड़ एक मात्र तत्व है। सूक्ष्म, अदृश्य, और अगोचर की सत्ता नहीं है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार ही महाभूत हैं, जिनसे इस संसार की उत्पत्ति होती है। आकाश को महाभूतों के अन्तर्गत नहीं माना जाता। न केवल जड़ प्रकृति को अपितु चेतन जगत् का भी निर्माण उपरोक्त चारों भूतों के ही द्वारा हुआ, ऐसी भी इनकी मान्यता है[2]।

३३१. आत्मा का अभाव--चार्वाक शरीर के अतिरिक्त किसी चेतन द्रव्य को 'आत्मा' नहीं मानते। उनके मतानुसार--शरीर के एक विशेष गुण 'चेतना' को ही आत्मा कहते हैं, जिसका अनुभव शरीर के साथ किया जा सकता है। वही चेतना शरीर के जन्म लेने पर उत्पन्न होती है और उसके नष्ट होने पर नाश को प्राप्त हो जाती है। यह चेतना कोई अतिरिक्त द्रव्य नहीं अपितु पान, कत्था और चूना आदि के संयोग से उत्पन्न होने वाली रक्तिमा की भांति चार तत्वों का एक सांयोगिक स्फुरण मात्र है।[3]

३३२. ईश्वर का अनस्तित्व--इस मत में ईश्वर की सत्ता स्वीकार नहीं की

---

१. अग्निहोत्रं त्रयोवेदाः त्रिदण्डं भस्मलुण्ठनम्।
प्रज्ञा पौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः।
--प्र० च०, अंक २, श्लोक २६।

२. भारतीय दर्शन (हिन्दी अनुवाद) दत्ता और चटर्जी, पृष्ठ ४०।

३. जड़भूत विकारेषु चैतन्यं यत्तु दृश्यते।
ताम्बूल पूगचर्णानां योगात् राग इवोच्चितम्।।
--स० सि० सं० २।७

गई है। जड़भूतों का बना यह संसार स्वयं ही संचालित, निर्मित और नष्ट होता रहता है। इसके लिए किसी सर्वशक्तिमान ईश्वर की कल्पना करना व्यर्थ है। इस प्रकार चार्वाकों के मत में सृष्टि किसी प्रयोजन के साधन के लिये नहीं है अपितु जड़भूतों का संयोग मात्र है।

३३३. मोक्ष—इस मत के अनुसार मरण ही अपवर्ग है—मरणमेवापवर्गः। जीवन में अन्य किसी साधन से दुःख की निवृत्ति नहीं होती—परन्तु मृत्यु के द्वारा सम्पूर्ण दुःखों से मानव को मुक्ति मिल जाती है, इसलिए मरण ही मोक्ष है।

३३४. निष्कर्ष—यद्यपि यह सत्य है कि वैदिक कर्मकाण्डों के अन्धविश्वासों और कुरीतियों तथा अप्रत्यक्ष की साधना में प्रत्यक्ष की अवलेहना आदि को चार्वाकों के भौतिक जीवन को सुखी बनाने के इस सिद्धान्त ने जर्जरित कर दिया। परन्तु सत्य, सदाचार और त्याग के अभाव में चार्वाकों का भी मत भारतीय जनता के लिये, ग्राह्य नहीं हो सका। अतएव उसका प्रसार नहीं हो सका।

३३५. बौद्ध दर्शन—बौद्ध दर्शन की भी गणना नास्तिक दर्शनों में ही की जाती है। इसके प्रस्तावक थे महात्मा गौतम बुद्ध, जो कपिलवस्तु के महाराज शुद्धोदन के पुत्र थे। मानव को जरा और मरण से रहित करने की इच्छा से जिसने वैराग्य धारण कर लिया था।

३३६. महात्मा गौतम के उपदेश थे तो मौखिक ही, परन्तु कालान्तर में उनके शिष्यों के द्वारा निबद्ध किये जाने पर उन्हें ग्रन्थ का रूप मिला। वे ग्रन्थ जिनमें गौतम के उपदेशों को संकलित किया गया, 'त्रिपिटक' के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें तीन ग्रन्थ हैं—१. विनयपिटक—इसमें नियमों का संग्रह है, २. सुत्तपिटक—इसमें उनके उपदेश और बातचीत का संग्रह है, और ३. अभिधम्भपिटक—इसमें उनके दार्शनिक विचारों का संकलन है। परवर्तीकाल में अनन्त विस्तार प्राप्त बौद्ध दर्शन के आधार ये ही त्रिपिटक या बुद्ध वचन रहे हैं। नीचे हम उपर्युक्त ग्रन्थों के आधार पर बुद्ध के उपदेशों और दार्शनिक सिद्धान्तों का सार-संग्रह प्रस्तुत कर रहे हैं :—

(१) **विवादपराङ्मुखता**—बुद्ध के विचार में मानव को तर्क-जाल में फँसना ठीक नहीं है, क्योंकि इससे वह अपना कल्याण नहीं कर सकता। उसे अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये, दुःख निरोध का सतत प्रयत्न करना चाहिये।

(२) **चार आर्यसत्य**—चार आर्यसत्यों के नाम से महात्मा बुद्ध की शिक्षायें संकलित हैं। ये चारों आर्यसत्य हैं—

(क) दुःख (संसार में दुःख की सत्ता है)

(ख) दुःख समुदाय (दुःखों का कारण है)

(ग) दुःखनिरोध (दुःखों का अन्त सम्भव है)

(घ) दुःख निरोध मार्ग (दुःखों को दूर करने का उपाय भी है)

(क) प्रथम आर्यसत्य-दुःख—रोग, जरा, मरण, शोक और क्लेश आदि सांसारिक दुःखों की सत्ता है। ये क्षणिक विषयों के कारण उत्पन्न होते हैं और जीव को पुनर्जन्म और बन्धन में बांध देते हैं।

(ख)- द्वितीय आर्यसत्य—दुःख समुदाय—उपरोक्त दुःखों का कारण प्रधानतया वासना, तृष्णा, संस्कार और अविद्या आदि हैं।

(ग) तृतीय आर्यसत्य—दुःख निरोध—दुःख का अन्त निर्वाण द्वारा ही सम्भव है। यह निर्वाण लौकिक जीवन में भी संभव हो सकता है। निर्वाण का अर्थ निष्कर्मण्यता नहीं है, जैसा कि लोग बहुधा समझा करते हैं— अपितु स्थायी प्रज्ञा की उपलब्धि के अनन्तर बोधि (पूर्ण ज्ञान) सत्व होकर संसार के कल्याण में निरत होना है। निर्वाण प्राप्ति हो जाने के पश्चात् पुनर्जन्म और दुःखों का अन्त हो जाता है। जीवनकाल में ही निर्वाण प्राप्त को सच्ची शान्ति का अनुभव हो जाता है।

(ध) चतुर्थ आर्यसत्य—दुःख निरोध मार्ग—बौद्ध धर्म में दुःख से मुक्ति प्राप्त करने के आठ साधन या मार्ग बताए गए हैं:—

(१) सम्यग् दृष्टि—अविद्या के कारण दृष्टि के मिथ्या हो जाने के कारण सांसारिक बन्धन जीव को पीड़ित करते रहते हैं। अतः वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप पर सतत ध्यान, विचार और मनन करना चाहिये। इसी को सम्यग्, दृष्टि कहते हैं। इससे अनात्मवस्तु की असत्यता और आत्मवस्तु की कल्याण करने की क्षमता सिद्ध होती है।

(२) सम्यग् संकल्प—उपदेशों के पालन करने के निमित्त विद्वेष और हिंसा त्याग पूर्वक दृढ़ संकल्प का होना नितरां आवश्यक है।

(३) सम्यग् वाक्—मिथ्यावादिता और निन्दा आदि का परित्याग और वाणी का संयत होना—'सम्यग्वाक्' कहलाता है।

(४) सम्यग् कर्मान्त—सम्यग् संकल्प को कार्य रूप में परिणत करने के लिए की गयी अहिंसा, अस्तेय और इन्द्रिय संयम को 'सम्यग् कर्मान्त' कहते हैं।

(५) सम्यगाजीव—मनुष्य को बुरे वचन और बुरे कर्मों का परित्याग कर शुद्ध उपाय से अपनी जीविका का उपार्जन करना चाहिये। इसी को सम्यगाजीव कहते हैं।

(६) सम्यग् व्यायाम—पुराने बुरे भावों को नष्ट करने, नये बुरे भावों को मन में न आने देने, मन को बराबर अच्छे-अच्छे विचारों से पूर्ण रखने और

शुभ विचारों को मन में सदैव धारण करने की चेष्टा करना सम्यग् व्यायाम कहलाता है।

(७) सम्यग् स्मृति—जिन विषयों का ज्ञान जीव को हो गया हो, उसका सदैव स्मरण करते रहना–सम्यग् स्मृति कहलाती है। अर्थात् शरीर को शरीर, वेदना को वेदना तथा चित्त को चित्त ही समझना चाहिये। इनमें से किसी के लिए भी 'मम' और 'अहं' का व्यवहार नहीं करना चाहिये।

(८) सम्यग् समाधि—उपर्युक्त सातों नियमों के द्वारा मनुष्य को अपनी बुरी चित्त वृत्तियों को दूर कर ध्यान में एकाग्र होने की सतत चेष्टा करनी चाहिये। इसे ही सम्यग् समाधि कहते हैं।

३३७. इस प्रकार अष्टांगिक मार्ग के मुख्य अंग—शील, समाधि और प्रज्ञा ये तीन हैं।

दार्शनिक विचार

३३८. **क्षणिकवाद**—बुद्ध के वचनों का सूक्ष्म अध्ययन करने पर पता चलता है कि वे संसार को क्षणिक या विनाश शील मानते हैं। उनके मतानुसार संसार की प्रत्येक वस्तु प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती है और केवल क्षणमात्र के लिये स्थायी होती है। इस क्षणिकवाद के समर्थन में बीज और पौधे का दृष्टान्त दिया जाता है। जो कि संसार की प्रत्येक वस्तु के सम्बन्ध में धटित होता है।

३३९. **अनात्मवाद**—आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार न करना ही अनात्मवाद है। बौद्ध मत में आत्मा की सत्ता स्वीकार नहीं की गई है। इस क्षणिक और परिवर्तनशील विश्व में मानव का जीवन भी क्षणिक और परिवर्तनशील है। बचपन, जवानी और बुढ़ापे की अवस्थाओं में उसका परिवर्तन होता रहता है। विभिन्न रूपान्तरित अवस्थाओं के क्रम को ही इस मत में जीवन माना गया है। रात भर जलते रहने वाले दीपक के समान, जीवन की एक सूत्रता को 'आत्मा' कहा गया है।

३४०. उपरोक्त दार्शनिक विचार मूलवद्ध वचन से प्रतिभासित होते हैं। आगे चलकर बौद्ध दर्शनिकों के चारवर्ग हो गये–१. योगाचार, २. माध्यमिक, ३. वैभाषिक, और ४. सौत्रान्तिक। हमारे आलौच्य ग्रन्थ 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक में केवल योगाचार सम्प्रदाय के सम्बन्ध मेंही संकेत हैं क्योंकि क्षपणक के द्वारा योगाचार के विज्ञानवाद और क्षणिकत्व की ही आलोचना की गई है। अब हम यहां केवल योगाचार के 'विज्ञानवाद' के विषय में कुछ परिचय प्राप्त कर लेना चाहते हैं।

३४१. विज्ञानवाद—बाह्य वस्तुओं में ज्ञानको 'विज्ञान' कहते हैं। विज्ञान वादी दार्शनिक मन को आलयविज्ञान कहते हैं। आलय का अर्थ है भण्डार। मन में सभी ज्ञान बीजरूप से निहित हैं। आलयविज्ञान या मन, परिवर्तनशील चित्त-वृत्तियों का एक प्रवाह है। अभ्यास और आत्मसंयम से आलयविज्ञान के वश में आने के पश्चात् विषय ज्ञान और वासना की उत्पत्ति रोकी जा सकती है। फलस्वरूप काल्पनिक वाह्य जगत का बन्धन छूट सकता है। यही विज्ञानवाद का सार-संक्षेप है।'

३४२. **जैन दर्शन**—जैन मत के प्रवर्तकों में चौबीस तीर्थंकरों की गणना की जाती है। ऋषभदेव इस परम्परा के प्रथम तीर्थंकर हैं। जैन दार्शनिकों के विचार से जीवात्मा का कल्याण सिद्ध और सर्वज्ञ इन तीर्थंकरों का अनुगमन करने से ही हो सकता है।

३४३. जैन दर्शन का साहित्य वैसे बहुत ही विशाल है, परन्तु मूल आगम—जिनकी संख्या ४५ के लगभग मानी जाती है—वही इस दर्शन के उपजीव्य ग्रंथ हैं।

३४४. प्रमाण—जैन दर्शन में प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द ये तीन ही प्रमाण माने जाते हैं।

३४५. स्याद्वाद—जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक वस्तु के अनन्त धर्म हुआ करते हैं—अनन्त धर्मकं वस्तु। किन्तु मनुष्य इस वस्तु के केवल आंशिक गुण को ही जान पाता है। इस आंशिक ज्ञान को जैन दार्शनिक 'नय' नाम से पुकारते हैं। जैन दार्शनिक प्रत्येक 'नय' के साथ 'स्यात्' शब्द का योग करते हैं। इससे वे यह दिखाना चाहते हैं कि कोई भी 'नय' एकान्त या निरपेक्ष रूप से सत्य नहीं हैं। इस प्रकार 'स्यात' के योग से उन्होंने 'सप्तभंगी' नय की कल्पना की है। जिसका स्वरूप निम्नलिखित है :—

१. स्यात् है।
२. स्यात् नहीं है।
३. स्यात् है और नहीं भी है।
४. स्यात् अवक्तव्य है।
५. स्यात् है और अवक्तव्य भी है।
६. स्यात् नहीं है और अवक्तव्य भी है।
७. स्यात् है, नहीं है, अवक्तव्य भी है।

३४६. जीव—जैन दर्शन के अनुसार चेतन द्रव्य को जीव या आत्मा कहते हैं। जीव में चैतन्य सब समय वर्तमान रहता है। किन्तु भिन्न-भिन्न जीवों में इसकी मात्रा में अन्तर हो सकता है। इस प्रकार चैतन्य के तारतम्य के कारण मूर्ख और

बुद्धिमान का भेद है। यह जीव स्वयं प्रकाशमान है तथा अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। यह नित्य है, किन्तु इसकी अवस्थाओं में परिवर्तन होता रहता है। यह जीव शरीर से भिन्न है। इसके अस्तित्व का प्रतिमान हमें आत्मानुभूति से होता है। अपने संचित कर्मों के कारण इसे शरीर धारण करना पड़ता है। दीपक जिस प्रकार अपने चारों तरफ प्रकाश को फैलाता है ठीक उसी प्रकार जीव भी अपने द्वारा अधिष्ठित शरीर में चैतन्य का प्रकाश फैलाता है। यह जीव निराकार है। इसकी व्यापकता केवल शरीर तक ही सीमित है। चैतन्य शरीर के बाहर नहीं वरन् उसके अन्दर ही रहता है।[1]

३४७. मोक्ष—जैन दर्शन के अनुसार जीव का पुद्गल से[2] वियुक्त होना ही उसका मोक्ष है। परन्तु पुद्गल से उसका वियोग तभी होता है जब नये पुद्गल का आस्रव बन्द हो और जीव में पहले से रहने वाले पुद्गलों का विनाश हो जाय। पहले को संवर और दूसरे को निर्जरा कहते हैं। पुद्गल का आस्रव जीव के अन्तर्निहित कषायों के कारण होता है और इन कषायों का कारण अज्ञान है। इस अज्ञान का विनाश ज्ञान प्रगति से ही हो सकता है। इसलिये जैन दर्शन मे सम्यग् ज्ञान को अत्यधिक महत्व दिया गया है। इस सम्यग् ज्ञान का सहायक सम्यग् दर्शन है। और सम्यग् दर्शन का सहायक है—सम्यग् चरित्र। इन्हीं तीनों को जैन दर्शन में 'त्रिरत्न' कहा गया है। उमा स्वामी के स्वार्थ सूत्र में इन्हीं त्रिरत्नों को मोक्ष का मार्ग कहा गया है—'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्राणि मोक्ष मार्ग :।'

३४८. पंच महाव्रत—सम्यग् चरित्र का परिपालन करने के हेतु जैन दार्शनिक पंच महाव्रतों की व्यवस्था करते हैं। ये पंच महाव्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। ये पांचों महाव्रत मोक्ष के सहायक माने गये हैं।

३४९. जैन धर्म में ईश्वर के लिये कोई स्थान नहीं। ईश्वर के स्थान पर यहां तीर्थंकरों को ला बिठाया गया है। ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार करने पर भी जैनियों में धार्मिक भावना की कमी नहीं है। वस्तुतः इनके यहां तीर्थंकर ही ईश्वर हैं। वे ही इनका मार्गदर्शन करते हैं। जैन धर्म स्वावलम्बन की शिक्षा देता है। यह बहुत ही संयमी और वीर व्यक्तियों के लिये ही ग्राह्य है। इसी लिये जैन धर्म में मुक्त आत्मा को 'जिन' या 'वीर' कहा जाता है।

---

१. 'प्रदेश-संहार-विसर्पाभ्यां प्रदीपवत्।'

—स्याद्वादमंजरी (८) और तत्वार्थाधिगम सूत्र—५।१६

२. 'पुद्गल' शब्द जैन दर्शन में जड़तत्व का वाचक है। इसका व्युत्पत्ति लक्ष्य अर्थ है—जिसका संयोग और विभाग हो सके—पूरयन्ति गलन्ति च।

—सर्वदर्शन संग्रह, ३।

आस्तिक दर्शन

३५०. जैसा कि पहले विवेचन में बताया जा चुका है, आस्तिक दर्शनों के अन्तर्गत सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा और वेदान्त नामक दर्शन आते हैं। 'प्रबोध-चन्द्रोदय' में सांख्य, योग, न्याय और वैशेषिक दर्शनों का केवल एक स्थल पर संकेत कर दिया गया है: इसलिये हम उनका यहां अत्यन्त संक्षेप में वर्णन करेंगे। मीमांसा और वेदान्त का परिचय इनके बाद कुछ विस्तार के साथ देंगे।

३५१. **सांख्य**—यह एक द्वैतवादी दर्शन है। इसमें दो मौलिक तत्व माने गये, हैं, पुरुष और प्रकृति। पुरुष, निर्गुण, निर्विकार, और निर्लेप है। इन सब गुणों के होते हुए भी वह चैतन्य विशिष्ट है। प्रकृति जड़ है। यह त्रिगुणात्मिका है। निरीह पुरुष और जडात्मिका प्रकृति के संयोग से इस समस्त विश्व की उत्पत्ति हुई है। इस दर्शन में ईश्वर की सत्ता अंगीकृत नहीं हुई है। ईश्वर के कार्यों का सम्पादन यहां प्रकृति ही करती दिखाई पड़ती है। सांख्य दर्शन सत्कार्यवाद का पोषक है-अर्थात इसके अनुसार कार्य अपनी सत्ता में पूर्व कारण के रूप में वर्तमान था यही सांख्य का 'सत्कार्यवाद' है।

३५२. **योग**—यह भी 'सांख्य' के ही समान शास्त्र है। सांख्य के द्वारा प्रतिपादित सभी तत्वों को योग ने अपनाकर उनमें 'ईश्वर' नामक तत्व को बढ़ा कर तत्वों की संख्या २६ कर दी है। 'ईश्वर' को एक अतिरिक्त मानने के कारण कुछ लोग इसे 'सेश्वर सांख्य' भी कहते हैं। वस्तुतः योग शास्त्र का विषय अनुभूतिगम्य है। यह तर्क पर उतना जोर नहीं देता है जितना कि अनुभूति पर। इसमें ध्यान, धारण, समाधि आदि योग के आठ अंगों के द्वारा चित्त को शुद्ध एवं निर्मल बनाकर परमात्मा में उसके लीन करने की विधि का सांगोपांग वर्णन किया गया है। 'योग-दर्शन' भारतीय दर्शन की अमूल्य निधि है।

३५३. **न्याय**—प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा करने का नाम है न्याय। इसे तर्कशास्त्र या आन्वीक्षिकी विद्या भी कहते हैं। इसके प्रवर्तक के रूप में महर्षि गौतम का नाम ख्यात है। इसमें विशेषकर प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द प्रमाणों का बहुत ही विशद विवेचन किया गया है। वैसे इसमें ईश्वर और आत्मा के अस्तित्व को भी सिद्ध करने का प्रबल प्रयत्न किया गया है। परन्तु प्रमाणों के आगे इनकी सत्ता गौण ही है। अतएव न्याय को प्रमाण शास्त्र भी कहते हैं। इसमें प्रमाण प्रमेय और हेत्वाभास, ईश्वर, आत्मा और मन आदि षोडश पदार्थ माने गये हैं। इन्हीं के स्वरूपों और अस्तित्व की सिद्धि प्रमाणों के आधार पर की गई है।

३५४. **वैशेषिक**—यह भी 'न्याय' के समान शास्त्र है। इसके प्रवर्तक महर्षि

कणाद हैं। इसमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव, ये सात पदार्थ माने गये हैं। विशेष नामक पदार्थ का अस्तित्व स्वीकार करने के कारण इस दर्शन को वैशेषिक के नाम से पुकारते हैं। पहले यह और न्याय दोनों अलग अलग थे-परन्तु आगे चल कर-दोनों के तत्वों में पर्याप्त साम्य देखकर कुछ लोगों ने इन्हें मिलाने का भी श्लाधनीय प्रयास किया है। इसमें केवल दो प्रमाण माने गये हैं---प्रत्यक्ष और अनुमान ईश्वर की सत्ता को यह दर्शन स्वीकार करता है। जहां तक जीव का प्रश्न है--उसके सम्बन्ध में न्याय और वैज्ञेषिक दोनों का दृष्टिकोण करीब-करीब एक सा है। दोनों ही जीव को अनेक मानते हैं, तथा उसके अणुत्व के पक्षपाती हैं।

३५५. मीमांसा---मीमांसा का मूलाधार जैमिनि ऋषि के 'मीमांसा सूत्र' हैं जिनमें वैदिक कर्मकाण्ड की मीमांसा की गई है। मीमांसा दर्शन में पांच प्रमाण माने गये हैं--प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द और अर्थापत्ति।

३५६. तत्व विचार---प्रत्यक्ष विषय, स्वर्ग, नरक और वैदिक यज्ञों के देवताओं की मीमांसा में स्वीकार किया गया है। इसके अनुसार जीव (आत्मा) नित्य और अविनाशी है। मीमांसा में ईश्वर की अपेक्षा वेदों का ही महत्व है। ईश्वर की सत्ता तक को मीमांसा से अस्वीकृत कर दिया है। विधि-निषेध वाक्यों और नियमों का आधार होने के कारण वेदविहित कर्म ही धर्म है। इसकी दृष्टि में वेदविहित जीवन ही श्रेयस्कर है। मीसांसा कर्मकाण्ड को मानव जीवन के लिये आवश्यक समझती है। इसलिये यज्ञों को यहां अधिक महत्व दिया गया है। यज्ञ ही देवताओं की प्रसन्नता के माध्यम हैं। इसमें कर्म तीन प्रकार का माना गया है--काम्य, नित्य और नैमित्तिक। एक चौथे प्रकार का निषिद्ध कर्म भी माना गया है। साधारण, नीच और कुकर्मी आत्माओं को अच्छे कर्मों का पालन अनिवार्य है। इससे समाज में उनके अभ्युदय और विकास की अच्छी व्यवस्था हो जाती है। मीमासा स्वर्गादि निःश्रेयस फलों की प्राप्ति का साधन यज्ञ को ही मानती है। जीवन को यज्ञादि व्यवस्था के अनुकूल व्यतीत करना उसका चरमलक्ष्य स्वीकार किया गया है। वस्तुतः मीमांसा मानव जीवन के अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों का समन्वय प्रस्तुत करती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मीमांसकों ने वेद को गौरवमय स्थान देकर संसार के आदिम ज्ञान को सुरक्षित कर लिया। वेद के अनुसार मानव जीवन में अनिवार्य रूप से कर्म की व्यवस्था कर उन्हें आलस्य और अकर्मण्यता से बचाकर उन्हें अभ्युदय और निःश्रेयस का सच्चा मार्ग दिखाया। यह उपकार कुछ कम नहीं है।

वेदान्त दर्शन

३५७. वेदान्त दर्शन की उत्पत्ति और विकास---वेदान्त भारतीय को

अध्यात्म शास्त्र का चरम उत्कर्ष कहा जा सकता है। वेदान्त शब्द का तात्पर्य है 'वेद का अन्त।' इस शब्द का प्रथम प्रयोग उपनिषदों में ही मिलता है। उपनिषद् वेदान्त का मूल है। उपनिषदों में दार्शनिक तथ्यों की आलोचना की गई है। वन के एकान्त वातावरण में महर्षियों के निकट बैठकर जीव, जगत् आत्मा और परमात्मा के गूढ़ रहस्यों की जिज्ञासा का समाधान उपनिषदों में तपःपूत ऋषियों ने किया है। एकान्त विचार विमर्श के फलस्वरूप उपनिषदों का तात्विक विवेचन संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थों के एतद्विषयक विवेचन से कहीं अधिक विस्तृत गम्भीर और प्रौढ़ है। इन्हीं उपनिषदों के आपाततः प्रतीयमान विरोधों के परिहार के हेतु 'वादरायण' ने 'ब्रह्मसूत्र, नामक ग्रन्थ की रचना की, जिसमें सारे प्रामाणिक उपनिषदों की पृष्ठभमि में ब्रह्म, जीव और जगत् का दार्शनिक विवेचन उपलब्ध होता है। यही 'ब्रह्मसूत्र' वेदान्तशास्त्र का आदिम ग्रन्थ है ब्रह्मसूत्र के ही अन्य नाम 'वेदान्त सूत्र', 'शरीरक सूत्र' 'शारीरक मीमांसा' या 'उत्तर मीमांसा आदि हैं। ये 'वेदान्त सूत्र' इतने संक्षिप्त हैं कि परवर्ती काल के विद्वानों को इनका अर्थ करना कठिन हो गया। अतएव इन पर 'भाष्यों' लिखे गये। यद्यपि इन पर लिखे गये भाष्यों की आज तक की उपलब्ध संख्या १२ है, परन्तु इनमें से आचार्य शंकर और रामानुज के भाष्यों को ही सातिशय गौरव मिला है। आचार्य शंकर आलोच्य ग्रन्थ के रचयिता कृष्ण मिश्र से पर्याप्त पूर्व हो चुके थे, इस प्रकार यह सम्भावना करना कि कृष्ण मिश्र के प्रबोधचन्द्रोदय में 'अद्वैत' का जो स्वरूप उपस्थित किया है वह आचार्य शंकर के प्रभाव में आकर ही किया है, उचित ही है। यद्यपि 'प्रबोधचन्द्रोदय' की 'विष्णु-भक्ति' के ऊपर भी आचार्य रामानुज जो कि कृष्ण मिश्र के समकालीन थे—के प्रभाव की कल्पना की जा सकती है, परन्तु जैसा कि हम आगे 'विष्णुभक्ति' शीर्षक अध्ययन में देखेंगे-कृष्ण मिश्र की 'विष्णुभक्ति' रामानुज की अपेक्षा उनके पूर्ववर्ती आचार्यों तथा भागवत आदि ग्रन्थों के भक्तिमय सिद्धान्तों से प्रभावित दीख पड़ती है, क्योंकि कृष्ण मिश्र जैसे स्मार्तवैष्णव की विष्णुभक्ति पर रामानुज के विशिष्टाद्वैत' का प्रभाव किसीं भी रूप में दृष्टिगोचर नहीं होता। अतएव हम यहां केवल आचार्य शंकर के 'अद्वैत दर्शन' का एक संक्षिप्त परिचय देंगे।

अद्वैत दर्शन के सामान्य सिद्धान्त

३५८. जगत् विषयक विचार—उपनिषद् के 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' के आधार पर अद्वैत बेदान्ती जगत् की सत्ता को 'ब्रह्म' में ही अन्वित मानते हैं। जगत का मूल और सर्वव्यापक तत्व 'ब्रह्म' ही है या यों कहिये कि जगत और ब्रह्म दोनों एक ही हैं, यही 'अद्वैत दर्शन' का मूल सिद्धान्त है। प्रकृतिवाद और परमाणुवाद जैसे अन्य दर्शनों

के सिद्धान्त 'वेदान्त' को स्वीकार्य नहीं हैं। ब्रह्म और ईश्वर एक ही सत्ता के दो नाम हैं। ब्रह्म, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक, अखण्ड, अगोचर, निराकार और निर्लेप शक्ति है, जबकि ईश्वर जगत् का सृजन, पालन और संहार करता है। इन्हीं रूपों और कार्यों के आधार पर ब्रह्म और ईश्वर का भेद अवलम्बित है। वस्तुतः ब्रह्म और ईश्वर में कोई भेद नहीं है।

विशेष-सिद्धान्त

३५९. भ्रम और अविद्या—संसार के सम्बन्ध में भ्रम का कारण अविद्या को माना गया है। वास्तविक आधार या तत्व का परिज्ञान न होने से भ्रम उत्पन्न हो जाता है। इस भ्रम के सम्बन्ध में सर्प और रज्जु का दृष्टान्त दिया जाता है ; रस्सी का यथार्थ ज्ञान न होने पर ही हमें उसमें सर्प का भ्रम होता है। जिसे रज्जु का ज्ञान नहीं होता वही रज्जु को सर्प समझ कर उससे भयभीत होता है, परन्तु जिसे बाद में रज्जु का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, उसके भय और भ्रम दोनों दूर हो जाते हैं। यह अज्ञान अथवा अविद्या न केवल वस्तु के वास्तविक स्वरूप का आवरण करती है। अपितु उसका 'विक्षेप' भी उत्पन्न करती है। 'आवरण' के द्वारा वस्तु के वास्तविक स्वरूप का आच्छादन हो जाता है, जिससे उसकी वास्तविकता का पता नही लगता है और विक्षेप के द्वारा तात्विक वस्तु के ऊपर अन्य वस्तुओं का आरोप हो जाता है, जिसके कारण, अन्य अनेक शंकाओं और क्रियाओं से भ्रम का विस्तार हो जाता है, जिसके चक्राकार आवर्त में पड़ा जीव मूलतत्व से अधिकाधिक दूर होता चला जाता है। 'आवरण' और 'विक्षेप' ये दोनों अविद्या की शक्तियां हैं।

३६०. माया—शंकर ने माया को ब्रह्म की शक्ति माना है। माया ब्रह्म की इच्छा शक्ति है, जिसे वह जब चाहे छोड़ भी सकता है। इस प्रकार शंकर के मत में इच्छा शक्ति अनित्य है जो कभी रहती है और कभी नहीं रहती है। इस माया के कारण ब्रह्म में कोई विकार नहीं उत्पन्न होता है, क्योंकि 'ब्रह्म' निर्लेप और निर्विकार माना गया है। माया से युक्त होने पर भी वह उसके कार्यों से प्रभावित नहीं होता। यह माया जगत के परिणाम की नहीं अपितु उसके 'विवर्त' की जननी मानी गई है।

३६१. विवर्तवाद—'विवर्तवाद' अद्वैत वेदान्त का एक प्रमुख सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त 'सांख्य' के 'परिणामवाद' से विपरीत है। 'परिणामवाद' वस्तु तत्व का परिणाम मानता है। उसके अनुसार जैसे दूध का दही के रूप में परिणमन होता है और इस प्रकार यह दृश्यमान जगत् मूलतत्व का परिणाम या विकार है। परन्तु 'विवर्तवाद' इस परिणाम या विकार को केवल भ्रम समझता है। यह सही है कि

हमें सीप में रजत की प्रतीति होती है, परन्तु यह प्रतीति होती है—भ्रान्त ही, न कि वास्तविक। इस प्रकार इस 'विवर्तवाद' के अनुसार भिन्न भिन्न नाम रूपात्मक जगत भ्रमपूर्ण प्रतीति मात्र है। वास्तविक तत्व तो ब्रह्म ही है, जिसमें माया के कारण भ्रम उत्पन्न हो जाने के कारण 'शुक्ति' में रजत सा, जगत का आभास होने लगता है।

३६२. अध्यास—किसी वस्तु के सम्बन्ध में भ्रमपूर्ण कल्पना को जब भ्रमके कारण सत्य मान लिया जाता है तब उसे 'अध्यास' कहते हैं। वास्तव में वह वस्तु वहां होती नहीं और उसकी कल्पना अथवा वाह्य आरौपकर लिया जाता है। शंकर के मत के अनुसार वस्तुतः जगत की सत्ता नहीं है, वह तो वस्तुतत्व ब्रह्म की एक भ्रान्त प्रतीति मात्र है। इस असत्य जगत् को सत्य समझना अध्यास है। यह जगत् ब्रह्म में अध्यस्त है।

३६३. ब्रह्म विचार—शंकर के अनुसार 'ब्रह्म' ही एकमात्र सत्ता है। इस अनन्त शक्तिशाली नियन्ता 'ब्रह्म' के दो रूप होते हैं—व्यावहारिक और स्वाभाविक। क्योंकि शंकर ने जगत को व्यावहारिक माना है। इसलिए 'ब्रह्म' के व्यावहारिक रूप को उन्होंने स्वीकार किया है। ब्रह्म का व्यावहारिक रूप माया से उपहित अर्थात् आवेष्टित माना गया है और उसकी संज्ञा 'ईश्वर' की गई है। यह 'ईश्वर' ब्रह्म का तटस्थ लक्षण माना जाता है। यही जग्त का स्रष्टा, नियन्ता और पालक समझा जाता है। इस प्रकार जगत् का कर्त्ता, नियन्ता और रक्षक 'ईश्वर' माया से उपहित है और वह 'ब्रह्म' से भिन्न सत्ता नहीं है।, अपितु उसका तटस्थ लक्षण मात्र है। ब्रह्म का 'स्वरूप' लक्षण तो उसका निर्विकार, निराकार, निर्लेप, अनन्त व्यापक, और ज्योतिःस्वरूप होना ही है। 'ब्रह्म' के इन दोनों स्वरूपों का भेद 'शांकर भाष्य' में दिये हुए एक गड़रिये के दृष्टान्त से अच्छी तरह समझा जा सकता है। रंगमंच पर एक गड़रिया एक राजा का अभिनय कर रहा है। वह एक देश पर अपना आधिपत्य स्थापित कर वहां का राजा बन जाता है और शासन करने लगता है। इस गड़रिये के दो लक्षण किये जा सकते हैं—एक तो उसका व्यावहारिक अर्थात् राजा का शासकीय रूप—तटस्थस्वरूप—और दूसरा गड़रिया रूप—उसका स्वाभाविक स्वरूप। अपने तटस्थ व्यावहारिक रूप का पालन करते हुए जैसे वह राजा कहलाता है उसी प्रकार ब्रह्म का 'ईश्वर' रूप भी अपने कार्यों का सम्पादन करता हुआ, ब्रह्म का तटस्थ या व्यावहारिक रूप है। यह ब्रह्म का 'औपाधिक रूप' भी कहलाता है। 'ब्रह्म' का स्वाभाविक रूप तो उसका निर्गुण आदि रूपों में रहना ही है।

३६४. आत्म विचार—शंकर के अद्धैतवाद में आत्मा या जीव ब्रह्म से अभिन्न माना गया है। अविद्योपहित होने के कारण ही जीवात्मा 'ब्रह्म' से अपनी पृथक्

सत्ता को मानता है। वास्तव में ब्रह्म और आत्मा में ऐक्य है और उनका पार्थक्य अज्ञान मूलक है। अतः आत्मा स्वतः प्रकाश, अनन्त और चैतन्यस्वरूप है। आत्मा और ब्रह्म की इस एकता का समर्थन करने के लिए, अद्वैत वेदान्तियों ने उपनिषद् के 'तत्वमसि' महावाक्य का दृष्टान्त दिया है जो कि जीव को ब्रह्म का ही रूप बताता है। आत्मा का अधिष्ठानभूत यह शरीर–जो कि पंचमहाभूतों से निर्मित होता है, एकान्ततः नश्वर है, परन्तु स्वयं आत्मा अमर, अजर और चैतन्य स्वरूप है।

३६५. मोक्ष विचार—इस मत में 'ब्रह्म' का साक्षात्कार अर्थात् जीवात्मा का प्रबुद्ध हो यह स्वीकार कर लेना कि मैं ब्रह्म हूं (अहं ब्रह्मास्मि) मोक्ष माना जाता है। परन्तु यह मोक्ष विना ज्ञान के सम्भव नहीं है—ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। साधना करते करते जब साधक को इस बात की अनुभूति होने लगे कि एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है, जगत् असत्य है तथा जीव ही ब्रह्म है (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवोब्रह्मैव नापरः) तब मुक्ति की अवस्था समझनी चाहिये।

३६६. ज्ञानसाधना—जैसा कि कहा गया है, मोक्ष के साधन भूत ज्ञान की प्राप्ति निरन्तर साधना से ही सम्भव है, इस ज्ञान साधन के लिए उपनिषदों ने तीन साधन बताए हैं–श्रवण, मनन और निदिध्यासन। उनका तो यहां तक कहना है कि इन तीनों से आत्मा का परिज्ञान हो जाने पर सम्पूर्ण विश्व का परिज्ञान हो जाता है।[1]

३६७. शैवमत–सोमसिद्धान्त (कापालिक)—वामन पुराण (६–८६–९१) में शैवमत के चार सम्प्रदाय बतलाये गये हैं—शैव, पाशुपत, कालदमन तथा कापालिक यामुनाचार्य के आगम प्रामाण्य (पृ० ४८–४९) में कालदमन के स्थान पर कालामुख का उल्लेख किया है। इस प्रकार शैवों के चार सम्प्रदाय हुए-शैव, पाशुपत, कालामुख और कापालिक। उनमें से कापालिक मत जिसे सोमसिद्धान्त भी कहते हैं-शैव मत का अत्यन्त भयंकर रूप है। यह सम्प्रदाय बड़ा ही रहस्यमय और गोपनीय रहा है। अतएव आज इनकी परम्परा का उच्छेद-सा हो गया है। रामानुज के अनुसार कापालिकों के मत में छः मुद्राओं को धारण करने से अपवर्ग की प्राप्ति होती है-वे छः मुद्रायें--कर्णिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणि, भस्म और यज्ञोपवीत हैं। इस सम्प्रदाय में कपाल-पात्र में भोजन शव के भस्म से स्नान, लगुड धारण, सुराकुम्भ से स्नान तथा तन्त्रस्थ देवताओं की उपासना से अपवर्ग की प्राप्ति का विधान किया

---

१. आत्मा वा अरेश्रोतव्य मन्तव्यो, निदिध्यासितव्यः। आत्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्या, विज्ञानेनेदं सर्वं विज्ञातं भवति॥

—बृहदारण्यक—२।४।५

गया है। रुद्राक्ष माला, जटाजूट, कपाल, और भस्म आदि इस सम्प्रदाय के विशेष और पवित्र चिह्न हैं। गुप्त क्रियाओं के द्वारा अनेक अद्भुत शक्तियों की प्राप्ति की सम्भावना भी इस सम्प्रदाय की विशेषता है। कापालिक लोग भैरव के भक्त होते हैं। माधवाचार्य कृत 'शंकरदिग्विजय' में शंकराचार्य की एक स्थान पर कापालिकों से भेंट होने का वर्णन है। कापालिकों का गुरु शंकराचार्य के पास आया। वह शरीर में श्मशान का भस्म लगाये हुए था। उसके एक हाथ में कपाल और दूसरे में त्रिशूल था। आनन्द गिरि के अनुसार जिन कापालिकों से उज्जयिनी में शंकराचार्य की भेंट हुई थी वे भैरव को परमेश्वर तथा सृष्टि का उत्पादक और संघारक मानते थे। वे यह विश्वास करते थे कि सुरापान तथा अभक्ष्य भोजन से ज्ञान-शक्ति का उदय होता है। वे अपने को भैरव की शक्ति से सुरक्षित समझते थे। भवभूति ने अपने 'मालतीमाधव' में 'श्री शैल्य' को कापालिकों का केन्द्र बताया है। योग के द्वारा वे शीघ्र गमन की शक्ति प्राप्त कर लेते थे। कपालकुण्डला मानवमुण्डों की माला धारण करती है। वह निशीथ काल में अपने पिता के महल में सोती हुई मालती को उठाकर ले जाती है। और श्मशान में ले जाकर कराला-चामुण्डा के सामने अपने गुरु अघोर-घण्ट द्वारा भेंट चढ़ाये जाने के लिये समर्पित कर देती है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' का कापालिक सुरापान और कापालिकी का सेवन करता है, जैसा कि हम आगे देखेंगे। इससे विदित होता है कि कापालिक सम्प्रदाय कितना भयंकर था। सुरा, रक्त और मानव-बलि ही इनके देवताओं को प्रसन्न कर सकती थीं। इन सम्प्रदायों में अनेक वीभत्स क्रियाओं का प्रचार था, यह ऊपर के विवरण से स्पष्ट है।

३६८. **विष्णुभक्ति**--जैसा कि 'वेदान्त' शीर्षक अध्ययन में कहा है, 'प्रबोध चन्द्रोदय' की विष्णुभक्ति प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य आचार्य रामानुज के विशिष्टाद्वैत' सिद्धान्त से अनुप्राणित नहीं दीख पड़ती, अतएव इसके मूल हमें रामानुज के बहुत पहले से चले आरहे वैष्णव धर्म के प्राचीन रूप में खोजना होगा, न कि रामानुज के द्वारा प्रवर्तित विष्णुभक्ति में। वैसे रामानुज और प्रबोधचन्द्रोदय की 'विष्णु-भक्ति' में अनेक प्रकार के सादृश्य खोजे जा सकते हैं, परन्तु यह बात हमें ध्यान में रखनी होगी कि प्रबोधचन्द्रोदय की 'विष्णुभक्ति' के उपदेश से पुरुष को 'ब्रह्म' का साक्षात्कार या उसके ऐक्य का लाभ हुआ। जब कि रामानुजीय विष्णुभक्ति के द्वारा—जीवात्मा के मुक्त हो जाने पर भी उसे वैकुण्ठ में श्री महाविष्णु की सन्निधि में रहकर उनके दासत्व का आनन्द लाभ करना होता है। इस प्रकार के दोनों के फलों में महान् अन्तर प्रतीत होता है। इसलिये हमें यह जानने के लिये कि 'प्रबोध-चन्द्रोदय' की विष्णुभक्ति का स्वरूप क्या है और उसका उद्भव और विकास किस

रूप में हुआ, विष्णु देवता और उसकी भक्ति के विषय में कुछ विचार कर लेना चाहिये।

३६९. **विष्णु**—ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में विष्णु देवता की स्तुति की गई मिलती है। यह देवता उस समय भी महान माना जाता था, परन्तु उतना महान् नहीं जितना कि इन्द्र। वस्तुतः इन्द्रदेव के सहायक के रूप में ही इसका उल्लेख ऋग्वेद में किया गया है। विष्णुरिन्द्रस युज्यः सखा—इसलिये आगे चलकर पुराणों में इसे 'उपेन्द्र—इन्द्र का छोटा भाई या सहायक–बताया गया है। वैदिक युग में भी विष्णु के लोक में जाकर लोग मधु पीने की कामना करते थे (विष्णोः पदे-परमे मध्व उत्स)। विष्णु उस समय किस प्राकृतिक शक्ति का प्रतीक माना जाता था, इस सम्बन्ध में अधिकांश विद्वानों का बहुमत इसे सविता या सूर्य का रूप मानने के पक्ष में है। स्वयं ऋग्वेद से इसकी पुष्टि होती है। वेद में विष्णु के लोक में लम्बी-लम्बी सींग वाली गतिशील गायों का उल्लेख मिलता है—'यत्र गावो भूरिशृंगा अयास:'। विष्णु को तीनों लोकों को नापने वाला कहा गया है—'त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुः त्रेधा निदधे पदम्:' इन गतिशील गायों एवं तीन पदों से तीनों लोकों को आक्रान्त करने वाले प्रतीकों के आधार पर जहां पुराणों में आगे चलकर उसके गोलोक और वामन या त्रिविक्रम रूप की कल्पना की गई है। वहां 'गौः' शब्द से किरणों और त्रेधानिदधे पद्म्' द्वारा प्रातः मध्याह्न और सांयकाल का अर्थ लेकर उसको सूर्य का रूप माना गया। डा० वित्सन,[1] प्रो० मैक्समूलर आदि विद्वानों ने इसी मत को मान्य ठहराया है। आगे बढ़ने पर ब्राह्मण काल में विष्णु को हम महत्वपूर्ण पद पर बिराजमान पाते हैं। इस समय तक यह सभी देवताओं के अधिपति के रूप में माना जाने लगा था। सम्भवतः इसी युग में नारायण से इसका ऐक्य सम्बन्ध जोड़ा गया।[2] ब्राह्मणों ने विष्णु को यज्ञ कहा है–'यज्ञो ह वै विष्णुः' —जिससे प्रतीत होता है कि उस समय तक विष्णु यज्ञपुरुष के रूप में स्वीकृत हो चुके थे। महाभारत के वन पर्व में नर और नारायण को ऋषि कहा है[3]—और 'विष्णु सहस्र' नाम में विष्णु का एक नाम नारायण भी कहा गया है। यही पर वासुदेव कृष्ण से उनका सम्बन्ध होता है। और आगे पुराणों में राम और बुद्ध आदि भी विष्णु के अवतार घोषित कर दिये जाते हैं। भागवत पुराण और 'आध्यात्म रामायण' में विष्णु को ब्रह्म स्वीकार करके उनकी उपासना एवं भक्ति की गई है। यहां तक कि

---

१. वित्सन्स ट्रान्सलेशन टू द ऋग्वेद संहिता—भाग १, पृष्ठ ३४।
२. तैत्तिरीय आरण्यक : १०–११।
३. नरस्त्वमसि दुर्द्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम्।—श्लोक १२, ४६–४७

अद्वैततत्व के 'परमार्थसार' नामक ग्रन्थ में भी 'विष्णु' को 'परब्रह्म' स्वीकार कर लिया गया है। जैसे--'सर्वालयं सर्वचराचरस्थं त्वमेव विष्णु शरणं प्रपद्ये।'[१]

३७०. इस प्रकार हम देखते हैं कि एक प्राकृतिक शक्ति सूर्य के प्रतीक के रूप से विष्णु का कितना अधिक विकास हुआ। अब हमें 'विष्णुभक्ति' के रूप पर थोड़ा विचार करना है। हम पहले ही बता चुके हैं कि वैदिक युग में भी विष्णु को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। शायद विष्णु की उपासना भी की जाती थी। ब्राह्मण काल में यज्ञ से सम्बन्ध जुड़ने पर 'कर्मकाण्ड' के द्वारा भी इनका पूजन होने लगा। यह पूजा श्रद्धा से ही की जाती थी, जो कि भक्ति का ही एक अंग है। परवर्तीकाल में महाभारत के समय में--जब नारायण विष्णु और वासुदेव को एक मान लिया गया और देवाधिदेव विष्णु की आराधना के निमित्त एक विशिष्ट आचार पद्धति का प्रवर्तन किया गया जो कि 'सात्वत् पद्धति' के नाम से प्रसिद्ध हुई,[२] तभी श्रद्धा में प्रेम के तत्व के आ मिलने से भक्ति का वास्तविक रूप हमारे सामने प्रकट होता है। यह भक्ति विष्णुभक्ति कहलाई। दक्षिणी प्रान्तों में इसका सातिशय प्रचार हुआ। दक्षिण के १२ आलवार सन्तों ने विष्णुभक्ति की मन्दाकिनी को एक छोर से दूसरे छोर तक प्रवाहित किया--इनके द्वारा उद्घाटित विष्णुभक्ति के स्वरूप को ही आचार्य रामानुज ने अपनाया और उसका सम्बन्ध 'पांचरात्र' से स्थापित किया। इस प्रकार यह सिद्ध है कि रामानुज के बहुत पहले से ही विष्णुभक्ति का प्रचार सारे भारत में था।

३७०-१. कृष्ण मिश्र के द्वारा प्रबोधचन्द्रोदय में विष्णुभक्ति का जो स्वरूप-गृहीत हुआ है, उसका साम्य आचार्य रामानुज और उनके द्वारा अनुमोदित 'पांचरात्र' की भक्ति से न होकर, भगवत्पुराण और आध्यात्मरामायण की भक्ति से हो है। भगवत्पुराण और अध्यात्मरामायण के समान 'प्रबोधचन्द्रदोदय' में भी परब्रह्म विष्णु और उनकी भक्ति को मोक्ष की साधिका स्वीकार किया गया है।

विष्णु

भागवत पुराण --तं त्वामहं ब्रह्मपरं पुमांसं
प्रत्यक्स्रोतस्यात्मनि संविभाव्यम्।
स्वतेजसा ध्वस्त गुणप्रवाह
वन्दे विष्णुं कपिलं वेदगर्भम्॥

भागवतपुराण, तृतीय स्कन्ध, अध्याय ३३ श्लोक ८

---

१. "परमार्थसार"--आदिशेष श्लोक १।

२. वैष्णव भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन--डा० रामकृष्ण आचार्य, पृ० २७।

अध्यात्मरामायण -- देव्याचाखिललोक हृतस्थमजरं
सर्वज्ञमीशं हरिम ॥१-२-७॥
किरीट हार केयूर कुण्डलैः कटकादिभिः।
विभ्राजमानं श्रीवत्स कौस्तुभ प्रभयान्विम् ॥
--अध्यात्म रामायण बालकाण्ड, प्रथम सर्ग श्लोक १०

प्रबोधचन्द्रोदय--
नित्यं स्मरञ्जलदनीलमुदारहार-
केयूर कुण्डलकिरीटधरं हरिं वा।
ग्रीष्मे सुशीतमिव वा हृदमस्तशोकं
ब्रह्म प्रविश्य भज निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥
--प्र० च० अंक ५, श्लोक ३१

विष्णुभक्ति

भागवतपुराण -- अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदार धीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥
--द्वितीयस्कन्ध, अध्याय तृतीय, श्लोक १०

अध्यात्मरामायण --
आभासस्तु मृषा बुद्धिरविद्याकार्यमुच्यते।
अविच्छिन्नं तु तद्ब्रह्म विच्छेदस्तु विकल्पतः ॥४८॥
अविच्छिन्नस्य पूर्णेन एकत्वं प्रतिपाद्यते।
तत्वमस्यादिवाक्यैश्च सभासस्याहमस्तथा ॥४९॥
ऐक्य ज्ञानं यदोत्पन्नं महावाक्येन चात्मनोः।
तदाऽविद्या स्वकार्यैश्च नश्यत्येव न संशयः ॥५०॥
एतद्विज्ञायमद्भक्तो मद्भावायोपपद्यते।
मद्भक्ति विमुखानां हि शास्त्र गर्तेषु मुह्यताम् ॥५१॥
बालकाण्ड, प्रथम सर्ग

प्रबोधचन्द्रोदय --
एषोस्मीति विविच्य नेतिपदतश्चितेन सार्धं कृते
तत्वानां विलये चिदात्मनि परिज्ञाते त्वमर्थे पुनः।
श्रुत्वा तत्त्वमसीति बाधितभवध्वान्तं तदात्मप्रभं
शान्तं ज्योतिरनन्त मत्तरुदितानन्दः समुद्योतते ॥
प्र० च० अंक ६, श्लोक ५७

पुरुषः--×× सर्वथा कृतकृत्योऽस्मि भगवत्या विष्णु
भक्तिः प्रसादात्। ××।
प्र० च०, पृ० २३९ अंक ६।

३७०-२. अद्वैतका प्रतिपादन करते हुए भी कृष्णमिश्रका विष्णु को ब्रह्म माननो आदिशेष के 'परमार्थ सार'[1] से साम्य रखता है।—

बुद्ध्वैवमसत्यमिदं
विष्णोर्मायात्मकं जगद्रूपम्।
विगतद्वन्द्वोपाधिक
भोगासङ्गो भवेच्छान्तः।
परमार्थसार श्लोक ७४[1]

मोहान्धकारमवधूय विकल्पनिद्रा-
मुन्मथ्य कोऽप्यजनि बोधतुषार रश्मिः।
श्रद्धाविवेकमतिशान्तियमादिकेन
विश्वात्मकः स्फुरति विष्णुरहं स एषः।।
प्र० च० अंक ६, श्लोक ३०

कृष्ण मिश्र ने विष्णुभक्ति और अद्वैत सिद्धान्त के समन्वित प्रतिपादन के लिए वास्तव में कहाँ से प्रेरणा ली वा अनुकरण किया यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। डा० सीता भट्ट ने दार्शनिक पक्ष से सम्बन्धित अपने अनुसन्धान में भी इसी समता का ही दिग्दर्शन मात्र किया है। प्रबोधचन्द्रोदय का सूक्ष्म अध्ययन करने से यह भी पता चलता है कि कृष्ण मित्र ने विष्णुभक्ति का जो लोक कल्याणात्मक रूप सभी स्तरों पर दिखाया है, वह केवल उनका वाह्य प्रदर्शन मात्र नहीं था, वपितु उनकी आत्मा की वास्तविक अनुभूति भी थी। जिससे 'अद्वैत' वेदान्त के साथ उसका अभूतपूर्व समन्वय स्थापित कर, उस समय के विश्रृंखल समाज को बढ़ते हुए अनाचारों और व्यभिचारों से पराङ्मुख कर उसके कल्याण का सत्य और सुखद मार्ग दिखाया।

३७१. इस प्रकार 'प्रबोधचन्द्रोदय' में संकेतित तथा स्पष्ट नामोल्लेख पूर्वक

---

१. डा० सीता भट्ट ने 'परमार्थसार' को गोड़पदकारिकाओं के पूर्व लिखा जाना स्वीकार किया है। उनका यह मत परमार्थसार की भूमिका में लिखे गये शास्त्री के मतानुसार है:—

According to Sastri Para seems to be earlier than even the Gaudapadkarikas cp. Paramarthsara Introduction—Adisesa : Parmarthsara, Ed. by S. S. Suryanarayana Sastri, Karnatak Publishing House, Bombay. 1941.

प्रतिपादित सभी दार्शनिक सम्प्रदायों एवं धार्मिक मतमतान्तरों का संक्षिप्त परिचय देने के उपरान्त अब हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि कृष्ण मिश्र ने इन वादों एवं धार्मिक मतों का निर्देश अपने नाटक में किस रूप में और किस स्तर पर किया है तथा उसके सम्बन्ध में उनका अपना अभिमत क्या रहा है।

प्रबोधचन्द्रोदय में धर्म-दर्शन

३७२. 'प्रबोधचन्द्रोदय' में जिन दार्शनिक मतों की प्रसंगवश चर्चा एवं संकेत उपलब्ध होते हैं, उन्हें हम सामान्यतः दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—आलोच्य धर्म-दर्शन और स्वाभिमत धर्म-दर्शन। 'स्वाभिमत धर्म-दर्शन' क्योंकि नाटक का अपना प्रतिपाद्य है इसलिये उसकी समीक्षा हम बाद में करेंगे। यहां पर पहले 'प्रबोधचन्द्रोदय' के आलोच्य धर्म-दर्शन को लेते हैं।

आलोच्य धर्म-दर्शन

३७३. नाटककार के आलोच्य धर्म-दर्शन क्रमशः ये रहे हैं—लोकायत (चार्वाक), बुद्धागम, दिगम्बर सिद्धान्त, सोम सिद्धान्त, यज्ञविद्या, मीमांसा और तर्क विद्या। इनमें से लोकायत से तात्पर्य नास्तिक चार्वाक दर्शन से। बुद्धागम से अभिप्राय बौद्ध-दर्शन से, दिगम्बर सिद्धान्त से तात्पर्य जैन-दर्शन से, सोम सिद्धान्त से आशय कापालिक मत से तथा यज्ञविद्या, मीमांसा और तर्कविद्या से तात्पर्य क्रमशः ब्राह्मणों में प्रतिपादित याज्ञिक क्रिया-कलाप, पूर्व मीमांसा और सांख्य, योग, न्याय तथा वैशेषिक दर्शनों से है। इनमें से यथाक्रम प्रत्येक की समीक्षा नीचे की जा रही है।

३७४. **लोकायत मत (चार्वाक)**—प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में महामोह लोकायत मत की प्रशंसा करता है और इस मत को अपने पक्ष का स्वीकार करता है। तदनंतर चार्वाक नाम का पात्र रंगमंच पर आकर, अपने मत का परिचय देता है।[1] उसका विचार है कि लोकायत मत ही सर्वश्रेष्ठ है। इस मत को बृहस्पति ने पुष्ट किया था। इसमें मृत्यु ही मोक्ष है। प्रत्यक्ष ही प्रमाण है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार तत्व हैं। इन्हीं चार भूतों के सम्मिलन से ही चेतना उत्पन्न होती है। अर्थ और काम ही पुरुषार्थ है। परलोक नहीं है। दण्ड नीति चौदह विद्याओं में से एक विद्या है। वेद धूर्तों का प्रलाप है। इस लोक में कर्म करके लोकान्तर में उस कर्म का फल भोग करनेवाली जीवात्मा को मानना मिथ्या है। चार महाभूतों के

---

१. लोकायत मत की चर्चा — प्र० च० के अंक दो में, पृष्ठ ६१ से ७१ तक।

संयोग से चेतनायुक्त शरीर में चीर-फाड़ करने पर प्रत्यक्ष में जीवात्मा के लिए कोई प्रमाण भी नहीं मिलता है। देह से भिन्न मूर्तिमान आत्मा दूसरे लोक में पाप-पुण्य के फल को भोगती है, यह कहना आकाश वृक्ष के पुष्प से उत्पन्न फलास्वाद की आशा के समान है। धूर्त जन निज कल्पना से आत्मा को लोकान्तर में सुख-दुःख भोगनेवाली बता करके ठगते हैं। वर्ण-व्यवस्था मानना अनुचित है। क्योंकि चारों वर्णों के शरीर मुख, आंख आदि समान हैं। उनमें कोई भेद नहीं है। हिंसा में, स्त्रियों के यथेष्ट गमन में, दूसरे के धन के अपहरण करने में कार्याकार्य के विधि-प्रतिषेध को पुरुषार्थहीन धूर्त मानते हैं। यज्ञ और श्राद्ध आदि अनुष्ठान व्यर्थ है। स्वर्ग का अस्तित्व भ्रममात्र है। विषय संगम में यदि कुछ दुःख मिश्रित हैं तो भी वह त्याज्य नहीं है। जैसे सुन्दर श्वेत चावल से परिपूर्ण धान भूसी के संयोग के कारण छोड़ने योग्य नहीं होता है। संसार का सुख एवं ऐश्वर्य ही स्वर्ग है। विषयानन्द ही ब्रह्मानन्द है।

३७५. कृष्ण मिश्र ने नाटक में चार्वाक को महामोह और कलियुग का साथी कहा है। इससे यह अभिप्राय व्यक्त होता है कि यह मत अज्ञान और अधर्म का साधन मात्र है। कलियुग के साथी होने से, इस मत पर, भ्रष्टाचारी और व्यभिचारी होने का आक्षेप है। इस प्रकार नाटककार ने लोकायत के सिद्धान्तों का संक्षिप्त किन्तु आलोचनात्मक उल्लेख करते हुए नाटकीय दृश्य में, प्रभावशाली ढंग से, लोकायत मत के भवन को खण्डित करने की चेष्टा की है।

३७६. **बौद्धमत**—बौद्धमत के प्रतिनिधि एक भिक्षु पात्र ने रंगमंच पर उपस्थित होकर, बौद्धमत का संक्षिप्त प्रतिपादन किया है।[1] उसके अनुसार सौगत धर्म का प्रवर्तन महात्मा बुद्ध ने किया है। इसमें सुख और मोक्ष दोनों की व्यवस्था है। इस मत का प्रधान सिद्धान्त विज्ञानवाद है।[2] संसार कारणीभूत वासना के उच्छिन्न या विच्छिन्न हो जाने पर विज्ञान सन्तति (धी संतति) स्वयं प्रकाशित या स्फुरित हो जाती है। इस विज्ञान संतति में घटपटादि संसारिक पदार्थ भाव विषय रूप में समर्पित रहते हैं। विज्ञान सन्तति में समर्पित यह घटपटादि भाव विषय

---

१. बौद्ध मत का विवरण—प्र० च० अंक तृतीय, पृष्ठ १०४–१२९।

२. सर्वे क्षणक्षयिणएव निरात्मकाश्च
यत्रार्पिताबहिरिव प्रतिभान्ति भावाः।
सैवाधुना विगलिताखिलवासनत्वा-
द्धीसन्ततिः स्फुरति निर्विषयोपरागा॥
—प्रबोधचन्द्रोदय, अंक ३, श्लोक ८, पृष्ठ १०३।

बाह्य रूप से प्रतिभासित रहते हैं। यह भाव-पदार्थ क्षणिक हैं। और निरात्मक हैं। क्योंकि अपने ज्ञान काल के पश्चात् नष्ट हो जाते हैं। नये ज्ञान को जन्म देते हैं अतः क्षण-प्रतिक्षण विनाशी होते हैं।

३७७. पूर्ववर्ती धर्म दर्शन में बौद्धमत के जिन सिद्धान्तों का वर्णन है, उनमें से विज्ञानवाद के मुख्य सिद्धान्त को मिश्रजी ने अपनी आलोचना का विषय बनाकर बौद्धमत के निराकरण की चेष्टा की है। बौद्धमत के क्षण विनाशी विज्ञानवाद की आलोचना नाटककार ने जैन साधु क्षपणक के माध्यम से की है।[1] बौद्धमत में आत्मा जब क्षणविनाशी है तो प्रयत्न किसके लिए किया जाय? प्रत्यक्ष में की गई साधना का परिणाम भविष्य में किसी अन्य को प्राप्त होगा। तब मोक्ष साधक को होगा वा अन्य को। इस प्रकार विज्ञानवाद में अनेक शंकाएं और समस्यायें हैं जो विवाद का विषय हैं। साधारण साधक को ये एक गम्भीर आधार-शिला देने की अपेक्षा साधना से च्युत करने में समर्थ हैं।

३७८. **जैनमत**—क्षपणक नामक पात्र ने जैनमत का प्रतिपादन करते हुए, आत्मा के संबंध में विशेष स्पष्टीकरण किया है।[2] उसके अनुसार जैन सिद्धान्त जिनवर के द्वारा प्रवर्तित हुआ था। यह सिद्धान्त सुखद और मोक्षप्रद है। इसके उपासक 'ओंमणभो हन्त' उच्चारण कर नमस्कार करते हैं। नवद्वार पुरी अर्थात् नवछिद्र वाले शरीर में आत्मा दीपक के समान प्रकाशित है। आत्मा का स्वभाव निर्मल है। इसका ज्ञान ऋषि परिचर्या से होता है। मलमय पुद्‌गलपिण्ड की जल से शुद्धि नहीं होती है।

३७९. जैनमत के आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त की बौद्ध भिक्षु ने आलोचना की है। जिससे यह व्यक्त होता है कि शरीर के मध्य में परिमित आत्मा बाह्य को प्रकाशित करने में उसी प्रकार असमर्थ है, जैसे घड़े के मध्य में रखा, सुशिखा से युक्त दीपक घड़े के बाहर गृह में रखे घटपटादि को प्रकाशित नहीं कर सकता है?[3] अतः

---

१. क्षपणक—मण तावत्क्षण विनाशिना त्वया कस्य कृते इदं व्रतं धार्यते।
—प्रबोधचन्द्रोदय, अंक ३, पृष्ठ १०७।

२. जैन सिद्धान्त का विवरण—प्र० च०, अंक तृतीय, पृष्ठ १००-१२९।

३. ज्ञातुं वपुः परमितः क्षमते त्रिलोकीं
जीवः कथं कथय संगतिमन्तरेण।
शक्नोति कुम्भनिहितः सुशिखोऽपि दीपो
भावान्प्रकाशयितुमप्युदरे गृहस्य॥११॥
—प्र० च०, अंक तृतीय, पृष्ठ ११०।

आत्मा के सम्बन्ध में उनकी धारणा भ्रमपूर्ण है। इस अध्याय के पूर्ववर्ती धर्मदर्शन के शीर्षक में किये गये जैन सिद्धान्त के प्रतिपादन से स्पष्ट है कि कृष्ण मिश्र ने उस मुख्य सिद्धान्त को अपनी आलोचना का विषय बनाया, जिस पर कि जैन-मत आधारित है। कृष्ण मिश्र ने उसका खण्डन करके तथा क्षपणक के व्यभिचारी कृत्यों को प्रदर्शित करके, जैनमत को त्रुटित और निराधार सिद्ध करने की चेष्टा की है।

३८०. **सोमसिद्धान्त**--सोमसिद्धान्त का अनुयायी कापालिक रंगमंच पर उपस्थित होकर, अपने मत का प्रतिपादन करता है।[१] वह परिचय देता है कि सोमसिद्धान्ती नरों की हड्डियों की माला का सुन्दर भूषण बनाते हैं। वे श्मशान में रहते हैं। योगांजन से शुद्ध नेत्रों से परस्पर भिन्न जगत् को, ये ईश्वर शंकर से अभिन्न और अपृथक् देखते हैं। मस्तिष्क, मेदा, अँतडी, वसा और मज्जा से पूरित नर-मांस की आहुति अग्नि में करना, व्रत के अन्त में नर-कपाल में रक्खी सुरा से पारण करना, तत्काल ही कटे हुए सिर से गिरती हुई रुधिर की धार से शोभित पुरुष की नर बलियों से, महाभैरव का पूजन करना आदि इस मत के धर्म हैं। इस मत के अनुयायी ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं को भी पकड़ कर ला सकते हैं। आकाश में चलते नक्षत्रों की गति को भी रोक सकते हैं। पृथ्वी को शीघ्र ही जल से भर और उसे सुखा भी सकते हैं। मोक्ष के सम्बन्ध में उनका विचार है कि विषयानन्द को छोड़कर सुख रहित निश्चल पत्थर की स्थिति रूप मोक्ष व्यर्थ है। मुक्त जीवात्मा, पार्वती के स्वरूप वाली स्त्री से आलिंगित चन्द्र-चूड़-वपु-शंकर का रूप बनकर अनन्त काल तक आनन्द का अनुभव करती है।

३८१. कृष्ण मिश्र ने सोमसिद्धान्त के नरबलि और रक्तपान के वीभत्स हिंसात्मक कृत्यों की समीक्षा जैन और बौद्ध साधुओं के घृणास्पद आक्षेपों के माध्यम से की है। कापालिकों की भैरवी विद्या की सिद्धि को ऐन्द्रजालिक विद्या कह कर भर्त्सना की है। राजसी श्रद्धा के विलासपूर्ण कृत्यों से इस मत को सरागी और व्यभिचारी भी वर्णित किया है। इससे ज्ञात होता है, नाटककार ने मतमतान्तर के निराकरण के हेतु विवादास्पद सिद्धान्तों की ही ओर सूक्ष्म संकेत किया है। उस मत विशेष के निराधार, हिंसात्मक, ऐन्द्रजालिक, व्यभिचारों का प्रतिपादन कर उसे निराकृत कर दिया है।

३८२. **यज्ञविद्या**--'यज्ञविद्या' से 'उपनिषद' का वार्तालाप हुआ है। उसमें

---

१. **सोमसिद्धान्त का विवरण--अंक तृतीय, पृष्ठ १११-१३०।**

'यज्ञविद्या' ने अपने सिद्धान्तों की चर्चा की है।[1] उसका विचार है कि ईश्वर अकर्ता नहीं है। संसार के बन्धन निवृत्ति कर्मों से होती है, वस्तुज्ञान मात्र से नहीं। अतः संसार से निवृत्ति के लिए यज्ञादि कर्म को करते हुए शान्तमन से सौ वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिए। (कुर्वन्नेवेह कर्माणिजिजीविषेच्छतं समाः)। कर्मों से ही कल्याण होना सम्भव है। इन कर्मों का फल देनेवाला ईश्वर है।[2] यह ईश्वर कर्ता और भोक्ता है।[3]

३८३. नाटककार ने विवेक के द्वारा 'यज्ञविद्या, की आलोचना की है। इसका ईश्वर सम्बन्धी मत अज्ञानमय है। वास्तव में ईश्वर अचल निर्लेप और निर्विकार होता है। माया के प्रभाव से वह कर्ता प्रतीत होता है। कर्मो से, कर्मों की निवृत्ति मानना, मल से मल को स्वच्छ करने की चेष्टा के समान निरर्थक है। तत्वज्ञान से ही संसारिक कर्म बन्धनों की निवृत्ति होती है।

३८४. **मीमांसा**--प्रबोधचन्द्रोदय में मीमांसा[4] के दो प्रमुख प्रतिपादक हैं। एक प्रभाकर गुरु हैं। इनके मत में पुरुष कर्ता और भोक्ता है। इस कर्ता और भोक्ता के अतिरिक्त और कोई ईश्वर नहीं है। दूसरे प्रमुख प्रतिपादक कुमारिल भट्ट हैं। यह कुमारिल मीमांसा के अनुसार पुरुष को कर्त्ता भोक्ता मानने पर भी, उपनिषद के अकर्त्ता और अभोक्ता रूप से परिचित थे। इस प्रकार मीमांसा में स्वर्गादि सुखों की व्यवस्था कर्म फल के अनुसार होती है। पुरुष फल का भोक्ता और कर्त्ता है।

३८५. मीमांसा के उभय प्रतिपादकों के कर्म से स्वर्ग प्राप्ति रूप मुक्ति और पुरुष को कर्त्ता मानने के सिद्धान्त से नाटककार ने अपनी विमति प्रकट की है, क्योंकि अद्वैत मत के अनुसार मुक्ति ज्ञान से होती है तथा पुरुष कर्तृत्व और भोक्तृत्व आदि गुणों से रहित है।

३८६. **तर्कविद्या**--तर्कविद्या के अन्तर्गत सांख्य योग न्याय और वैशेषिक

---

१. प्र० च०, अंक ६, पृष्ठ २१९-२२३।

२. पुमानकर्ता कथमीश्वरो भवेत्
क्रिया भवोच्छेदकरी न वस्तुधीः।
कुर्वन्क्रिया एव नरो भवच्छिदः
शतं समाः शान्तमना जिजीविषेत्॥१५॥--प्र० च०, अंक ६।

३. "कर्तारं भोक्तारं पुरुषं स्तुवन्ति"--प्र० च० अंक ६।

४. प्र० च०, अंक ६, पृष्ठ २२५-२२६।

आदि इन चारों दर्शनों का संकेत उपनिषद् पात्र ने एक ही श्लोक में किया है।[1] तर्कविद्याओं के तत्कालीन विचारधारा के विवरण में वह बताती है कि सांख्य और योग---प्रकृति और पुरुष का विभाजन करके महत् अहंकार आदि के सृष्टि क्रम के अनुसार तत्वों की गणना करती है। ये ईश्वर को विनाश धर्मी मानकर प्रधान से ईश्वर की उत्पत्ति बताती है। न्याय विद्याएं---न्याय, वैशेषिक---छल जाति और निग्रह आदि के द्वारा पंचावयव वाक्य रूपवाद, जल्प और वितण्डा का विस्तार करती हैं। परमाणु के द्वारा विश्व की उत्पत्ति मानती हैं। ईश्वर को निमित्त कारण मानती हैं।

३८७. नाटककार का विचार है कि सृष्टि के क्रम के सम्बन्ध में तर्क विद्याओं का मत भ्रमपूर्ण है। सभी कार्य प्रमेय रूप होते हैं। अतः परमाणु से सृष्टि का आरम्भ नहीं हो सकता है। परमाणु और प्रकृति के भी मूल उपादान कारण की आवश्यकता होती है ?[2] माला में सर्प की भ्रान्ति के समान संसार की प्रतीति होती है, जो भ्रमपूर्ण प्रतीति तत्वज्ञान से दूर हो सकती है।[3] निर्विकार ब्रह्म, स्वच्छ आकाश के समान मेघमाला के घिर जाने पर भी स्वच्छ और पवित्र ही रहता है।[4]

३८८. निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मिश्र जी ने अधिक विस्तार में न पड़कर अन्य धर्म-दर्शनों के विशेष विवादास्पद सिद्धान्तों को ही आलोचना का विषय बनाया है। यह आलोचना–तत्कालीन धार्मिक समाज के सजीव दृश्य के रूप में प्रस्तुत की गई है। पात्रों के परस्पर अहंकारपूर्ण वार्तालाप, वाद-विवाद एवं कार्य-कलाप से आलोचना व्यक्त हुई है। आलोचना को शुष्क और वर्णनात्मक न कर उसकी सरस प्रभावशाली योजना करना इनकी एक अन्यतम विशेषता है। जो परवर्ती अन्य नाटककारों में अपने इस सुष्ठु रूप में नहीं मिलती है। इस आलोचना ने कृष्ण मिश्र के (उपनिषद् का अद्वैत–विष्णुभक्ति) समन्वयात्मक दृष्टिकोण का प्रतिपादन करने के लिए, एक पृष्ठ भूमिका कार्य किया है और साथ ही दार्शनिक विचारों को एक गौरव प्रदान किया है।

स्वाभिमत धर्म दर्शन

३८९. नाटक के स्वाभिमत धर्म दर्शनों में 'अद्वैत दर्शन', 'विष्णुभक्ति',

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय, अंक ६, पृष्ठ २२८।
२. वही वही, पृष्ठ २२९।
३. वही वही, श्लोक २२ ।
४. वही वही, श्लोक २३ ।

'वैयासिकी, सरस्वती', और 'उपनिषद्' हैं। इनकी क्रमिक समीक्षा नीचे दी जा रही है—

३९०. अद्वैत दर्शन—कृष्ण मिश्र से पूर्व शंकर अद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन कर चुके थे। अतएव नाटककार के दार्शनिक विचारों पर उनका पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। नाटककार ने अद्वैत वेदान्त के अनुकूल ही तत्वों की दार्शनिक व्याख्या की है। तात्पर्य यह कि इसी मान्यता के आधार पर, उसने ब्रह्म, जीव, जगत और माया सम्बन्धी विचार व्यक्त किये हैं। मोक्ष के सम्बन्ध में भी नाटककार का मत अद्वैत मत के अनुसार ही है। अतएव अब हम नाटककार के द्वारा अद्वैत मत के अनुकूल—ब्रह्म, जीव, जगत, माया और मोक्ष के स्वरूप पर विचार करते हैं।

३९१. ब्रह्म—नाटककार के मत में ब्रह्म चिदानन्द, निरंजन, निर्गुण, निराकार, है। माया के ही कारण वह अनेक रूपों में भासता है किन्तु वास्तव में वह अखण्ड ज्योतिस्वरूप है। प्रथम अंक के नान्दी पाठ में ब्रह्म के स्वरूप लक्षणों की व्याख्या करते हुए उसे आनन्दमय और ज्योतिस्वरूप ही बताया है।—"सान्द्रानन्दमुपास्महेतदमलंस्वात्मावबोधंमहः।" (प्रथम अंक पृ० २, श्लोक १) ब्रह्म की यह अखण्ड अनादि ज्योतिःस्वरूप सत्ता माया के कारण भिन्न प्रतीत होने लगती है। भिन्न प्रतीत होते हुए ब्रह्म की संज्ञा भी भिन्न हो जाती है। दुश्चरित्र स्त्री की भांति माया से वंचित होने या ठगे जाने पर ब्रह्म 'पुमान्' कहे जाने लगते हैं।[1] ब्रह्म स्फटिक मणि के समान तेजस्वी, शुद्ध, असंगत, अविक्रिय है। किन्तु माया से आवेष्टित होने के कारण वह विकृत हो जाता है।[2] उसमें विकार प्रतीत होने लगता है। विकृत हो जाने से ब्रह्म की अनन्त सत्ता सीमित हो जाती है। माया के कारण अहंकारादि भावनाएं उसे दीन दशा को प्राप्त करा देती हैं। जिसका भाव निम्न श्लोक से व्यक्त होता है:—

असावहंकारपरैर्दुरात्मभि-
र्निबध्य तैः पापशठैर्मदादिभिः।
चिरं चिदानन्दमयो निरंजनो
जगत्प्रभुर्दीनदशामनीयत।।२४।। प्र० च०, प्रथम अंक।

---

१. **'त्वमपि यतो मायासंगात्पुमानिति विश्रुतः।'**
—प्र० च०, प्रथम अंक, श्लोक २५।

२. **'स्फटिकमणिवद्भास्वान्देवः प्रगाढमनार्यया**
विकृतिमनया नीतः कामप्यसंगतविक्रियः।
—प्र० च०, प्रथम अंक, श्लोक २६।

शुद्ध निर्मल ज्योतिस्वरूप ब्रह्म को नाटककार ने अकर्त्ता माना है। अद्वैत के अनुसार ब्रह्म अचल, अखण्ड, ज्योतिस्वरूप है। माया के कारण वह कर्त्ता और भोक्ता प्रतीत होता है। ब्रह्म के कर्तृत्व का आभास माया के संग से, उसी प्रकार से है जैसे चुम्बक पत्थर के प्रभाव से, लोहा अचल होते हुए भी चलायमान प्रतिभासित होता है।[1] माया के प्रभाव से अनेक प्रकार से विकारयुक्त प्रतिलक्षित होने पर भी, ब्रह्म के स्वरूप में अन्तर नहीं होता है। उसका वास्तविक स्वरूप ज्यों का त्यों बना रहता है। वह चिदानन्द ज्योतिःस्वरूप ही रहता है। ब्रह्म के इस रहस्य का वर्णन छठे अंक के २३ श्लोक में निर्मल पवित्र आकाश में आये हुए काले बादलों के उदाहरण से स्पष्ट किया गया है।[2] इस ब्रह्म की उपासना जो कि अद्वय, अज, अनन्त, शान्त और ज्योतिस्वरूप है, अनेक प्रकार से की जाती है—'अनेक प्रवाहों से सम्पन्न जलनिधि के समान, अनेक रूपों में आगमों, त्रुटियों और शैवों के द्वारा उपास्यमान (ब्रह्म) जगदीश्वर, प्राप्त करने योग्य है।[3] तमोमय संसार को प्रकाशित करने वाले ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हो जाने पर, ब्रह्म से परिचित आत्माएं मोक्ष को प्राप्त होती हैं। इस ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार ही भवसागर से मुक्त कराने का, एक मात्र साधन है। छठे अंक के श्लोक सत्रह में नाटककार का यही भाव द्रष्टव्य है—

'तमेवविद्वानतिमृत्युमेतिनान्योऽस्ति पन्था भवमुक्तिहेतुः।'

३९२. जीव—नाटककार ने अद्वैत वेदान्त के अनुकूल 'जीव' को ब्रह्म का ही अंश स्वीकार किया है। जीव चैतन्यरूप ब्रह्म का ही अंश होने पर भी, अज्ञान और अविद्या के आवरण के कारण अपने को पृथक् मानता है। वह विषय संबंधों के

---

१. अयः स्वभावादचलं बलाच्चल—
त्यचेतनं चुम्बकसंनिधाविव।
—प्र० च०, अंक ६, श्लोक १६।

२. शांतं ज्योतिः कथमनुदितानस्तनित्यप्रकाशं
विश्वोत्पत्तौ व्रजति विकृतिं निष्कलं निर्मलं च।
शश्वन्नीलोत्पलदलरुचामम्बुवाहावलीनां
प्रादुर्भावे भवति नभसः कीदृशो वा विकारः॥

३. ज्योतिः शान्तमनन्तमद्वयमजं तत्तद्गुणोन्मीलना.
द्ब्रह्मेत्यच्युत इत्युमापतिरिति प्रस्तूयते नेकधा।
तैस्तैरेव सदागमै. श्रुतिमुखैर्नानापथप्रस्थिते-
र्गम्यो सौ जगदीश्वरो जलनिधिर्वारां प्रवाहैरिव॥
—प्रबोधचन्द्रोदय, अंक ५, श्लोक ९।

बन्धनों के मिथ्या भ्रम में भ्रान्त रहता है। मिथ्या भ्रम के कारण जीवात्मा पुत्र-कलत्रादि से सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। वह कल्पना करता है कि उसके पिता, जननी, पत्नी, पुत्र और मित्र आदि उसके हितैषी हैं। यह कल्पना उसे अविद्यामय एवं अज्ञानान्धकार से सम्पन्न बना देती है। जिससे वह अज्ञानमयी निद्रा में लीन रह कर अनेक स्वप्न देखा करता है।[1] नश्वर विषय-वासनाओं में सुख भोग का अनुभव करता है। किन्तु वास्तव में शरीर के अन्दर कर्त्ता--पुमान् ईश्वर है, जो कार्य-संचालन करता है।[2] आत्मा ब्रह्म का ही अंश है, इस तथ्य को छठे अंक में सरल मनोवैज्ञानिक प्रश्नोत्तर की नाटकीय शैली में नाटककार ने स्पष्ट कर दिया है। जीवात्मा रूप 'पुरुष' 'उपनिषद्' देवी से प्रश्न करता है कि 'क्या मैं ही परमेश्वर रूप हूँ?' उपनिषद् उत्तर देती है कि 'जीवात्मा और परमात्मा दो भिन्न सत्ता नहीं हैं। दोनों अद्वैत रूप से परस्पर अभिन्न हैं। अभिन्न होते हुए भी दोनों की भिन्न प्रतीति होती है जैसे जल में बिम्ब पड़ने से एक सूर्य की सत्ता के स्थान पर भ्रम से दो सूर्यो का आभास होने लगता है। अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा का द्वैत भ्रमपूर्ण है।[3] साधारण मानवों को यह शंका होना सम्भव है कि भिन्न-भिन्न रूप में दिखाई देने वाली और जरा मरण वाली, यह आत्मा ब्रह्म कैसे हो सकती है।[4] किन्तु

---

१. जातोऽहं जनको ममैष जननी क्षेत्रं कलत्रं कुलं
पुत्रा मित्रमरातयो वसु बलं विद्या सुहृद्बन्धिवाः।
चित्तस्पन्दितकल्पनामनुभवन्विद्वानविद्यामयीं
निद्रामेत्य विघूर्णितो बहुविधान् स्वप्नानिमान्पश्यति ॥
--प्र० च०, प्रथम अंक, श्लोक २९।

२. बाला मामियमिच्छतीन्दुवदना सानन्दमुद्वीक्षते
नीलेन्दीवरलोचना पृथुकुचोत्पीडं समाश्लिष्यति।
का त्वामिच्छति का च पश्यति पशो मांसास्थिभिर्निर्मिता
नारी बेद न किंचिदत्र स पुनः पश्यत्यमूर्तः पुमान् ॥
--प्र० च०, चतुर्थ अंक, श्लोक १०।

३. उपनिषत्--एवमेतत्। तथाहि--
असौ त्वदन्यो न सनातनः पुमान् भवान्न देवात्पुरुषोत्तमात्परः।
स एष भिन्नस्त्वदनादिमायया द्विधेव बिम्बं सलिले विवस्वत. ॥
--प्र० च०, अंक ६, श्लोक २५।

४. अवच्छिन्नस्य भिन्नस्य जरामरणधर्मिणः।
"मम ब्रवीति देवीयं सत्यानन्दचिदात्मताम् ॥--प्र० च०, अंक ६
श्लोक २६।

यह शंका उन्हीं को होती है जिन्हें तत्वज्ञान-पदार्थज्ञान नहीं होता है। 'तत्वमसि' महावाक्य के पदार्थज्ञान होने के पश्चात् आत्म साक्षात्कार सम्भव हो जाता है।[१] अतः अज्ञानावरण के कारण आत्मा और ब्रह्म दो भिन्न सत्ताएं होती हैं। अज्ञानावरण हट जाने से आत्मा को ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। दोनों की एकता सिद्ध हो जाती है।

३९३. माया—ब्रह्म और जीव के अतिरिक्त माया के सम्बन्ध में भी नाटककार ने विचार व्यक्त किये हैं। उसके मत में माया ब्रह्म की शक्ति है। जिसके कारण भ्रम रूप जगत वास्तविक प्रतीत होने लगता है। ब्रह्म के संग से माया ने प्रथमतः मन की सृष्टि की थी, तदनन्तर त्रैलोक्य की रचना की थी।[२] माया ने अपनी सत्ता व्यापक करने के हेतु नवद्वार रूप पुर बनाकर[३] मन को प्रभावशाली बना दिया। जिससे निर्मल ज्योति रूप ब्रह्म में मणि में प्रतिलक्षित बिम्ब के समान,[४] मन की विषय सम्बन्धी क्रियायें प्रतिबिम्बित होने लगीं। इस प्रतिबिम्ब के कारण ब्रह्म के स्थान पर नश्वर मन को ही आत्मा (ब्रह्म) समझा जाने लगा है।

३९४. जगत्—जगत् मिथ्या है। यह भ्रमरूप भी है। वास्तव में ब्रह्म के अतिरिक्त सब असत्य है। मूर्खों को मृगमरीचिका के समान सत्य प्रतीत होता है। उनको आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से निर्मित जगत् प्रतिभासित होता है। तत्व को जानने वाले विद्वानों को भी यदाकदा माला में सर्प के समान, संसार के सम्बन्ध में, भ्रम हो जाया करता है।[५] असत्य और नश्वर जानते हुए भी संसार

---

१. एषोऽस्मीति विविच्य नेतिपदतश्चित्तेन सार्धं कृते
+ + +
शान्तं ज्योतिरनन्तमन्तरुदितानन्दः समुद्योतते॥
—प्र० च०, अंक ६, श्लोक २७।

२. प्रबोध चन्द्रोदय, अंक १, श्लोक १७।

३. वही वही, पृष्ठ ३५।

४. एकोऽपि बहुधा तेषु विच्छिन्नेव निवेशितः।
स्वचेष्टितमथो तस्मिन्विदधाति मणाविव॥
—प्र० च०, प्रथम अंक, श्लोक २८।

५. मध्याह्नार्कमरीचिकास्विव पयःपूरो यदज्ञानतः
खं वायुर्ज्वलनो जलं क्षितिरिति त्रैलोक्यमुन्मीलति।
यत्तत्वं विदुषां निमीलति पुनः स्रग्भोगिभोगोपमं
+ + +
—प्र० च० प्रथम अंक, श्लोक १।

को सत्य मानने के भ्रम में पड़ जाते हैं। मार्ग के पथिकों के समान, समुद्र में यात्रा करने वाले यात्रियों के समान संसार में माता-पिता, भाई और बन्धु का सम्बन्ध होता है।[1]

३९५. मोक्ष––नाटककार के अनुसार उपनिषद् से पुरुष के तत्वमसि वाक्य के सुनने पर वह ध्यान करता है। ध्यान में उपनिषद् की संकर्षण शक्ति के द्वारा विद्या के प्रकट होने से अज्ञान का निराकरण हो जाता है। तदनंतर उसमें प्रबोध का संक्रमण होता है। प्रबोध रूप इस ज्ञान के उदित होने के पश्चात् उसे 'सोऽहं ब्रह्म' की अनुभूति होने लगती है। यही उसके मोक्ष की अवस्था होती है। इस अवस्था में पुरुष को यह ज्ञान नहीं रहता कि उसने क्या पाया और क्या खोया, क्या उदित हुआ और क्या हटाया गया। ऐसे वितर्क उस समय उसमें रह ही नहीं जाते, क्योंकि उस समय सहज प्रकाश से त्रैलोक्य के मूलभूत अंधकार का निरास हो जाता है। और आत्म-साक्षात्कार रूप ब्रह्मानन्द का अनुभव करता हुआ, सदानन्द पद (मोक्ष) को प्राप्त होता है।

साधना मार्ग

३९६. तत्वों और मोक्ष के सम्बन्ध में कृष्ण मिश्र की मान्यता का अध्ययन करते हुए हमने देखा कि ये तत्वों तथा मोक्ष की व्याख्या अद्वैत सिद्धान्तानुसार ही करते हैं। किन्तु अद्वैत की इस मान्यता का प्रतिपादन होने पर भी, केवल मात्र अद्वैत का ही प्रतिपादन नहीं है। अपितु अद्वैतानुसार तत्वों की व्याख्या के स्पष्टीकरण तथा मोक्ष-प्राप्ति के हेतु विष्णुभक्ति का सहयोग अनिवार्य स्वीकार किया है। इस भांति अद्वैत और विष्णुभक्ति से समन्वित, एक विशेष साधना मार्ग का वर्णन कृष्ण मिश्र ने प्रस्तुत किया है। इस साधना मार्ग का संचालन विष्णुभक्ति के आदेशों से ही होता है। विष्णुभक्ति श्रद्धा और शान्ति के द्वारा साधना के सम्बन्ध में आदेश प्रेषित करती है। इस अद्वैत सिद्धान्त के अनुसार, विष्णुभक्ति के आदेशों तथा पथ-प्रदर्शन से समन्वित साधना मार्ग का वर्णन, प्रारम्भिक अवस्था से लेकर अन्तिम अवस्था तक है। जिसमें क्रम से बन्धनों और बाधाओं पर विजय प्राप्त करके मोक्ष-

---

१. पान्थानामिव वर्त्मनि क्षितिरुहां नद्यामिव प्रश्यतां
मेधानामिव पुष्करे जलनिधौ सांयात्रिकाणामिव।
संयोगः पितृमातृबन्धुतनयभ्रांतृप्रियाणां यदा।
+ + +
––प्र० च०, अंक ५ श्लोक २५

प्राप्ति होती है। इस साधना मार्ग का अध्ययन हम निम्न विभाजन से कर सकते हैं :—

१. मन के दुर्गुणों की पराजय तथा सद्‌गुणों की विजय।
२. मन का निवृत्ति की ओर उन्मुख होना।
३. उपनिषद के 'तत्वमसि' महा वाक्य का ज्ञान।
४. निदिध्यासन के प्रवेश से प्रबोध का उदय।

३९७.° साधना मार्ग के प्रथम स्तर में मोह (दुर्गुण) और विवेक (सद्‌गुण) के पक्षों का परस्पर संघर्ष होता है। इस संघर्ष में मोहादिक दुर्भावनायें जब अपने विस्तार का प्रयत्न करती हैं, तब उन्हें विष्णुभक्ति का भय रहता है। वे जानते हैं, यदि श्रद्धा और धर्म विष्णुभक्ति के अनुयायी रहे तो मोक्ष-प्राप्ति में सन्देह नहीं रहेगा। अतः महामोह के पक्ष की ओर से श्रद्धा और धर्म दोनों के विनाश का प्रयत्न होता है। किन्तु दोनों की रक्षा विष्णुभक्ति स्वयं अपनी अद्‌भुत शक्ति से सम्पन्न कर लेती है। विष्णुभक्ति एक ओर विवेक के निकट, युद्ध प्रारम्भ करने की आज्ञा, श्रद्धा द्वारा प्रेषित करती है, दूसरी ओर मैत्री, मुदिता आदि चित्त की शोधक वृत्तियों को (विवेक का मार्ग प्रशस्त करने के हेतु) भक्तों के हृदय में निवास के लिए भेज देती हैं। विष्णुभक्ति के सन्देश से प्रोत्साहित होकर विवेक मोह के विरुद्ध युद्ध प्रारम्भ करता है। अन्त में उनकी शुभकामना से विवेक को विजय मिलती है। नाटककार ने इस प्रकार साधना मार्ग के इस प्रथम स्तर में यह दिखा दिया है कि मानव के दुर्गुण, उसे आध्यात्मिक कल्याण की ओर प्रवृत्त नहीं होने देते हैं। कल्याण की ओर प्रवृत्त होने के लिए, विवेक के साथ भक्ति, श्रद्धा और शान्ति के सहयोग की आवश्यकता है। भक्ति की शक्ति द्वारा, विवेक से श्रद्धा विलग नहीं होती है। ऐसे श्रद्धालु और विवेकी भक्त को, शान्ति, मैत्री, मुदिता और उपेक्षा आदि वृत्तियां दुर्गुणों पर विजय-प्राप्ति में सशक्त बना देती हैं। भक्त के हृदय में मनोविकार शेष नहीं रह जाते हैं।

३९८. दुर्गुणों पर विजयी मनुष्य के हेतु साधना का दूसरा स्तर प्रस्तुत होता है। इस दूसरे स्तर में (दुर्गुणों पर विजय प्राप्त कर लेने पर भी) मनुष्य का मन अनिश्चित अवस्था में होता है। उसे भ्रमपूर्ण आकर्षणों से भ्रमित होने की सम्भावना बनी रहती है। इस अनिश्चित अवस्था को दूर करने और आध्यात्मिक कल्याण को निश्चित बनाने के हेतु विष्णुभक्ति वैयासिकी सरस्वती के अमृतोपम उपदेशों की व्यवस्था करती है। सरस्वती के अमृतोपम उपदेशों से मन निवृत्ति की ओर उन्मुख हो जाता है। मन के महामोह से निवृत्त हो जाने से आध्यात्मिक साधना का दूसरा स्तर पार कर, साधक तीसरे स्तर की कोटि में जाता है।

३९९. साधना मार्ग के तीसरे स्तर में निवृत्त मन वाला (आत्मा) पुरुष तत्वज्ञान की इच्छा करना प्रारम्भ करता है। विष्णुभक्ति, उपनिषद् को पुरुष के सन्निकट लाकर विवेक के साथ 'तत्वमसि' का उपदेश देने की अनुमति देती है। आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति जिज्ञासु पुरुष आत्मा और ब्रह्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा व्यक्त करता है। तब उपनिषद् उसे 'तत्वमसि' का उपदेश देती है। इस उपदेश को पुरुष 'विवेक' की सहायता से ग्रहण करता है। उपदेश को ग्रहण करने के पश्चात् वह मनन करना प्रारम्भ करता है। मनन प्रारम्भ हो जाने पर साधना मार्ग में चौथे स्तर की अवस्था आ जाती है।

४००. साधना मार्ग के चौथे स्तर में विष्णुभक्ति की आज्ञा से निदिध्यासन प्रवेश करता है और उपनिषद् को अपनी संकर्षण शक्ति से विद्या को मन में तथा प्रबोध को पुरुष रूप में प्रवेश कराने की प्रेरणा देकर, स्वयं पुरुष में प्रविष्ट हो जाता है। निदिध्यासन की अवस्था में, पुरुष में विद्या के द्वारा अज्ञानान्धकार का नाश तथा प्रबोध के उदय से अलौकिक ज्योतिरूप ब्रह्मानन्द का अनुभव और आत्म-साक्षात्कार होता है। यह आत्म-साक्षात्कार रूप प्रबोध का उदय, साधना मार्ग की अन्तिम अर्थात् मोक्ष की चरम अवस्था है। साधना मार्ग की अन्तिम अवस्था पर पहुंचाकर विष्णुभक्ति स्वयं आत्मदर्शी को दर्शन देती हैं। प्रस्तुत नाटक में प्रबोधोदय प्राप्त पुरुष विष्णुभक्ति के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करता हुआ कहता है :—

"देव्या विष्णु भक्तिः प्रसादात्किं नाम दुष्करम्"

अर्थात् विष्णुभक्ति की कृपा से संसार में सभी कामनाएं पूर्ण हो सकती हैं।

४०१. साधना मार्ग के प्रस्तुत विवरण से स्पष्ट है कि साधना मार्ग में विष्णु-भक्ति आवश्यक है। विष्णुभक्ति के निरन्तर सहयोग से साधना की बाधाएं मन और आत्मा के मल, विक्षेप और आवरण दूर हो गये। मल से तात्पर्य मन के दुर्विचारों से है। विक्षेप के अर्थ मन की चंचलता अर्थात् अज्ञात वस्तुओं में विभिन्न कल्पनायें करना है। आत्मा के सम्बन्ध में तत्व का अज्ञान-आवरण कहा जाता है। विष्णुभक्ति मोहादि विकारों पर विजय प्राप्त करा कर सद्गुणों से विभूषित कर मल को दूर कर देती है। मिथ्या संसार के मोह में आसक्त, चंचल और कल्पना-शील मन के विक्षेप को विष्णुभक्ति, वैयासिकी सरस्वती के अमृतोपम उपदेश के द्वारा, निवृत्ति की ओर उन्मुख बना देती है। मन शान्त और निर्मल तथा विक्षेप से रहित हो जाता है। मन मल और विक्षेप से रहित हो जाने पर भी आत्मा पर अज्ञान का आवरण होता है, जो तत्वों के ज्ञान से ही दूर हो सकता है। अज्ञान को दूर करने के हेतु विष्णुभक्ति, उपनिषद् और विवेक के द्वारा 'तत्वमसि' महावाक्य

का उपदेश ग्राह्य बनवा देती है। जिससे कि पुरुष को निदिध्यासन की अवस्था में प्रबोधोदय होता है। वह स्वायम्भुव होने का अनुभव करता हुआ सदानन्द पद (मोक्ष) पर प्रतिष्ठित हो जाता है। इस भांति नाटककार ने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि अद्वैत सिद्धान्तानुसार साधना मार्ग में भक्ति का सहयोग परमावश्यक और कल्याणकारी है। तर्क और बुद्धि (मति) के शान्त हो जाने पर ही श्रद्धा, शान्ति और भक्ति आदि के सहयोग से प्रबोधोदय सम्भव होता है।[1] अर्थात् आत्मा को निरन्तर कल्याण में नियोजित करने के हेतु भक्ति का हितैषी सूत्र-संचालन आवश्यक है। विभिन्न ज्ञान और दर्शनशास्त्रों का महत्व केवल अवस्था और प्रसंगानुसार ही होता है। ये दर्शन विशेष परिस्थिति में ही कल्याणकारी सिद्ध हो सकते हैं। भक्ति के संचालन से शासित आत्मा दुर्गुणों पर विजय प्राप्त करने, निवृत्युन्मुख होने, तत्वज्ञान और आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करने में समर्थ हो सकती है। आत्मा को निरन्तर हितैषी एवं रक्षक की आवश्यकता है। इस प्रकार नाटककार ने दर्शनों का और भक्तिमार्ग का समन्वय करके, (नाटकीय योजना में) यह सिद्ध किया है कि आत्मा विकार रहित होकर विष्णुभक्ति के कल्याणमय शासन से अनुशासित होते रहने पर ही दर्शनों के ज्ञान से लाभान्वित हो सकती है।

साधना मार्ग के सहयोगी

४०२. नाटककार ने अपने मौलिक साधना मार्ग में विशेष सहयोगियों के रूप में विष्णुभक्ति, वैयासिकी सरस्वती, उपनिषद् को दिखाया है। इसके अतिरिक्त विद्या, प्रबोध और निदिध्यासन भी आत्म-साक्षात्कार में विशेष क्रियात्मक सहयोग देते हैं। प्रबोधचन्द्रोदय में नाटककार ने जिस रूप में इन सहयोगियों का विवरण प्रस्तुत किया है, उसका क्रम से अब हम अध्ययन करेंगे।

४०३. **विष्णुभक्ति**—श्रद्धा और शान्ति से समन्वित विष्णुभक्ति का प्रभाव अत्यधिक होता है। कलियुग के दुष्कर्मों और व्यभिचारों के द्वारा विष्णुभक्ति का अनुयायी विकृत नहीं होता है। कलियुग की शक्ति को समाप्त करने की शक्ति यदि किसी में है तो केवल मात्र विष्णुभक्ति में ही।[2] विष्णुभक्ति सिद्धि

---

१. **विवेक मति से कहता है—**
तूष्णीं चेद्विषयानपास्य भवती तिष्ठेन्मुहूर्त्तं ततो
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिधामविरहात्प्राप्तः प्रबोधोदयः॥
—प्र० च०, प्रथम अंक, श्लोक ३०।

२. **चार्वाक—अस्ति विष्णुभक्तिर्नाम महाप्रभावा योगिनी। सा तु कलिना**

का मूल साधन है। विवेकी विष्णुभक्त यदि श्रद्धा सहित, निष्काम धर्म हो जाय, तो मोक्ष सुलभ हो जाता है।[१] मन को विषयों से विमुख करने के हेतु विष्णु के सगुण रूप की उपासना सहायक होती है। विष्णुभक्ति की कृपा से विवेक के शत्रु मारे जाते हैं। आत्मा निर्द्वन्द्व होकर मोक्ष को प्राप्त होती है।[२] विष्णुभक्ति के प्रसाद से संसार में क्या-क्या सम्भव नहीं है।[३] साधना-मार्ग के वर्णन में हम विष्णु-भक्ति के निरन्तर सहयोग संचालन पर विचार कर चुके हैं। इससे ज्ञात होता है कि विष्णुभक्ति को नाटककार ने अत्यन्त श्रेष्ठ स्थान दिया है। और सर्वशक्ति-मान के सगुण विष्णु रूप को आधार बनाकर श्रद्धालु, सात्विक एवं ज्ञानवान भक्त होना मोक्ष के लिए कल्याणकारी स्वीकार किया है। और श्रद्धालु सात्विक विवेकी धर्मानुयायी, तत्वज्ञानी भक्त को ही आत्म-साक्षात्कार का अधिकारी स्वीकार किया है।

४०४. **वैयासिकी सरस्वती**--कृष्ण मिश्र ने वैयासिकी सरस्वती को वैराग्योत्पत्ति के हेतु आवश्यक माना है। चंचल और राग-द्वेष के मोह में फंसे मन को शान्त और निवृत्ति की ओर उन्मुख करने का कार्य वैयासिकी सरस्वती ने सम्पन्न किया है। इसके मतानुसार ब्रह्म एक है। ब्रह्म ही सर्वव्यापक एक मात्र सत्य है। ब्रह्म से भिन्न सर्वमिथ्या है। ब्रह्म ही नित्य है।[४] जगत् क्षणिक और नश्वर है।

यद्यपि विरलप्रचारा कृता तथापि तदनुगृहीतान्वयमालोकयितुमपि न प्रभवामः तदत्र देवेनावधातव्यमिति।

महामोहः--(समयमात्मगतम्) आः, प्रसिद्धमहाप्रभावा सा योगिनी स्वभावाद्विद्वेषिण आस्माकं दुरुच्छेद्या सा।

--प्र० च०, द्वितीय अंक, पृष्ठ ७२।

१. कापालिक--मूलं देवी सिद्धये विष्णुभक्तिस्तां च श्रद्धानुव्रता सत्वकन्या
कामान्मुक्तस्तत्र धर्मोऽप्यभूच्चेत्सिद्धं मन्ये तद्विवेकस्य कृत्यम्॥
--प्र० च०, तृतीय अंक, श्लोक २६।

२. प्रशान्तारातिरगमद्विवेकः कृतकृत्यताम्।
नीरजस्के सदानन्दे पदे चाहं निवेशितः॥
--प्र० च०, अंक ६, श्लोक ३२।

३. प्रबोधचन्द्रोदय, अंक ६, पृष्ठ २४०।

४. एकमेव सदा ब्रह्म सत्यमन्यद्विकल्पितम्।
को मोहस्तत्र कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
--प्र० च०, अंक० ५, श्लोक १५।

सिन्धु-फेन की भांति इसका अस्तित्व अस्थायी होता है—'सिन्धोः फेनसमेगते वपुषि यत्पंचात्मकेपंचताभ्।"[१] मन के प्रभाव से शाश्वत ब्रह्म रूप आत्मा-जन्म, मृत्यु, जरा धर्मवाली अनुभव होती है। बुद्धिवृत्ति के प्रभाव के परिणाम-स्वरूप आत्मा नाना रूपों में भिन्न-भिन्न दिखाई देती है। जैसे सूर्य समुद्र तरंगों में अनेक दिखाई देता है। यदि मन और बुद्धि अपने प्रभाव को संग्रहीत कर शान्त हो जाय तो आत्मा अतिशय आनन्दरूप में प्रकाशित प्रतीत होती है जैसे निर्मल अनावृत्त दर्पण में ही सूर्य प्रकाशित होता है।[२] मन के मोह का कारण ममता और वासना है। स्नेह, ममता के कारण एक सम्बन्ध का बन्धन स्थापित हो जाता है। जिस बन्धन के मोह में मानव वियोग का कष्ट अनुभव करता है। जिनसे सम्बन्ध की वासना नहीं होती, उनसे मोह भी नहीं होता है। जैसे धर में बिल्ली गौरैया को खा जाती है तो दुख होता है किन्तु यदि चूहे को खाती है तो दुख नहीं होता है।[३] यदि मानव-संसार की नश्वरता पर ध्यान दे सकें तो उसका मन मोह-ममता से विरक्त हो जायेगा। गम्भीर शोक, विपत्ति आदि का स्मरण न करने से दुर्निवार चिन्ता से रहित मन को बहुत शान्ति मिलती है। मन के शान्त रह सकने के लिए ब्रह्म और विष्णु की उपासना करना आवश्यक है। ग्रीष्म ऋतु में जैसे शीतलता मिलती है उसी प्रकार केयूर कुण्डलधारी श्यामवर्ण विष्णु अथवा सहजानन्द ब्रह्म की उपासना से आत्मिक शान्ति मिलती है। जिसका वर्णन निम्न श्लोक में है।

नित्यं स्मरंजलदनीलमुदारहार-
केयूरकुण्डलकिरीटधरं हरिं वा।
ग्रीष्मे सुशीतमिव वा ह्रदमस्तशोकं
ब्रह्म प्रविश्य भव निर्वृतिमात्मनोनाम्॥
——प्र० च०, अंक ५, श्लोक ३१।

---

१. प्र० च०, अंक० ५, श्लोक १४।

२. त्वत्संगाच्छाश्वतोऽपि प्रभवलयजरोपप्लुतो बुद्धिवृत्ति-
+ + +
र्भात्यादर्शे प्रसन्ने रविरिव सहजानन्दसान्द्रस्तवात्मा॥
——प्र० च०, अंक० ५, श्लोक ३३।

३. यस्माद्विश्वमुदेति यत्र रमते यस्मिन्पुनर्लीयते
भासा यस्य जगद्विभाति सहजानन्दोज्ज्वलं यन्महः।
शान्तं शाश्वतमक्रियं यमपुनर्भावाय भूतेश्वरं
द्वैतध्वान्तमपास्य यान्ति, कृतिनः प्रस्तौमि तं पूरुषम्॥
——प्र० च०, अंक ६, श्लोक १४।

४०५ **उपनिषद**—'उपनिषद्' पात्र ने अपने सिद्धान्त की चर्चा पुरुष पात्र से की है। उसके अनुसार ब्रह्म से ही संसार का उदय और निर्माण होता है। ब्रह्म ही जगत् का आदि है। अन्त में भी जगत् ब्रह्म में ही लीन हो जाता है। उसी ब्रह्म के प्रकाश से संसार प्रकाशित होता है। उसी से संसार को प्रेरणा और शक्ति मिलती है। उस ब्रह्म का प्रकाश उज्ज्वल और आनन्दस्वरूप है। वह नित्य, शाश्वत, शान्त, अक्रिय, अकर्ता, निर्लेप और अधिकारी है। द्वैत का नाश करके ही, ज्ञानवान विद्वान् मोक्ष के लिए ब्रह्म भूतेश्वर के निकट जाता है।[1] जीव और ब्रह्म के स्वरूपों का वर्णन उपमा द्वारा स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि दो पक्षी एक साथ मिलकर एक वृक्ष पर बैठे हुए हैं, उनमें से एक पक्षी पिप्पल को खाता है और दूसरा नहीं खाता है, केवल देखता रहता है। इनमें से पहला जीव है, जो संसार के बन्धनों में फंसा रहता है। दूसरा अकर्ता और अभोक्ता ब्रह्म है।[1] आत्मा (जीव) ब्रह्म का ही अंश है। ये ब्रह्म से अभिन्न है। अनादि माया के कारण ही जीवात्मा और ब्रह्म में भिन्नता प्रतीत होती है। जैसे जल के अन्दर पड़ता हुआ प्रतिबिम्ब भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी आत्मा से भ्रमवश भिन्न प्रतीत होता है। इस आत्मा का ज्ञान 'तत्वमसि' वाक्य के अर्थ के जान लेने पर होता है। 'एषोस्मिनेति' अर्थात् विभिन्न पदार्थ तत्वों को "यह मैं नहीं हूँ" इत्यादि पदों से विवेक के द्वारा चित्त में समझ लेने और उन तत्वों की नश्वरता को जानने से, 'त्वमर्थ' चिदात्मा के ज्ञान होने पर 'तत्वमसि' इस वाक्य से, संसार के अन्धार को दूर करने वाली अनन्त शान्त ज्योति प्रकट हो जाती है। जिसका वर्णन निम्न श्लोक में है :—

एषोऽस्मीति विविच्य नेतिपदतश्चित्तेन सार्धं कृते
तत्वानां विलये चिदात्मनि परिज्ञाते त्वमर्थे पुनः।
श्रुत्वा तत्वमसीति बाधितभवध्वान्तं तदात्मप्रभं
शान्तं ज्योतिरनन्तमन्तरुदितानन्दः समुद्योतते॥
—प्र० च०, अंक ६, श्लोक २७।

इस प्रकार उपनिषद् जीव, ब्रह्म और मोक्ष के ज्ञान का साधन है।

---

१. **द्वौ तौ सुपर्णौ सयुजो सखायौ**
समानवृक्षं परिषस्वजाते।
एकस्तयोः पिप्पलमत्ति पक्क-
मन्यस्त्वनश्नन्नभिचाकशीति॥
—प्र० च०, अंक ६, श्लोक २०।

४०६.—**विद्या**—विद्या कामादि का नाश कर देती है, आत्मा को ब्रह्मज्ञान कराने में सहायक होती है। इसीलिए काम अपनी पत्नी रति से विद्या का परिचय देता हुआ कहता है कि हम लोगों के कुल में विद्या नाम राक्षसी का जन्म होगा।[1] विद्या का जन्म मन में होता है। उसके जन्म लेते ही समस्त वासनाओं का शमन हो जाता है। इस तथ्य का पता हमें काम के इस वाक्य से चलता है :—

> **तस्मादेव जनिष्यते पुनरसो विधेति कन्या यया**
> **तातस्ते च सहोदराश्च जननी सर्वं च भक्ष्यं कुलम् ।।**
> **—प्र० च०, प्रथम अंक, श्लोक १९।**

विद्या का अपने भाई प्रबोध के साथ जन्म विवेक और उपनिषद् की सहायता से होता है। इस कार्य के लिए शम और दम आदि उद्योग करते हैं।[2] विद्या मन के उन भ्रमों और आकर्षणों का प्रायश्चित्त के द्वारा विनाश कर देती है जो ब्रह्म को पुरुष से दूर कर देते हैं। विद्या ही आत्मा को ब्रह्मैक्य की ओर ले जाती है।[3] जीव के निदिध्यासन की अवस्था में आविर्भूत यह विद्या अन्धकार का नाश कर स्वयं भी अन्तर्हित हो जाती है।

४०७.—**निदिध्यासन**—निदिध्यासन मन के निश्चल ध्यान को कहते हैं जिसमें विकार, दुश्चिन्ता का त्याग तथा सात्विक सत् का मनन-चिंतन होता है। प्रबोधचन्द्रोदय में निदिध्यासन रंगमंच पर पुरुष में प्रविष्ट होने के हेतु आता है। जीवात्मा निदिध्यासन-(ध्यान) के योग्य हो जाती है, तभी विवेक और उपनिषद् का ज्ञान उसे हृदयंगम होता है। जीवात्मा जब सात्विक एवं निश्चल ध्यान में लीन हो जाती है।[4] तभी प्रबोधोदय होता है। इस प्रकार विवेक की सहायता से उपनिषद् को

---

१. **"अत्रास्माकं कुले कालरात्रिकल्पा विद्यानाम राक्षसी समुत्पत्स्यत इति।"**
—प्र० च०, अंक १, पृष्ठ २३।

२. **सा खलु विवेकेनोपनिषद्देव्यां प्रबोधचन्द्रेण भ्रात्रा समं जनयितव्या। तत्र सर्व एते शमदमादयः प्रतिपन्नोद्योगाः।**
—प्र० च०, अंक १, पृष्ठ २६।

३. **तेषां ब्रह्मभिदां विधाय विधिवत्प्राणान्तिकं विषया**
प्रायश्चित्तमिदं मया पुनरसो ब्रह्मैकतां नीयते।।
—प्र० च०, अंक १, श्लोक ३१।

४. **निदिध्यासनं पुरुषोविशतिः पुरुषः ध्यानं नाट्यति।**
—प्र० च०, अंक ६, पृष्ठ २३७।

तात्विक ब्रह्मज्ञान का अनुभव करने के हेतु निदिध्यासन की अवस्था परमावश्यक है। निदिध्यासन की अवस्था वह सहायक माध्यम है जिससे आत्मा में प्रबोधोदय सम्भव होता है। निदिध्यासन योग की मुख्य प्रक्रिया है। इससे ज्ञात होता है कि कृष्ण मिश्र ने प्रबोधचन्द्रोदय में यद्यपि योग का पृथक् रूप से कहीं भी साधना के सहयोगियों के रूप में नाम नहीं लिया है किन्तु साधना में योग के उपकरणों का यथा-स्थान प्रयोग अवश्य किया है ; प्रबोधचन्द्रोदय में योग के यम नियम, शम दम आदि विवेक के सहायक दिखाये गये हैं।[१] विष्णुभक्ति विवेक की सहायता प्राणायाम आदि के द्वारा ही समय पर करने को कहती है।[२] करुणा, मैत्री, मुदिता, उपेक्षा तथा ऋतम्भरादि का वर्णन भी मिलता है। इस नाटक के निराकृत शास्त्रों में योगशास्त्र की चर्चा नहीं है। इस प्रकार कृष्ण मिश्र ने योगशास्त्र को निराकृत न मानकर साधना का सहयोगी ही स्वीकार किया है।

४०८.—**प्रबोध**—जब मानव को शान्ति प्राप्त हो जाती है, तब शान्ति की सहायता से विवेक के द्वारा उपनिषद् का ज्ञान, चिन्तन का विषय बनता है। विवेक से ज्ञान को स्पष्ट करके ग्राह्य बनाने की चेष्टा की जाती है। मति के शान्त हो जाने पर जागृति स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं के बाद जब तुरीयावस्था आती है, तभी प्रबोध का जन्म होता है।[३] मोह के नष्ट हो जाने और पुत्रादि की वासना के छूट जाने पर मन वैराग्य का अधिकारी होता है और परम शान्ति का अनुभव करता है। इससे उसके पंचक्लेश दूर हो जाते हैं। इसी अवस्था में आत्मा तत्वावबोध की इच्छा करती है।[४] निदिध्यासन की अवस्था में विद्या जब प्रकाश-विस्तार करके

---

१. प्र० च०, अंक १, पृष्ठ १८, ४१।

२. प्र० च०, अंक ४, पृष्ठ १३६।

३. मानिन्याश्चिरविप्रयोगजनितासूयाकुलाया भवै-
च्छान्त्यादेरनुकूलनादुपनिषद्देव्या मया संगमः।
तूष्णीं चेद्विषयानपास्य भवती तिष्ठेन्मूहर्तं ततो
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिधामविरहात्प्राप्तः प्रबोधोदयः॥
—प्र० च०, प्रथम अंक, श्लोक ३०।

४. अस्तं गतेषु तनयेषु विलीनमोहे
वैराग्यभाजि मनसि प्रशमं प्रपन्ने।
क्लेशेषु पंचषु गतेषु समं समीहां
तत्वावबोधमभितः पुरुषस्तनोति॥
—प्र० च, अंक ६, श्लोक १

मोह को ग्रसित कर अन्तर्ध्यान हो जाती है, तब प्रबोध का उदय होता है। प्रबोध का उदय होने से, क्या प्राप्त हुआ, क्या नष्ट हुआ, क्या छूट गया, किसका उदय हुआ, वस्त्रादि के समान गुथा हुआ सा, यह संसार आकाशादि क्रम से प्रकट होता है। यह सत् है या असत् है, संसार के सम्बन्ध में यह तर्क समूह नहीं उत्पन्न होता है। क्योंकि ब्रह्माकार अन्तःकरण, वृत्ति के सहज प्रकाश से त्रैलोक्य का मूल अन्धकार नष्ट हो जाता है, और वह 'सोऽहं' 'मैं ही ब्रह्म हूँ' का अनुभव करता है।[1] इस प्रकार मोह अज्ञाग रूप संसार के सम्बन्ध में तर्क और शंकाओं के नाशपूर्वक ब्रह्मानन्द की अनुभूति ही प्रबोध का उदय है।

नाटककार के द्वारा धर्म-दर्शन-सम्बन्धी योजना का सर्वेक्षण

४०९. कृष्ण मिश्र ने प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में परमत निराकरण तथा स्वमत प्रतिपादन दोनों किया है। वे अपनी अद्वितीय प्रतिभा से सबका संयोजित चित्र नाटक में उपस्थित कर सके है।

४१०. **योजना का स्वरूप**--धर्मदर्शनों की योजना तीन रूपों में की गई है :--

१. जिन मतों को नाटककार निराधार मानते थे,[2] जिनसे तत्कालीन समाज में व्यभिचार एवं पतन के प्रसार से नाश की सम्भावना थी, उन मतों चार्वाक, जैन, बौद्ध और सौमसिद्धान्त को उन्होंने महामोह का किकर[3] कहकर, महामोह (अज्ञान), प्रतिनायक के विस्तार में तथा विवेक (ज्ञान) प्रधाननायक के विरोध में प्रयत्नशील वर्णित किया है। महामोह प्रतिनायक की पराजय पर इन मतों को वेदविरोधी और निराधार कहकर देश-देशान्तरों में फिकवा दिया गया है।

२. वेद को मानने वाले दर्शनों (मीमांसा और तर्क विद्या) के द्वारा प्रथम तो सम्मिलित रूप से महामोह के पक्ष को पराजित कर दिया गया है। तदनन्तर उपनिषद् के यात्रा प्रसंग में मीमांसा और तर्कविद्या आदि से जीव जगत् की

---

१. किं वाप्तं किमपोहितं किमुदितं किं वा समुत्सारितं
स्यूतं किं नु विलायितं नु किमिदं किंचिन्न वा किंचन।
यस्मिन्नभ्युदिते वितर्कपदवीं नैवं समारोहति
त्रैलोक्यं सहजप्रकाशदलितं सोऽहं प्रबोधोदयः॥
--प्र० च०, अंक ६, श्लोक २९।

२. प्रबोधचन्द्रोदय, पांचवां अंक, पृष्ठ १७७।

३. वही, तृतीय अंक, पृष्ठ १२७।

व्याख्या में विरोध होने[१] से उनकी आलोचना करके उनका भी निराकरण कर दिया गया है।

३. कृष्ण मिश्र ने अपने दार्शनिक मत के अनुसार जो धर्म दर्शन मोक्ष में सहयोगी माने हैं, उन्होंने प्रधान नायक विवेक के सम्बन्धी तथा सहयोगी के रूप में रंगमंचीय अभिनय करके, मोक्ष को सम्भव बनाया है। उपनिषद् विवेक की पत्नी है। विष्णु भक्ति, विवेक की सहायिका तथा हितैषिणी का कार्य संचालित करती है। जिनके अनुशासन से (मैत्री, मुदिता, करुणा और उपेक्षा के द्वारा चित्त विकार से मुक्त होकर, वैयासिकी सरस्वती से निवृत्ति की और उन्मुख होकर) आत्मा को वेदान्ततत्व का ज्ञान होने के पश्चात्, प्रबोधोदय सम्भव हो जाता है।

४११. इस प्रकार नाटककार ने भारत के सम्पूर्ण धर्म-दर्शनों का अपने उद्देश्य के अनुसार व्यवस्थित संयोजन किया है। उसने धर्म दर्शनों को पात्र रूप में नायक और प्रतिनायक के पक्ष से सम्बन्धित करके, उनका पृथक्-पृथक् विभाजन कर दिया। नायक और प्रतिनायक के परस्पर विरोधी पक्षों में धर्म-दर्शनों ने क्रियाशील अभिनय में भाग लिया है। इस रंगमंचीय क्रियाशील अभिनय की भी तीन विशेषतायें हैं:—

१. पात्रों का परस्पर निश्चित सम्बन्ध।

२. कथा की योजना।

३. सिद्धान्त प्रतिपादन में मनोवैज्ञानिक, रोचक, वाद-विवाद तथा आलोचनात्मक वार्तालापों की सुनिश्चित योजना।

इन तीनों विशेषताओं की भी सुनिश्चित साहित्यिक योजना ने स्वमत प्रतिपादन तथा परमत निराकरण को सफल बनाया है। इन सभी कारणों से प्रस्तुत नाटक आज भी धार्मिक रूपक नाटकों में सर्वश्रेष्ठ स्थान का भागी बना हुआ है।

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय, अंक ६, पृष्ठ २१८-२३१।

उपर्युक्त विवेचन में आये हुए धर्म-दर्शनों का नाटककार के मतानुसार संक्षिप्त विभाजन
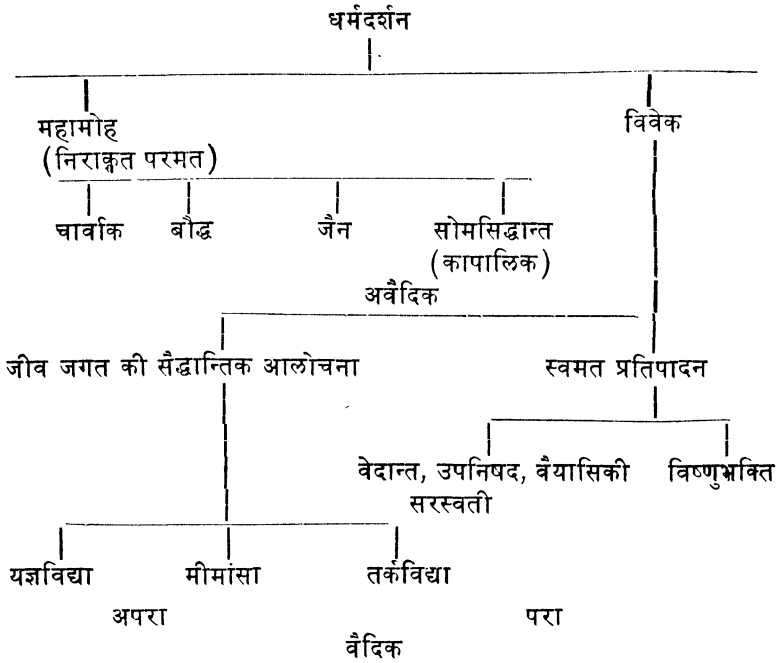
९. उद्देश्य

४१२. प्रबोधचन्द्रोदय नाटक की शास्त्रीय समीक्षा पूर्ण रूप से कर लेने के उपरांत इसके उद्देश्य पर विचार करना आवश्यक है। क्योंकि उद्देश्य में नाटककार की अन्तरात्मा निहित होती है। उद्देश्य पर प्रकाश डाले बिना नाटक का अध्ययन अधूरा ही रह जाता है और हम नाटकाकार के प्रति सम्यक न्याय करने में समर्थ नहीं हो सकते हैं। प्रस्तुत नाटक की प्रस्तावना में सूत्रधार के द्वारा उद्देश्य का संकेत मिलता है। जिससे ज्ञात होता है कि राजा कीर्तिवर्मा का मित्र गोपाल पराक्रमी एवं विद्वान् था। इसकी सहायता से सम्राट को अपूर्व विजय श्री उपलब्ध हुई थी। इस गोपाल की प्रेरणा से ही (सम्भवतः विजय-कीर्ति को अमर करने के हेतु) नाटक, कृष्ण मिश्र द्वारा प्रणीत हुआ था। युद्ध के अनन्तर उसके भीषण वातावरण से विरक्त, कीर्तिवर्मा को आत्मिक शान्ति मिल सके इस हेतु उसने सभा में उस नाटक के अभिनय की आज्ञा दी थी। इस प्रकार नाटक की प्रस्तावना[1] के अनुसार युद्ध की

१. प्रबोधचन्द्रोदय, प्रथम अंक—प्रस्तावना, पृष्ठ ६-७।

विभीषिका से व्याकुल कीर्तिवर्मा को परम शान्ति प्रदान करने के निमित्त अभिनय के हेतु इस रचना का प्रणयन हुआ था।

४१३. नाटक के इस प्रस्तावित उद्देश्य के अतिरिक्त इस सम्बन्ध में एक किंवदंती भी प्रसिद्ध है। जिससे ज्ञात होता है कि कृष्ण मिश्र वेदों एवं शास्त्रों के वेत्ता तथा कल्याणकारी गुरु थे। परम हितैषी के रूप में उनका हृदय, शिष्य के आत्मिक विकास के लिए व्यग्र रहा करता था। उनका यह प्रिय शिष्य सांसारिक विषयों में अधिक प्रवृत्त होने के कारण, वेदों और दर्शनों के ज्ञान की ओर उन्मुख नहीं होता था। शिष्य की हित-चिन्ता से प्रेरित कृष्ण मिश्र ने नवों रसों से और दार्शनिक ज्ञान से समन्वित सरस साहित्यिक शैली में नाटक का प्रणयन किया था। इस किंवदन्ती का संकेत, यद्यपि नाटक में कहीं नहीं मिलता है, किन्तु फिर भी नाटक के विषय प्रतिपादन की दृष्टि से यह नाटककार की अन्तःप्रेरणा को व्यक्त करने वाली प्रतीत होती है। अतः इसे निस्सार या अप्रामाणिक कहना अनुचित सा लगता है। यह नाटक के हिन्दी अनुवादों[१] और टीकाओं[२] में उद्धृत मिलती है।

४१४. प्रबोधचन्द्रोदय नाटक का समग्र रूप से अध्ययन कर लेने के पश्चात् इसका एक और उद्देश्य प्रतिध्वनित सा प्रतीत होता है। वह यह कि जो गुरु (कृष्ण मिश्र) शिष्य के कल्याणार्थ इतना उत्सुक एवं व्यग्र था, सम्भवतः वह अपने युग के धार्मिक पतन से अवश्य ही संवेदित एवं व्यथित रहा होगा। उसकी अन्तरात्मा की मर्मभेदी पीड़ा उसके पाण्डित्य को अवश्य धिक्कारती रही होगी। क्योंकि प्रत्येक मनस्वी कलाकार के चेतन एवं क्रियाशील मानस पर, अपने युग के वातावरण की प्रतिक्रिया अवश्य होती है। प्रतिभाशाली कृष्ण मिश्र उससे अछूते न रहे होंगे।[३]

---

१. (क) ब्रजवासीदास--अनुवाद, पृष्ठ २।
(ख) नानकदास वही, पृष्ठ ४-७।
(ग) विजयानन्द त्रिपाठी, अनुवाद की भूमिका, पृष्ठ ६, ७।

२. (क) सटीक प्रबोधचन्द्रोदय नाटक--हें पुस्तक पुणें पेठशनवार मेंहुणपुरा, यें यें रावजी श्रीधर गोंधलेकर यानी विद्वान मंडली च्या साहाय्यानें शुद्ध करून ता० २३ में सन् १८७२ ई०। इस टीका में पात्रों के चित्र दिये हुए हैं।
(ख) प्रस्तावना--पृष्ठ १--निर्णय सागर प्रेस से प्रकाशित प्रकाश और चन्द्रिका नाम की व्याख्या।

3. "The work was written by Krishna Mishra of Mathila, one of greatest scholars and philosophers of his time, to expose, ridicule and contradict the ideas of Bhudists, Jains, Charwaks,

इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि उन्होंने अपने युग के वातावरण में व्याप्त विभिन्न मत-मतान्तरों एवं दार्शनिक विचारों का चित्रण प्रबोधचन्द्रोदय में किया है। उन्होंने सभी मतावलम्बियों में व्याप्त व्यभिचारों के रंगमंचीय दृश्य उसमें संयोजित किये हैं। इससे प्रबल प्रतीति होती है कि युग की धार्मिक विश्रृंखलता के कारण फैले अनिष्टकारी व्यभिचारों ने, उनके मानस में साकार रूप धारण कर लिया था। इन व्यभिचारी पात्रों के दुराचार से रक्षा के हेतु मानों विवेक, श्रद्धा, और उपनिषद् विद्या आदि पात्रों की दुर्दशा उन्हें पुकारती सी थी। जिससे कि वे युग की धार्मिक परिस्थिति को मर्यादित रूप में संगठित देखना चाहते थे। नाटक के द्वितीय, तृतीय और षष्ठांक में उपनिषद् की यात्रा का वृत्तान्त तत्कालीन विश्रृंखल धार्मिक परिस्थितियों का सजीव चित्र प्रतीत होता है। नाटककार की मानसिक प्रतिक्रिया ने ही शैली में अद्वितीय कलात्मकता और शाश्वत प्रभाव भर दिया है जिसने निरन्तर परवर्ती युग की शताब्दियों में साहित्यकों, दार्शनिकों एवं ज्ञानी पण्डितों को आकर्षित एवं प्रभावित किया है।

४१५. इस भांति प्रस्तुत कृति के तीन उद्देश्य ज्ञात होते हैं।

१. कीर्तिवर्मा के विजयोपलक्ष्य में अभिनय।

२. शिष्य का कल्याण।

३. धार्मिक अन्धविश्वास के पूर्ण समाज में मर्यादा स्थापित करने के हेतु, उसकी समीक्षा और विष्णुभक्ति से समन्वित अद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन।

इस कृति के ये तीनों उद्देश्य नाटक की तीनों मौलिक विशेषताओं की रोचक व्याख्या करते हैं। पहला उद्देश्य, दो सम्राटों की विजय और पराजय के मानसिक संघर्ष की, दूसरा नाटक दार्शनिक तथ्यों को प्रतिपादित करने की सरस, सरल और स्पष्ट शैली की, तीसरा तत्कालीन धार्मिक व्यभिचारों की संक्षिप्त आलोचनात्मक समीक्षा शैली की व्याख्या मिलती है। जिससे एक प्रकार से यह अनुमान होता है कि ये

Kapalikas and other sects which had taken hold of the public mind in his days, and to awaken in the people a spirit of inquiry in to the principles of Vedantic philosophy—. He felt the necessity for it, since there was then a great tendency to theism and other cognate doctrines : to check the strong current of materialism by a popular agency he wrote the work in the form of a drama illustrative of the nature and action of the mind, with its good and bad passions in play." By J. Taylor.

तीनों उद्देश्य समन्वित रूप से 'प्रबोधचन्द्रोदय नाटक' प्रेरणा स्रोत अवश्य रहे होंगे।

१०. उपसंहार

४१६. इस प्रकार उपरोक्त विपुलकाय समीक्षा के अन्तर्गत हमने 'प्रबोध-चन्द्रोदय' नाटक के विभिन्न तत्वों का जो अध्ययन किया है, उसके आधार पर निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते हैं कि प्रबोधचन्द्रोदय एक 'आध्यात्मिक रूपक' नाटक है। इसके कथानक, पात्र, शैली, और भाषा में नाटककार कृष्ण मिश्र का अपना मौलिक व्यक्तित्व समाहित है। यही कारण रहा है कि इस नाटक ने अपने उद्भव काल के बाद में होने वाले संस्कृत के अधिकांश रूपक नाटकों तथा और आगे बढ़ने पर प्रान्तीय भाषाओं में उद्भूत होने वाले नाटकों को अपने प्रभाव से अनुप्राणित कर अपनी एक ऐसी परम्परा का प्रवंतन किया, जिसने न केवल संस्कृत साहित्य अपितु समस्त भारतीय भाषा-साहित्य में आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न इस नाटक को अद्वितीय स्थान पर अधिष्ठित किया है।

चतुर्थ अध्याय

हिन्दी में प्रबोधचन्द्रोदय का प्रारम्भ और उसकी परम्परा

(क) हिन्दी में संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय की परम्परा प्रारम्भ होने की पृष्ठ भूमि

४१७. आध्यात्मिक ज्ञान और भक्ति से सम्पन्न (संस्कृत) प्रबोधचन्द्रोदय नाटक का रचनाकाल ग्यारहवीं ई० शताब्दी उत्तरार्द्ध सिद्ध हो चुका है। संस्कृत साहित्य में इस नाटक के अनुकरण पर १३ वीं० ई० शताब्दी से ही रचनाएँ होनी प्रारम्भ हो गई थीं। किन्तु हिन्दी साहित्य में इसका प्रभाव कुछ काल पश्चात् पड़ा। अब तक के अनुसंधान के आधार पर, हिन्दी साहित्य में प्रबोधचन्द्रोदय से प्रभावित रचनाएँ १६वीं ई० शताब्दी से ही उपलब्ध होती हैं। यह समय हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल के अन्तर्गत आता है।[1] इस काल में अव्यवस्थित धार्मिक परिस्थितियों की व्यवस्था के हेतु दार्शनिकों एवं भक्तों[2] ने प्रयत्न किया था। उस समय भक्ति भावना का प्राबल्य था। भक्ति भावना की प्रबलता एवं प्रमुखता ने ही सम्भवत: प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के अनुवादों को प्रेरणा दी हो। हिन्दी अनुवादों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि 'प्रबोधचन्द्रोदय' के अनुवाद भक्तों और ज्ञानियों ने किये हैं। इन अनुवादों को प्रस्तुत करने में उनका उद्देश्य है कि संसार में भटकती हुई सज्जन आत्माएं सहज ही ज्ञान के मार्ग पर चलने की सामर्थ्य ग्रहण

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास——भक्तिकाल, पृष्ठ ५२, पं० रामचन्द्र शुक्ल

२. काल क्रमानुसार १५वीं एवं १६वीं शताब्दी के दार्शनिकों के नाम——

(क) बल्लभाचार्य, पृष्ठ १३४।

(ख) रामानन्द, पृष्ठ १०२।

(ग) कबीर, पृष्ठ ६५-७९।

(घ) तुलसीदास, पृष्ठ १०७

(ङ) सूरदास, पृष्ठ १३९।

——हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० रामचन्द्र शुक्ल।

कर सकें और प्रबोधचन्द्रोदय के गम्भीर दार्शनिक ज्ञान कोष से लाभ उठा सकें।[1]

४१८. इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अतिरिक्त साहित्यिक दृष्टिकोण से भी आधुनिक हिन्दी युग में प्रबोधचन्द्रोदय के अनुवाद मिलते हैं। क्योंकि आधुनिक हिन्दी साहित्य के प्रारम्भ काल में अनुवादों की ओर लोगों का झुकाव अधिक था।[2] हिन्दी साहित्य में अनुवादों के अभाव की पूर्ति के हेतु, संस्कृत भाषा के नाटकों के अनुवाद भी हो रहे थे। इस दृष्टि से भी प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के अनुवाद हुए।[3]

---

१. जनसाधारण के परम ज्ञान लाभ के दृष्टिकोण से--

(क) ब्रजवासीदास--पढ़ै सुनै समुझै गुनै जो कोऊ यह ग्रन्थ।
ताके उरते छटि है अहं अविद्या पन्थ ॥१६६॥
भक्ति होय भगवन्त की और विवेक प्रकास।
भक्ति बिना त्रिभुवन दुखी कह ब्रजवासीदास ॥१६७॥
--प्र० च०, अनुवाद, पृष्ठ १३४।

(ख) गुलाबसिंह--प्रबोधचन्द्रोदय नाटक सुबोध ग्रन्थ में करौं।
अलंब साधु संग को, विचार चित्त में धरौं।
सुनै पढ़ै सु जे जना, निवार मोह बन्धना।
लहै अपार मोक्ष को, टूटे समस्त फन्धना ॥५॥
--प्र० च०, अनुवाद, पृष्ठ १।

(ग) नानकदास--अतहित चित सों जो पढ़े अथवा सुने सुनाइ।
प्रेम भगति भगवान की सहजे सो जनपाइ ॥१८४।
--प्र० च०, अनुवाद, पृष्ठ ११६॥

२. भारतेन्दु का प्रथम अनुवाद रत्नावली की भूमिका--

"हिन्दी भाषा में जो सब भांति की पुस्तकें बनने के योग्य हैं, अभी बहुत कम बनी हैं, विशेष कर के नाटक तो (कुंवर लक्ष्मण सिंह के शकुन्तला) के सिवाय कोई भी ऐसे नहीं बने हैं जिनको पढ़ के कुछ चित्त को आनन्द और इस भाषा का बल प्रकट हो। इस वास्ते मेरी इच्छा है कि दो चार नाटकों का तर्जुमा हिन्दी में हो जाय तो मेरा मनोरथ सिद्ध हो।"

--भारतेन्दु नाटकावली, भाग १।

३. श्री महेशचन्द्र प्रसाद ने अपने अनुवाद की भूमिका में श्रीयुत रामचन्द्र वर्मा के संस्कृत नाटकों के हिन्दी में अनुवाद किये जाने के सम्बन्ध में वक्तव्य उद्धृत

४१९—इस प्रकार प्रबोधचन्द्रोदय के हिन्दी अनुवाद १६वीं ई० शताब्दी से लेकर बीसवीं ई० शताब्दी तक भी मिलते हैं। इन आध्यात्मिक एवं साहित्यिक दृष्टिकोणों से किये गये प्रबोधचन्द्रोदय के अनुवादों की संख्या अन्य नाटकों के अनुवादों की संख्या की तुलना में सर्वाधिक है।[1] कुल मिलाकर विश्वस्त सूत्रों से ज्ञात उपलब्ध और अनुपलब्ध-अनुवादों की संख्या बीस है।

४२०. अनुवादों के अतिरिक्त एक और रूपान्तरित रचनाएं हुईं जिनमें कथावस्तु के मनोवैज्ञानिक संघर्ष का प्रभाव था दूसरी ओर प्रबोधचन्द्रोदय के नूतन 'रूपकात्मक' नाटकीय विधिविधान (टेकनीक) से समता रखने वाले कितने ही नाटकों का सृजन भी हुआ। इन नाटकों में कुछ तो स्वतंत्र रचनाएँ हैं और कुछ रचनाएँ अंशतः प्रभावित कही जा सकती हैं। इस भांति अनुवादों के अतिरिक्त प्रबोधचन्द्रोदय से प्रभावित एवं समता रखने वाली एक विस्तृत परम्परा का निर्माण हिन्दी साहित्य में १७वीं ई० शताब्दी से लेकर बीसवीं ई० शताब्दी तक हुआ। उधर पूर्व विवेचन में हम देख चुके हैं कि प्रबोधचन्द्रोदय के हिन्दी अनुवाद १६वीं ई० शताब्दी से प्रारम्भ होकर २० वी ई० शताब्दी तक भी उपलब्ध होते हैं। इससे सिद्ध होता है कि संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय की हिन्दी परम्परा १६वीं ई० शताब्दी से लेकर २०वीं ई० शताब्दी तक मिलती है।

४२१. प्रबोधचन्द्रोदय की इस हिन्दी परम्परा में रूपान्तरित रचनाएँ १७वीं ई० शताब्दी से प्रारम्भ होकर १९ ई० शताब्दी तक मिलती हैं। ये रूपान्तरित रचनाएँ प्रबोधचन्द्रोदय के परम ज्ञान तथा मोह विवेक नामक भावनाओं के मनोवैज्ञानिक संघर्ष से प्रभावित हुई थी। इसी प्रभाव से प्रेरित होकर इनका प्रणयन हुआ था।

४२२. प्रबोधचन्द्रोदय के रूपक नाटकीय विधि-विधान (टेकनीक) से

करते हुए लिखा है—"तब ब्रजभाषा के अतिरिक्त वर्तमान हिन्दी अर्थात् खड़ी बोली में भी एक अनुवाद का होना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हुआ।"

—भूमिका, पृष्ठ ६।

१. अनूदित नाटकों में प्रबोधचन्द्रोदय के अनुवाद सबसे अधिक हुए हैं..... आलोचक इस नाटक का नाटकीय मूल्य चाहे जो आंकें, हिन्दी के नाटकों पर इसका प्रभाव अत्यधिक पड़ा है। पूर्व भारतेन्दु युग में इसके दस अनुवाद हुए हैं।

—भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य, अध्याय १, डा० गोपीनाथ तिवारी पृष्ठ ७।

प्रभावित नाटकों की रचनाएं १९ वीं ई० शताब्दी से लेकर २०वीं ई० शताब्दी तक मिलती हैं। इन रचनाओं के प्रेरणा स्रोत विभिन्न प्रकार के रहे हैं। उन प्रेरणा स्रोतों का वर्गीकरण करते हुए हम कह सकते हैं कि ये साहित्यिक राजनैतिक धार्मिक एवं सांस्कृतिक थे। साहित्यिक प्रेरणा द्वारा हिन्दी साहित्य के सुधार एवं प्रचार के उद्देश्य से रचनाएँ हुईं। इन रचनाओं में उद्देश्य की पूर्ति रूपक एवं प्रतीक शैली के माध्यम से हुई।[1] देश की विशेष राजनैतिक परिस्थिति ने भी रूपक एवं प्रतीक शैली के प्रयोग की ही प्रेरणा दी। भारतवासी परतंत्रता के बन्धन में बंधे थे। जिससे देशभक्ति की वेगवती भावनाओं को प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त करने में देश के साहित्यकार स्वतंत्र न थे तत्कालीन शासन सत्ता का यह कठोर दमन साहित्यिकों के लिए एक समस्या बन गया। इस कारण वे साहित्यिक राष्ट्रीय चेतना को व्यक्त करने के हेतु रूपक शैली के प्रयोग की ओर प्रवृत्त हुए। राष्ट्र को स्वतंत्र करने के लिए बलवती देशभक्ति की भावना जागृत करने, दासता के दोषों को दूर करने का उत्साह भरने का कार्य तथा राजनैतिक अन्यायों और अत्याचारों का वर्णन रूपक शैली में ही हुआ।[2] स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रयत्न में भारत में धार्मिक सुधार सम्बन्धी अनेक आन्दोलन भी हुए थे। उनमें से आर्यसमाज, ब्रह्म समाज जैसे आन्दोलनों ने साहित्यिकों को अन्धविश्वासों धार्मिक व्यभिचारों तथा मतमतान्तरों को दूर करने की प्रेरणा दी थी। जिससे प्रेरित होकर साहित्यकारों ने उन धार्मिक समस्याओं को रूपक शैली के माध्यम से नाटकों में स्थान दिया। धार्मिकों, दार्शनिकों ने अपने धार्मिक दार्शनिक दृष्टिकोणों को व्यक्त करने के लिए रूपक, प्रतीक तथा प्रतिनिधि पात्रों के प्रयोग से युक्त नाटकों का निर्माण किया।[3] परतंत्र भारत में विदेशी सत्ता की एक नयी सभ्यता संस्कृति का समागम भी देश में हुआ था। यह सयता भौतिकवादी सभ्यता थी। इससे पराधीन भारत के आध्यात्मिक संस्कृति अनुयायियोंऔर आस्तिकों के हृदय में चकाचौंध पैदा कर भारतवासियों

---

१. (क) "घर का न घाट का"—श्री जी० पी० श्रीवास्तव
(ख) "पत्र पत्रिका सम्मेलन"—वही
२. (क) 'भारत दुर्दशा'—नाटक, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
(ख) 'स्वर्ण देश का उद्धार'—नाटक, इन्द्रविद्या वाचस्पति
३. (क) 'जीवन मुक्त नाटक'
(ख) 'श्री निम्बार्क'
(ग) 'सत्य का सैनिक'

को भारत की प्राचीन आध्यात्मिक संस्कृति जर्जरित, संकुचित एवं व्यर्थ सी प्रतीत होने लगी थी। साहित्यिकों ने नवीन और प्राचीन संस्कृति के इस विरोध को प्रबोधचन्द्रोदय की रूपक शैली में ही व्यक्त किया है।[1] इस प्रकार कृष्ण मिश्र की अपूर्व रचना 'प्रबोधचन्द्रोदय, के द्वारा हिन्दी साहित्य में एक व्यापक और विशाल परम्परा का निर्माण हुआ है।

(ख) संस्कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय' की हिन्दी परम्परा का सामान्य सर्वेक्षण

४२३. संस्कृत के 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक ने हिन्दी साहित्य को व्यापक रूप से प्रभावित कर प्रेरित किया है। इस प्रेरणा के परिणामस्वरूप (इससे सम्बंधित) अनेक रूपों में साहित्यिक रचनाएं हुईं। 'प्रबोधचन्द्रोदय' के आधार पर हिन्दी में प्रस्तुत रचनाओं को हम चार श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। जैसे:—अनुवाद, रूपान्तर, स्वतन्त्र रूपक नाटक और अंशतः प्रभावित नाटक। जिन रचनाओं ने केवल अनुवाद के उद्देश्य से लिखी जाकर, मूल से अपने सम्बन्ध को बनाये रक्खा है, उन्हें हम 'अनुवाद' के नाम से अभिहित करते हैं। रूपान्तर की श्रेणी में वे नाटक आते हैं जो लिखे तो गये हैं 'प्रबोधचन्द्रोदय' की कथावस्तु के आधार पर ही, परन्तु, जो अनुवाद के साथ कुछ मौलिक अंश भी रखते हैं। स्वतन्त्र रूपक नाटक वे हैं जो पात्र, कथावस्तु तथा उद्देश्य में सर्वथा मौलिक होते हुए भी केवल शैली की दृष्टि से 'प्रबोधचन्द्रोदय' से साम्य रखते हैं। अंशतः प्रभावित नाटकों की श्रेणी में वे नाटक आते हैं, जिनमें अंशतः ही रूपक शैली के पात्रों का प्रयोग किया गया है।

४२४. उपर्युक्त दृष्टिकोणों से किये गये इन चारों प्रकारों का अब हम संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करेंगे।

४२५. अनुवाद—'प्रबोधचन्द्रोदय' के उपलब्ध एवं अनुपलब्ध हिन्दी अनुवादों की संख्या लगभग बीस है। ये अनुवाद अविकल तथा भावानुवाद–दोनों रूपों में हुए हैं। इनके नाम कालक्रमानुसार निम्न प्रकार से हैं:—

१. मल्हकवि — सन् १५४४ ई०
२. जसवन्तसिंह — सन् १६४३ ई०
३. अनाथदास — सन् १६६९ ई०
४. सुरति मिश्र — सन् १७०३ ई०

---

१. 'आधुनिक हिन्दी नाटक'—डा० नगेन्द्र, पृष्ठ ७४, ७५।
कामना—जयशंकर प्रसाद।

५. ब्रजवासीदास	–	सन् १७६० ई०
६. घासीराम	–	सन् १७७९ ई०
७. आनन्द	–	सन् १७८३ ई०
८. गुलाबसिंह	–	सन् १७८९ ई०
९. नानकदास	–	सन् १७८९ ई०
१०. धोंकल मिश्र[1]	–	सन् १७९९ ई० (अन्य रचना का)
११. हरिवल्लभ	–	सन् १८वीं ई० शताब्दी
१२. शीतलाप्रसाद	–	सन् १८७९ ई०
१३. अयोध्याप्रसाद चौधरी	–	सन् १८८५ ई०
१४. जगन्नाथ शुक्ल	–	सन् १८७३ ई० (लिपिकाल)
१५. भुवदेव दुबे	–	सन् १८९४ ई० (१८९३ ई०)
१६. कार्ष्णि गोपालदास	–	सन् १९०८ ई०
१७. महेशचन्द्र प्रसाद	–	सन् १९३५ ई०
१८. विजयानंद त्रिपाठी–	–	बींसवीं शताब्दी
१९. पाखण्ड बिडम्बना[2]	–	सन् १८७२ ई०
२०. जनअनन्य कृत अनुवाद	–	(समय अनिश्चित)

४२६. **रूपान्तर**--'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक के आधार पर कुछ ऐसी भी रचनाएँ हुई हैं। जिनमें मूल के अनुवाद के साथ ही मौलिक प्रतिभा का मिश्रण भी है। इन रचनाओं में 'प्रबोधचन्द्रोदय' के मोह और विवेक के संघर्ष का प्रभाव विशेष रूप से प्रतिलक्षित होता है। इन रूपान्तरित रचनाओं का विभाजन निम्न प्रकार से है :—

१. 'मोह-विवेक-युद्ध' नाम की रचनाएँ।

२. अन्य नामों से लिखी गई रचनाएँ।

१. 'मोह विवेक युद्ध' नामक रचनायें तीन हैं :—

(क) मोहविवेक युद्ध—कवि जन गोपालदास

: समय संवत् १६५७ (सन् १६००ई०)

(ख) ,, — कवि लालदास समय सं० १७६७ (सन् १७१०ई०)

(ग) ,, — कवि बनारसीदास (समय अनिश्चित)

---

१. समय निश्चित ज्ञात नहीं है।

२. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र—एक अंक का अनुवाद।

२. अन्य नामों से की गयी रचनाएँ केवल दो हैं :—

(क) 'विज्ञान गीता' — कवि केशवदास (समय सन् १६१० ई०)

(ख) 'प्रबोधद्युमण्युदय' — पं० उमादयाल मिश्र (समय सन् १८९२ ई०)

४२७. **स्वतंत्र रूपक नाटक**—प्रबोधचन्द्रोदय के विधिविधान (टेकनीक) से समता रखते हुए कुछ ऐसी रचनाएँ भी प्रस्तुत हुईं जिनमें मौलिक कथानक और मौलिक पात्रों की सृष्टि मौलिक उद्देश्य से की गई। स्वतंत्र उद्देश्य से इन रचनाओंका प्रणयन हुआ। इन स्वतंत्र रचनाओं का विवरण इस प्रकार है :—

१. 'भारत दुर्दशा'	भारतेन्दु	सन् १८७६ ई०
२. 'भारत ललना'	खंग बहादुर मल्ल	सन् १९०६ ई०
३. 'लीला विज्ञान-विनोद नाटक	केशवानन्द स्वामी	सन् १९११ ई०
४. 'विज्ञान नाटक'	शंकरानन्द स्वामी	,,
५. 'विज्ञान विजय नाटक'	,,	सन् १९१३ ई०
६. 'अनोखा बलिदान'	उमाशंकर	सन् १९१५ ई०
७. 'मारवाडी धीं'	एक जातीय हितैषी	सन् १९१७ ई०
८. 'ज्ञानगुण दर्पण नाटक'	श्री शंकरानन्द स्वामी	सन् १९१९ ई०
९. 'स्वर्ण देश का उद्धार'	श्री इंद्र विद्यावाचस्पति	सन् १९२१ ई०
१०. 'मायावी'	ज्ञानदत्त सिद्ध	सन् १९२२ ई०
११. 'हिन्दू'	जमुनादास मेहरा	सन् १९२२ ई०
१२. 'पत्र पत्रिका सम्मेलन'	जी० पी० श्रीवास्तव	सन् १९२५ ई०
१३. 'न घर का न घाट का'	,,	,,
१४. 'कामना'	जयशंकर प्रसाद	सन् १९२७ ई०
१५. 'डिक्टेटर'	बेचन शर्मा 'उग्र'	सन् १९३७ ई०
१६. 'छलना'	भगवतीप्रसाद बाजपेयी	सन् १९३९ ई०
१७. 'मुद्रिका'	सद्गुरु शरण अवस्थी	सन् १९३९ ई०
१८. 'सन्तोष कहां'	सेठ गोविन्ददास	सन् १९४५ ई०
१९. 'सत्य का सैनिक'	श्री नारायण बिन्दु	सन् १९४८ ई०
२०. 'भारत राज'	लक्ष्मीकान्त	सन् १९४९ ई०

४२८. हिन्दी साहित्य में कुछ ऐसी रचनाएँ भी मिलती हैं जिनमें अंशतः प्रबोध-चन्द्रोदय के विधि विधान के (टेकनीक) के प्रयोग मिलते हैं। इन रचनाओं का प्रणयन राजनैतिक सामाजिक और धार्मिक सुधार के उद्देश्य से हुआ।

प्रबोधचन्द्रोदय की परम्परा को हम निम्न रेखाचित्र द्वारा व्यक्त कर सकते हैं :—
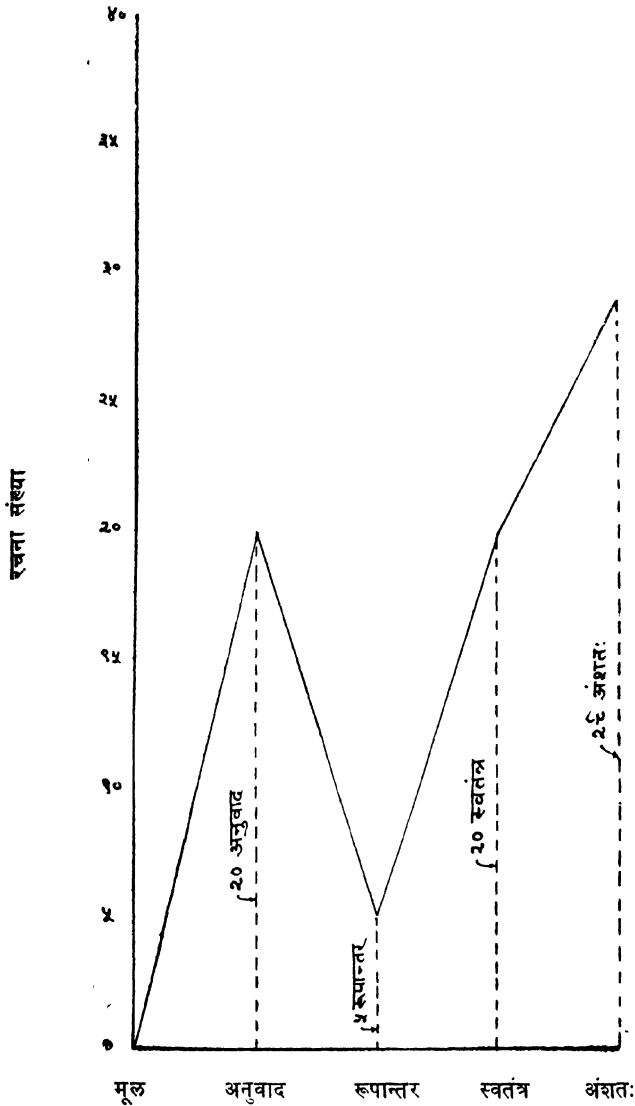
प्रबोधचन्द्रोदय के अनुवादों के पश्चात् रूपान्तर स्वतंत्र तथा प्रासंगिक रचनाओं में मौलिकता अधिक विकसित होती गई है।

४२९. इस प्रकार हिन्दी नाटक साहित्य में प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के आध्यात्मिक दृष्टिकोण और विधि विधान (टेकनीक) के प्रभाव से रचित तथा समता रखने वाला विशाल साहित्य उपलब्ध होता है। जिसका अधिक से अधिक अनुसन्धान करके अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु फिर भी विस्तार के हेतु अभी पर्याप्त अवकाश है।

४३०. अब हम आगे के अध्यायों में क्रमशः अनुवाद रूपान्तर स्वतंत्र और अंशतः प्रभावित रचनाओं का उपलब्ध सामग्री के आधार पर अध्ययन करेंगे।

पंचम अध्याय

संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय के हिन्दी-अनुवादों का अध्ययन

अनुवादों का परिचय

४३१. संस्कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक की रचना ग्यारहवीं ई० शताब्दी में ही हो गई थी, किन्तु हिन्दी में इसके अनुवाद पांच शताब्दी पश्चात् ईसा की सोलहवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुए। इसका प्रथम अनुवाद १५४४ ई० में हुआ। यह अनुवाद कवि मल्ह का है। हिन्दी साहित्य के इतिहासकारों की प्रायः यह धारणा रही है कि सन् १६४३ ई० में महाराज जसवन्तसिंह द्वारा अनूदित संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय का अनुवाद सर्वप्रथम है। किन्तु राजस्थान संग्रहालय से उपलब्ध मल्ह कवि (१५४४ ई०) की कृति ने, इस धारणा के स्थान पर नवीन धारणा स्थापित की है। वह यह कि मल्ह कवि कृत अनुवाद सर्वप्रथम तथा जसवन्तसिंह का द्वितीय है।[1]

४३२. अनेक संग्रहालयों, संस्थाओं, सभाओं, समितियों तथा विद्वानों से सम्पर्क स्थापित[2] करने पर संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय के बारह हिन्दी-अनुवाद उपलब्ध हो सके हैं। लगभग आठ हिन्दी अनुवादों के सम्बन्ध में केवल सूचना ही प्राप्त है। उनकी प्रतियाँ अप्राप्य हैं। इस प्रकार संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय के उपलब्ध हिन्दी अनुवाद, कुल मिलाकर, बीस हैं। उपलब्ध अनुवादों के अनुवादकों के नाम काल क्रमानुसार निम्न प्रकार से हैं:—

१. मल्ह कवि	—	सन् १५४४ ई०
२. जसवन्तसिंह	—	सन् १६४३ ई०
३. ब्रजवासी दास	—	सन् १७६० ई०
४. गुलाबसिंह	—	सन् १७८९ ई०
५. नानकदास	—	सन् १७८९ ई०

---

१. मल्ह कवि कृत अनुवाद के अध्ययन में द्रष्टव्य,

२. प्रत्येक अनुवाद के विस्तृत अध्ययन में संकेत दिया गया है।

६.	धोंकल मिश्र	–	सन् १७९९ ई०
७.	भारतेन्दु हरिश्चंद्र	–	सन् १८७२ ई०
८.	अयोध्याप्रसाद चौधरी	–	सन् १८८५ ई०
९.	भुवदेव दूबे	–	सन् १८९४ ई०
१०.	कार्ष्णि गोपालदास	–	सन् १९०८ ई०
११.	महेश्चन्द्र प्रसाद	–	सन् १९३५ ई०
१२.	विजयानंद त्रिपाठी	–	बीसवीं ई०

४३३. इस प्रकार १६वीं ई० शताब्दी से लेकर २०वीं ई० शताब्दी तक जो अनुवाद हुए, उनमें से उपलब्ध उपर्युक्त बारह अनुवादों का अध्ययन आगे विस्तार से प्रस्तुत किया गया है और यहां अनुपलब्ध अनुवादों के अनुवादकों के नाम ही दिये गये हैं :—

१. अनाथदास
२. सुरति मिश्र
३. घासीराम
४. आनन्द
५. हरिवल्लभ
६. शीतला प्रसाद
७. जगन्नाथ शुक्ल
८. जन अनन्य

४३४. **ऊपर लिखे**—उपलब्ध तथा अनुपलब्ध—बीस हिन्दी-अनुवादों के अतिरिक्त, संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय के अनुवाद अन्य भाषाओं में भी हुए हैं। उपलब्ध अनुवादों का विस्तृत अध्ययन करने के पश्चात् हम अनुपलब्ध अनुवादों तथा अन्य भाषा के अनुवादों के सम्बन्ध में विचार करेंगे।

४३५. **उपलब्ध अनुवादों के प्रकार**—उपलब्ध अनुवादों का अध्ययन करने के पश्चात् हमें ज्ञात होता है कि ये शैली की दृष्टि से तीन प्रकार के हैं :—

१. पूर्णतया गद्य
२. पूर्णतया पद्य
३. मिश्रित

(१) पूर्णतया गद्य में उपलब्ध होने वाले अनुवादों में पद्य का प्रयोग नहीं किया गया है। ये अनुवाद प्रारम्भ से अन्त तक गद्य में ही हैं। इस प्रकार के केवल दो अनुवाद हैं। एक भुवदेव दुबे और दूसरा अयोध्याप्रसाद चौधरी का है।

(२) पूर्णतया पद्यात्मक अनुवादों में अनुवादकारों ने गद्य का प्रयोग नहीं

किया है। ये अनुवाद, पूर्ण रूप से पद्यात्मक शैली में ही लिखे गये हैं। इनमें विभिन्न प्रकार के छन्दों का प्रयोग करते हुए पद्य में ही, सम्पूर्ण नाटकीय कथा कह दी है। इस प्रकार के अनुवाद पांच हैं जो मल्ह कवि, ब्रजवासीदास, धोंकल मिश्र, गुलाबसिंह तथा नानकदास के हैं।

(३) तीसरे प्रकार के मिश्रित अनुवादों में गद्य और पद्य दोनों ही प्रकार की शैलियों का प्रयोग किया गया है। इनमें दोनों ही प्रकार की शैली के मिश्रित होने के कारण हैमने इनको मिश्रित शैली के नाम से विभक्त किया है। इस मिश्रित शैली के पांच अनुवाद —जसवन्तसिंह, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, गोपालदास, महेशचन्द्र प्रसाद तथा विजयानन्द त्रिपाठी —के हैं।

४३६. ऊपर लिखी तीनों प्रकार की शैलियों के अनुवाद संक्षेप में निम्न प्रकार से हैं:—

अनुवाद

१. पूर्णतया गद्य में	२. पूर्णतया पद्य में	३. मिश्रित
१. भुवदेव दुबे-अनु०	१. मल्ह कवि कृत-अनु०	१. जसवंतसिंह -अनु०
२. अयोध्याप्रसाद चौधरी -अनु०	२. ब्रजवासीदास-अनु०	२. भारतेन्द हरिश्चन्द्र-अनु०
	३. धोंकल मिश्र-अनु०	३. कार्ष्णि गोपालदास-अनु०
	४. ुलाबसिंह -अनु०	४. महेशचन्द्र प्रसाद-अनु०
	५. नानकदास -अनु०	५. विजयानंद त्रिपाठी-अनु०

४३७. विषय प्रतिपादन की दृष्टि से, उपर्युक्त तीनों शैलियों के अनुवाद, हमें दो प्रकार के मिलते हैं। जिन्हें हम अविकल अनुवाद तथा भावानुवाद कह सकते हैं। अविकल अनुवादों में, अनुवादकों ने मूल के ही भावों को ज्यों का त्यों अनूदित कर दिया है। मल की ही भांति इनमें गद्य और पद्य मिश्रित शैली का प्रयोग और नाटकीय संकेत है। किन्तु भावानुवादों में मूल नाटक के भावों को संक्षेप वा विस्तार से अनूदित किया गया है। किन्हीं भावानुवादों की शैली में भी मूल नाटक की शैली से अन्तर उपस्थित हो गया है, मूल रचना नाटक के रूप में है किन्तु ये भावानुवाद केवल पद्य बद्ध अथवा पूर्ण रूप से गद्य रूप में भी मिलते हैं।

४३८. गद्य शैली के दो अनुवादों में से कोई भी अविकल अनुवाद नहीं है। दोनों ही भावानुवाद हैं। इनमें से एक अनुवाद भुवदेव दूवे ने केवल दो अंकों का ही भावानुवाद प्रस्तुत किया है। दूसरे अयोध्याप्रसाद चौधरी ने मूल नाटक के भाव

को संक्षेप से अनूदित कर, प्रसंगवश आयी हुई एक पौराणिक कथा का विशेष विस्तार से वर्णन किया है। इस भांति गद्य शैली में लिखे अनुवादों को हम अविकल अनुवाद तथा भावानुवाद की दृष्टि से निम्न प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं :—

४३९. पद्यात्मक शैली में लिखे गये अनुवाद भी सभी भावानुवाद हैं। इनमें कोई भी अविकल अनुवाद नहीं हैं। ये भावानुवाद पांच हैं। इनमें से मल्ह कवि के भावानुवाद में मूल नाटक के भाव को संक्षेप से व्यक्त किया गया है। अन्य चार भावानुवादों में अनुवादकों की प्रवृत्ति विस्तार की ओर है। अर्थात् —

४४०. गद्य-पद्य-मिश्रित शैली में लिखे गये अनुवादों में से चार अनुवाद अविकल अनुवाद हैं। ये चारों अविकल अनुवाद-भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, कार्ष्णि गोपालदास, विजयानन्द त्रिपाठी तथा महेशचन्द्र प्रसाद कृत हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्रबोध-चन्द्रोदय के केवल तृतीय अंक का अनुवाद किया है। महेशचन्द्रप्रसाद ने अविकल रूप से अनुवाद प्रस्तुत करते हुए भी केवल तृतीय अंक में कुछ भौतिक अन्तर उपस्थित किया है। यह अन्तर मतमतान्तरों की आलोचना के प्रसंग में है और इसलिए किया गया है कि जैनमत की मूलनाटक में की गई आलोचना की कटुता कम हो जाय और अनुवादक के समाज की धार्मिक भावना के अनुकूल बन सकें।

मिश्रित शैली में लिखे गये अनुवादों में से केवल एक जसवन्तसिंह कृत अनुवाद, भावानुवाद है इसमें मूल के भावों को संक्षेप से प्रस्तुत किया गया है। उपर्युक्त तथ्य निम्न विवरण से स्पष्ट है :—
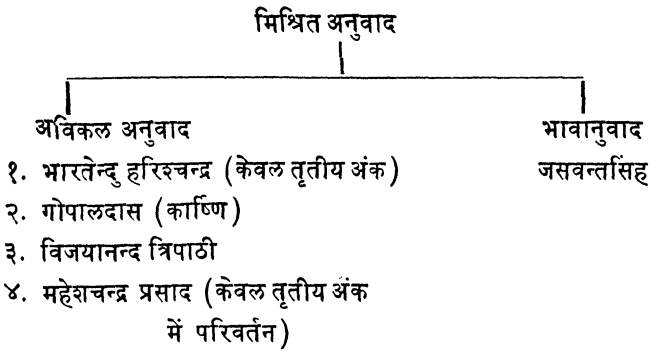
४४१. **अनुवादों की भाषा**—भाषा की दृष्टि से भी उपलब्ध अनुवादों का अध्ययन आवश्यक है। क्योंकि तीनों शैलियों में लिखे गये, ये अविकल और भावानुवाद खड़ी बोली तथा ब्रजभाषा दोनों में ही लिखे गये हैं। १६ वीं० ई० शताब्दी से लेकर १८वीं ई० शताब्दी तक लिखे गए अनुवादों में प्रायः ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया हे। उन्नीसवीं तथा बीसवीं ई० शताब्दी के अनुवाद खड़ी बोली के माध्यम से अनुदित हैं। ब्रजभाषा के अनुवाद छः हैं और खड़ी बोली के पांच, जैसा कि नीचे के वर्गीकरण से स्पष्ट है :—
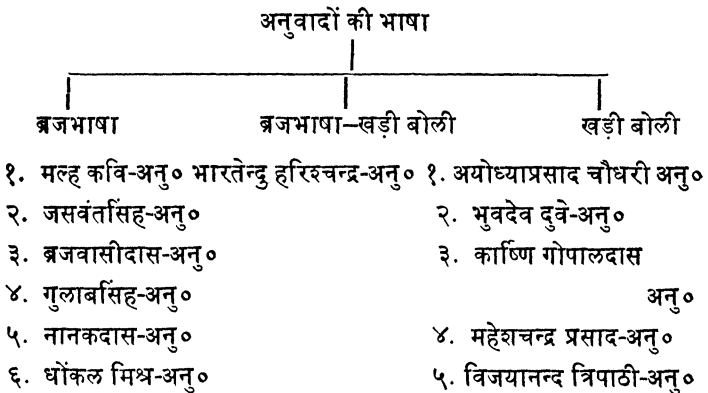
४४२. ब्रजभाषा के ये अनुवाद नागरी लिपि के अतिरिक्त गुरुमुखी लिपि में भी लिखे गये हैं। ब्रजभाषा के उपलब्ध छः अनुवादों में से पाँच तो अनुवादकों द्वारा

नागरी लिपि में ही रचित हैं। केवल गुलाबसिंह कृत एक अनुवाद के मुख पृष्ठ[१] से ज्ञात होता है कि गुलाबसिंह ने गुरुमुखी लिपि में मूल नाटक का अनुवाद ब्रजभाषा के माध्यम से किया था। इसके अनन्तर पं० गुरुप्रसाद 'उदासीन' ने ब्रजभाषा के इस अनुवाद की गुरुमुखी लिपि को नागरी लिपि में परिवर्तित कर दिया था। इस प्रकार गुलाबसिंह द्वारा गुरुमुखी लिपि में रचित ब्रजभाषा का अनुवाद पं० गुरुप्रसाद 'उदासीन' के प्रयत्न से नागरी लिपि में उपलब्ध होता है।

४४३. इस प्रकार शैली, विषय प्रतिपादन, भाषा और लिपि की दृष्टि से उपलब्ध अनुवादों का वर्गीकरण कर लेने के उपरान्त अब हम इन अनुवादों की आधार-भूमियों पर विचार करेंगे।

४४४. अनुवादों का आधार—उपलब्ध बारह अनुवादों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि ये सभी मूल नाटक, प्रबोधचन्द्रोदय, पर आधारित नहीं हैं। कुछ अनुवाद मूल से सम्बद्ध हैं। और कुछ ऐसे अनुवाद भी हैं जो मूल नाटक से सम्बद्ध होते हुए भी अन्य रचना या रचनाओं से भी प्रभावित हुए हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे अनुवाद भी हैं, जिनका मूल से सम्बन्ध नहीं है। ये प्रसिद्ध अनुवादों से प्रभावित मात्र होकर, उनके आधार पर ही लिखे गये हैं। इस भांति उपलब्ध आधारों के निम्न तीन प्रकार हैं:—

१. मूल प्रबोधचन्द्रोदय का आधार।

२. मूल प्रबोधचन्द्रोदय और अन्य रचना का आधार।

३. प्रसिद्ध अनुवाद का आधार।

मूल नाटक का आधार लेकर हिन्दी में आठ अनुवाद लिखे गये हैं। ये अनुवाद मल्ह कवि, जसवन्तसिंह, धोंकल मिश्र, भारतेन्दु, कार्ष्णि गोपालदास, महेशचन्द्र प्रसाद, गुलाबसिंह और विजयानन्द त्रिपाठी के अनुवाद हैं। दूसरे प्रकार का आधार लेकर, अयोध्याप्रसाद चौधरी का अनुवाद लिखा गया है। इसके प्रारम्भ में मूल नाटक का अनुवाद है, किन्तु बाद में केशव की प्रसिद्ध 'विज्ञान गीता' से प्रभावित होकर उससे भी कुछ अंश ग्रहण किया गया है। तीसरे प्रकार का आधार लेकर हिन्दी में तीन अनुवाद किये गये। इनमें अनुवादकों ने मूल के प्रसिद्ध अनुवादों को आधार बनाया है। मूल से इनका परिचय नहीं था। ब्रजवासीदास और नानकदास ने बलीराम साधु के यमन भाषा के अनुवाद के आधार पर अनुवाद किया था। भुवदेव दुबे ने ब्रजवासीदास के पद्य अनुवाद के आधार पर गद्य

---

१. देखिये—गुलाबसिंह के अनुवाद का अध्ययन। पृष्ठ...

में लिखा है। इन्होंने ब्रजवासीदास के पद्यात्मक अनुवाद के प्रथम दो अंकों को एक प्रकार से गद्य में नाटक का रूप दे दिया है। संक्षेप में यह विवरण निम्न प्रकार है।
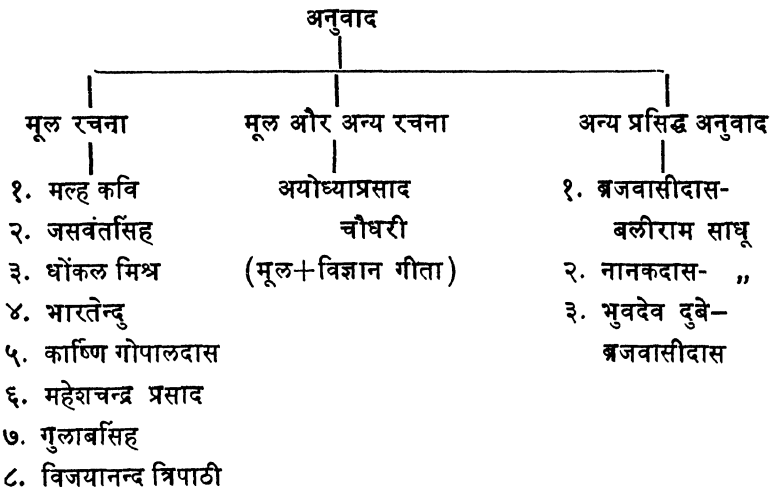
अब हम उपलब्ध अनुवादों का कालक्रम के अनुसार अध्ययन करेंगे।

मल्ह कवि कृत अनुवाद

४४५. 'प्रबोधचन्द्रोदय' के हिन्दी अनुवादों की परम्परा का प्रारम्भ हम मल्ह कवि के अनुवाद[1] से मान सकते हैं। एक समय था जब हिन्दी साहित्य के इतिहास-कारों ने महाराजा जसवन्तसिंह कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय' के अनुवाद को इस विषय की प्रथम रचना माना था।[2] परन्तु, अब जब कि उनसे भी पूर्व के मल्ह कवि का

---

१. मुझे यह प्रतिलिपि श्री कासलीवाल, जयपुर के सौजन्य से प्राप्त हुई।

२. (क) पं० रामचन्द्र शुक्ल--हिंदी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ २१२।

(ख) बाबू ब्रजरत्नदास--हिन्दी नाटक साहित्य, पृष्ठ ४६।

(ग) डा० सोमनाथ गुप्त--पूर्व भारतेन्दु नाटकों का परिचय, पृष्ठ ४० तथा--हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४।

(घ) डा० दशरथ ओझा--हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास, पृष्ठ १५८, १४५।

(ङ) डा० गोपीनाथ तिवारी--भारतेन्दु नाटक साहित्य, पृष्ठ ८।

(च) बाबू गुलाबराय--हिन्दी नाट्य विमर्श, पृष्ठ ९७।

अनुवाद हमें उपलब्ध हो रहा है, उपरोक्त मान्यता में परिवर्तन हो गया है। मल्ह कवि के इस अनुवाद की एक प्राचीन प्रति जयपुर के दीवान बधीचन्द जी के मन्दिर के ग्रन्थागार में सुरक्षित है। यह ग्रन्थ ८×६ इंच के आकार वाले २५ पत्रों में समाप्त हुआ है तथा उक्त मन्दिर के ग्रन्थागार की वेष्टन संख्या ८९९ की पुस्तक संख्या ५८९ में रखा है।

४४६. ग्रन्थ की भूमिका में उल्लिखित—

सोलह सै सम्वत जब लागा। तामहिं वरष एक अर्द्ध भागा।
कार्तिक कृष्ण पक्ष द्वादसी। ता दिन कथा जु मन में बसी।।११।।

—अनुवाद, पृष्ठ २

इन दोनों चौपाइयों के आधार पर इसका रचना काल (सन् १५४४ ई० (सं० १६०१) कार्तिक मास कृष्ण पक्ष, द्वादशी सिद्ध होता है।

४४७. यद्यपि इस सम्भावना के आधार पर कि किसी प्रतिलिपिकार ने उक्त कृति को प्राचीन सिद्ध करने के लिए उपरोक्त दोनों चौपाइयों को लिख दिया हो, उपर्युक्त तिथि को प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रामाणिक रचना काल के रूप में मान्यता नहीं प्रदान की जा सकती, परन्तु युग प्रधान जिनचन्द्र 'मूरि' नामक ग्रन्थ में प्रकाशित, मल्ह कवि कृत 'कर्मचन्द्र बच्छावत्' का दान सम्बन्धी पद्य जो कि सं० १६४९ में लिखा गया था।[1] इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि सं० १६४९ के पूर्व मल्ह कवि वर्तमान थे। इसके अतिरिक्त इनके परवर्ती बनारसीदास[2] के 'मोह विवेक युद्ध, की भूमिका में उल्लिखित प्रबोधचन्द्रोदय के तीन अनुवादों में प्रथम स्थान मल्ह कवि को ही दिया गया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि गोपालदास[3] जो कि पुष्ट प्रमाणों के आधार पर सं० १६५७ के सिद्ध हो चुके हैं—से पुराने हैं। वस्तुतः जब तक हमें कोई पुष्ट विरोधी प्रमाण नहीं मिलता—तब तक उपरोक्त अनुवाद में निर्दिष्ट रचनाकाल को न मानने में किसी प्रकार का औचित्य नहीं

---

१. 'पूर्व भये सुकवि मल्ह, लालदास गोपाल'—बनारसीदास—'मोह विवेक युद्ध' की भूमिका, पृष्ठ ३,४ पर कस्तूरचन्द का सलीवाल के द्वारा निर्दिष्ट नाहटा जी का मत।

२. बनारसीदास के सम्बन्ध में उपलब्ध सामग्री की समीक्षा—छठे अध्याय 'बनारसीदास' शीर्षक में देखिये।

३. गोपालदास—के रचना के सम्बन्ध में भी—छठे अध्याय का—'गोपालदास' शीर्षक देखिये।

दिखाई पड़ता। इस प्रकार मल्ह कवि प्रबोधचन्द्रोदय के सर्वप्रथम हिन्दी अनुवादक हैं।

४४८. मल्ह कवि ने अपने अनुवाद में जो कुछ अपना परिचय दिया है उसके अनुसार वे 'अन्तर्वेद' के रहने वाले थे, उनके गुरु का नाम 'खेमचन्द' तथा स्वयं उनका एक नाम मथुरादास था। इनके पिता का रखा हुआ दूसरा नाम देवीदास था, और तीसरा नाम मल्ह कवि था। जैसा कि निम्नलिखित चौपाइयों से सिद्ध होता है :—

जब बर खेमचंद गुर दीयो, तब आरंभ ग्रंथ को कीयो ॥६॥

\+ \+ \+

मथुरादास नाम विस्तारयो, देवीदास पिता को धारयो।
अंतरबेद देस में रहै, तीजै नाम मल्ह कवि कहै ॥८॥

—प्र० च०, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १।

इन्होंने अपने अनुवाद का उद्देश्य बताये हुए 'कुंवरसेन जी पठनार्थं' लिखा है जिससे प्रतीत होता है कि किन्हीं कुंवरसेन जी के अध्ययन के लिए यह अनुवाद किया गया था। यह कुंवरसेन जी कौन थे इसका कुछ भी संकेत कवि ने नहीं दिया है। बहुत सम्भव है यह मल्ह कवि का आश्रयदाता रहा हो।

४४९. इस अनुवाद का अध्ययन हम निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत करेंगे—

१. **कथा**—मूल की प्रस्तावना में सूत्रधार ने नाटक रचना का जो प्रसंग बताया है उस प्रसंग से अनुवाद में बतलाए प्रसंग में अन्तर है। प्रस्तुत अनुवाद में राजा कीर्ति वर्मा नट से शान्तरस का अभिनय करने को कहता है। इस रस के अभिनय से अनभिज्ञ नट दक्षिण देश में जाकर एक तपस्वी की सहायता से प्रस्तुत प्रबोधचन्द्रोदय नाटक लाकर राजा को उसका सफल अभिनय दिखाता है। प्रथम अंक में काम, रति और विवेक सुमति की वार्ता मूल का भावानुवाद ही है। द्वितीय अंक में दम्भ, अहंकार तथा महामोह और चार्वाक की वार्ता मूल का भावानुवाद है। मोह के पक्षपाती क्रोध, लोभ, तृष्णा, विभ्रमावती और मिथ्या-दृष्टि आदि का भी मूल का कुछ संक्षिप्त सा भावानुवाद ही है। तृतीय अंक में श्रद्धा की खोज में तीनों से सम्बन्धित प्रसंग का भावानुवाद है। मूल के तृतीय अंक के भावानुवाद के अतिरिक्त मूल के चौथे अंक की कथा भी इसी में समाविष्ट हो गई है। जैसे भैरवी विद्या का श्रद्धा को पकड़ने का, विष्णुभक्ति द्वारा रक्षा और विवेक को सन्देश भेजने का प्रसंग। चतुर्थ अंक में विवेक विष्णुभक्ति की आज्ञानुसार सेना सुसज्जित करता है। पांचवें अंक में सेना सुसज्जित करता हुआ विवेक काशी में माधो की पूजा के बाद युद्ध

को जाता है, महामोह भी आता है, दोनों में युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। छठे अंक में युद्ध समाप्त होता है, मन को सरस्वती उपदेश देती है। उपनिषद् के सहयोग से प्रबोधोदय और विद्या के जन्म का भी संक्षिप्त संकेत है। कथा के पांचवें अंक की कथा छठे अंक में आ गई है। मूल नाटक में मन और सरस्वती का प्रसंग पांचवें अंक में है।

२. **अंक**—प्रस्तुत अनुवाद में छः अंक हैं। इन छः अंकों की कथा में मूल कथा के प्रसंगों के अंकानुसार अन्तर हो जाने पर भी कथा-क्रम और घटना-क्रम में अन्तर नहीं है। कथा मूल के ही क्रमानुसार है। प्रत्येक अंक में समाप्ति की सूचना है[1]—जब कि प्रारम्भ की नहीं है।

३. **वर्णन**—कथा और वर्णनों में विस्तार की ओर प्रवृत्ति नहीं है। वर्णन मूल के भावानुवाद हैं। दार्शनिक तत्वों का अनुवाद संक्षिप्त है। उपनिषद् की यात्रा का और यात्रा में मिले विभिन्न दर्शनों का वर्णन नहीं है।

४. **पात्र**—केवल एक मौलिक पात्र 'चपला' है। मूल के ही कुछ पात्रों का प्रयोग नामान्तर से किया गया है—मूल की 'मति' प्रस्तुत अनुवाद में सुमति है। तथा मूल का अहंकार-अनुवाद का अहं है। इसी प्रकार—

मूल का दम्भ—अनुवाद का डिम्भ
,, बौद्ध साधु— ,, भिखू
,, जैन धर्म— ,, खोना
,, कापालिक— ,, जंगम

५. **भाषा**—इसकी भाषा ब्रजभाषा है। जो सरल और स्पष्ट है। उदाहरण के लिये निम्न अंश को ले सकते हैं:—

जो रति तूं बूझति है मोहि, ब्योरों सबै सुनाऊ तोहि।
बे विमात भैया हैं मेरे, ते सब सुजन लागें तेरे।।५१।।
पिता एक माता द्वै गांऊं, यह ब्योरो आगे समझाऊं।
ज्यों राघो अरु लंकापति राऊ, यों हम ऊन भयो जुध को चाऊ।।५२।।

६. **शैली**—प्रस्तुत अनुवाद में दोहा और चौपाई छन्दों का प्रयोग है। अलंकारों में कवि ने कुछ मौलिक उपमाओं का प्रयोग भी किया है। जैसे—मूल में विद्या की उपमा धुएं से दी गई है। जब कि अनुवाद में कवि ने काठ से दी है। जो निम्न प्रकार से है:—

---

१. इति श्री मलह कवि विरचिते प्रबोधचन्द्रोदय नाटके षष्ठमो अंकः समाप्तः ६, पृष्ठ ४८।

"ज्यों काठ में अग्नि उपजाई,
उपजत ही फिर काठहि खाई।"

--प्र० च०, अनुवाद, पृष्ठ ७।

७. **नाटकीय संकेत**--प्रस्तुत अनुवाद पूर्णतया पद्यबद्ध है। किन्तु फिर भी पद्य में ही पर्याप्त नाटकीय संकेत दिये गये हैं। लम्बे वर्णनों, दृष्टान्तों, भाषणों और उपदेश रूप वार्तालापों का व्यवधान भी नहीं है। उदाहरण के लिये रंगमंच की तैयारी का वर्णन दृष्टव्य है :--

तब सब सभा सवारी राइ, नन्हें बड़े जू बैठे आय।
रोपी बीच जमुनिका जहां, कालबूत नरनि कस्यो तहां ।।३३।।
तामें तै नर निकस्यो धाय, आसिका दई सभा में आय।
सभा मांहि जितनों जस करौं, कथा बढ़ै सुसत्य बितरौं ।।३४।।
तब नटवें अपनी नटी बुलाई, सभा जमुनिका खोलि दिखाई।
तब नट बएणि सुनावै ताहि, कृत ब्रह्म राजा बड़ आहि ।।३६।।

--प्र० च०, अनुवाद, पृष्ठ ४।

नैपथ्य का प्रयोग भी कवि ने यथास्थान किया है। कामदेव के नेपथ्य में से बोलने का स्पष्ट उल्लेख है :--

जैसे पृथ्वी जीती राय, त्यों मोह बिवेक ने धल्यो खाय।
यह सुनि कोप काम परजर्यो, जानों अग्नि पुंज घृतपर्यो ।।४३।।
मांहि जमुनिका बोल्यो सोई, अविहृत पापी भाख्यो कोई।
घूरम नैन मत तिहुंबारा, तिहूं लोक को जीतन हारा ।।४४।।

--प्र० च०, पृष्ठ ५।

कवि ने काव्य में अभिनय संकेत भी निम्न रूप में दिये हैं:--

वस्त विचार राइ में गयो, नमस्कार करि ठाढो भयो।
परै पाय औरु बिनों कराई, कौन काज हों बोल्यो राई ।।१८।।

--प्र० च०, अनुवाद, पृष्ठ ३२।

४५०. मल्ह कवि का यह अनुवाद, अविकल अनुवाद न कहा जाकर भावानुवाद ही कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए पृष्ठ ३१ पर के इस अंश को हम ले सकते हैं :--

भांति अनूप पटंबर आयो, मांस पिंड को ले पहिराये।
याको डहक विद्या तुम जानो, अंतरब्रिष्ट न कबहूं आनो ।।१७।।

--प्र० च०, अनुवाद, पृष्ठ ३१।

ये उपर्युक्त पंक्तियां मूल के पृष्ठ १४३ के इस अंश की छाया ही है :—

वासश्चित्रदुकूलमल्पमतिभिर्नार्यामहो कल्पितं
बाह्यान्तः परिपश्यतां तु निरयो नारीति नाम्ना कृतः ।।९।।
—प्र० च०, चतुर्थ अंक ।

इस प्रकार संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय का यह प्रथम भावानुवाद ही है।

'जसवन्तसिह' कृत अनुवाद

४५१. जैसा कि हमने अभी मल्ह कवि के अनुवाद का अध्ययन करते समय देखा है, प्रबोधचन्द्रोदय के हिन्दी अनुवादों में कालक्रम की दृष्टि से मल्ह कवि कृत अनुवाद प्रथम है। महाराजा जसवन्तसिंह का अनुवाद[1] जो अब तक प्रथम माना जाता रहा है, अब द्वितीय स्थान का अधिकारी हो गया है। इतिहासकारों के मतानुसार महाराजा जसवन्तसिह जी का जन्म सम्वत् १६८३ (सन् १६२६ ई०)[2] और मृत्यु सं० १७३५ (सन् १६७८ ई०) है।[3] इनके पिता का नाम गजसिंह था, जिनकी मृत्यु १६३८ ई० में हुई थी।[4] यह अपने पिता के द्वितीय पुत्र थे। पिता ने इनके बड़े भाई को राज्य न देकर योग्य होने के कारण इन्हीं को राज्य दिया। ये पिता की मृत्यु (सन् १६३८ ई०) के उपरान्त ही राजगद्दी पर बैठे होंगे। ऐसा ऐतिहासिकों का अनुमान है। लगभग ४० वर्ष तक राज्य करने के बाद सन् १६७८ में युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए।[5] वीर होने के साथ ही ये सच्चे सहृदय भी थे। इनके द्वारा निर्मित

---

१. जोधपुर महाराज के पुस्तकालय से प्राप्त प्रतिलिपि।

२. (क) 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २११।
(ख) 'हिन्दी नाट्य साहित्य'—बा० ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ४६।
(ग) 'पूर्व भारतेन्दु नाटक'—डा० सोमनाथ गुप्त, पृष्ठ ४०।

३. 'एन एडवान्स्ड हिस्ट्री आफ इंडिया'—आर० सी० मजूमदार, भाग २, पृष्ठ ५०१।
'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया द मुगल पीरियड, भाग ३।
'ग्लोरीज आफ मारवार एण्ड द ग्लोरियस राठोर्स—पंडित विशेश्वरनाथ रेउ, पृष्ठ ३५।

४. 'ग्लोरीज आफ मारवार एण्ड द ग्लोरियस राठोर्स—पंडित विशेश्वरनाथ रेउ, पृष्ठ २९।

५. "हिन्दी साहित्य का इतिहास"—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ २१२।
"पूर्व भारतेन्दु नाटक"—डा० सोमनाथ गुप्त, पृष्ठ ४०।

ग्रन्थों में—भाषा-भूषण, अपरोक्ष-सिद्धान्त, अनुभव-प्रकाश, आनन्द विलास, सिद्धान्त बोध, सिद्धान्त सार और प्रबोधचन्द्रोदय आदि हैं। इनमें से प्रथम को छोड़ कर अन्य सभी न्थ आध्यात्मिक हैं। अन्तिम ग्रन्थ 'प्रबोधचन्द्रोदय' का हिन्दी अनुवाद है, जो कि हमारा आलोच्य विषय है।

४५२. महाराजा जसवन्तसिंह कृत यह—प्रबोधचन्द्रोदय—का हिन्दी अनुवाद ब्रजभाषा के गद्य और पद्य दोनों में है। पद्यों में भी कवित्तों और दोहों का प्राचुर्य है। यह अनुवाद मूल ग्रन्थ का अविकल अनुवाद न कहा जाकर भावानुवाद ही कहा जायगा। प्रारम्भ का कवित्त और नट की वार्त्ता मात्र पढ़ कर यह भ्रम होता है कि यह मूल का अविकल अनुवाद है। किन्तु आद्योपान्त पढ़ने पर ज्ञात होता है कि यह धारणा निर्मूल है। वास्तव में मूल की कथा को गद्य के माध्यम से यहां पर संक्षेप में उपस्थित कर दिया गया है जिसको पढ़ने पर ऐसा प्रतीत होता है कि कोई सनातनी विद्धान् कथा-प्रवचन कर रहा हो। डा० सोमनाथ गुप्त ने अपनी प्रथम कृति 'नाटक साहित्य का इतिहास' में जसवन्तसिंह के अनुवाद को प्रबोधचन्द्रोदय का अविकल अनुवाद माना था, परन्तु बाद में अपनी दूसरी कृति 'पूर्व भारतेन्दु नाटकों का परिचय' में उन्होंने अपनी पुरानी धारणा को बदल दिया। उक्त ग्रन्थ के ४७ वें पृष्ठ पर उन्होंने लिखा है कि—"जसवन्तसिंह जी का अनुवाद सार मात्र है। प्रस्तुत अंश से इसका प्रमाण मिल सकेगा। यह धारणा कि महाराज ने अक्षरशः अनुवाद किया था निराधार है। अन्य अनुवादों की तरह यह भी मूल की छाया को लेकर लिखा गया है। "उदाहरण के लिए हम इसका निम्नलिखित प्रारम्भिक पद्य उद्धृत करते हैं—

कवित्त — जैसे मृग त्रिस्ना विषे जल की प्रतीत होत,
रूपे की प्रतीत जैसे सीप विषे होत है।
जैसे जाके विन जाने जगत ए जानियत,
जाके जाने जानियत विस्व सब तोत है।
एसो जो अखण्ड ग्यान पूरन प्रकासवान,
नित सम सत्त सुद्ध आनन्द उदोत है।
ताही परमात्मा को करत उपासना ही,
निसंदेह जानो या को चेतना ही जोत है॥१॥

"ऐसे मंगल पाठ करी सूत्रधार अपनी नटी बुलाई। यह हो आग्या दीजै। सूत्रधार बोल्यो॥ दोहा॥ महाविवेकी ज्ञान निधी धीरज मूरत वान। परमप्रतापी दानि अति। नीति रीति को जान॥१॥ तिन महाराज ने आज्ञा करी हैं कि हमारे सभा के लोक है। तिनके लिए प्रबोध नाटक दिखावऊ॥"

इस उद्धृत अंश से ज्ञात होता है कि यह प्रथम श्लोक मूल का भावानुवाद है किन्तु शेष में संक्षेप की ओर ही प्रवृति है। प्रथम और द्वितीय अंक में मूल का संक्षेप में भावानुवाद है। तीसरे, चौथे, पांचवें और छठे अंक में केवल कथासार ही दिया गया है। मेरे पास उपरोक्त अनुवाद की उपलब्ध प्रति फुलस्केप कागज पर टाइप के रूप में ११ पृष्ठों पर है। जिसमें से छठे पृष्ठ के आधे पृष्ठ तक द्वितीय अंक की कथा समाप्त हुई है, और उसके पश्चात् शेष अंकों की कथा शेष पृष्ठों में है।

४५३. इस अनुवाद के समीक्षात्मक अध्ययन में उपलब्ध प्रमुख विशेषताएँ, जो कि मूल ग्रन्थ से इस कृति में भाषा और भाव सभी दृष्टियों से अन्तर ला देती हैं—निम्नलिखित हैं :—

१. **नाम**—जसवन्तसिंह ने मूल संस्कृत के नाटक के नाम 'प्रबोधचन्द्रोदय' के स्थान पर, अपने अनुवाद के लिए केवल 'प्रबोध' का ही प्रयोग किया है। जैसे (प्रारम्भ)—"अथ श्री गणेशायनमः। अथ प्रबोधनाटक लिख्यते" तथा (अन्त) इति महाराजाधिराज महाराज श्री जसवन्तसिंह जी कृत प्रबोध नाटक भाषा सम्पूर्ण।

२. **पात्रों के नाम में अन्तर**—इस अनुवाद में 'विष्णुभक्ति' का नाम परिवर्तित कर दिया गया है। अन्य सभी पात्र उसी मूल रूप में हैं। मूलनाटक की विष्णुभक्ति का नाम प्रस्तुत अनुवाद में 'आसतिकता' रखा गया है। 'आसतिकता' वही कार्य करती है, जो मूल नाटक में विष्णुभक्ति करती है। उदाहरण के लिए प्रस्तुत अनुवाद का निम्न अंश लिया जा सकता है— "आगे देखे तो सुधा में कंप सहित बोली अब मों को तौ आसतिकता ने आग्या करि है जु राजा विवेक से जाइ कहा।" इस प्रकार यह आस्तिकता मूल ग्रन्थ की विष्णुभक्ति से भिन्न नहीं प्रतीत होती है।

३. **दिगम्बर बौद्ध कापालिक के समीक्षात्मक संक्षिप्त वार्तालाप**—मूल संस्कृत नाटक में शान्ति और करुणा के वार्तालाप के मध्य (क्षपणक) दिगम्बर सिद्धान्त, श्रद्धा, बुद्धागम (भिक्षु) कापालिक रूपधारी सोमसिद्धान्त आदि आते हैं, और अपने अपने अनुरूप व्यवहार करके प्रस्थान करते हैं किन्तु जसवन्तसिंह के अनुवाद में इन मतों का विवादास्पद वार्तालाप अनूदित नहीं किया गया है। जब कि द्वितीय अंक में पंडितों के दम्भ और चार्वाक की वार्ता ज्यों की त्यों मूल के विस्तार सहित दी गई है। शान्ति और करुणा श्रद्धा की खोज में तीनों मतों के साधुओं को देखती और उनके पास तामसी श्रद्धा को देख कर आगे बढ़ जाती है। इस प्रकार बौद्धाभगम, दिगम्वर और कापालिक का मत--सिद्धान्तविस्तार, साधुओं का रूप, आकार, वीभत्सता आदि कुछ भी वर्णित नहीं हैं। उदाहरण के लिए निम्नलिखित अंश लिया जा सकता है— "यह कहीं के सांति अक करुणा सुधा के ढुंढ़वे को चली। आगे जाती डिगम्बर देख्यो। तिके तामसी सुधा देखी। तब जान्यों की यहां सात्रुकी सुधा नहीं।। फेरी आगे चली।

आगे जात बोध देख्यों। ताहुं के तामसी सुधा देखी। तब जानयो कि यहां कि सात्वीकी सुधा नहीं। फिर आगे चली ॥ आगे जात कापालिक देख्यो।————(पृष्ठ ६)

४. घटना वर्णन में अन्तर—मूल नाटक में श्रद्धा के लोप होने और मिलने का जो वृत्तान्त है, उससे प्रस्तुत अनुवाद में कुछ अन्तर है। जो सम्भवतः कथा संक्षेप करने में हुआ हो अथवा मत विशेष के आक्षेप को बचाने के हेतु हुआ हो। यह निश्चित नहीं कहा जा सकता है कि किस कारण से हुआ? क्योंकि संक्षेप के साधारण उद्देश्य के अतिरिक्त दूसरा उद्देश्य विरोधात्मक आक्षेपों का निवारण भी एक महाराजा के लिए तर्कसंगत तथ्य होना सम्भव है। मूल नाटक में बौद्धागम, दिगम्बर और कापालिक परस्पर वार्तालाप करते हुए अपने को महामोह का किंकर बनाकर जब महामोह की सहायता को तत्पर होते हैं और महामोह की आज्ञा से श्रद्धा को पकड़वाने के सम्बन्ध में विचार करते हैं तो दिगम्बर सिद्धान्त ज्योतिष से गणना करके बता देता है कि वह विष्णुभक्ति के पास है—यह पता सुनकर कापालिक श्रद्धा को पकड़ने के लिए महाभैरवी विद्या को भेजने के हेतु चला जाता है। तब हर्षित होकर शान्ति भी प्रस्तुत वृतान्त विष्णुभक्ति को बताने के लिए चली जाती है। तदनन्तर तृतीय अंक समाप्त हो जाता है। चतुर्थ अंक के प्रारम्भ में मैत्री प्रवेश करके, एकाकी रूप से मुदिता के द्वारा सुनी हुई यह सूचना कि श्रद्धा की रक्षा विष्णुभक्ति के द्वारा हुई है, देती है। इतने में भयभीत श्रद्धा स्वयं प्रवेश करती है और अपनी रक्षा में विष्णुभक्ति की सहायता की प्रशंसा करती है। जसवन्तसिंह के अनुवाद में ऐसा नहीं होता। कापालिक के पास भी तामसी श्रद्धा के देखने के बाद शान्ति ज्योंही आगे बढ़ती है उसे तुरन्त ही मैत्री मिल जाती है और शान्ति को बताती है कि मैंने मुदिता के मुख से सुना है कि सात्विकी श्रद्धा आसतिकता के निकट जा रही है। शान्ति और मुदिता हर्षित होकर जैसे ही चलती हैं उन्हें श्रद्धा स्वयं मिल जाती है, किन्तु वह अपनी रक्षा के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहती है—"तब सांती और मैत्री हरख पायके चली। आगे देखें तो सृधा में कंप सहित बोली तामसी सुधा को देख। अब लो मेरो का ही ना ही गायों! ये भलि भई जु या ही जनम में मैं तो को ही देखी। अब मौ को तो आसतिकता ने आग्याकरि है जु। राजा विवेक सो जाइ कहौ।"

५. अन्त—आसतिकता से अन्त में पुरुष की जो वार्ता हुई है उसमें मूल से कुछ अधिक विस्तार है। इसके अतिरिक्त मूल में भारत वाक्य पुरुष ही कहता है[१] किन्तु प्रस्तुत अनुवाद में सूत्रधार राजा के राज्य की मंगल कामना करता है:—

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय, अंक ६, पृष्ठ २४०, २४१।

तितने सूत्रधार बौल्यो–

जो लौं गंगा को प्रवाह वहत खिति मंडल में,
सेस धरे भार ज्यों सकल ब्रह्मांड को।
ससि की किरन जो लौं पोखत हैं।
औषधनि प्रबल प्रकाश तपे बिम्ब मारतंड को।
छांडत न मरजाद अपनी उदधि जल जौ लौं
आप बल महारिषि मारकंड को।।
तेज परिवान को धन धांम सुख संतत सु
तौ लौं राज करें महाराज नव धंड को।।१।।

६. **अंकों की सूचना**––प्रारम्भ से अन्त तक कहीं भी अंक की समाप्ति और अंक के प्रारम्भ की सूचना नहीं है। कथा के प्रारम्भ में यद्यपि 'अथ प्रबोध नाटक लिख्यते' लिखा है किन्तु फिर भी प्रथमांक नहीं लिखा है। बिना किसी संकेत के नान्दीपाठ का कवित प्रारम्भ हो जाता है। पहले, दूसरे, चौथे, पाँचवें और छठे अंक के प्रारम्भ और अन्त की भी कहीं सूचना नहीं है। नाटक के अन्त में भी छठे अंक के अन्त की सूचना नहीं है। केवल नाममात्र समाप्ति की सूचना है। इस प्रकार एक अंक की कथा समाप्ति की सूचना के स्थान पर जसवन्तसिंह कृत अनुवाद में मूल नाटक के अनुसार द्वितीय अंक की कथा का सूत्र आगे प्रारम्भ होता जाता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित अंश पर्याप्त होगा :––

"राजोवाच' जो तुम एसी हमारी आज्ञा में है तो हमारे कारज सहजे सिद्ध भए–– ब्रह्म एकता को पाऊ।। एसे कहि के चले।। तितने दंभ आयो। आय के बोल्यो। राजा महामोह ने मो को आग्या दीनी है।"

७. **पात्रों का प्रवेश एवं प्रस्थान**––पात्रों के जाने का संकेत स्पष्ट दिया गया है जैसे–काम बोल्यों रति सु कह्यों। अहो प्रिये ए हमारे कुल में श्रेष्ठ विवेकमति सहित आये हैं। ताते रहियो बनत नहीं। यह कहि चले।" पात्रों के प्रवेश की सूचना में प्रायः यही ,कहा गया है कि––"तितने जमनिका में बोल्यो" अथवा "तितने दम्भ आयो, आय के बोल्यो"।

८. **शैली**––इस अनुवाद में गद्य-पद्य मिश्रित शैली का प्रयोग है। गद्य प्रधान रचना है। गद्य प्रधान होते हुए छन्दों का मिश्रण भी है। इसमें केवल दो कवित्त छन्दों का प्रयोग है। एक कवित्त रचना के आदि में; एक कवित्त रचना के अन्त में है। दोहों का भी यत्रतत्र प्रयोग है। जो निम्न प्रकार से है :––

पृष्ठ १ — दो दोहे (नट की उक्ति)
पृष्ठ ६ — एक दोहा (लोभ की उक्ति)
पृष्ठ ७ — चार–दोहे (वस्तु विचार, दो धीरज, एक सन्तोष की उक्ति)
पृष्ठ ८ — एक दोहा (राजा की उक्ति)
पृष्ठ ११ — छः दोहे (पुरुष का कथन)

(उपर्युक्त पृष्ठ संख्या मेरी टाइप प्रति के अनुसार है)

कुल मिलाकर १४ दोहे सारी रचना में है। इन दोहों का प्रयोग मूल रचना के छन्दों के अनुवाद के रूप में नहीं हुआ है। दो चार दोहों को छोड़कर शेष दौहे पात्रों की अपनी वार्ता को अधिक प्रभावपूर्ण शैली में व्यक्त करने के उद्देश्य से लिखे गये हैं।

९. **भाषा**—इस अनुवाद में ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया है। अनुवाद की दृष्टि से यह भावों को व्यक्त करने में पर्याप्त समर्थ है। इसमें सरलता और सुबोधता है। परन्तु विशेष काव्यात्मक सौन्दर्य नहीं है।

४५४. इस प्रकार उपर्युक्त विशेषताओं से मण्डित, यह अनुवाद 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के द्वितीय अनुवाद के रूप में अपने समुचित स्थान का अधिकारी है।

'ब्रजवासीदास' कृत अनुवाद

४५५. ब्रजवासीदास का अनुवाद[1] प्रबोध चन्द्रोदय के हिन्दी अनुवादों में से एक प्रसिद्ध अनुवाद है। ब्रजवासीदास का निवासस्थान वृन्दावन था। ये बल्लभ सम्प्रदाय को मानने वाले सच्चे वैष्णव थे।[2] इनका जन्म खोज रिपोर्ट के अनुसार १७५३ सं० में हुआ था।[3] इनका प्रथम ग्रन्थ 'प्रबोधचन्द्रोदय' का अनुवाद है तथा दूसरा ग्रन्थ जिसका निर्माण स० १८२७ में हुआ, 'ब्रजविलास' नामक है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' के अनुवाद के रचनाकाल के सम्बन्ध में एक वर्ष का अन्तर मिलता है। इसकी रचना 'कृषि शशि धन गणपति रदन सम्मत' इस पद्य के अनुसार सम्वत् १८१७ में हुई थी, किन्तु मान्य साहित्यकों ने इसका रचनाकाल सं १८१६ में स्वीकार किया है।[4] 'बाबू ब्रजरत्न-

---

१. चिरंजीव पुस्तकालय आगरा से प्राप्त प्रकाशित प्रति।
२. (अ) 'हिन्दी नाट्य साहित्य'—बाबू ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ४७।
(ब) 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'—पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ३१९।
३. द थर्ड टर्मिनल रिपोर्ट आन सर्च फार हिन्दी मेनस्क्रिप्ट्स १९१२, १३,१४।
४. (क) पं० रामचन्द्र शुक्ल—'हिन्दी साहित्य का इतिहास' पृ० ३१९ में बिना रचनाकाल दिये लिखा है 'इसके अतिरिक्त उन्होंने 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक का अनुवाद भी विविध छन्दों में किया है।

दास' द्वारा मान्य रचनाकाल के सम्बन्ध में एक वर्ष का अन्तर सम्भव है,। सम्भव है, मेरी प्रति और बाबू ब्रजरत्नदास जी की आधारभूत प्रति में कोई अन्तर हो। अन्य इतिहासकारों ने भी बाबू ब्रजरत्नदास के ही आधार पर इसका रचनाकाल लिखा है। डा० गोपीनाथ तिवारी ने एक वर्ष के अन्तर से 'या' करके दो समय दिये हैं। किन्तु उन्होंने भी आधार बाबू ब्रजरत्नदास और डा० दशरथ ओझा का ही लिया है। सम्भव है,तिवारी जी ने मेरी प्रति के समान किसी प्रति में ग्रन्थ का रचनाकाल १८१७ सम्वत देख लिया हो। इसलिये उसे और ब्रजरत्नादास तथा डा० दशरथ ओझा द्वारा मान्य दो रचनाकालों को उन्होंने स्वीकार कर लिया है। इस प्रकार डा० गोपीनाथ तिवारी के ग्रन्थ से पुष्ट होता है कि ब्रजवासीदास की रचना की किसी और प्रति में १८१७ सम्वत् भी है। तात्पर्य यह है कि इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में एक वर्ष का अन्तर अवश्य ही उपस्थित हो गया है। यह अन्तर बाबू ब्रजरत्नदास की त्रुटि से सम्भव नहीं प्रतीत होता। किसी लिपिकार अथवा मुद्रणकर्ता की ही त्रुटि प्रतीत होती है।

४५६. ब्रजवासीदास का यह अनुवाद भाषा, भाव और नाटकीयता की दृष्टि से अच्छा है। इसके देखने से प्रतीत होता है कि ब्रजवासीदास एक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। इनके अनुवाद में मूल नाटक की आत्मा सुरक्षित है। ब्रजवासीदास अध्यात्मिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे सत्संग में उन्होंने कृष्ण मिश्र विरचित प्रबोधचन्द्रोदय की प्रसंशा सुनी थी। उनके समय में बलीराम साधु भक्त के रूप में विख्यात थे।

(ख) बाबू ब्रजरत्नदास--'हिन्दी नाट्य साहित्य' पृष्ठ ४७ में लिखा है-तीसरा अनुवाद ब्रजवासीदास कृत है, जिसका रचनाकाल सम्वत् १८१६ है--इस अनुवाद की कई हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त हुई हैं।

(ग) गुलाबराय--'हिन्दी नाट्य विमर्श'--पृ० ९७ में लिखा है--ब्रजवासी दास का अनुवाद सम्वत् १८१६ में हुआ था।

(घ) डा० दशरथ ओझा--'हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास' पृष्ठ १४५। ब्रजवासीदास कृत अनुवाद का समय १८१६ सम्वत् है।

(ङ) डा० गोपीनाथ तिवारी--'भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य', पृष्ठ ८।

"ब्रजवासीदास ने १७५९ या ६० ई० में दोहा चौपाई--अनुवाद किया।" तिवारी जी ने नोट में बाबू ब्रजरत्नदास और ओझा जी का नाम दिया है।

(च) डा० सोमनाथ गुप्त--पूर्व भारतेन्दु नाटक--पृ० ४० पर रचना-काल सन् १७५९ ई० हैं। नोट में ब्रज रत्नदास जी को ही प्राधार माना गया है।

उसने प्रबोधचन्द्रोदय का अनुवाद यमन भाषा में किया था। अतः उस भाषा को न जानने वाले भक्तों के लिये आध्यात्मिक ज्ञान लाभ दुर्लभ था। फलस्वरूप मित्रों की प्रेरणा से ब्रजवासीदास जी ने प्रबोधचन्द्रोदय का अनुवाद लिखा यह अनुवाद उन्होंने बलीराम साधु के अनुवाद से ही किया है—इसका संकेत उन्होंने अपने अनुवाद के प्रारम्भ में स्वयं दिया है।[1] बलीराम के अनुवाद का कितना प्रभाव पड़ा है, यह तो बलीराम के अनुबाद के उपलब्ध होने पर ही कहा जा सकता है।

४५७. प्रस्तुत अनुवाद की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) **प्रारम्भ**—ग्रन्थारम्भ की वन्दना में भगवान से अपनी शरण देने और सदैव सत्संग प्राप्त करने की कामना की गई है :—

जैसे—

चरण कमल बन्दौ रुचिर जे हरिदास अनन्य।
जिनकी कृपा कटाक्ष ते सकल देव परसन्य।।१।।
दीनदयाल कृपाल शुचि ऐसे सन्त सुजान।
जन ब्रजबासी दासकी विनय कीजिये कान।।७।।

---

१. द्रष्टव्य—

दक्षिनभूमिभयो एकपण्डित। भक्तिज्ञानबिद्या गुणमण्डित।।
परम दयाल दीन हितकारी। जीवन को पूरण चित कारी।।
शिष्यन करै ज्ञान उपदेशा। जनम मरन जिहि मिटै कलैशा।।
मोहतिमिरनाशकजिमि धामा। कृष्णदासभट अस ता नामा।।

\+ \+ \+

तेसे गुरु सुजान कीन्हों ग्रन्थ नवीन तब
कला बिदूषक खानअर्थ सिद्ध बेदान्त मय।।१४।।
नाम राख्यौ ग्रन्थ को परबोध चन्द्र उदोत।
सोतौ बाणी संस्कृत प्राकृत करि न बिचार।
ताके समुझन को चही बिद्या बुद्धि अपार।।१७।।
बलीराम ताकी करी भाषा यमन किताब।
सोऊबिद्या अति कठिन समुझिन परै शिताब।।१८।।
मित्र एक ऐसी कही जो यह भाषा होय।
सरल होयतो सबनको सुनि सुख पावै लोय।।१९।।
तातेयह भाषा करी अपनी मति अनुसार।
सत संगत परताप ते बिपुल छन्द बिस्तार।।२०।।

—प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ २–३।

दीजै दीन दयाल मुहिं बड़ो दीन जन जानि।
चरण कमल को आसरो सतसंगत की बानि ।।८।।
--प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ १।

(२) **प्रश्नोत्तर**--अनुवाद में स्थान-स्थान पर तुलसी कृत मानस के श्रोता और वक्ता की भांति कृष्णदास भट्ट और उनके शिष्य के प्रश्नोत्तर दिये गये हैं, जिससे कथा कहने और सुनने वाले का पता लगता है—जैसे,

कृष्णदास भट शिष्यसों कहत कथा परबोधि।
नट लीलाके व्याज करिपरम तत्वमय शोधि ।।२४।।
कृष्णदास भट उवाच चौ०।
सुनहु शिष्य इक कथा सुहाई। परम बिचित्र परम सुख दाई।।
कीरति ब्रह्म नाम इक भूपा। परम अनूप जासुको रूपा।।
--प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ ३-४।

पृष्ठ ८५ पर भी इसी प्रकार गुरु शिष्य का प्रश्नोत्तर है।

(३) **कथानक**--मूल 'प्रबोधचन्द्रोदय' के कथानक से इसके कथानक में कोई अन्तर नहीं है।

(४) **वर्णन**--इस अनुवाद की धटनाएँ और उनका वर्णन मूल की ही भांति है। घटनाओं में अन्तर अथवा संक्षेप कहीं नहीं किया गया है। वर्णनों का विस्तृत होना इस अनुवाद की विषेशता है। निम्नलिखित वर्णन विस्तृत हैं—

(क) सैद्धान्तिक मतों का वर्णन।

(ख) यम, नियम आदि का वर्णन। इसमें आठों यम और दसों नियमों का सविस्तार वर्णन किया गया है।

परन्तु वर्णनों के विस्तृत होते हुए भी मूल का सौन्दर्य अक्षत है।

(५) **पात्र**—प्रस्तुत अनुवाद के पात्र मूल के ही पात्र हैं। उनकी विशेषताएं, कार्य व्यापार और नाम आदि सब मूल के पात्रों जैसे ही हैं। फिर भी कुछ विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। जैसे—

(क) विवेक की प्रधान महिषी 'मति' के स्थान पर 'सुमति' हो गई है।

(ख) विवेक जब सेना सहित प्रस्थान करता है तब वैराग्य और त्याग नाम के पात्रों से, उसका मिलन होता है। जिनका हृदय से स्वागत करने के पश्चात् वह युद्ध की ओर प्रस्थान करता है। मूल प्र० च० में इन पात्रों का प्रवेश नहीं कराया गया है।

(ग) पात्रों के वेशभूषा से सुसज्जित होकर आने और उनके स्वरूप तथा

आकृति वर्णन उपयुक्त होने से उनमें सजीवता और मांसलता सी आगई है। इससे कहीं कहीं मूल से भी अधिक सौन्दर्य आ गया है। ऐसे पात्रों में, जिनके कि रूप का वर्णन किया गया है, विवेक, शान्ति और विष्णुभक्ति आदि हैं।

(६) **वार्तालाप**—इस अनुवाद के वार्तालाप प्रायः स्वाभाविक और पात्रानुकूल हैं। विस्तार की विशेषता के कारण-यद्यपि वे लम्बे अवश्य हो गये हैं।

(७) **अंक**—मूल की भांति इस अनुवाद में भी छः अंक हैं, जिनमें निम्नलिखित विशेषताएं हैं:—

(क) प्रत्येक के अन्त में टंक लिखा है, अंक नहीं लिखा है।

(ख) प्रत्येक अंक की समाप्ति की सूचना दी गई है किन्तु किसी भी अंक के प्रारम्भ की सूचना नहीं दी गई है।

(ग) अंक समाप्ति में समाप्त होने वाले अंकों के नाम भी दिये गये हैं—जैसे, इति श्री प्रबोधचन्द्रोदय नाटके मोहस्वरूप वर्णनो नाम द्वितीयटंकः।

(घ) प्रत्येक अंक के प्रारम्भ में नट राजा को बताता है कि हे राजन्! अब यह नट विशेष प्रकार का स्वांग बनाकर आयेगा। जैसे—द्वितीय अंक पृष्ठ २९ का यह उदाहरण:—

नट० दो०—तब नृपकीरत ब्रह्मसों बोल्यो नट सरदार।
राजन राजामोहने सुन्यो बिबेक बिचार॥१॥
ताते अपने मंत्रिनहुं आज्ञा दीन्ही मोह।
करिये यतन बिबेककीमंत्र सिद्ध नहिं होह॥२॥
ताही अंतर दम्भ को आयो स्वांग सवांरि।

इसी प्रकार अन्य अंकों के प्रारम्भ में भी नट राजा से कुछ न कुछ कहता है।

(८) **पद्य**—प्रस्तुत अनुवाद पद्यबद्ध है। इसमें इन छन्दों का प्रयोग किया गया है: दोहा, चौपाई, कवित्त, तोमर, सोमराजी, सुन्दरी आदि। इसके कुछ छन्दों की तुलना रामचरितमानस के 'छन्दों' से की जा सकती है। पृष्ठ ५ वाला छंद मानस के अयोध्याकाण्ड के रामजन्म के समय माता कौशल्या के द्वारा राम की स्तुति में प्रयुक्त छन्द की छाया लिये हुए है।—मानस—अयोध्या काण्ड—'भये प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसल्या हितकारी'

ब्रजवासीदास—प्र० च० अनुवाद—

अविगत अविनाशी जगत प्रकाशी रोम रोम ब्रह्मांड कई॥
सर्वा अभिरामं सब सुखधामं व्यापक परमानन्दा।

इससे स्पष्ट है कि छन्दों में ब्रजवासीदास, तुलसी से प्रभावित रहे हैं।

(९) **भाषा**—इस अनुवाद की भाषा सरल, स्पष्ट और भावपूर्ण ब्रजभाषा है। नाटक का अनुवाद सर्वसाधारण के हेतु भाषा में किया गया था, जैसा कि पहले कहा गया है। अतः सरलता आवश्यक थी। सरलता के रहने पर भी भाषा में प्रवाह एवं सरसता है। कहीं कहीं गम्भीरता का भी गुण भाषा में दिखाई पड़ता है।

(१०) **पात्रों की भाव मुद्रा**—रंगमंच, वेशभूषा और नेपथ्य का संकेत आदि इस अनुवाद में है साथ ही पात्रों की भावमुद्राओं का भी वर्णन उपलब्ध होता है :—

(क) **नट-सुन्दरी छन्द**—काम के बैन सुने जब ही नट। भीत हो नारि सों ऐसे कह्यो हट। (पृष्ठ ९)

(ख) **रति यह बात सुनी जब कानन। नयननीर पियरी भइआनन॥**
परी धरनि जनु मुर्छा आई। ह्वै अचेत विह्वल अधिकाई॥
तबहीं काम अंक भरि लीन्हा। उरलगाइ साहस पुनि दीन्हा॥
(पृष्ठ १७)

रंगमंच के संकेत भी इसमें उपलब्ध होते हैं। जैसे पृष्ठ ३० पर—

दम्भ उवाच—महाराज अधिराज मोह दीन्ह यह आज्ञा।

+ + +

दोहा— **सोहों नृप आयसु अकनि बसिहौं काशी जाय।**
सजगहोहु औरो जुकोउ लीननृपतिकोखाय॥५॥
सुनतहि बानी दम्भकी नटवर परम सुजान।
वाही मजलिस मों कियो काशी इक अस्थान॥६॥

पात्रों के नेपथ्य से बोलने का भी स्पष्ट उल्लेख इस अनुवाद में है—

तबहि स्वांग मनमथ्य को बोलि उठ्यो पट ऐन॥५५॥
(पृष्ठ ९)

तिहि अंतर स्वांग विबेक आय।
बोल्यो पटगृहते सो रिसाय।
(पृष्ठ १८)

वेशभूषा के वर्णन का मनोरम संकेत दम्भ के वेशभूषा वर्णन में दृष्टव्य है—

लम्बी धोती कटितट लसै। नामांकितजुउपरनालसै॥
टोपीअतिचटकीलीलाल। छापातिलक बिराजत भाल॥
(पृष्ठ ३१)

पात्रों के प्रवेश और प्रस्थान का भी संकेत उपलब्ध होता है। जैसे—

"स्वांग रचकर सभी बीच आयो।" आदि—

पद्यबद्ध रचना होने पर भी इसमें नाटकीय संकेतों और रंगमंचीय अभिनय की आवश्यकताओं का ध्यान बड़ी सतर्कता से रक्खा गया है। काव्यमय भाषा में ही रंगमंच की सजावट, नटों का कार्यकलाप, भावमुद्रा, वेशभूषा, नृत्य तथा संगीत सभी की यथास्थान सूचना दी गई है। उदाहरण के लिये हम इस अंश को ले सकते हैं जिसमें नाटक का अभिनय करने के हेतु राजसभा में आकर नट अपने सहयोगियों की तैयारी का वर्णन करता है:—

दोहा — नटवर परम सुजान इक सकल कला गुण धाम।
आयो नृप दरबार में साधु समागम नाम ॥२६॥

तोमर छन्द—बहु शिष्यता के साथ। सुन्दर मनो रति गाथ।
कोउ लिये ताल मृदंग। कोउ ढोलकी मुहचंक ॥

—प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ ४।

इस वर्णन से स्पष्ट रूप से अनुवाद में नाटकीयता झलक रही है।

(११) **अन्त**—इस अनुवाद का अन्त भी बड़ी ही तन्मयता और सुरुचि के साथ किया गया है। लेखक ने इस भावना के साथ इस ग्रन्थ का उपसंहार किया है कि इस ग्रन्थ को जो कोई पढ़े और सुनेगा—उसकी अविद्या से मुक्ति होगी—उसमें भगवान की भक्ति होगी तथा विवेक का प्रकाश होगा आदि—

पढ़ै सुनै समुझै गुनै जो जो कोऊ यह ग्रन्थ।
ताके उरते छूटि है अहं अविद्या ग्रन्थ ॥१६६॥
भक्ति होय भगवन्त की और विबेक प्रकास।
भक्तिबिना त्रिभुवन दुखी कह ब्रजबासीदास ॥१६७॥

इस प्रकार इस अनुवाद को सरल और प्रवाहपूर्ण अनुवाद कहा जा सकता है।

गुलाबसिंह कृत अनुवाद—

४५८. कविवर गुलाबसिंह ने मूल प्रबोधचन्द्रोदय का अनुवाद[1] गुरुमुखी लिपि में किया था, जिसका उल्लेख कार्ष्णि गोपालदास ने अपने अनुवाद की भूमिका में किया है। इस गुरुमुखी लिपि के अनुवाद को पं० गुरुप्रसाद उदासीन

---

१. इस अनुवाद की प्रकाशित प्रति श्री मोहनवल्लभ पन्त के सौजन्य से उपलब्ध हुई।

ने गुरुमुखी लिपि से नागरी में किया जिसे स्वामी परमानन्द जी ने वेंकटेश्वर प्रेस से प्रकाशित करवाया[१]।

४५९. अनुवाद के प्रारम्भ में प्रकाशक ने अपनी सम्मति 'विज्ञापन' के रूप में दी है। इसमें बताया गया है कि पं० गुरुप्रसाद जी उदासीन साधुबेला के निवासी थे। उन्होंने गुलाबसिंह जी के गुरुमुखी लिपि वाले अनुवाद को नागरी लिपि में करने के साथ ही उसके नीचे प्रयत्नपूर्वक श्रुति, स्मृति और पुराणों के वचनों को उद्धृत कर टिप्पणी भी दी है।[२]

४६०. श्री गुलाबसिंह ने प्रस्तुत अनुवाद की रचना कुरुक्षेत्र में सम्वत् १८४६ में की थी। जैसा कि अनुवाद के इस पद्य से स्पष्ट है—

६ ४ ८ १
रस बेद औ वसु चन्द संबत लोक भीतर जान ।।
नभमास भृगु पुन वासरे दशमी वदी पहिचान ।।

---

१. द्रष्टव्य—प्रकाशित पुस्तक का मुख पृष्ठ—

।।श्रीः।।
प्रबोधचन्द्रोदयनाटक।
कविगुलाबसिहकृत
जिसको
पं० गुरुप्रसादउदासीनने गुरुमुखी अक्षरों से
देवनागरीमें टिप्पणीसहित बनाया।
तथा
मुमुक्षजनोंके हितार्थ,
श्रीमान् १०८ स्वामी परमानन्दजी ने
खेमराज श्रीकृष्णदासके
बंबई
"श्रीवेंकटेश्वर" (स्टीम्) यन्त्रालय में
(प्रथमा वृत्ति)
छपाकर प्रसिद्ध किया।
संवत् १९६२, शके १८२७
रजिस्टरीहक प्रसिद्ध कर्ताने स्वाधीन रक्खा है.

२. द्रष्टव्य—अनुवाद का विज्ञापन'।

गुरु मानसिंह पदारविंद अलंबना उर ठान ।।
कुरुक्षेत्र प्राचीकूलतट यह कीन ग्रन्थ बखान ।।२२५।।

--प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ १८० ।

इस पद्य से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि गुलाबसिंह के गुरु का नाम मानसिंह था। अपने गुरु का संकेत उन्होंने अनुवाद में एक स्थान पर और किया है। जैसे—

जिह अज्ञान निवारयो, दीनो मोक्ष अपार ।।
मानसिंह गुरुचरनको, बन्दौ वारंवार ।।२२४।।

--प्र० च० अनुवाद, पृ० १८० ।

इस अनुवाद का नागरी लिपिकरण और टिप्पणी पं० गुरुप्रसाद उदासीन ने सं० १९६१ में की। जैसा कि ग्रन्थान्त के इस श्लोक से स्पष्ट है—

इन्दुस्कन्दांकचन्द्रेऽब्दे द्वादश्यां श्रावणे तिथौ ।।
वनखण्डिप्रसादाख्यात्सम्पूर्णा टिप्पणी शुभा ।।१।।

--प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ १८० ।

'अंकानां वामतो गतिः। के अनुसार १६९१ संख्या १९६१ को सूचित करती है। इससे स्पष्ट है कि सं० १९६१ श्रावण मास की द्वादशी तिथि में इसका नागरी लिपिकरण और टिप्पणी पूर्ण हुई थी। पं० गुरुप्रसाद ने इस अनुवाद को अपने गुरु के चरणों में सर्मापित किया था—जैसा कि ग्रन्थ के अन्त में उल्लिखित है।

४६१. अब इस अनुवाद का अध्ययन हम निम्नलिखित विशेषताओं के अनुसार करेंगे—

१. **वन्दना**—सर्वप्रथम गणेश वन्दना है। गुरु नानक, गोविन्द गुरु और मानसिंह गुरु के प्रति श्रद्धा व्यक्त की गई है। जैसे—

गौरीपुत्र गणेशपद, बन्दौ बारंबार ।।
कार्य कीजिये सिद्ध मम, देह सुबुद्धि उदार ।।१।।

+ +

गुरुनानक गोविन्द गुरु, जासम और न कोइ ।।

+ +

अभिवन्दन पदकमल तिन, और सदा कर दोइ ।।३।।
भारत भूमिपुनीत पद, तपोज्ञान अवतार ।।
मानसिंह गुरुको नमो, तारण करुणासार ।।४।

--प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ १ ।

वन्दना के पश्चात् प्रबोधचन्द्रोदय के विषय और उद्देश्य की व्याख्या है। तदुपरान्त मूल ग्रन्थ की नान्दी का अनुवाद प्रारम्भ कर दिया गया है।

२. **भाषा**––अनुवाद की भाषा ब्रजभाषा है। कहीं-कहीं विशेषप्रकार के शब्दों का प्रयोग भी है। अनुवाद की टिप्पणी भी दी गई है जिसमें उनको स्पष्ट कर दिया गया है। जैसे––

"कटे चक्रधारा करे भूमिमाठं।।

––प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ १२३।

३. **मूल से अतिरिक्त कथा**––मूल से अतिरिक्त कथा इसमें केवल एक मिलती है और वह है––काम के यश का विस्तार––वैभव और प्रभाव वर्णन के हेतु शृंगी का काममोहित हो जाने का वर्णन पृष्ठ ९ से १२ तक है। वर्णन क्रम, मूल के अनुसार ही है। विस्तार या संक्षेप का प्रयत्न अन्य प्रसंगों में नहीं है।

४. **मौलिक पात्रों की योजना**––मौलिक पात्रों की योजना भी की गई है। जो निम्न प्रकार से है:––

कुबुद्धि मंत्री––पृष्ठ ५२

महामोह जब अपने सैनिकों को कार्य में नियुक्त करता है उसी प्रसंग में, इन विभिन्न मौलिक पात्रों की योजना की गई है।

५. **अंक**––इस अनुवाद में अंक छः हैं। यह मूल के क्रम के अनुसार ही है। नवीनता यह है कि प्रत्येक अंक के अन्त में, आगे की कथा की संक्षेप में सूचना दे दी गई है। जैसे तृतीय अंक की समाप्ति पर:––

इमकहि करुणा शांति पुन, भई सुअंतरध्यान।।
कीरतिवरमा देव पिख, भयो शुभाशुभ ज्ञान।।१६५।।
विष्णुभक्ति आगे सुनो, श्रद्धा रक्षा कीन।।
विबेकसमीप पठाइगी, होइ सकल अरि खीन।।१६६।।

इति श्रीमन्मानसिंहचरणशिक्षित गुलाबसिंह विरचिते प्रबोधचन्द्रोदयनाटके पाखंड-विडंबनो नाम तृतीयोऽकः समाप्तः।।३।। ––प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ ९९।

६. **अनुवाद गत सौन्दर्य**––शैली के अन्तर्गत विभिन्न छन्दों की योजना है। जैसे विशेष रूप से दोहा, चौपाई, सवैया, कवित्त, छप्पय आदि की योजना है। इसके अतिरिक्त–नराज छन्द; अनंग छन्द; भुजंग प्रयात छन्द आदि प्रयुक्त हुए हैं। अनुवाद में काव्य-सौष्ठव है। इसमें स्वतंत्र प्रतिभा भी लक्षित होती है। पद्यबद्ध होने से इसमें संस्कृत के श्लोकों का सुन्दर अनुवाद हुआ है। जिनमें भावों

की सुरक्षा और भाषा का प्रवाहपूर्ण प्रयोग है। इस अनुवाद में पात्रों का मनोवैज्ञानिक रूप मूल के अनुसार ही सुन्दरता के साथ अंकित है। उदाहरण के लिए क्रोध का यह वर्णन देखिए—

> अंधकरों दृगवंतनको श्रुतिवंतनकोंबघरोंकरडारौं।।
> धृतवंतनकोंसुअधीरकरों, पुन चातरकी मति दूर निवारौं।।
> हितकार्य नाहिपिखे कबही, जिनकै उर भीतरमै पगधारौं।।
> हितआत्मको नसुने कबहीपढ्यो, जितनो क्षणमाहि बिसारौ।।
>
> —प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ ६०।

सन्तोष की अभिव्यंजना में आश्रम का स्वाभाविक वर्णन द्रष्टव्य है—

> फलकाननमांहि अनेक मिलें, बिनखेद सदा तरुहैं सुखदाई।।
> पुन नीर जहांतहं पूर रह्यो, अतिशीतल पुंन नदी मधुराई।।
> मृदुसुंदर पल्लवसेज बने, बिजनाबन आप समीर झुलाई।।
> जन हा धनवंतनद्वारनमैं, कृपण पुन खेद सहैं बहु जाई।।९७।।
>
> —प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ ११५।

इस प्रकार अनुवाद में भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की क्षमता प्रतिबिंबित है।

७. **नाटकीय योजना**—नाटकीय कार्य व्यापारों को पद्य में सूचित किया गया है। प्रथम अंक में पृष्ठ ७ पर सूत्रधार की वार्ता के पश्चात् कामपात्र नेपथ्य से बोलता है :—

> बीच कनातकेवात सुनीसुमनोजबली यह काननमाहीं।।
> कोपभरे मुख एहुकही नटनीचसुबोलतयोंमुखमाहीं।।

विशेष वर्णन और परिचय आदि में 'कवि उवाच' करके पद्यात्मक वर्णन हैं। जैसे—कवि उवाच—'या अवसर इक आइयो, पत्र हस्त नरआन।'—पृ० ५४ इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रस्तुत अनुवाद पद्यबद्ध शैली के अनुवादों में से मूल का भावानुवाद है।

नानकदास कृत अनुवाद

४६२. नानकदास कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय, के अनुवाद'[1] की प्रतिलिपि काशी नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित है जो कि ब्रजभाषा और नागरी लिपि में है।

---

१. नागरी प्रचारिणी सभा से प्राप्त हस्तलिखित प्रतिलिपि।

एक अन्य प्रति का भी पता लगा है जो कि भाषा विभाग, पटियाला, में सुरक्षित है। नानकदास का यह अनुवाद मूल 'प्रबोधचन्द्रोदय' से न होकर, बलीराम साधु के यमन भाषा वाले (प्र० च० के) अनुवाद का हिन्दी भाषान्तर मात्र है। इसकी सूचना नानकदास ने पुस्तक के अन्त में दी है।[1] यह तथ्य अन्तःसाक्ष्य और बहिः-साक्ष्य के आधार पर भी सिद्ध है। ब्रजवासीदास के अनुवाद को हम बहिःसाक्ष्य के रूप में ग्रहण कर सकते हैं। ब्रजवासीदास ने अपनी रचना के प्रारम्भ में नानक-दास को बलीराम साधु से उपकृत होने का उल्लेख किया है।[2] ब्रजवासीदास और नानकदास जी की रचनाओं में कथाक्रम और वर्णन-प्रसंगों में साम्य पाया जाता है। वर्णन प्रसंगों के साम्य से यह सिद्ध होता है कि—दोनों अनुवादकों के कथन सत्य हैं।

४६३. नानकदास के अनुवाद का रचनाकाल (सम्वत् १८४६) सन् १७८९ ई० है। अपनी रचना के अन्त में स्वयं कवि ने इसका संकेत कर दिया है। जो निम्न प्रकार से है:—

संवत सत अखाद्रस अपर षष्ट चालीस।
मंघर शुक्ला पंचमी पोथी पूर्ण करीस॥१९०॥

—प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ ११७।

---

१. नानकदास—अनुवाद—पृष्ठ ११६।

इह पोथी पूरण करी वलीराम हरि संत।
तांकों भाखा मों रच्यो नानकदास विनवंत॥१८१॥
हौं अल्पज्ञ अजांन यथा बुद्धि भाखा करी।
तुम साधू सज्ञयान भुल चुक लेहु सवार के॥१८२॥

२. ब्रजवासीदास—अनुवाद—पृष्ठ ३

वलीराम ताकी करी भाषा यमन किताब।
सोऊबिद्या अति कठिन समुझिन बरै शिताब॥१८॥
मित्र एक ऐसी कही जो यह भाषा होय।
सरल होयतो सबनको सुनि सुख पावै लोय॥१८॥
तातेयह भाषा करी अपनी मति अनुसार।
सत संगत परताप ते बिपुल छन्द बिस्तार॥२०॥
नहीं चतुरनहिं रसिक बर नहिंकवि युक्त उदार।
पाछौ लै हरिजन कहत लैहैं साधु सुधार॥२१॥

४६४, प्रस्तुत अनुवाद और ब्रजवासीदास के अनुवाद में अनेक साम्य पाये जाते हैं। कृष्ण मिश्र का दोनों ने ही कृष्ण भट्ट नाम लिखा है। अनुवाद के प्रारम्भ में, दोनों ने ही कृष्ण भट्ट के शिष्य की जो कथा कही है, उसमें समता है। इसके अतिरिक्त ये दोनों कृष्ण भट्ट के मूर्ख शिष्य की कथा समान रूप से कहकर, अनुवाद करने में प्रवृत्त होते हैं। कीर्तिवर्मा के हेतु नाटक का अभिनय प्रारम्भ करने का प्रसंग दोनों में एकसा है। नानकदास के अनुवाद के पृष्ठ २,३ और ब्रजवासीदास के अनुवाद के पृष्ठ ६,७ पर यह प्रसंग है। रति ने विवेक को योग्य और अधिक बलवान बताने के हेतु, यम, नियमादि के आठों प्रकारों को विस्तार से दोनों में बताया है।[1] काम के द्वारा किया गया अपनी सेना के मंत्रियों का वर्णन दोनों में समान है।[2] पृष्ठ ३० पर ब्रजवासीदास और पृष्ठ १२ पर नानकदास के दम्भ पात्र के वर्णन में भावसाम्य है। विवेक के युद्ध करने को तत्पर हो प्रस्थान करने के समय सैनिकों के नामों के वर्णन में समता है। जैसे—

सम दम नेम यमादि सब जे विबेक के बीर।
होहु सवार तयार सब बाहु बली रणधीर।।९१।।
—ब्रजवासीदास, पृष्ठ ८२।

सम दम यम व्रत नेम तप ब्रह्मचर्ज सतसंग।
धाए संग विबेक के इह जोधा दल भंग।।१०३।।
—नानकदास, पृष्ठ ६३।

दोनों में ही चार्वाक के द्वारा कलियुग के वर्णन में समान रूप से विस्तार दिया गया है। दोनों अनुवाद ब्रजभाषा में हैं। दोनों में ही दोहा, चौपाई, छन्दों की प्रधानता है। प्रत्येक अंक के प्रारम्भ और अन्त के वर्णन समान हैं। दोनों अनुवादों की ये सभी समानताएं, वही हैं जो मूल से अतिरिक्त होते हुए भी समान रूप से भाव साम्य रखती हैं।

४६५. मूल से अतिरिक्त उपर्युक्त अनेक समानताएं होते हुए भी दोनों अनुवाद, एक जैसे नहीं कहे जा सकते हैं। दोनों में ही अपनी विशेषताएं हैं जो कि एक ही ग्रन्थ के, दो व्यक्तियों के द्वारा किये गये अनुवाद में होनी चाहिए। नानक-

---

१. (क) नानकदास, पृष्ठ ७,८।
(ख) ब्रजवासीदास, पृष्ठ १४।
२. (क) नानकदास, पृष्ठ ९।
(ख) ब्रजवासीदास, पृष्ठ १४।

दास के अनुवाद में ब्रजवासीदास की भाषाशैली के समान सरस प्रवाह नहीं हैं। यद्यपि उसमें भी सरलता, स्पष्टता, एवं वर्णन सौन्दर्य है। नानकदास के अनुवाद में ब्रजवासीदास के अनुवाद से अनेक समता होने के साथ ही कुछ विशेष अन्तर भी हैं। नानकदास विवेक की स्त्री मति को 'बुद्धि' कहा है। जबकि ब्रजवासी दास ने 'सुमति' नाम दिया है। नानकदास ने जैन साधु को 'श्रेवरा' कहा है किन्तु ब्रजवासीदास नें 'सेवरा' ही माना है। नानकदास ने बौद्ध साधु को 'पूज' कहा है।[1]

४६६. नानकदास के इस भाषानुवाद में पर्याप्त नाटकीयता है। रंगमंच, नेपथ्य, प्रवेश एवं प्रस्थान का विवरण भली प्रकार है। उदाहरण के लिए ये अंश लिये जा सकते हैं:—

(क) आगे करी कनात इक स्वांग बनावन काज।
जाते आवें स्वांग वन देखे सकल समाज।।१२।।
—प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ २

(ख) धीरे धीरे बोलने का स्वर संकेत—
चार वाक लग कानन मागा। हरूए हरूए भाखन लागा।।६९।।
—प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ २९।

४६७. अनुवादक ने यत्र-तत्र स्वतंत्र कवि प्रतिभा से उपमाओं का भावपूर्ण मौलिक प्रयोग भी किया है। उदाहरण के लिए, पृष्ठ अट्ठारह के प्रथम अंक के दो दोहे लिए जा सकते हैं—

यत्न प्रीत परतीति विन दिसै न आत्म योत।
खांड खांड के कहे ते कव मुख मीठा होत।।१०३।।
सीसे माहि गुलाब है सीसे के किस काम।
इऊं जड़ कों सूझे नही घट घट आतम राम।।१०४।।

प्रस्तुत अंश में आध्यात्मिक अनुभव की विशेषता उपमाओं से स्पष्ट हो गई है।

४६८. इस अनुवाद की अन्य विशेषताएं प्रायः वे ही हैं, जो ब्रजवासीदास के अनुवाद में उपलब्ध होती हैं। अतः उनका पृथक् रूप से अध्ययन नहीं किया गया है।

---

१. नानकदास प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ ४३, ४४।

धोंकल मिश्र कृत अनुवाद

४६९. धोंकल मिश्र ने प्रबोधचन्द्रोदय का पद्यानुवाद[1] विस्तार से १२० पृष्ठों में किया है। धोंकल मिश्र महाराज तेजसिंह के आश्रित थे। मुझे उपलब्ध हस्तलिखित प्रति के मुखपृष्ठ पर लिखा है कि पुस्तक श्री मयाशंकर याज्ञिक के संग्रहालय से उपलब्ध हुई है।[2] धोंकल मिश्र कृत अनुवाद का काल अज्ञात है। प्रतिलिपि पर रचनाकाल नहीं लिखा है और स्पष्ट रूप से मुखपृष्ठ पर लिखा है कि लिपिकाल अज्ञात है। धोंकल मिश्र की दूसरी कृति का रचनाकाल १७९९

---

१. काशी नागरी प्रचारिणी सभा से उपलब्ध हस्तलिखित प्रतिलिपि।

२. श्री
प्रबोध चन्द्रोदय नाटक
(पद्यानुवाद)
धोंकल मिश्र कृत
(श्री तेजसिंह के आश्रित)
लिपिकाल अज्ञात
हस्त० सं० ६५।५२ पत्र सं० १—१२४ पूर्ण साइज
(श्री मयाशंकर याज्ञिक संग्रह से)
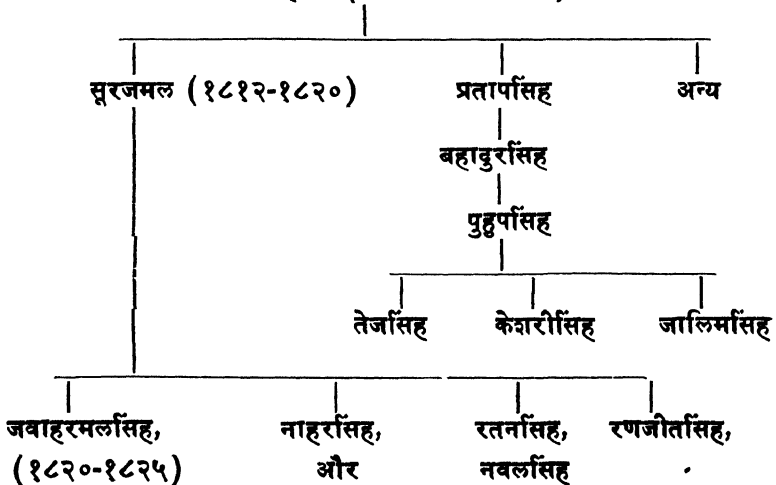
नोट—यह वंश वृक्ष मूल पुस्तक में नहीं है। श्री याज्ञिक जी से इसे बनाया है।

ई० है।[1] इससे ही अनुमान होता है कि १७९९ ई० के आसपास ही इन्होंने अनुवाद भी किया होगा।

४७०. धोंकल मिश्र कृत इस अनुवाद की विशेषताओं का अध्ययन हम निम्न प्रकार से करेंगे :—

१. **प्रारम्भ**—धोंकल मिश्र ने शिवशंकर, गणेश और नृसिंह आदि की वन्दना करने के पश्चात् अपने आश्रयदाता राजा तेजसिंह के वंश का संक्षिप्त परिचय देकर प्रताप का वर्णन किया है। जो प्रथम और द्वितीय पृष्ठ के दोहों में द्रष्टव्य है।

२. **उद्देश्य**—नृपश्री तेजसिंह ने कवि को अनुवाद की प्रेरणा दी थी जिसका संकेत कवि ने सम्मान सहित पृष्ठ दो पर नवें और दसवें छन्द में किया है।

३. **मूल से समता**—प्रस्तुत अनुवाद प्रबोधचन्द्रोदय का पूर्ण पद्यबद्ध अनुवाद है। घटनाओं का क्रम, और पात्रों का प्रयोग मूल की ही भांति है। यह अनुवाद प्रबोधचन्द्रोदय का भावानुवाद है। इसमें भावों को सुरक्षित करने में कवि समर्थ रहा है। कहीं-कहीं कवि को वर्णन में अधिक सफलता प्राप्त हुई है उदाहरण के लिए क्षमा का यह वर्णन है :—

क्रुद्ध जो कोऊ करे मुसकान मंद निवारिये।
होय जो परवेस तो परसन्न चित्त निहारिये।।
वहु बोल में कुसली वचन कहिये वही सुवडाइये।
ताडन विषें निज पाप छेदनमानि कें सघटाईये।।९०।।

—प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ ७१।

४. **विस्तार प्राप्त वर्णन**—अनुवाद के पृष्ठ १२ से १३ तक काम ने रति से जो वार्तालाप किया है, (छन्द ९२ से छन्द १०१) वह मूल से अधिक विस्तृत है। रति के विवेक द्वारा कुलनाश का कारण पूछे जाने पर, काम उसे अपने प्रभाव का विस्तार से वर्णन सुनाता है। इस आत्मप्रशंसा में नास्तिकों का, संसार भ्रमित व्यक्तियों का तथा चार्वाक का वर्णन मूल से अतिरिक्त और विस्तृत है। प्रस्तुत विस्तृत वर्णन अनुवाद के दूसरे अंक से लेकर, पहले अंक के वार्तालाप में जोड़ दिया गया है। इससे इस कथन की कहीं-कहीं पुनरावृत्ति (पृ० २८ छन्द ७९, ८०) सी हो गई है। इसके अतिरिक्त कोई अंश विस्तृत नहीं है।

५. **शैली**—यह अनुवाद पूर्णतया पद्यबद्ध रचना है। इसमें विभिन्न प्रकार

---

१. भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य—डॉ० गोपीनाथ तिवारी, पृष्ठ ९।

के छन्दों का प्रयोग है। जैसे—छप्पय, दोहा, अनुगीत, छन्द, भुजंगी छन्द, त्रिभंगी छन्द, सोरठा, मुक्तादास छन्द, कवित्त अनुमाहिनी गीत, तोटक, कंद छन्द, नील छन्द, पद्धरी छन्द और आभीर आदि छन्द हैं। अनुवाद की भाषा ब्रजभाषा है। इस ब्रजभाषा में स्थान-स्थान पर विशेष अवसरानुकूल ध्वन्यात्मक शब्दों का प्रयोग है। जैसे ृष्ठ ५३ से छन्द १०८ में क्रोध का भाव झलक रहा है—

कापालिक सुनि बैंन अगनि ज्वाला सम फुक्किय।
अरे पाप रे पाप दंत कट कटु वच कुक्किय।।
परम ब्रह्म सों कहत इंद्र जालिक नहि सक्किय।
सो दुसात्मता सहि न परत बहु वार जू वक्किय।
इमि कहि कराल करवाल कर लई जू हाल सटक्कि कें।
पुनि रटिय औरहूं क्रुद्ध करि सभयद बैंन कहुक्कि कें।।१०८।।

इस प्रकार क्रोध या उत्साह के भावों के अनुवाद में प्रायः फुक्किय, कुक्किय, सक्किय, वक्किय आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

५. **नाटकीय संकेत**—प्रस्तुत अनुवाद में पर्याप्त नाटकीय संकेत दिये गये हैं। उसमें पात्रों के प्रवेश, प्रस्थान, वेशभूषा, नेपथ्य, गृहआवास या रंग सज्जा का वर्णन दिया गया है। जैसे पृष्ठ चार पर छन्द बाईस और तेईस में नट और नटी का वर्णन है।

४७१. इस प्रकार धोंकल मिश्र का अनुवाद नाटकीय संकेतों से सम्पन्न, पद्यबद्ध शैली में ब्रजभाषा का भावानुवाद है।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत अनुवाद

४७२. भारतेन्दु जी ने संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के तृतीय अंक का अनुवाद 'पाखण्ड विडम्बना' नाम से १८७२ ई० में किया था। इस अनुवाद का नाम मूल ग्रन्थ के तीसरे अंक के नाम पर है। क्योंकि संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय के तृतीय अंक में पाखण्डों का वर्णन है।[1] जिससे ज्ञात होता है कि सं० प्र० च० के तृतीय अंक का नाम ही 'पाखण्ड विडम्बना' है। अतः भारतेन्दु जी ने तृतीय अंक का अविकल अनुवाद प्रस्तुत करते हुए, अनुवाद का नाम भी 'पाखण्ड विडम्बना' रख दिया है। इस भांति यह प्रबोधचन्द्रोदय के तृतीय अंक का अविकल अनुवाद

---

१. निर्णय सागर प्रेस से प्रकाशित सं० प्रबोधचन्द्रोदय, पृष्ठ ९८

ही है जैसा कि हिन्दी के अनेक विद्वानों ने स्वीकार किया है।[1] भारतेन्दु जी का प्रस्तुत अनुवाद सरस एवं सजीव है। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के अनेक अनुवादों में से सर्वाधिक सजीवता एवं पूर्णता इसी अनुवाद में है। इसमें मूल का सौन्दर्य मानों मुखरित हो उठा है। भारतेन्दु जी एक शाश्वत कलाकार थे। वह युग-प्रणेता साहित्यकार, प्रतिभाशाली कवि और मौलिक नाटककार थे। ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों के संधियुग में होने के कारण, दोनों पर उनका विशेष अधिकार था। युग सृष्टा होने के कारण वे सामाजिक जीवन से अनभिज्ञ न थे। समाज के साधु संन्यासियों के जीवन की भाषा और संकेतों से भी परिचित थे। साथ ही उनमें सर्वजन कल्याण चाहने वाली, श्रद्धालु एवं भक्त आत्मा भी थी। 'पाखण्ड विडम्बना' का अनुवाद उसी आत्मा से स्पन्दित एवं उपर्युक्त विशेषताओं से सुशोभित हुआ है।

४७३. कृष्ण मिश्र कृत प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के अन्य सभी अनुवादों की तुलना में इस अनुवाद की सर्वप्रमुख विशेषता तो यही है कि साधु संन्यासी की भाषा में अन्य पात्रों की भाषा से अन्तर उपस्थित कर दिया गया है। हिन्दी के किसी भी अनुवादक का ध्यान इस विशेषता की उपयोगिता की ओर नहीं गया। इस भाषान्तर के प्रयोग से अनुवाद में सजीवता एवं रोचकता का तो संचार हुआ ही, साधुओं की अवस्था का जो कलात्मक चित्रण उपस्थित हो सका है उसका चित्रण भारतेन्दु जी के व्यक्तित्व से ही सुलभ था। साधुओं के जीवन की मूर्खता, विलासिता, तथा व्यभिचार तत्कालीन समाज को भी जर्जरित कर रहे थे। जिससे कि श्रद्धा की दुर्दशा हो रही थी। श्रद्धा की

---

१. (क) हिन्दी नाट्य साहित्य---बाबू ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ६१।
(ख) हिन्दी नव रत्न---मिश्रबन्धु, पृष्ठ ४९०।
(ग) हिन्दी साहित्य का इतिहास---पं० रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ४००।
(घ) भारतेन्दु नाटकावली, पृष्ठ ७९।
(ङ) हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास---डा० सोमनाथ गुप्त, पृ० ३१-३२।
(च) आधुनिक हिन्दी साहित्य---डा० वार्ष्णेय, पृष्ठ २६२।
(छ) हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास---डा० दशरथ ओझा, पृष्ठ १९४।
(ज) भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य---डा० गोपीनाथ तिवारी पृष्ठ २३४, २३५।

व्यथा एवं शान्ति की पुकार से भारतेन्दु का भी हृदय मर्माहित हुआ था। दूसरी भाषा का प्रयोग करके भारतेन्दु जी ने प्रत्यक्ष में तो अनुवाद ही किया था किन्तु उससे उनका वास्तविक उद्देश्य---(उनके हृदय का क्षोभ और समाज की धार्मिक दुर्दशा के चित्रण) प्रतिध्वनित होता है।[1] अनुवाद के निवेदन में उन्होंने स्पष्ट कर दिया है[2] कि किसी वैमनस्य की भावना से यह अनुवाद नहीं किया गया। ईश्वर से विमुख पाखण्ड का एक दृश्य उन्होंने सच्चे श्रद्धालु हृदय से चित्रित किया है।

४७४. साधुओं की अटपटी भाषा के अतिरिक्त गद्य में खड़ी बोली और पद्य में ब्रजभाषा का प्रयोग करके भी, नाटक में सरस प्रवाह का संचार हुआ है। गद्य की भाषा व्यवस्थित है। पद्य की भाषा में माधुर्य है।[3] अनुवाद में पर्याप्त नाटकीयता है। मूल नाटक के अनुसार ही प्रवेश प्रस्थान आदि के अभिनयात्मक संकेत पृथक् ही दिये गये हैं। इस प्रकार एक अंक का अनुवाद होते हुए भी प्रस्तुत अनुवाद अन्य सभी अनुवादों की तुलना में भाषा विशेष के प्रयोग द्वारा रचना कौशल की दृष्टि से, सर्वप्रथम स्थान का अधिकारी है।

अयोध्या प्रसाद चौधरी कृत अनुवाद

४७५. अयोध्याप्रसाद चौधरी का एक अनुवाद[4] गद्य शैली में उपलब्ध होता है। 'स्वर्ग के सोपान' रूप प्र० च० के इस अनुवाद को उन्होंने अपने गुरु की आज्ञा

---

१. "भला इससे पाखण्ड का विडम्बन क्या होना है ? यहां तो तुम्हारे सिवा सभी पाखण्ड है, क्या हिन्दू क्या जैन ? क्योंकि मैं तुमको पूछता हूं कि बिना तुमको पाये मन की प्रवृत्ति ही क्यों ?" ---भूमिका।

२. "तो इससे यह न करना कि मने किसी मत की निन्दा के हेतु यह उल्था किया है क्योंकि सब तुम्हारा है इस नाते से तो सभी अच्छा है और तुमसे किसी से सम्बन्ध नहीं इस नाते से सभी बुरे हैं ।" ---भूमिका

३. शान्ति---(सोच से) मेरी प्यारी मां कहा हैं ? जल्दी मुझे अपना मुखड़ा दिखा। हा !

जो वन में सरितान के तीर, जहां बहे सीतल पौन सुहाई।
देवन के घर में, ऋषि के घर में जिन अपनी आयु बिताई॥
सज्जन के चित्त में जो रही, हिय में जिन पुन्य की वेल बढ़ाई।
सो परिचाय पखंडिन के कर, गाय ज्यों बाधि के राखै कसाई॥
अब मैं भी जी के क्या करूँगी ?

अयोध्या प्रसाद चौधरी कृत अनुवाद

४. काशी नागरी प्रचारिणी से उपलब्ध हस्तलिखित प्रतिलिपि।

से हिन्दी में किया था। इसकी सूचना अनुवाद के मुखपृष्ठ[1] से ज्ञात होती है। उस पर अयोध्याप्रसाद चौधरी और उनके गुरू का संक्षिप्त परिचय तथा प्रकाशन काल भी दिया है। उसके अनुसार पं० देवीदीन जी इटावा जिले के कस्बा लखना के रहने वाले थे। उन्होंने नार्मल स्कूल आगरा में अध्यापन कार्य किया था। अध्यापन काल में उनके एक प्रतिभाशाली शिष्य, (यही अनुवादक अयोध्याप्रसाद चौधरी) थे। ये मल्हौसी बासी के रहने वाले थे। ग्रन्थ का प्रकाशनकाल उसके मुख पृष्ठ पर १८८५ लिखा है। प्रकाशनकाल के कुछ पूर्व ग्रन्थ रचना का अनुमान किया जा सकता है। 'निवेदन'[2] में अनुवाद का यह लेख कि समयाभाव के कारण, उन्होंने अनुवाद संक्षेप में किया। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि ग्रन्थ प्रकाशन के कुछ ही पूर्व उसकी रचना हुई थी। दूसरे पुस्तक का प्रकाशन विल्लोचपुरा आगरा के ही प्रेस में हुआ था इससे भी यही प्रतीत होता है कि अयोध्याप्रसाद चौधरी ने अपने आगरा निवासत्व काल में ही, इसकी रचना की और वहीं से इसे छपवाया भी। अतः इस ग्रन्थ का रचनाकाल, इसके प्रकाशनकाल से कुछ पूर्व मान लें तो सन् १८८४ या ८५ ई० का सिद्ध होता है।

---

१. प्र० च० अनुवाद का मुख पृष्ठ——

प्रबोध चन्द्रोदय : नाटक

(हिंदी भाषा गद्य में)

जिसको कस्बा लखना जिला इटावा निवासी पंडित देवीदीन
अध्यापक नार्मल स्कूल आगरा ने अपने विद्यार्थी अयोध्या
प्रसाद चौधरी मल्हौसी वासी से बनवाया और प्रकाशित किया।

सुख सम्पति अरु भक्ति प्रद नाशक तत अज्ञान।
पढ़हु चित्त दै ग्रंथ यह सत्य स्वर्ग सोपान।।

आगरा

मतबअ अबुल उलाई मुहल्ला बिल्लौचपुरा में गफूर बख्श के प्रबंध से छपा।

भाद्रपद सं० १९४२ वि०

सितम्बर १८८५ ई०

प्रथम बार २५०

पुस्तक

२. निवेदन !

प्रिय पाठकगण ! यद्यपि इस नाटक में समयाभाव और विस्ताराभाव के कारण विशेष रोचकता नहीं आयी तथापि आप लोगों का समय व्यर्थ न जायेगा।

——ग्रन्थकार

४७६. डा० गोपीनाथ तिवारी ने अपनी पुस्तक[1] में श्री अयोध्याप्रसाद चौधरी और देवीदीन के दो पृथक्-पृथक् अनुवाद माने हैं। किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। पं० देवीदीन जी ने अपने शिष्य अयोध्याप्रसाद से अनुवाद करवाया था। अतः प्रेरक और कर्त्ता तो दो अवश्य हैं किन्तु अनुवाद एक है दो नहीं।

४७७. अब हम प्रस्तुत अनुवाद का अध्ययन निम्न प्रकार से करेंगे :—

१. **प्रारम्भ**—मंगलाचरण में अनुवादक ने गणेश और अद्वैत ब्रह्म की वन्दना की है।

२. **भाषा शैली**—यह अनुवाद गद्य में है। इसमें पद्य का प्रयोग नहीं है। इसकी भाषा खड़ी बोली हिन्दी है। जो सरल और बोल चाल की होने पर भी सुव्यवस्थित है। जैसे मोह—मंत्री तुम आकर अभी सब सेना सजाओ, और चलो युद्ध करके विवेक को जीत लो।

मंत्री—महाराज सब सेना तो तय्यार ही है।

मोह—तो जल्दी चलो (सब गये)।

३. **पात्र**—इस अनुवाद में काम और रति के वार्तालाप में मूल से भावसाम्य है। इसके अतिरिक्त विवेक और मति का वार्तालाप भी समता रखता है। इसमें दम्भ और अहंकार की वार्ता मूल से संक्षिप्त कर दी गई है। दम्भ और अहंकार की इस वार्ता के बीच में ही जैन धर्मी अपने व्यभिचारपूर्ण व्यवहार का वर्णन करता है, जब कि मूल में श्रद्धा की खोज के प्रसंग में जैन मत का वर्णन है, इस वार्ता में नहीं है। श्रद्धा शान्ति, उपनिषद, विष्णुभक्ति आदि मूल पात्रों का प्रयोग नहीं हुआ है। न इनसे सम्बन्धित कार्य व्यापार का ही संकेत किया गया है। मूल की भांति पात्रों की मनोवैज्ञानिक योजना नहीं है। मूल से अतिरिक्त शील, झूठ, सत्य, सतसंग, नम्रता, गर्व आदि ऐसे पात्रों का प्रयोग भी हुआ है जिनके दर्शन मूल में नहीं होते हैं।

४. **वर्णन प्रसंग**—इसमें, मूल के वर्णन प्रसंगों में भी अंतर कर दिया गया है। मूल में कीर्तिवर्मा को विजय के पश्चात्, युद्ध से विरक्त होने के कारण आत्मिक शान्ति देना, नाटक का उद्देश्य बताया गया है। किन्तु प्रस्तुत अनुवाद में विषयों में लिप्त कीर्तिवर्मा को ज्ञान देने का उद्देश्य वर्णित है। मूल की भांति मतमतान्तरों और दर्शनों का वर्णन भी नहीं है। मोह और विवेक के युद्ध की योजना भी मूल की भांति नहीं है। इसमें मोह और विवेक के पक्ष का वाक्युद्ध होता है। वाक्युद्ध

---

१. भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य—डा० गोपीनाथ तिवारी, पृष्ठ २३४-३५।

में मोह के सब साथी भाग जाते हैं। तत्पश्चात् मोह की पराजय और विवेक की विजय हो जाती है। मूल के अतिरिक्त कुछ वर्णन विज्ञान गीता के प्रभाव से भी प्रभावित हैं। जैसे गाधि की कथा तथा श्रीमन्नारायण की भक्ति का उपदेश आदि।

५. **अंक**——नाटक में कुल मिलाकर छः अंक हैं। पांच अंक साधारण हैं। छठा अंक बहुत लम्बा है। जिसमें पांच गर्भांक हैं। प्रथम अंक में प्रस्तावना भी है। इसमें सूत्रधार और नटी राजा कीर्तिवर्मा का और नाटक के नाम का परिचय भी देते हैं।

६. **नाटकीयता**——इस अनुवाद को नाटकीय रूप देने की चेष्टा की गई है। इसमें पात्रों का प्रवेश प्रस्थान, भावमुद्रा और अभिनय संकेत, यथा स्थान दिये गये हैं। कथोपकथन–उपदेशात्मक भाषण के समान हैं, उनके लम्बे होने के कारण, नाटकीयता में बाधा पड़ी है। सम्भवतः यह विज्ञान गीता का प्रभाव है, जिससे व्यवधान उपस्थित हो गया है।

४७८. यह अनुवाद मूल का अविकल अनुवाद नहीं है। मूल के एक अंक का तथा कुछ वार्तालापों का भावानुवाद कहा जा सकता है, शेष पर केशवदास की 'विज्ञान गीता' का प्रभाव है।

४७९. इस अनुवाद में 'विज्ञान गीता' से समता रखने वाले तथा उस पर आधारित वर्णन प्रसंग अनेक हैं। 'विज्ञानगीता' में जिस प्रकार मूल के एक अंक की कथा 'तीन प्रभावों' में वर्णित है, उसी से समता रखते हुए प्रस्तुत अनुवादक ने भी, प्रथम अंक की कथा के तीन विभाजन, प्रस्तावना–प्रथम अंक तथा द्वितीय अंक के रूप में किये हैं। प्रस्तावना में सूत्रधार का प्रसंग प्रथम अंक में काम और रति का तथा द्वितीय में विवेक और मति का प्रसंग है। जबकि मूल में ये सब प्रसंग एक ही अंक में सम्मिलित हैं। दूसरे प्रस्तुत अनुवाद की 'मिथ्यादृष्टि' का चित्रण मूल की अपेक्षा 'विज्ञान गीता' की 'मिथ्या दृष्टि' से समता रखता है। मूल में मिथ्यादृष्टि को महामोह केवल कार्य सौंपने के हेतु बुलाता है और उसे कार्य के हेतु आज्ञा देता है। वह उस समय प्रसन्नता से कार्य सम्पन्न करने को तत्पर हो जाती है जिससे उसके हावभाव से प्रभावित महामोह उससे विलासमात्र करता है। उदाहरण के लिए मूल का महामोह और मिथ्यादृष्टि का प्रसंग पृष्ठ ९० और ९३ पर है। 'विज्ञान गीता' में मूल का यह प्रसंग इस प्रकार नहीं है। उसमें मिथ्यादृष्टि को महामोह की पटरानी के रूप में वर्णित किया गया है। मिथ्यादृष्टि श्रृंगार किये हुए दास दासियों से सेवित बैठी रहती है, मोह उसके पास जाकर उसे देश-विदेशों में व्याप्त अपना वैभव सुनाता है। जिसको सुनकर मिथ्यादृष्टि उसे शुभ परामर्श देती है। 'विज्ञान गीता' में यह प्रसंग निम्न प्रकार से है:—

देखि सबै पाषण्ड पुर, अपनी सिगरी सृष्टि।
रावर मांझ गए जहां, रानी मिथ्या दृष्टि ॥९॥
दुराशा जहां तृष्णिका देह धारें।
दुहूं ओर दोऊ भले चौंर ारें।

राजा--अनुकूल--आय कछू देखति दुचिताई।
लोकनि में यद्यपि प्रभुताई ॥
एक विबेक सुमोमन सारे ॥१३॥
कौन भांति वह जीतन पाऊँ।
बूझि बूझि देखे हम मंत्री ॥

रानी--तोमर--सुनि राज राज बिचारु।
वह शत्रु दीहनिहारु ॥
सहसा न दीजै दांउ।
यह राजनीति प्रभाउ ॥१५॥

राजोवाच--कहा कामिनी तें कही बात मोसों।

× × ×

में जितने तीरथ लए, तितने कहों बखानि।

× × ×

बर्त्तत झूठ प्रधान हमारे।

× × ×

क्रोध बड़ो दलपत्ति है मेरे ॥

× × ×

अग्रेसर कलि कहत है, अपने चित्त विचार।

× × ×

राखत लोभ भंडार भरेई।

× × ×

है भ्रम भेद वशीठ सयाने।

× × ×

काम महा इक सोदर मेरे ॥

× × ×

नाम कृतघ्न पिता त्रिय तेरो।

× × ×

स्वामि बात विश्वास घातम मित्र दोषति देषि।

× × ×

ब्रह्म दोष महाबली सुतते जन्यो बलि बण्ड ॥

--प्रभाव पांच-छः, पृष्ठ २१-२७।

'विज्ञान गीता' के इस उपर्युक्त प्रसंग के अनुसार ही अनुवाद में भी मिथ्यादृष्टि महामोह की महारानी के रूप में महामोह के साथ सिंहासन पर विराजमान होकर, शुभ परामर्श करती है। यह परामर्श भी 'विज्ञानगीता' से समता रखता है। यह समता स्पष्ट करने के लिए हम अनुवाद का निम्न उदाहरण ले सकते हैं :—

(स्थान राज सभा)

मोह महाराज भी महारानी मिथ्यादृष्टि समेत सिंहासन पर बैठे—

मोह—प्रिय देखो अब सब तीर्थों में मेरे सैनिक वीर विराजमान हैं, मानों उनमें मेरा अधिकार हो गया। × × ×

रानी—हे ! आर्यपुत्र काशी जीतना कठिन है। × × ×

महराजा—हे प्यारी तुम उनका बल क्या वर्णन करती हो। मेरे योद्धाओं के बल की गति तुम कुछ नहीं जानतीं, सुनो बंधु विरोध मेरा बड़ा मंत्री और झूठ मेरा प्रधान है। कलियुग हराबुल और क्रोध सेनापति है। कामदेव मेरा सहोदर भाई है। व्यभिचार उसका पुत्र है।—लोभ भण्डारी है। भ्रम और भेद ये दोनों बड़े दूत—तुम्हारा पिता कृतघ्न है—स्वामिघात, विश्वासघात और मित्र द्रोह ये उसके पुत्र तेरे भाई हैं। ब्रह्मदोष तेरा पुत्र है।

—प्र० च० अनुवाद, चतुर्थ अंक, पृष्ठ ९।

तीसरे मोह और विवेक की ओर से दूत भेजने का प्रसंग भी अनुवाद में 'विज्ञान गीता' के समान ही है। मूल में यह प्रसंग इस प्रकार नहीं है। 'विज्ञानगीता' मोह, भ्रम और भेद नाम के दूतों को विवेक के पास भेजता है। उसी प्रकार प्रस्तुत अनुवाद में भी भेजा गया है। चौथे प्रस्तुत अनुवाद में महामोह और विवेक के युद्ध में, जिन सैनिकों का परस्पर विरोध वर्णित हुआ है, यह भी मूल की अपेक्षा 'विज्ञान गीता' के विरोधी पात्रों से समता रखता है। जैसे—

अनुवाद			विज्ञानगीता		
क्रोध		—शील	क्रोध	—	सहनशील
काम	—	वैराग्य	राग	—	विराग
गर्व	—	नम्रता	गर्व	—	प्रणयनय
झूठ	—	सत्य	असत्य	—	सत्य

इस प्रकार अनुवाद और विज्ञानगीता के पात्र समता रखते हैं जबकि मूल में क्रोध को क्षमा ने तथा काम को वस्तुविचार ने जीता है। प्रस्तुत अनुवाद में विज्ञान-गीता से समता रखता हुआ पांचवा प्रसंग है, गाधि की कथा का विस्तार से वर्णन। मूल नाटक में यह प्रसंग नहीं है। 'विज्ञान गीता' और अनुवाद के इस वर्णन प्रसंग में समता देखने के लिए दोनों में से केवल एक एक उद्धरण ही पर्याप्त होगा। जैसे—

मूड़ि शिखा उपवीत उतारो।
गादह जाइ चढ़ाइ संवारो।।
मुंडनईश शिखा जब जानी।
× × ×
आइ अकाश भई नभवानी।।
भूतल भूप न भूलहु कोई।
ब्राह्मण गाधि चंडार न होई।।
वाणी अकाश सुन भ्रम भाग्यो।
राजहिं को ऋषि ब्राह्मण लाग्यो।
आशिष दै वन गाधि गएजू।।

—विज्ञान गीता, पृष्ठ ६९।

नांई—(मूंड़ते हेतु चोटी पकड़ता है इतने में आकाशवाणी हुई) हे राजा। भूलो मत यह गाधि नाम ब्राह्मण ही है। (सबने सुनी)

राजा—(अचंभे से दौड़कर ब्राह्मण के पैरों पर पड़ता है) विप्रवर महाशय। बिना जाने अपराध क्षमा कीजिये, मैंने आपसे बहुत कटु वचन कहे हैं।

गाधि—महाराज बढ़ो प्रसन्न रहो ।++

—प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ २१।

४८०. इस प्रकार इस उपर्युक्त समता को दृष्टि में रखते हुए हम कह सकते हैं कि यह अनुवाद मूल की अपेक्षा विज्ञानगीता से अधिक समता रखता है।

भुवदेव दुबे कृत अनुवाद

४८१. भुवदेव दुबे का अनुवाद गद्य शैली में है। यह अनुवाद १९वीं ई०शताब्दी में लिखा गया है। किन्तु रचनाकाल की निश्चित सूचना अनुवाद से नहीं मिलती है। अनुवाद के प्रथम प्रकाशन काल से ही, रचनाकाल का अनुमान किया जा सकता है। अनुवाद का प्रथम प्रकाशन-काल उसके मुख पृष्ठ पर १८९४ ई० लिखा हुआ है। इसके पश्चात दूसरे पृष्ठ पर सन् १९९३ ई० भी दिया हुआ है। इससे अनुमान होता है कि अनुवाद १८९३ ई० के आसपास ही नाट्य रसिकों के विनोदार्थ किया गया था। डा० गोपीनाथ तिवारी ने 'भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य' नामक पुस्तक में पृ० २३५ पर, प्रस्तुत अनुवाद का रचनाकाल १८९६ ई० दिया है। किन्तु १८९३-९४ ई० की नवलकिशोर प्रेस से मुद्रित प्रति मुझे उपलब्ध हुई है। यह सन् अनुवाद के प्रथम संस्करण के प्रकाशन का काल है। अतः रचनाकाल सन् १८९३ ई० के कुछ पूर्व का तो होना सम्भव भी है, बाद का नहीं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि १८९६ ई० का दूसरा संस्करण डा० तिवारी को उपलब्ध हुआ होगा और वास्तव में रचनाकाल १८९३ ई० के लगभग ही है।

४८२. डा० तिवारी ने सूचना दी है कि केवल प्रथम अंक का अनुवाद ही उपलब्ध होता है। इससे डा० तिवारी को द्वितीय संस्करण उपलब्ध होने का प्रमाण अधिक पुष्ट होता है। क्योंकि मेरी प्रति में प्रथम और द्वितीय—दो अंकों का अनुवाद दिया हुआ है। डा० सोमनाथ गुप्त ने भी भुवदेव दुबे के द्वारा प्रथम दो अंकों के अनुवाद का, दो भागों में उपलब्ध होना स्वीकार किया है। डा० गोपीनाथ तिवारी की पुस्तक में 'भुवदेव दुबे' के स्थान पर 'भवदेव दुबे' लिखा हुआ है। सम्भवतः ऐसा प्रेस त्रुटि के कारण हुआ है।

४८३. भुवदेव दुबे का यह अनुवाद मूल नाटक से सम्बन्धित नहीं है। इस अनुवाद का आधार मूल नाटक न होकर, ब्रजवासीदास कृत ब्रजभाषा का अनुवाद है। भुवदेव दुबे ने नाट्य रसिकों के विनोदार्थ, ब्रजवासीदास के ब्रजभाषा के पद्यानुवाद को, खड़ी बोली हिन्दी के 'गद्यानुवाद में परिवर्तित कर दिया है। प्रस्तुत अनुवाद में ब्रजवासी के अनुवाद से प्रसंगों में तो समानता है ही, साथ ही यत्र तत्र शब्दों और वाक्यों में भी समानता मिलती है। दोनों अनुवादों के प्रारम्भ में केवल इतना अन्तर है कि जैसा मंगल पाठ ब्रजवासीदास ने दिया है वैसा दुबे जी ने नहीं दिया है। ब्रजवासीदास ने अपने अनुवाद में, जहां से नटों आदि की सूचना देकर अभिनय प्रारम्भ होने का वर्णन किया है। वहीं से प्रस्तुत गद्यानुवाद प्रारम्भ हुआ है। दोनों ही अनुवादों के प्रारम्भिक अंशों के उद्धरणों से, यह धारणा सप्रमाण स्पष्ट हो जायगी। दोनों के अनुवादों के उद्धरण निम्न प्रकार से हैं:—

ब्रजवासीदास कृत अनुवाद का प्रारम्भ—

चरण कमल बन्दों रुचिर जे हरि दास अनन्य।
जिनकी कृपा कटाक्ष ते सकल देव परसन्य॥१॥

\+ \+ \+

नटउवाच० चतुः पदीछन्द—

ए मृगननी कोकिल नैनीमन हरणी मन प्यारी।
आज भई इक गिरा गगन में अति अद्भुत सुखकारी।
जो शिर भारहुतो वह ममको महा दुखद अति भारी।
सो गिरिगयो सुनत श्रवणन अब सोवें पाय पसारी॥३२॥

—प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ १ से ५।

भुवदेव दुब कृत अनुवाद का प्रारम्भिक अंश—

(कीर्त्त ब्रह्मराजा गुपालमंत्री साधु समागम नट समाज)

वार्ता—कीर्तब्रह्म महाराज की सभा में साधु समागम नामी नट अपर निज

सहायक रूपयौवन गर्वित पुरुष स्त्री सहित संपूर्ण वीणा मृदंग सितार आदि यंत्र लेकर प्रवेश करते गान करने लगे पश्चात् नट कहता है।

नट—(भुजा उठाकर कहता है) अहो समस्त तंत्रीगणहो किंचित् समय पर्यंत यंत्रों को मौनकरके श्रवणकरों (फिर निज स्त्रीसे कहता है) हे मृगनैनी कोकिलबैनी मेरी प्रिया आज महान् सुखदायक एक अद्भुत आकाशवाणी हुई है जिसके श्रवण करते ही मेरे शिरपर से अभिमान का भार गिर गया जिससे अब मैं पांय फैलाकर सुख पूर्वक सोता हूँ—

—प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ १।

४८४. प्रस्तुत अनुवाद की भाषा खड़ी बोली हिन्दी है। यह गद्य शैली में लिखा गया है। इसमें पर्याप्त नाटकीयता भी है। रंगमंच का सजाव, पात्रों का प्रवेश, व्यवहार और अभिनय संकेत ब्रजवासीदास के अनुवाद की भांति होते हुए भी, नाटकीय ढंग से ही दिये गये हैं। ब्रजवासीदास के अनुवाद में रंगसंकेत पृथक नहीं है, पद्यबद्ध काव्य में ही हैं। भुवदेव दुबे का गद्यानुवाद होने से अभिनय संकेत पात्र कथन से पृथक् कोष्ठक में कर के दिये गये हैं। जिससे नाटकीयता पर्याप्त मात्रा में आ गई है। ब्रजवासीदास के नाटकीय संकेतों के उदाहरण, ब्रजवासीदास के अनुवाद के अध्ययन में दे दिये हैं। प्रस्तुत अनुवाद का उदाहरण कुछ तो इसके प्रारम्भिक अंश के उद्धरण में आ गये हैं। अब एक दो उदाहरण ही पर्याप्त होंगे :—

(अहंकार और दंभकी इतनी बातचीत होते ही मोहका स्वांग परदे के अंदर से प्रगट हुआ आगे उसके एक चोबदार आय पुकार कर कहिने लगा कि सब स्त्री पु ष हो सावधान होकर सुनो अब महाराजधिराज मोहराज का आगमन होता है इस हेतु तुम सब शृंगार कर गलियों की धूल दूरकर सुगंध सींच गृह गृह के दरवाजों को संवारों उसी समय मोहराज सुंदर वस्त्र पहिने रत्नजटित मुकुट दिये छत्र धूमता हुआ बड़े राजसी ठाटबाटसे जहां दंभादिक थे उसी स्थानपर एक ऊँचे सिंहासनपर आयकर बैठगये + +)

—प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ ३३।

४८५. इस प्रकार इन उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्रस्तुत अनुवाद में भावभंगिमामय अभिनय हैं। डा० सोमनाथ गुप्त ने अपनी कृति 'पूर्वभारतेन्दु नाटकों का परिचय' में अनुवाद को गद्य संवाद माना है, जिसमें नाटक-प्रणाली का प्रयोग अधिक है।[1] परन्तु अनुवाद को पढ़ने पर डा० सोमनाथ गुप्त की धारणा

---

१. "परन्तु यह अनुवाद नहीं है और न रूपान्तर ही है। जिस प्रकार आत्मा राम जी का प्रबोधचन्द्रोदय नाटक छन्दबद्ध संवाद है उसी प्रकार यह गद्य संवाद है। इसमें नाटक प्रणाली का अवलम्बन अधिक किया गया है।" —पृष्ठ ४५।

निर्मूल प्रतीत होती है। क्योंकि उपरोक्त अनुवाद ब्रजवासीदास के अनुवाद के आधार पर गद्य नाट्य शैली में किया गया है। साथ ही इसमें नाटकीयता का अस्तित्व भी भरपूर है। इस प्रकार नाट्य रसिकों के हेतु तत्कालीन गद्य शैली में लिखा गया, यह ़ ा अंकों का अनुवाद है।

कार्ष्णि गोपालदास कृत अनुवाद

४८६. कार्ष्णि गोपालदास ने मूल का अविकल अनुवाद किया है।[1] जिससे इसमें गद्य पद्य मिश्रित शैली का प्रयोग हुआ है। अनुवाद प्रारम्भ करने से पूर्व गोपालदास ने, दान देकर पुस्तक छपवाने वाले को धन्यवाद दिया है। क्योंकि प्रस्तुत अनुवाद को भक्त रामनरायण जी ने स्वद्रव्य से धर्मार्थ छपवाया था। भूमिका में गुलाबसिंह के अनुवाद का संकेत करते हुए, अपने अनुवाद की रचना प्रणाली पर भी प्रकाश डाला है। अनुवादक का परिचय, अनुवाद के अन्त में एक पृष्ठ पर संस्कृत भाषा के श्लोकों में दिया हुआ है। ये मथुरा के निवासी थे। इनके गुरु 'श्रीमत्परमहंसोदासीन शिरोवतंस स्वामिज्ञानदास' थे।

४८७. प्रस्तुत अनुवाद की रचना सन् १९०८ ई० में हुई थी। रचनाकाल के सम्बन्ध में रचना के अन्त में लेखक ने लिखा है :—

शर रस अंक मृगांकमें, महाविपिन करवास।
माघमास में ग्रन्थ यह, विरचा मथुरा पास॥५॥

—प्र० च०, अनुवाद, पृष्ठ २०५।

इससे स्पष्ट होता है कि सम्वत् १९६५ (१९०८ ई०) में, इसकी रचना की गई थी।

४८८. यह अनुवाद मूल का अविकल अनुवाद है। अतः इसके विवरण और कथा प्रसंग आदि मूल के ही अनुसार हैं। अनुवादक ने लिखा भी है :—

मूल ग्रन्थ में नियम जो, सो सब इसमें जान।
न्यून अधिककुछनहि किया, लख प्रतिबिम्ब समान॥४॥

—प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ २०५

४८९. प्रत्येक अंक के प्रारम्भ की सूचना जैसे 'अथ द्वितीयऽङ्क" दी गई है। अंक की समाप्ति पर उसका नाम भी दिया गया है। जैसे—

"इति श्रीप्राकृतप्रबोधचन्द्रोयनाटके कामादिप्रभाववर्णनं नाम द्वितीयोऽङ्क सम्पूर्णः॥२॥"

४९०. प्रकृत अनुवाद में मूल के भाव अपने मूल रूप में ही व्यक्त हुए हैं।

---

१. चिरंजीव पुस्तकालय आगरा से प्राप्त प्रकाशित प्रति।

भावों के वर्णन में से हम ऐसे अनेक उदाहरण ले सकते हैं। जैसे क्रोध ने अपना, जो परिचय दिया है, उसके पद्यात्मक भाषानुवाद में, मूल की मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता सुरक्षित है, जो निम्न प्रकार से है :—

करूं भुवन को बधिर,
सकल जग अंधा करहूं।
चित को करूं अचेत,
धीर का धीरज हरहूं॥
जिससे हित नहिं सुनत,
न निज कर्त्तव्य दिखावे।
पण्डित को भी पठित,
शास्त्र पुन याद न आवे॥२९॥

—प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ ६२-६३।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि अनुवादक मूल के भाव सौन्दर्य को व्यक्त करने में समर्थ रहा है।

४९१. अनुवाद में यत्र तत्र टिप्पणियां देकर भी अर्थ को विशेष रूप से स्पष्ट किया है। मूल नाटक में पुरुष पात्र विष्णुभक्ति से वार्ता करते हुए ही अंतिम भरत वाक्य कह देता है। किन्तु इस अनुवाद में, सूत्रधार ने भरत वाक्य कहा है। भरत वाक्य दोनों में ही समान है। भरत वाक्य के अनन्तर अनुवादक ने मूल नाटक की प्रसंशा में कुछ पंक्तियां लिखीं हैं। अनुवाद की भाषाके सम्बन्ध में स्वयं अनुवादक के ये शब्द हैं:— "इस कारण सर्वसाधारण पुरुषों के उपयोगी नहीं होने से ब्रजभाषा में किया है, इस ग्रन्थ में मूल गद्य की गद्य भाषा, पद्य की पद्य भाषा की है, अर्थात् एक मूल श्लोकका अर्थ एक ही भाषाछन्द में रक्खा है। इस अवतरण से ऐसा प्रतीत होता है कि इस अनुवाद की भाषा ब्रजभाषा होगी। परन्तु इसके गद्य और पद्य दोनों की ही भाषा खड़ी बोली हिन्दी प्रतीत होती है :—

कृष्णमिश्र की सुरगिरा, क्षीरसमुद्र समान
कृष्णकृपासे मथनकर, काढ़ा रत्न महान॥

—प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ २०४।

इस प्रकार यह प्रबोधचन्द्रोदय का अविकल अनुवाद है।

महेशचन्द्र प्रसाद कृत अनुवाद

४९२. महेशचन्द्र प्रसाद का अनुवाद[1] "प्रबोधचन्द्रोदय' का गद्य पद्यात्मक अविकल अनुवाद है। इसके तीसरे अंक में रूपान्तर के भी दर्शन होते हैं। अनुवाद

---

१. महेशचन्द्र प्रसाद से भेंट रूप में प्राप्त प्रकाशित प्रति।

के मुख पृष्ठ से यह ज्ञात होता है कि इस अनुवाद का प्रकाशन १९३५ ई० में हुआ था, अतएव इसका रचनाकाल भी लगभग यही होगा, यह मानना उचित होगा। यह अनुवाद खड़ी बोली हिन्दी में है और जैसा कि पहले कहा गया, इसका रूप गद्य पद्यात्मक है। तात्पर्य यह कि मूल नाटक की विशेषताओं को इसमें लाने का प्रयास किया गया है। अनुवाद के प्रारम्भ में ही अनुवादक ने 'नाटक के पात्रगण' शीर्षक में पात्रों की सूची, उनका परिचय तथा आपसी सम्बन्धों को स्पष्ट कर दिया है। अपनी भूमिका में उन्होंने संस्कृत के मूल ग्रन्थ का सामान्य परिचय तथा प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्बन्ध में प्रबोधचन्द्रोदय के अंग्रेजी अनुवादक जे० टेलर की कतिपय सम्मतियों को उद्धृत किया है, साथ ही अपने कथन के प्रामाण में श्री शंकराचार्य के ग्रन्थों तथा गीता के कुछ श्लोकों को उपन्यस्त किया है। यहीं पर उन्होंने 'प्रबोधचन्द्रोदय' की कुछ टीकाओं और अनुवादों की ओर भी संकेत किया है।

४९३. इस अनुवाद का उद्देश्य जैसा कि, अनुवादक ने स्वयं अपनी भूमिका में बतलाया है,[1] युग के प्रभाव में बहते और चार्वाक या भौतिक मत को अपने मस्तिष्क में प्रश्रय देने वाले विद्यार्थियों को अध्यात्म का ज्ञान कराना और उसके द्वारा उनके नैतिक उत्थान की कामना करना है।

४९४. अपनी युग परिस्थिति के अनुकूल महेशचन्द्र प्रसाद ने अपने अनुवाद में उदार दृष्टिकोण रखा है। इसका प्रमाण यह है कि मूल प्रबोधचन्द्रोदय के तीसरे अंक का अनुवाद करते समय, पर्याप्त सावधानी बरती है। उक्त अंक में जैन मत, बौद्ध मत और कापालिक मत को कृष्ण मिश्र ने कुछ दूसरी ही दृष्टि से देखा है, अर्थात् इन मतों के सम्बन्ध में उनका रुख कुछ आलोचनात्मक रहा है। परन्तु अनुवादक ने इस बात को ध्यान में रख कर कि यदि मूल का अविकल अनुवाद किया गया तो सम्भव है, जैनों या बौद्धों को कुछ आपत्ति हो। उक्त अंक के अनुवाद में आलोचनात्मक अंश का अनुवाद नहीं किया। इन सभी बातों का उल्लेख उन्होंने अपनी भूमिका में किया है[2] जिससे कि उनके उदार दृष्टिकोण का परिचय मिलता है।

४९५. तृतीय अंक के अनुवाद में निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:—

(१) दिगम्बर मत प्रवेश नहीं करता, न उसके मत की आलोचना ही की गई है। उसके स्थान पर यहां कापालिक है।

(२) बौद्धागम भी रंगमंच पर प्रवेश नहीं करता। उसके मत की आलोचना भी नहीं की गई है।

---

१. देखिये—भूमिका, पृष्ठ ६।

२. देखिये—भूमिका, पृष्ठ ११।

(३) बौद्धगम के स्थान पर एक वैष्णव महन्त प्रवेश करता है। वह बौद्ध धर्म की आलोचना के स्थान पर कृष्ण की रास-लीला का वर्णन करता है। किन्तु महन्तों के पाखण्डों एवं व्यभिचारों का विस्तृत वर्णन नहीं किया गया है।

(४) प्रारम्भ में दिगम्बर के स्थान पर कापालिक प्रवेश करता है जो उसके स्थान पर अपने मत के सम्बन्ध की बातों को कहता है। इसके बाद करुणा और शान्ति बात करने लगती हैं। इतने में महन्त आता है। वह अपनी विशेषताएँ बताता है, फिर कापालिक से पूछता है। कापालिक और महन्त की बातचीत मूल के कापालिक और क्षपणक की बातचीत जैसी ही है। यहाँ बौद्धागम का कार्य कापालिक के शिष्य से लिया गया है।

(५) वार्तालाप भी संक्षिप्त ही किये गये हैं। जैसे—शान्ति और श्रद्धा का वार्तालाप, बौद्धागम के परिचय में नहीं दिखाया गया है। उनके स्थान पर कापालिक शिष्य ही कहता है।

(६) श्लोकों को प्रसंगानुसार आगे पीछे भी किया गया है। सब श्लोकों और उनकी कुल संख्या मूल के ही समान है।

(७) जैन और बौद्ध साधुओं का विरोधी वार्तालाप नहीं दिखाया गया।

(८) कापालिक मत का वर्णन मूल की ही भांति विस्तार से है।

(९) अन्त में मूल की ही भांति महन्त और कापालिक अपने को महामोह का ककर बताकर श्रद्धा का हरण करते हैं।

४९६. **अनुवाद की अन्य विशेषताएं**— प्रस्तुत अनुवाद में निम्नलिखित अन्य विशेषताएँ दीख पड़ती हैं —

अनुवाद में मूल के भाव को मूल रूप में ही व्यक्त किया गया है। उदाहरण के लिए इस नान्दी को लिया जा सकता है :—

> मध्य दिवस रवि-रश्मि बीच जल-बीचि सुहावे।
> अनिल, अनल, जल, नभ-थल त्यों त्रैलोक्य रचावे।।
> जिस प्रभु का 'अज्ञान, पुनः वह लय को पावे।
> लहे ज्ञान ज्यों भ्रम न हार हर-हार सतावे।।
> अमल और आनन्द-घन, अमल हृदय से गम्य को।
> करते चारु उपासना, हम उस ज्योति सुरम्य को।।१।।

—प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ १।

इसमें मूल की नान्दी का भाव बिल्कुल स्पष्ट हो गया है। इसके अतिरिक्त कुछ मौलिक पात्र भी प्रयुक्त हुए हैं—जैसे महन्त। इसके अतिरिक्त मूल के दिगम्बर और

बौद्धागम इसमें नहीं आते हैं। मूल के श्लोकों के अनुवाद के लिए विविध छन्दों की योजना की गई है। जैसे—मुकुन्द, चकोर, मतगयन्द, वासन्ती, अनंग शेखर, हरिगीतिका, विजया और स्पेन्सर छन्द आदि। नाटकीय संकेत भी पर्याप्त मात्रा में हैं। अनुवाद गद्य पद्यात्मक है। गद्य भाषा सुव्यवस्थित खड़ी बोली है। पद्यों में कहीं कहीं प्रवाह का अभाव सा प्रतीत होता है। परन्तु अधिकांश में अनुवादक, मूल की स्वाभाविकता को बनाए रखने में समर्थ रहा है। इस भांति खड़ी बोली का यह अविकल अनुवाद अपनी युगपरिस्थिति के अनुसार संक्षिप्त परिवर्तन से युक्त है।

विजयानन्द त्रिपाठी कृत अनुवाद

४९७. विजयानन्द त्रिपाठी जी ने प्रबोधचन्द्रोदय का अनुवाद[1] काशी नरेश श्री प्रभुनारायण सिंह देव शर्मा के प्रीत्यर्थ किया था, जिसका कि संकेत इसके मुख पृष्ठ पर है। इसी मुख पृष्ठ से यह भी सूचित होता है कि ठाकुरदास चीफ इंसपेक्टर ने बनारस स्टेट प्रेस से इसे मुद्रित कराया था।[2] इस अनुवाद के प्रारम्भ में अनुवादक ने अपनी भूमिका में नाटककार कृष्ण मिश्र की जीवनी-जन्मस्थान, समय और जीवन की विशेष घटनाओं के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है[3] जिसकी चर्चा हम कृष्ण मिश्र के जीवन के सम्बन्ध में विचार करते हुए, कर चुके हैं। अनुवादक ने अपने पूर्वजों से सुनी हुई इस घटना का उल्लेख किया है कि प्रस्तुत नाटक का अभिनय बनारस के महाराजा द्विजराज ईश्वरी नारायण सिंह सी० एस० आई के समय में हुआ था।

४९८. प्रस्तुत अनुवाद का उद्देश्य अनुवाद के ही शब्दों में यह है "अपनी मातृभाषा पुष्टि के हेतु आवश्यक जान पड़ता है कि इसका हिन्दी अनुवाद दिया जाय। इसमें यथासाध्य मूल में गद्यांश का गद्य और पद्यांश का पद्य में अनुवाद करने का प्रयत्न किया गया है।" भूमिका में नाटक की संक्षिप्त कथा भी लिखी है। खेद है कि इस प्रकार समीक्षात्मक भूमिका लिखने पर भी अनुवादक ने अनुवाद का रचनाकाल नहीं दिया है। इसके मुद्रणकाल का उल्लेख भी इसमें नहीं है। बनारस में जिन व्यक्तियों ने इनको देखा था, उनका कहना है कि वे १९५८ में जबकि उनकी अवस्था ७० वर्ष के लगभग थी—दिवंगत हुए थे। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि उक्त अनुवाद की रचना उन्होंने अपनी ५० वर्ष की अवस्था में अर्थात् १९३८ ई० के लगभग किया होगा।

---

१. काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्राप्त हस्तलिखित प्रति।

२. देखिए मुख पृष्ठ।

३. देखिए—भूमिका, पृष्ठ १०।

४९९. प्रस्तुत अनुवाद की भाषा हिन्दी खड़ी बोली है। भाषा सरल एवं सुस्पष्ट है। इस अनुवाद को गद्य-पद्य-मिश्रित अविकल अनुवाद कहा जा सकता है। गद्य की भाषा सुव्यवस्थित है। पद्य की भाषा में पर्याप्त प्रभाव एवं प्रवाह है। हिन्दी खड़ी बोली के अनुवादों में एक मात्र यही अनुवाद है जिसे पूर्ण और अविकल अनुवाद कहा जा सकता है। एक अनुवाद महेशचन्द्र प्रसाद का भी है। किन्तु उसमें महेशचन्द्र प्रसाद ने जैन और बौद्ध धर्म के वैमनस्य को मिटाने के हेतु, कुछ मौलिक परिवर्तन कर दिये हैं। जिससे उसे पूर्णतया अविकल अनुवाद नहीं कहा जा सकता है। प्रस्तुत, अनुवाद में अनुवादक ने कोई ऐसा परिवर्तन विस्तार या संक्षेप नहीं किया हैं अतः हिन्दी खड़ी बोली का एक ही यह अविकल अनुवाद है। अबिकल अनुवाद के रूप में हम मूल के पृष्ठ ४. ५, पर सूत्रधार के कथन में साम्य देख सकते हैं:—

"सूत्रधार—बहुत बढ़ाने से क्या ? जिस के चरण कमल की आरती राजाओं के मुकुटमणियों के ज्योतियों द्वारा हुआ करती है, और जिसे प्रचंड शत्रुओं के वक्षः-स्थल विदारण के लिये साक्षात् नृसिंहावतार और बड़े-बड़े राजाओं के एकार्णव में से सुधा के उद्धार करने में साक्षात वाराहावतार कहना चाहिये-और जिसके कीर्तिलता पल्लव से दिग् विलासनियां शोभायमान हैं।

—प्र० च० अनुवाद, पृष्ठ १७।

५००. छः अंकों में यह अनुवाद है। हस्तलिखित प्रति के कुल मिलाकर ८२ पृष्ठ हैं। जिसमें एक ओर लिखा है। इनमें से १६ पृष्ठों में अनुवादक ने विस्तृत भूमिका दी है। अनुवाद ७९ पृष्ठों तक है। अनुवाद के पश्चात् पं० देवीप्रसाद जी को सुधार के हेतु धन्यवाद है। दो पृष्ठों में कृष्ण मिश्र की वंशावली का वर्णन संस्कृत में दिया हुआ है। और अन्तिम पृष्ठ पर उस वंशावली का चित्र दिया है। यह वंशावली अनुवादक की कल्पना से ही निःसृत प्रतीत होती है। क्योंकि इसके लिए विशेष ऐतिहासिक प्रमाण नहीं दिए गए हैं। इस अनुवाद के प्रत्येक अंक का आरम्भ और अन्त मूल की ही भांति है। नाटकीय संकेत गद्य में मूल की भांति (कोष्ठक आदि में) दिये गये हैं। इस प्रकार हिन्दी खड़ी बोली का यह एक अविकल अनुवाद है।

५०१. **उपलब्ध हिन्दी अनुवादों के अध्ययन का निष्कर्ष**—इस प्रकार 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के उपलब्ध हिन्दी अनुवादों के उपर्युक्त अध्ययन में हमने यह देखा है कि कुछ अनुवाद काफी अच्छे और कुछ साधारण कोटि के रहे हैं। इनमें से कुछ में, जहां, प्रबोधचन्द्रोदय के अविकल अनुवाद की प्रवृत्ति जागरूक रही है वहां कुछ में, उसके अंशतः और भावानुवाद की ओर झुकाव रहा है। नाटक की दृष्टि से परीक्षण करने पर इनमें से कुछ ही नाटक कहे जायंगे। फिर भी इस बात को ध्यान में रखते हुए कि

आज से कुछ वर्ष पहले जबकि इन अनुवादों का बोलबाला था, भाषा का रूप लगभग वैसा ही था जैसा कि इन अनुवादों में उपलब्ध होता है। हम अनुवादकों को इस दोष से मुक्त कर सकते हैं।

५०२. एक बात जो कि सामान्य रूप से इन सभी अनुवादों में दिखाई देती है यह है कि इन सभी ने यथासम्भव प्रबोधचन्द्रोदय के भावों की सुरक्षा करते हुए उसके नाटकीय तत्वों का समाहार अपने अपने अनुवादों में अनुवादकों ने किया है। इस दृष्टि से वे सभी धन्यवाद के पात्र हैं। यद्यपि कुछेक नाटकों में 'प्रबोधचन्द्रोदय की कुछ घटनाओं और वर्णनों का अनुवाद नहीं किया गया है और किन्हीं उपरोक्त स्थलों पर अपनी ओर से घटनाओं और वर्णनों का संयोजन हुआ है, परन्तु अनुवादकों के सामने उनकी जो परिस्थितियां थीं, उनके प्रकाश में यदि हम इस तथ्य को देखें तो कदाचित वे उसके लिए क्षम्य होंगे।

अनुपलब्ध अनुवादों के सूचना स्थल

५०३. अनुसंधान काल में कुछ अनुवाद उपलब्ध न हो सके। केवल उनके सम्बन्ध में सूचनाएं ही मिल सकीं हैं। जिनसे ज्ञात होता है कि मूलनाटक से, ये अनुवाद अवश्य हुए थे। किन्तु आज अनुपलब्ध हैं। अतः इन अनुवादों के सूचना-स्थलों का विवरण—इस अध्याय के आरम्भ में अनुपलब्ध अनुवादों की सूची में दिये क्रम के अनुसार हम नीचे देंगे।

अनाथदास कृत अनुवाद

५०४. सर्वप्रथम अनाथदास के अनुवाद के सूचना स्थलों के अध्ययन का क्रम प्राप्त है। अनाथदासजी का जन्म १६४०ई० में हुआ था।[१] प्र० च० का अनुवाद इनकी तीसरी कृति है।[२] इस अनुवाद का रचनाकाल सन् १६६९ ई०[३] और प्रकाशनकाल सन् १८८३ ई० है।[४] इसका प्रकाशन नवल किशोर प्रेस से हुआ है। डा० सोमनाथ गुप्त ने 'पूर्व भारतेन्दु नाटक साहित्य' में पृ० ४१-४४ पर इस अनुवाद का उद्धरण विस्तार से दिया है। अनुवाद के मुख पृष्ठ के उद्धरण[५] से यह ज्ञात होता है कि

---

१. पूर्व भारतेन्दु नाटकों का परिचय—डा० सोमनाथ गुप्त, पृष्ठ ४१।

२. थर्ड टर्मिनल रिपोर्ट ओन सर्च फार हिन्दी मैनिस्क्रिप्ट्स (सन् १९१२-१३-१४)—श्यामबिहारी मिश्र।

३. हिन्दी नाट्य साहित्य—बाबू ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ५५।

४. पूर्व भारतेन्दु नाटकों का परिचय—डा० सोमनाथ गुप्त, पृष्ठ ४१।

५. मुख पृष्ठ

प्रबोधचन्द्रोदय का गुरुमुखी बोली में तर्जुमा का अनुवाद बहुत पहले हुआ होगा। इसी गुरुमुखी बोली के तर्जुमे का अनुवाद वा उल्था अनाथदास जी ने बड़े परिश्रम से किया है। गुरुमुखी बोली का तर्जुमा करने वाले का नाम इसमें नहीं लिखा है। इसके अतिरिक्त महात्मा आत्माराम परमहंस जी ने अनाथदास के अनुवाद को 'सम्पूर्ण लोगों के उपकारार्थ' छपवाया था। इस सम्बन्ध में डा० सोमनाथ गुप्त की धारणा मेरे निष्कर्ष से भिन्न है। उनका विचार है कि—" महात्मा अनाथदास कृत अनुवाद गुरुमुखी बोली में है और नवलकिशोर प्रेस से जो पुस्तक प्रकाशित हुई है वह उक्त पुस्तक का सरल देसी भाषा के दोहों में रूपान्तर है। जिसके लेखक परमहंस महात्मा आत्माराम जी हैं। "किन्तु उद्धृत अंश की इस पंक्ति से कि —"साधारण बोली में एक तर्जुमा संस्कृत का गुरुमुखी बोली में बनाया गया" स्पष्ट है कि अनाथदास से पूर्व कोई गुरुमुखी बोली का अनुवाद हुआ था। गुरुमुखी बोली से उसका परिवर्तन अनाथदास जी द्वारा होने का संकेत प्रस्तुत पंक्ति में है कि "जिसका महात्मा अनाथदास ने बड़ा परिश्रम करके उल्था किया था। उसके पश्चात् वही शब्द से तात्पर्य" अनाथदास कृत अनुवाद से है। तदुपरान्त 'महात्मा आत्माराम जी' के द्वारा 'छापे-खाने में' से तात्पर्य है कि महात्मा आत्माराम जी ने इसे नवलकिशोर प्रेस के छापे-खाने में छपवाया था। 'छापेखाने में' शब्द के आगे केवल 'छपवाया' शब्द न होने से डा० सोमनाथ गुप्त का यह शंका कर लेना कि आत्माराम जी भी इस कृति के रचयिता थे। निराधार प्रतीत होता है। मेरी धारणा की पुष्टि अन्य स्थान से प्रकाशित अनुवादों के मुख पृष्ठ के उदाहरण से भी होती है जैसे कार्ष्णि गोपालदास के अनुवाद को रामनारायण जी ने धर्मार्थ छपवाया था। उसके मुख पृष्ठ का संकेत निम्न प्रकार से है :—

प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक

प्रसिद्ध नाटक संस्कृत जिसमें महाविवेक और महामोह की लड़ाई में महाविवेक के जय पाने का वर्णन है।

जिसका उल्था बृजवासीदास महात्मा का नाटक ब्रजभाषा की अनेक छंदों में प्रसिद्ध और मशहूर है।

उसके सिवाय साधारण बोली में एक तर्जुमा संस्कृत का गुरुमुखी बोली में बनाया गया जिसको महात्मा अनाथदास कवि ने बड़ा परिश्रम करके उल्था किया था,

वही, महात्मा आत्माराम परमहंस जी के द्वारा सरल दे, (देसी भाषा) के दोहों में संपूर्ण लोगों के उपकारार्थ,

लखनऊ नवलकिशोर के छापेखाने में अक्तूबर सन् १८८३ ई०।

ओ३म्

(श्रीवृन्दावनबिहारिणे नमः)

प्रबोधचन्द्रोदय

नाटक

श्रीमत्परमहंसोदासीनशिरोवतंस स्वामि-

ज्ञानदासशिष्य कार्ष्णि गोपालदास

विनिर्मित

कार्ष्णीश्वरदासीयटिप्पणीसमुद्घाटित

जिसको

राज्य भरतपुर जयश्री ग्रामनिवासी

नन्दराजवंशोद्भव भक्त रामनारायणजी ने

स्वद्रव्यव्ययसे धर्मार्थ

"लक्ष्मीनारायण" यन्त्रालय

मुरादाबाद में

छपाकरके प्रकाशित किया,

प्रथमावृत्ति, सन् १९१०

५०५. अनाथदास कृत अनुवाद के मुख पृष्ठ के विवरण के अतिरिक्त अन्तः साक्ष्य भी अनाथदास कृत होने के प्रमाण की पुष्टि करते हैं। अनुवाद के अन्दर प्रसंगवश रचयिता के रूप में अनाथदास जी का ही नाम है। आत्माराम जी का नाम अनुवाद के अन्दर कहीं नहीं है। स्वयं डा० सोमनाथ गुप्त ने भी अपनी धारणा को अनिश्चित मानते हुए, इस तथ्य को सप्रमाण स्वीकार किया है।[1] अतः प्रस्तुत अनुवाद का अनाथदास कृत होना ही निःसन्दिग्ध है। अनाथदास कृत अनुवाद में संवाद और वर्णन प्रधान है। डा० सोमनाथ गुप्त ने अनाथदास कृत अनुवाद के अध्यायों की सूची निम्नप्रकार से दी है :—

---

१. "परन्तु पुस्तक के अन्दर पढ़ने से मालूम होता है कि प्रस्तुत पुस्तक अनाथ-दासकृत भी है क्योंकि १५वें अध्याय के अन्त में आता है—"अनाथदासकृते दुविधा निवारण" × × × पुस्तक के अन्त में भी पुस्तक का १२ दिनों में समाप्त होना और अवध-नरेश की कृपा से अनाथ द्वारा वर्णन—आदि उल्लेख हैं। उससे भी यही प्रतीत होता है कि पुस्तक के मूल लेखक अनाथदास जी हैं।"

—डा० सोमनाथ गुप्त, पृष्ठ ४२।

१. अध्याय विवेक आनन्द और दुख की उत्पत्ति।
२. ,, प्रवृत्ति परिवार वर्णन।
३. ,, निवृत्ति परिवार वर्णन।
४. ,, मनसिज मन भ्रमण।
५. ,, वस्तु विचार काम युद्ध वर्णन।
६. ,, धैर्य, क्रोध, क्षमा संवाद वर्णन।
७. ,, लोभ सन्तोष युद्ध वर्णन।
८. ,, दम्भ सत्य युद्ध वर्णन।
९. ,, गर्व शील संवाद।
१०. ,, धर्माधर्म संवाद।
११. ,, न्याय कुन्याय युद्ध।
१२. ,, मोह सेना वर्णन।
१३. ,, नृप विवेक सेना वर्णन।
१४. ,, मोह विवेक युद्ध वर्णन।
१५. ,, अनाथदास कृते दुविधा निवारण।
१६. ,, वाणी वैराग मन संवाद।
१७. ,, वेद वाणी मन संवाद।
१८. ,, श्रवण मनन निज ध्यासन वर्णन।
१९. ,, परोक्षापक्ष बन्ध मुक्ति वर्णन।
२०. ,, परोक्ष अपरोक्ष की कथा।
२१, २२, २३. ,, तत्पद और मोपद का भेद; उपनिषद देवी मन संवादे असपद निरूपण।
२४. ,, बोधप्राप्ति।
२५. ,, अनाथदास जी का वर्णन; कौन थे और क्या थे? ग्रन्थ समाप्ति आदि।

अनुवाद के इन अध्यायों के शीर्षकों से ज्ञात होता है कि यह एक संवाद रचना के रूप में है, जो प्रबोधचन्द्रोदय के कथासार पर आधारित है। अध्यायों और विवरणों के स्वतंत्र रूप में मिला देने के कारण इसे प्र० च० का रूपान्तर स्वीकार किया जाय तो विशेष अत्युक्ति न होगी। किन्तु अनुवाद उपलब्ध न होने से हम निश्चित मत नहीं द सकते। अन्य विद्वानों की धारणाओं के अनुसार ही हमने भी अनुवादों के अन्तर्गत ही इसका अध्ययन किया है। डा० सोमनाथ गुप्त के अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने प्रबोधचन्द्रोदय के अनुवादकारों में अनाथदास जी का नाम दिया है। जैसे—

१. बाबू ब्रजरत्नदास—'हिन्दी नाट्य साहित्य', पृष्ठ ५५।

२. डा० दशरथ ओझा—'हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास', पृ० १४५।

३. डा० गोपीनाथ तिवारी—'भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य', पृ० ८।

४. थर्ड टर्मिनल रिपोर्ट आन सर्च फार हिन्दी मैनिस्क्रिप्ट्स—१९१२, १९१३, १९१४, श्यामबिहारी मिश्र, पृष्ठ १७, नोटिस नं० ७, रिपोर्ट के संकेत से यह ज्ञात होता है कि अनाथ कृत अनुवाद की एक प्रति पं० संकटाप्रसाद अवस्थी, कटरा जिला सीतापुर में सुरक्षित है। जिसका कागज देशी है, पृ० ६७ हैं। यह ग्रन्थ ७×४½ इंच के आकार में सम्पन्न हुआ है। प्रत्येक पृष्ठ पर २२ पंक्तियां हैं। श्लोकों की संख्या १४७५ है। वह प्राचीन प्रति है। निर्माणकाल १६६९ ई० और लिपिकाल अज्ञात है। इस ग्रन्थ की उद्धृत प्रारम्भिक पंक्तियां, डा० सोमनाथ गुप्त द्वारा उद्धृत अंश की प्रारम्भिक पंक्तियों से समता नहीं रखती है। उदाहरण के रूप में डा० सोमनाथ द्वारा उद्धृत् प्रारम्भिक पंक्तियां द्रष्टव्य हैं:—

बोध चन्द्र के उदय को, नाटक सरस सुग्रन्थ।
तेहि छाया भाषा, करी, प्रकट मुक्ति को पन्थ।।
सब ग्रन्थन को अर्थ ले, कहों ग्रन्थ अभिराम।
सत गुरु पद शिर नाय के, वर्णों तिनके नाम।।
कछुक रीति वासिष्ट की, कछु गीता की उक्ति।
कछु कछु अष्टावक्र पुनि, कहों बेद की उक्ति।।

रिपोर्ट में उद्धृत प्रारम्भिक पंक्तियाँ निम्न प्रकार से हैं:—

श्रीगणेशाय नमः। दोहा। गंग जमुन गोदावरी सिन्धु सरस्वती सार। तीरथ सबै अनाथ जंह गोविन्दज विस्तार ।।१।। श्रीगुर सुखमंगल करन आनन्द तंहा वसन्त। कीरति श्री हरिदेव की मुदभरि सदा कहन्त। ।।२।। मुक्ति जुक्ति वरनन करों श्रीगुरुपरम उदार। जिनको कृपा कटाक्ष ते गोपद यह संसार।।३।।

५०६. दोनों के उद्धृत अंश की इन प्रारम्भिक पंक्तियों में अन्तर होने पर भी रचना के अन्त में प्राप्त होने वाला दोहा दोनों में समान है। डा० सोमनाथ गुप्त ने अनाथदास की कृत्ति में से जो दोहा रचनाकाल के सम्बन्ध में उद्धृत किया है वह इस प्रकार है:—

संवत सत्रह सो षट् विंशति निरधार।
आश्विन मास रचना रची सारासार विचार।।

रिपोर्ट की अन्तिम पंक्तियों में रचनाकाल का दोहा निम्न प्रकार से है:—

संवत सत्रासो गये षष्ट विंस निरधार।
आस्वन मास रचना रची सारासार विचार।।५५।।

खोज रिपोर्ट में दी हुई प्रति में और डा० सोमनाथ गुप्त की प्रति में अन्तर होने से ज्ञात होता है कि सम्भवतः यह अन्तर प्रतिलिपिकारों ने कर दिया हो। इन दोनों में से कौनसी मूल प्रति है यह कहना कठिन है। क्योंकि आज दोनों ही अनुपलब्ध है।

सुरतिमिश्र कृत अनुवाद

५०७. सुरति मिश्र को भी हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिकों ने प्रबोधचन्द्रोदय का अनुवादक स्वीकार किया है। इनके सम्बन्ध में बाबू ब्रजरत्नदास ने 'हिन्दी नाट्य साहित्य, में पृष्ठ ४७ पर जो संक्षिप्त विवरण दिया है, उसी के अनुसार अन्य साहित्यिकों ने भी परिचय दिया है। बाबू ब्रजरत्नदास ने संक्षिप्त विवरण में लिखा है कि—"प्रबोधचन्द्रोदय नाटक का इनका अनुवाद नाटक के रूप में न होकर काव्य रूप में हुआ है। आरम्भ में केवल ९ दोहे हैं, तथा पूरा नाटक २८४ ककुभा छंदों में अनूदित है। गद्य का नाम भी नहीं है पर कविता बहुत अच्छी है।" इसी आधार पर विवरण प्रस्तुत करने वाले विद्वानों के नाम यों हैं:—

१. डा० सोमनाथ गुप्त—'हि० ना० सा० का इति०', पृष्ठ २२।

२. डा० दशरथ ओझा—'हिन्दी नाटका का उद्भव और विकास', पृ० १५८।

३. डा० गोपीनाथ तिवारी—'भा० का० ना० सा०', पृष्ठ ८।

डा० दशरथ ओझा ने सुरतिमिश्र को अनुवादक तथा उनका रचनाकाल १७०३ ई० से १७४३ ई० स्वीकार किया है।

घासीराम कृत अनुवाद

५०८. घासीराम ने प्रबोधचन्द्रोदय का अनुवाद किया था। इनका अनुवादकाल सन् १७७९ ई० है। "राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज-चतुर्थ भाग" नामक रिपोर्ट में नाहटा जी ने घासीराम को प्रबोधचन्द्रोदय का अनुवादक मानते हुए उनके अनुवाद काल का संकेत दिया है।

आनन्द कृत अनुवाद

५०९. आनन्द कृत प्रबोधचन्द्रोदय के अनुवाद का रचनाकाल सन् १७८३ ई० है। बाबू ब्रजरत्नदास ने (हि० ना० सा०, पृ० ५९) लिखा है—"आनन्द ने दोहे चौपाई में इसका अनुवाद किया। यह काशी निवासी थे और अपने अनुवाद का नाम स्वनाम पर (नाटकानन्द) रखा था। भाषा पर इनका अच्छा अधिकार ज्ञात होता

१८वीं ई० शताब्दी में सबसे अधिक आठ अनुवाद हुए। इस शताब्दी के (बीस वर्षों) प्रत्येक दो दशक में रचित इन अनुवादों का रेखाचित्र निम्न प्रकार से है :—
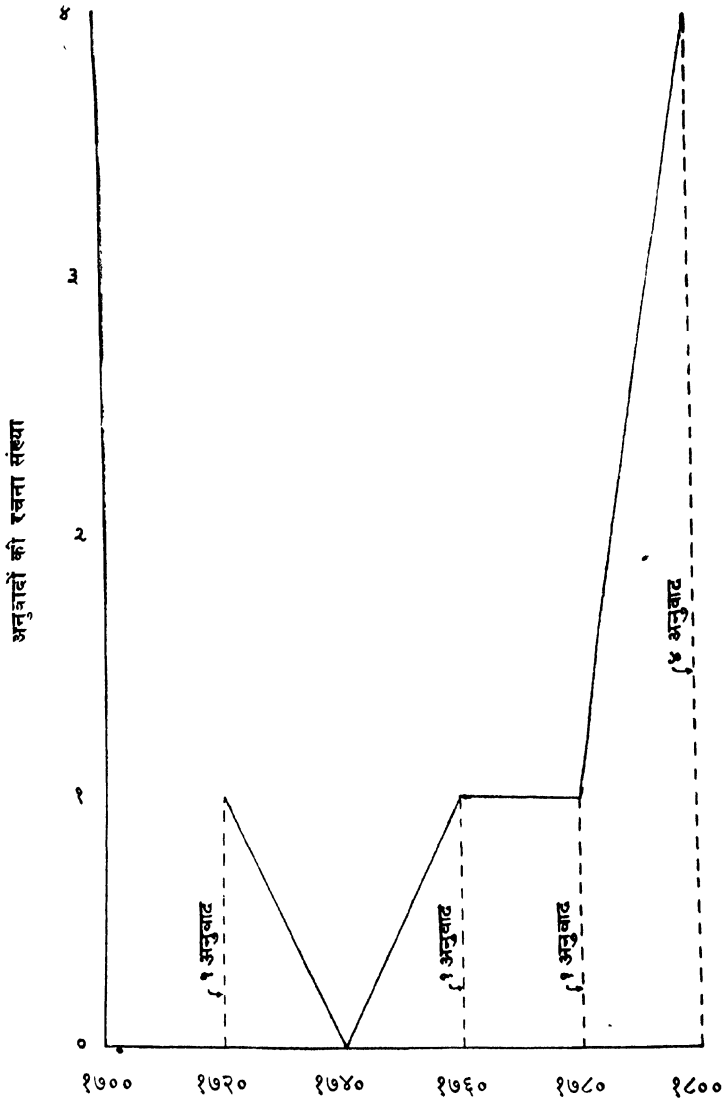
हरिवल्लभ १८वीं ई० शताब्दी में लिखा गया किन्तु वर्ष अनिश्चित होने से रेखाचित्र में प्रदर्शित नहीं किया जा सकता है।

है। यह वैष्णव भक्त थे।" इसी कथन के आधार पर अन्य साहित्यिको ने भी आनन्द की प्रबोधचन्द्रोदय के अनुवादकों में गणना की है। जैसे—

१. डा० सोमनाथ गुप्त—'पूर्व भारतेन्दु नाटक साहित्य', पृ० ४१।

२. डा० दशरथ ओझा—'हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास', पृ० १५८।

३. डा० गोपीनाथ तिवारी—'भारतेन्दुकालीन नाटक साहित्य, पृष्ठ ८।

हरिवल्लभ कृत अनुवाद

५१०. श्री अगरचन्द नाहटा जी ने हरिबल्लभ कृत प्रबोधचन्द्रोदय के अनुवाद को १८वीं शताब्दी का बताया है। अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में इसकी एक प्रति सुरक्षित है (राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज—चथुर्थ भाग)। डा० गोपीनाथ तिवारी ने 'भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य' में पृ० ९ पर हरि-बल्लभ कृत अनुवाद का १८ वीं शताब्दी में होना स्वीकार किया है।

पं० शीतला प्रसाद कृत अनुवाद

५११. पं० शीतलाप्रसाद कृत अनुवाद का रचनाकाल सन् १८७९ ई० माना जाता है। इनके अनुवाद और इसके रचनाकाल की सूचना निम्न विद्वानों ने दी है :—

(१) डा० सोमनाथ गुप्त ने 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' में पृष्ठ ८५ पर पं० शीतला प्रसाद जी को अनुवादक स्वीकार किया है।

(२) डा० लक्ष्मीसागर वर्ष्णेय ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' में पृ० २६३ पर इनका संक्षिप्त परिचय दिया है। जिससे यह अनुवाद की अपेक्षा टीकाकार प्रतीत होते हैं। वार्ष्णेय जी ने लिखा है—१८७९ सन् में शीतला प्रसाद ने 'प्रबोधचन्द्रोदय नाटक' संस्कृत और भाषा में टीका तथा व्याख्या सहित प्रकाशित किया। इस कृति के अनुपलवध होने से निश्चित नहीं कहा जा सकता है कि वास्तविकता क्या है। अन्य विद्वान् पं० शीतलाप्रसाद को अनुवादक ही स्वीकार करते हैं।

(३) डा० गोपीनाथ तिवारी ने 'भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य' में पं० शीतलाप्रसाद जी को प्रबोधचन्द्रोदय का अनुवादक ही स्वीकार किया है।

५१२. इस प्रकार पं० शीतलाप्रसाद प्रबोधचन्द्रोदय के अनुवादक या टीकाकार दोनों में से एक अवश्य थे।

जगन्नाथ शुक्ल कृत अनुवाद

५१३. डा० वार्ष्णेय ने 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' में पृ० ४३ पर जगन्नाथ शुक्ल के अनुवाद का संकेत करते हुए उसका लिपिकाल सन् १८७३ ई० बताया है।

उनके संक्षिप्त विवरण से ज्ञात होता है कि इसका प्रकाशन ज्ञान रत्नाकर यंत्रालय से हुआ था। ये सम्भवतः फोर्ट विलियम कालेज के पंडित थे।

जन अनन्य कृत अनुवाद

५१४. इस अनुवाद का पता बाबू ब्रजरत्नदास को लगा था। उन्होंने रचना-काल आदि का संकेत न करते हुए[1] केवल इतना ही लिखा है कि 'जन अनन्य कृत अनुवाद का और भी पता चलता है।" यही सूचना अन्य साहित्यिकों ने भी इसी आधार पर दे दी है। जैसे—

१. डा० सोमनाथ गुप्त—'पूर्व भारतेन्दु नाटक साहित्य', पृष्ठ ४१।

२. डा० दशरथ ओझा—'हिंन्दी नाटक का उद्भव और विकास', पृष्ठ १४५।

३. डा० गोपीनाथ तिवारी—'भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य', पृ० ९।

५१५. इस प्रकार यत्रतत्र प्राप्त सूचनाओं से ज्ञात होता है कि उपलब्ध १२ अनुवादों के अतिरिक्त आठ अनुवाद और हुए थे, जो आज सहज सुलभ नहीं हैं। उपलब्ध एवं अनुपलब्ध अनुवादों की संख्या बीस है। यह संख्या प्रबोधचन्द्रोदय का महत्व और प्रभाव प्रतिपादित करती है।

५१६. प्रबोधचन्द्रोदय के हिन्दी अनुवादों के अनुसंधान काल में हिन्दी के अतिरिक्त भी अन्य भाषाओं के अनुवादों का पता चला है। अन्य भाषाओं के अनुवाद इस प्रकार है :—

१. **तामिल भाषा**—बेंक्टराम देवज्ञ का तामिल भाषा में अनुवाद प्राप्त होता है। जो पिलानी पुस्तकालय, पु० नं० $\frac{\text{T. M. 822.}}{\text{K. 893. P.}}$ पर सुरक्षित है। वहां के एक प्रोफेसर श्री एस० बी० पन्त के सौजन्य से उपलब्ध हो सका है। इस अनुवाद का प्रकाशन सन् १९११ ई० में हुआ था। अनुवाद वेंकटेश भट्टी के पुत्र थे और पुटकोट्टे नामक गांव के थे। अनुवाद की भूमिका में बेंक्टराम देवज्ञ ने लिखा है कि सर्वसाधारण के लाभ के लिए द्रविण भाषा में यह अनुवाद किया है। विष्कम्भक, प्रवेशक एवं संधियों सहित यह अविकल अनुवाद है। इसके साथ एक टीका भी है जिसका नाम दीपम् है। यह दीपम् संस्कृत भाषा की टीका चन्द्रिका और प्रकाश नाम की व्याख्या के आधार पर है। छ० अंकों सहित यह अनुवाद २१७ पृष्ठ का है। इस अनुवाद की प्रशंसा महापंडित ब्रह्म श्री मन्नार्गुडी राजुशास्त्रीगल ने की है।

२. **तेलुगु भाषा**—तेलुगु भाषा के इस अनुवाद के सम्बन्ध में पांडु-रंगराव के 'हिन्दी और तेलुगु का नाटक साहित्य' से ज्ञात होता है।[1] यह अनुवाद सन् १४८०

---

१. हिन्दी अनुसंधान गोष्ठी की शोध प्रबन्ध प्रदर्शनी—दिल्ली से प्राप्त। (सन् १९५९)

प्रत्येक शताब्दी में उपलब्ध एवं अनुपलब्ध अनुवादों की रचना संख्या का रेखाचित्र :—
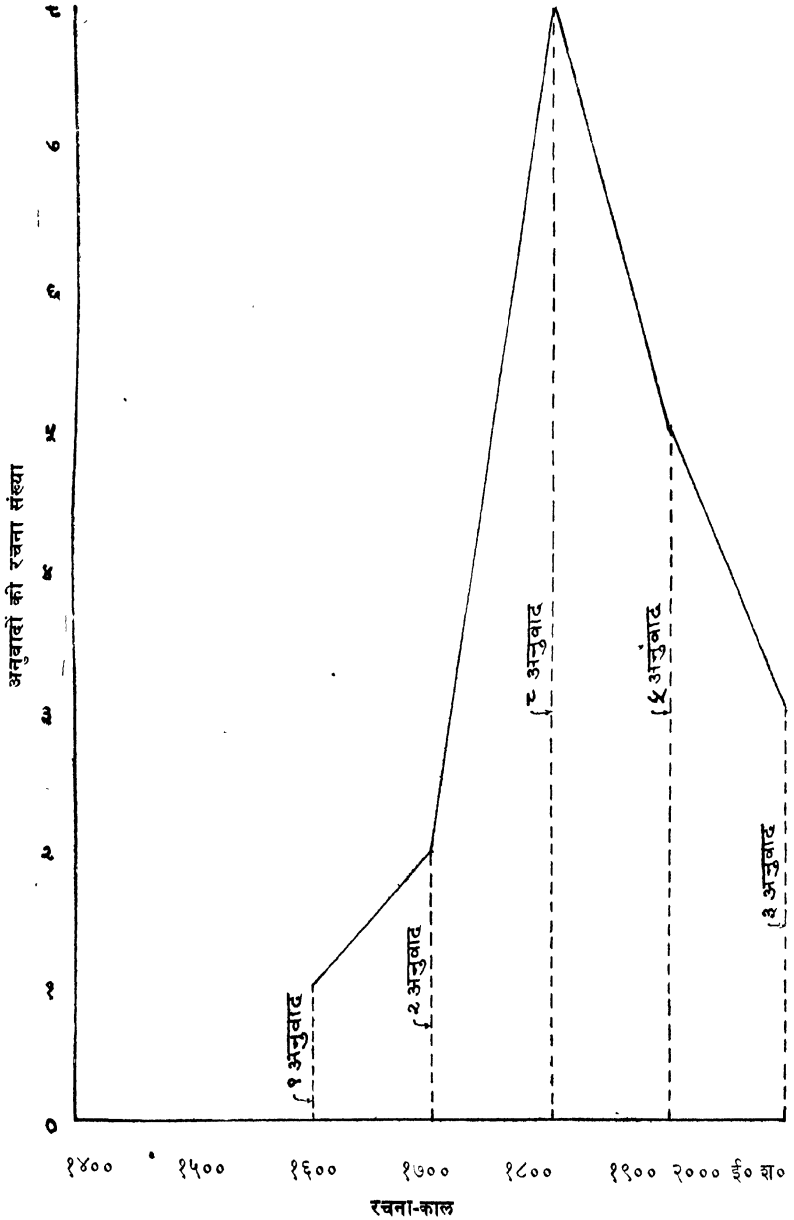
नोट :—१९ अनुवादों का रेखाचित्र है, क्योंकि जन अनन्य कृत अनुवाद का रचनाकाल अज्ञात है।

ई० में नदिमल्लमा और धन्टसिंगमा नामक दो व्यक्तियों ने सम्मिलित प्रयत्न से संस्कृत प्रबोधचन्द्रोदय को प्रबन्धकाव्य के रूप में अनूदित किया था। इस अनुवाद में भाव सौन्दर्य और मौलिकता का पुट भी है। तेलुगु भाषा में प्रबोध-चन्द्रोदय की रूपक शैली के अनुकरण पर नाटक भी लिखे गये। कोचनपिल्लकन कौवा की 'हंस विजयमु' महत्वपूर्ण और कलात्मक रचना है। आर्य नारायण मूर्ति का 'भारत सूर्योदय' और काल्लकूरि नारायण राव का 'चिन्तामणि' रूपक शैली में ही प्रणीत है।

३. **मलायलम भाषा**—मलायलम भाषा में प्रबोधचन्द्रोदय के तीन अनुवाद हुए हैं। जिनका उल्लेख केरल साहित्यचरितम्।[१] नामक पुस्तक में २२५ पृष्ठ पर मिलता है। एक अनुवाद कुम्मम् पल्ली रामनपिल्लैआशान ने प्रबोधचन्द्रोदय के नाम से किया। इनका जीवनकाल मलायलम सम्वत् १०२१ से १०८७ (ई० सन् १८४६-१९१२) माना जाता है। दूसरा अनुवाद शंकुण्णिमेनन ने मलायलम् सम्वत् १०६८ (ई० सन् १८९३) में किया था। तीसरा अनुवाद सी० ए० नानुवैया शास्त्री ने, जिनका समय मलायलम सम्वत् १०२५ से १०८८ (ई० सन् १८५०-१८१३) माना जाता है, प्रबोधचन्द्रोदय भाषा नाटकम् नाम से किया था।

४. **बंगला भाषा**—बंगला भाषा के अनुवाद की सूचना भोलानाथ शर्मा के 'बंगला साहित्य की कथा' पृष्ठ १३६ से ज्ञात होती है। यह अनुवाद श्री विश्वनाथ न्याय रत्न ने नाटक के रूप में ही किया था। अनुवाद के रूप में यह बंगला भाषा का पहला नाटक है। इसका रचनाकाल सन् १८३९ ई० है। यह रचनाकाल के २३ वर्ष वाद सन् १८७१ ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था।

५. **फारसी भाषा**—फारसी भाषा के एक अनुवाद का संकेत डा० सोमनाथ गुप्त ने 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' में इतिहास[२] के आधार पर किया है। जिससे ज्ञात होता है कि शाहजहां के समय में मुंशी कन्वासीदास ने प्रबोधचन्द्रोदय का अनुवाद 'गुलजारे हाल' के नाम से किया था। बलीराम साधू ने भी यमनभाषा अर्थात् फारसी भाषा में एक अनुवाद किया था। जो सम्भवतः बहुत प्रसिद्ध रहा था और हिन्दी अनुवादों के हेतु प्रेरणास्रोत बना। हिन्दी अनुवादक व्रजवासीदास और

---

१. **डा० सीता भट्ट के सौजन्य से ज्ञात—**
Kerala Sahitya Charitram
By Rao Sahib Mahakaviulloors Parameswara Aiyer, Part VI–VII, January 1957.

२. **हिस्ट्री ऑफ शाहजहां—डा० बनारसीदास, पृष्ठ २२७।**

नानकदास ने इसी के आधार पर हिन्दी अनुवाद किया था। इस सम्बन्ध में ब्रजवासी के शब्द यों हैं :—

बलीराम ताकी करी भाषा यमन किताब।
× × ×
ताते यह भाषा करी अपनी मति अनुसार॥

६. **गुरुमुखी लिपि**—प्रबोधचन्द्रोदय का एक अनुवाद गुरुमुखी लिपि के माध्यम से (गुरुमुखी बोली में) ज्ञानदास साधू ने किया था। श्री सत्यपाल गुप्त ने ज्ञानदास साधू के अनुवाद का परिचय 'पेप्सू प्रदेश की हिन्दी प्रगति' पुस्तक में दिया है। किन्तु भाषा के सम्बन्ध में इससे विशेष ज्ञात नहीं होता कि गुरुमुखी के माध्यम से उन्होंने किस भाषा में अनुवाद किया था। उसी विवरण के अनुसार इस अनुवाद का रचना-काल सन् १७८९ ई० है। यह अनुवाद ज्ञानसाधू ने अपने शिष्याओं के पठनार्थ किया था। इन दो, शिष्याओं का नाम श्रीमती रतनकौर और शीलाबाई था।

७. **अंग्रेजी भाषा**—अंग्रेजी भाषा में जे० टेलर महोदय का अनुवाद प्रसिद्ध है। महेशचन्द्र प्रसाद के हिन्दी अनुवाद की भूमिका में इसका परिचय यों हैं :—"बम्बई सरकारी सेना के एक अंग्रेज डाक्टर द्वारा यह अनुवाद बम्बई के तत्कालीन लाट सर जेम्स मकिनतोष की प्रेरणा से सन् १८११ ई० में, अर्थात् सवा सौ साल पहले किया गया था और इन्हीं लाट महोदय को समर्पित हुआ था।" इस अनुवाद की एक प्रति बम्बई की सेन्ट्रेल लाइब्रेरी में सुरक्षित है।

८. अन्य योरोपीय भाषाएँ—फ्रेंच भाषा में प्रबोधचन्द्रोदय का एक अनुवाद हुआ है। जिसे G. Deveze महोदय ने 'Le Lever de La Lune de La Counaissance' नाम से किया था। रूसी भाषा में Kovalevsky महोदय ने प्रबोधचन्द्रोदय के नाम से ही अनुवाद किया था। T. W. Boissevain महोदय ने (Dutch) डच भाषा में 'Maansopgang der outwaking' नाम से प्रबोध-चन्द्रोदय का अनुवाद किया। Th. Goldstucker महोदय ने 'Die Geburt des Begriffs' नाम से तथा Dr. Bernhard Hirzel, Zurich ने 'Erken-ntnismondaufgang' नाम से जर्मन भाषा में अनुवाद किया।[१]

५१७. इस प्रकार अन्य भाषाओं में प्रस्तुत किये गये, इन कतिपय अनुवादों से सूचित होता है कि प्रबोधचन्द्रोदय का स्वागत हिन्दी अनुवादकों द्वारा ही नहीं, अन्य भाषाओं के विद्वानों द्वारा भी हुआ। और इस ग्रन्थ का प्रभाव तथा विस्तार व्यापक रूप से रहा है।

---

१. 'Prabodha Candrodaya—A philosophical and theological analysis—by Dr. (Miss) Sita Bhatt.

षष्ठ अध्याय

हिन्दी रूपान्तरों का सामान्य अध्ययन

५१८. आगे चलकर हिन्दी में 'प्रबोधचन्द्रोदय' के ही आधार पर कुछ ऐसी रचनाओं का उद्भव हुआ, जिन्हें न तो हम स्वतंत्र मौलिक रचनाओं की श्रेणी में रख सकते हैं और न जिन्हें अनुवाद ही माना जा सकता है। इन रचनाओं में कहीं तो मूल का अविकल अनुवाद मात्र है और कहीं रचनाकारों की मौलिकता से प्रसूत कुछ मौलिक कथानक और संवाद आदि भरे पड़े हैं। हमें यदि इनका नामकरण ही करना है तो जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, इन्हें हम 'प्रबोधचन्द्रोदय' के 'रूपान्तर' का अभिधान' प्रदान कर सकते हैं। इस कोटि की रचनाओं की अद्यावधि उपलब्ध संख्या ५ है। इनमें तीन रचनाएँ तो 'मोहविवेक युद्ध' के नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनके रचयिता कालक्रमानुसार लालदास, गोपालदास और कवि बनारसीदास माने जाते हैं। अन्य दो रचनाओं में एक तो हिन्दी साहित्य के प्रख्यातनामा महाकवि और आचार्य केशवदास की 'विज्ञान गीता' प्रसिद्ध है, जो कि 'प्रबोधचन्द्रोदय' के अनुवाद के रूप में हिन्दी साहित्य में विश्रुत है। परन्तु जैसा कि हम 'विज्ञान गीता' के अध्ययन में देखेंगे वह अनुवाद न होकर 'रूपान्तर' ही है। इसकी रचना सम्वत् १६६७ (सन् १६१०) में की गई थी। दूसरी रचना—जिसके रचयिता उमा दयाल मिश्र हैं "प्रबोधद्युमण्युदय" के नाम से प्रसिद्ध है। यह आधुनिक रचना है। इसका निर्माणकाल सन् १८९२ है। इसमें कुछ स्थलों पर तो 'प्रबोधचन्द्रोदय' का अविकल अनुवाद उपलब्ध होता है, यहाँ तक कि शब्दों की आवृत्ति तक पाई जाती है और कुछ स्थलों पर लेखक ने मौलिक कल्पना का सहारा लेकर कथानक को एक नयी दिशा देने का प्रयास किया है। इसलिये इसे भी हम 'प्रबोधचन्द्रोदय' का अनुवाद-मात्र न मानकर उसके 'रूपान्तरों' की ही श्रेणी में मानते हैं।

५१९. अब हम पहले 'मोह विवेक युद्ध' के नाम से प्रसिद्ध तीनों रचवाओं का सामान्य अध्ययन प्रस्तुत करेंगे और उसके पश्चात विज्ञान गीता तथा प्रबोधचन्द्रोदय का।

जन गोपाल का 'मोह विवेक युद्ध'

५२०. दादू सम्प्रदाय के जन गोपाल ने 'मोह विवेक युद्ध' के नाम से 'प्रबोधचन्द्रोदय' का एक रूपान्तर किया है। इनकी इस रचना में दादू सम्प्रदाय का स्पष्ट उल्लेख है।[1] 'दादू सम्प्रदाय का इतिहास' में स्वामी मंगलदास ने अनेक पुष्ट प्रमाणों के आधार पर इनका समय सं० १६५० से १७३० तक माना है।[2] इधर 'रसवन्ती' में प्रकाशित एक लेख में अगरचन्द्र जी नाहटा ने किसी खोज विवरण के आधार पर दादू पन्थी जन गोपाल का समय सं० १६५७ सिद्ध किया है।[3] नाहटा जी ने किस खोज विवरण के आधार पर उपर्युक्त तथ्य को निर्णीत किया है, इसका उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। इधर हमें इस 'मोह विवेक युद्ध' की एक प्रति मिली है—श्री कासलीवाल के द्वारा—जो कि 'दादू महाविद्यालय' जयपुर (राजस्थान) में सुरक्षित मूल प्रति की प्रतिलिपि है। इसकी मूल प्रति का परिचय प्रस्तुत प्रतिलिपि के ऊपरी भाग में यों दिया गया है "गुटका नं० १७, पत्र संख्या ५८६, आकार ६½ × ५ इंच, भाषा हिन्दी। लेखनकाल सं० १९२४, प्रप्ति स्थान—दादू महाविद्यालय, जयपुर (राजस्थान), मोह विवेक, जन गोपाल कृत, पत्र संख्या २३८ से २५८ तक"। एक दूसरी प्रति का संकेत काशीनागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट भाग १, सन् १९२३-२५, पृष्ठ ७०९ में मिलता है। इसमें उक्त प्रति का नाम 'मोह विवेक सम्वाद' दिया गया है। इसके परिचय में बताया गया है कि इसमें देशी कागज का प्रयोग किया गया है। इसकी पत्र संख्या—५ तथा आकार १२ × १० इंच है इसमें २७० अनुष्टुप छन्द तथा पचास पृष्ठ है। इसका लिपिकाल सम्वत् १८४० (सन् १७८३ ई०) है। इसकी प्राप्ति ठाकुर बच्चूसिंह, ग्राम उमराव, पोस्ट आफिस सिद्धौली—जिला सीतापुर (अवध) से हुई है। इस प्रति के जो निर्देश रिपोर्ट में दिये गये हैं—वे जयपुर वाली प्रति में मिल जाते हैं। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों ही प्रतियाँ किसी पुरानी प्रति की प्रतिलिपि हैं। ऐसा मान लेने पर यह भो सिद्ध हो जाता है कि जयपुर वाली प्रति में जो ग्रन्थ का लेखनकाल

---

१. जुगि जुगि संत अनंत है, हूं शबहिन को दास।
दादू गुर परसाद तैं, अविगति पुरवै आस॥८॥
—मोह विबेक युद्ध, पृ० २।

२. दादू सम्प्रदाय का इतिहास—स्वामी मंगलदास, पृष्ठ ७६।

३. 'रसवन्ती' में प्रकाशित अगरचन्द जी नाहटा का 'एक महत्वपूर्ण अनुपलब्ध हिन्दी ग्रन्थ की प्राप्ति' शीर्षक लेख।

सम्वत् १९२४ दिया गया है वह मूल पुस्तक की प्रतिलिपि का ही काल हो सकता है, न कि मूल प्रति का। क्योंकि प्राप्त प्रमाणों के आधार पर दादू पन्थी—स्वामी मंगलदास और अगरचन्द्र जी नाहटा, जनगोपाल को, काफी पहले का सिद्ध कर चुके हैं, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं।

५२१. इस रूपान्तर में प्रारम्भ में निर्गुण की ही स्तुति की गई है। उसमें ब्रह्म को अनन्त ज्योति ही स्वीकार किया है। इसके कथानक में मोह विवेक संबंधी युद्ध का ही वर्णन-विस्तार है। विवेक की विजय के पश्चात् ग्रन्थ समाप्त हो जाता है। मोह और विवेक के युद्ध वर्णन के ढंग में अन्तर कर दिया गया है। मूल में मोह और विवेक की सेना पृथक पृथक तैयार होती है। ये मोह और विवेक जब अपने-अपने सैनिकों की नियुक्ति करते हैं तब ही सैनिक अपनी विशेषताओं का परिचय दे देते हैं। और युद्ध का वर्णन तो अप्रत्यक्ष रूप से कर दिया जाता है। किन्तु गोपाल कृत इस रूपान्तर में मोह और विवेक के योद्धा परस्पर द्वन्द्व युद्ध के हेतु, एक एक करके सम्मुख आते हैं। जब विवेक के पक्ष का सैनिक अपनी विशेषताएँ बताता है तो उसके विरोधी डर कर भाग जाते हैं। मोह और विवेक में भी द्वन्द्व युद्ध कराया गया है। जैसा कि मूल में नहीं होता है। इस रूपान्तर में, मोह अपने सैनिक गर्व के साथ तथा विवेक अपने सैनिक दीनता के साथ परस्पर द्वन्द्व युद्ध करते हैं। यह द्वन्द्व युद्ध मनोवैज्ञानिक एवं प्रभावशाली है। इसमें मोह और विवेक के जिन विरोधी वाणों की चर्चा की गई है, वे वास्तव में कवि की प्रतिभा और सूक्ष्म विवेचन के परिचायक है। मोह और विवेक ने द्वन्द्व युद्ध में जिन वाणों का प्रयोग, एक दूसरे के विरोध में किया, वह निम्न प्रकार से है:—

मोह	विवेक
निद्रापाश	जागृत सकति
अलस बाण	चैतन बाण
अविद्या बाण	विद्या बाण
संसे बाण	निरसंशे बाण
सन्देह गदा	निसन्देह
विभ्रम चक्र	(विवेक के पास तक न पहुँचा पहले ही नष्ट हो गया)

इस प्रकार इन बाणों से किये गये द्वन्द्व में विवेक की विजय हुई : अनेक उपाव मोह करि हार्‌यौ। न्रिपति बबेक हरि बोट उबार्‌यौ (पृष्ठ १२, छन्द १३) मूल रचना के पांचवें अंक में श्रद्धा विष्णुभक्ति को बताती है कि युद्ध में क्रम से वस्तु-

विचार ने काम को, क्षमा ने क्रोध को, सन्तोष ने लोभ को हराया। प्रस्तुत रूपान्तर में भी इन्हीं पात्रों का, इसी क्रम से द्वन्द्व युद्ध वर्णित है। इस द्वन्द्व में इन पात्रों ने रूपान्तर में जो अपनी विशेषताएँ बतायी हैं ये मूल से साम्य रखती हैं। जैसे क्षमा का कथन जो रूपान्तर में पृ० ८ पर छन्द ३, ४, ५ में है, मूल की क्षमा के पृ० १५१ श्लोक १८ से साम्य रखता है। रूपान्तर में क्षमा का कथन निम्न प्रकार से है:—

अगनिबांन क्रोध जद डार्यो।
सो तो खिमा स्वांति सो मार्यो।।३।।
बहुरयो क्रोध दई झुकि गारी।
खिमा कहै सब चूक हमारी।।
क्रोध क्रोध करि मारिण धायो।
खिमा हसी अर माथो नायो।।४।।
अगिनत बांन जु क्रोध चलाये।
खिमा निकटि येको नहीं आये।।
ज्यूं जल मांझ अगनि बूझि जाई।
जहां खिमा तहां कहा बसाई।।५।।

मोह के साथ गर्व नाम का सैनिक, विवेक के विरोध में युद्ध करता है। इस गर्व नामक पात्र का कथन (पृ० ११, छन्द ४-५) मूल[1] के लोभ नामक पात्र के कथन से मिलता सा प्रतीत होता है।

५२२. जनगोपाल के इस रूपान्तर में विवेक की विजय के उपलक्ष्य में उसके पक्ष की प्रसन्नता का वर्णन है। उसके अनन्तर मन, नाश को प्राप्त मोहादिकों के हेतु दुःखी एवं सन्तप्त होता है। मूल में मन की इस संतप्तावस्था को शान्त करने के हेतु वैयासिकी सरस्वती उपदेश देती है किन्तु इस रूपान्तर में सरस्वती का कार्य 'श्रद्धा' ने सम्पादित करके मन को शान्त और वैरागी बनाया है। मूल 'प्रबोध-चन्द्रोदय' में पुरुष को उपनिषद् के उपदेश से ब्रह्म ज्ञान होता है किन्तु इसमें विवेक ने ही मन को ब्रह्मज्ञान कराने में सहयोग दिया है। यह ब्रह्मज्ञान का उपदेश गम्भीर दार्शनिक विवेचनात्मक नहीं है। यह सम्पूर्ण रूपान्तर पद्यबद्ध है। इसमें दोहा और चौपाई छन्दों का प्रयोग किया गया है। यह रूपान्तर केवल वर्णनात्मक कथा काव्य है, नाटकीय संकेत विशेष नहीं है। संवाद और द्वन्द्व युद्ध के वर्णन प्रसंगों में

---

१. प्रबोधचन्द्रोदय, द्वितीय अंक, श्लोक ३०, ३१, ३२।

नाटकीयता रोचकता सी आगई है किन्तु नाटकीय योजना के अनुकूल वर्णन-क्रम और विशेष संकेत नहीं हैं। अन्त में हम कह सकते हैं कि जनगोपाल का यह 'मोह विवेक युद्ध' रूपान्तर मूल के मनोवैज्ञानिक मानसिक द्वन्द्व को, सरल ब्रह्मज्ञान के साथ—ब्रजभाषा में रखने में सफल हुआ है।

लालदास का 'मोह विवेक युद्ध'

५२३. कवि लालदास कृत 'मोह विवेक युद्ध' का ज्ञान हिन्दी संसार को काफी पहले हो चुका है। परन्तु इस 'मोह विवेक युद्ध' का रचनाकाल क्या है? यह एक विषम समस्या है। क्योंकि जब तक इस बात का पता न लग जाय कि प्रस्तुत रचना का रचयिता लालदास कौन है? तब तक इस अनबूझ पहेली का हल निकालना सरल नहीं प्रतीत होता। यहाँ हम प्रस्तुत कृति के रचनाकाल और उसके रचयिता के वर्तमानत्व काल के सम्बन्ध में उपलब्ध सामग्रियों के प्रकाश में कुछ प्रकाश डालने और एक सीमा तक निर्णय करने का प्रयास करते हैं।

५२४. आजतक की खोजों के आधार पर हिन्दी साहित्य में छः लालदास नामक लेखकों का पता लग चुका है जिनका विवरण यों है:—

१. बीकानेर के प्रसिद्ध हिन्दी-अनुसन्धाता श्री अगरचन्द नाहटा जी के पुस्तकालय में 'मोह विवेक युद्ध' की एक पुरानी प्रति है, जो सम्बत् १७६७ की है। इसके रचयिता लालदास हैं।

२. कवि बनारसीदास ने अपने 'मोह विवेक युद्ध' में अपने उपजीव्य तीन कवियों में 'लालदास' को दूसरा स्थान दिया है—'पूरब भए सुकवि मल्ह लालदास गोपाल—' (मोह विवेक युद्ध—बनारसीदास, पृष्ठ ९)

३. काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में तीन लालदास नामक कवियों का उल्लेख है। प्रथम लालदास का अस्तित्व सम्वत् १७२२ (१६६६ई०) में बतलाया गया है। ये मूल निवासी तो बरेली के थे, परन्तु बाद में अयोध्या में रहने लगे थे। दूसरे लालदास को आगरा का बताया गया है। ये अकबर के समकालीन और सम्वत् १६४३ (सन् १५८६) के लगभग वर्तमान थे। ये जाति के वैश्य और ऊधवदास के पुत्र थे।[1] इधर हमें नागरी प्रचारिणी सभा काशी की एक खोज रिपोर्ट[2] ऐसी मिली है जिसमें लालदास कृत 'ज्ञान विवेक मोह' नामक ग्रन्थ का संकेत किया गया है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल सन् १६७५ ई० रिपोर्ट में बताया

---

१. वीर वाणी—मई अंक में—'हिन्दी में मोह विवेक युद्ध संज्ञक' (रवीन्द्र कुमार जैन), पृष्ठ २०९।

२. खोज रिपोर्ट सन् १९२३–२५।

गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि ये लालदास सन् १६७५ ई० के लगभग वर्तमान थे।

४. एक लालदास का पता हमें श्री परशुराम चतुर्वेदी के 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा' नामक ग्रन्थ से चला है। श्री चतुर्वेदी जी के मतानुसार ये लाल-दास अलवर राज्य के रहने वाले थे। इनका जन्म सम्वत् १५९७ तथा मृत्यु सम्वत् १७०९ में मानी जाती है। चतुर्वेदी जी के शब्दों में "सन्त लालदास काव्य रचना भी करते थे। इनकी 'वाणी' के कुछ अंश इधर उधर संग्रह ग्रन्थों में देखने में आते हैं। इन्होंने गेय पद लिखे हैं जो इनकी सूक्ष्म बुद्धि और गहन अनुभूति के परि-चायक हैं।[1]

५२५. स्पष्टता और विवेचन की सुविधा के लिये हम इन छःओं लालदासों का विवरण उनके समय के साथ क्रमशः यों दे सकते हैं:——

१. लालदास – वर्तमान समय सम्वत् १७६७ (सन् १७१०)।
२. ,, (नाहटा जी के अनुसार)——सम्वत् १६७० (सन् १६१३) के पूर्व।
३. ,, सम्वत् १७२३ (सन् १६६६) के लगभग।
४. ,, सम्वत् १६४३ (सन् १५८६ के लगभग)
५. ,, सम्वत् १६७५ (सन् १६१८)
६. ,, सं० १५९७--१७०९ तक (सन् १५४०--१६५२)

इनका विवेचन करने के प्रसंग में हम सर्वप्रथम नाहटा जी की प्रति वाले लालदास प्रथम को ले सकते हैं, किन्तु आज के दिन 'मोह विवेक युद्ध" नामक जो ग्रन्थ मिल रहा है, उसके रचयिता यही लालदास माने जाते हैं, इसलिये इनके सम्बन्ध में हम बाद में ही विचार करेंगे। दूसरे लालदास जिनका संकेत बनारसीदास ने अपने 'मोह विवेक युद्ध' में किया है. नाहटा जी के अनुसार सन् १६१३ के पूर्वके हैं क्योंकि बनारसीदास ने 'मोह विवेक युद्ध' की रचना सन् १६१३ के लगभग की थी। परन्तु जब तक यह न प्रमाणित हो जाय कि 'मोह विवेक युद्ध' के रचयिता बनारसीदास और प्रसिद्ध जैन कवि बनारसीदास एक थे, तब तक इसके आधार पर लालदास का समय निर्णीत नहीं किया जा सकता। तीसरे लालदास——जो अयोध्या के निवासी थे और सन् १६६६ के लगभग वर्तमान बताए गये हैं के नाम से किसी [illegible]न्थ को न तो उपलब्धि हुई है और न इस सम्बन्ध में कोई सूचना ही मिली है। इस-[illegible] विवेक युद्ध[1] के रचयिता ये नहीं माने जा सकते हैं। चौथे कवि लालदास जो

[illegible]राम चतुर्वेदी——'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा', पृष्ठ ४०४,४०६।

आगरा के निवासी तथा सन् १५८६ के लगभग वर्तमान माने गये हैं, के एक 'इतिहास-भाषा' नामक ग्रन्थ का उल्लेख अवश्य मिलता है, अन्य किसी ग्रन्थ का उल्लेख इनके नाम से नहीं मिलता है। दूसरी बात यह है कि ये लालदास प्रस्तुत 'विवेक-मोह युद्ध' के सन् १७१० के बहुत पहले के हैं इसलिए उसके रचयिता कभी नहीं हो सकते। पांचवे लालदास जो कि सन् १६७५ में वर्तमान थे-के सम्बन्ध में हमें थोड़ा विचार करना है। हम अभी देख चुके हैं कि इनके नाम से एक पुस्तक 'ज्ञान-विवेक मोह' की सूचना मिलती है। यहाँ यह सम्भावना करना कि इसी पुस्तक की प्रतिलिपि सन् १७१० में होकर उसका नाम 'मोह विवेक युद्ध' रखा गया—कुछ असंगत सा है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो दोनों प्रतियों में किसी प्रकार का अन्तर नहीं पाया जाना चाहिए था। परन्तु 'ज्ञान विवेक मोह' और 'मोह विवेकयुद्ध' की केवल कुछ पंक्तियों को छोड़कर और कोई समता इन दोनों में नहीं मिलती। अधिक सम्भावना इस बात की, की जा सकती है कि 'ज्ञान विवेक मोह' के आधार पर ही किसी कवि ने सन् १७१० में 'मोह विवेक युद्ध' की रचना की हो, इसके साथ ही यह भी सम्भावना की जा सकती है कि १७१० ई० के कवि का नाम लालदास न रहा हो, उसने अपनी कृति को प्रसिद्ध करने के उद्देश्य से उसका सम्बन्ध सन् १६७५ में वर्तमान लालदास से जोड़ दिया हो। मेरी इस धारणा की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि अवध के एक लालदास ने सम्वत् १७३४ (सन् १६७७) में 'अवध-विलास' नामक ग्रन्थ की रचना की है, जिसको स्वर्गीय श्री नाथूराम जी प्रेमी ने 'मोह विवेक युद्ध' का रचयिता माने जाने की सम्भावना की है। 'ज्ञान विवेक मोह' की प्रति अवध (सुल्तानपुर) में मिली है।[1] और अवध विलास' का रचयिता स्वयं अवध से परिचित दीखता है। इसके अतिरिक्त इन दोनों का समय भी प्रायः एक ही है—१६७५ और १६७७ई०। इसलिए यह अनुमान करना कि ये दोनों कवि एक ही रहे हों, उचित ही प्रतीत होता है। साथ ही स्वर्गीय श्री प्रेमी जी की यह सम्भावना कि 'अवध विलास' के रचयिता का कोई 'मोह विवेक युद्ध' शायद रहा हो—ठीक उसी रूप में तो नहीं, परन्तु 'ज्ञान विवेक मोह' के लालदास के नाम से मिल जाने के कारण आंशिक रूप से अवश्य ही सत्य रही है। छठे लालदास, जिनका कि उल्लेख परशुराम चतुर्वेदी ने किया है—का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, परन्तु समय लगभग वही मिलता है। फिर भी मोह विवेक युद्ध' में रचनाकार के रूप में इन्हें प्रतिष्ठित करने का हमें कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। इसलिए

---

१. नाथूराम प्रेमी, अर्द्ध कथानक पर निर्दिष्ट--मिश्रबन्धु विनोद, द्वितीय भाग, पृष्ठ ५०७, द्वितीय संस्करण। पृष्ठ २२।

इसके सम्बन्ध में हम कुछ नहीं कह सकते। परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में राम की भक्ति के महत्व का प्रतिपादन होने से इस सन्त लालदास की, उसके रचयिता के रूप में संभावना तो की ही जा सकती है।

५२६. अब रह जाते हैं, प्रथम लालदास– जिनके कि नाम से प्रस्तुत ग्रन्थ मिल रहा है। अभी पांचवें लालदास के विवेचन के प्रसंग में जैसा कि कहा गया है, अधिक संभावना इस बात की प्रतीत होती है कि सन् १७१० में इस ग्रन्थ की रचना किसी कवि ने अपने से पूर्व के लालदास के 'ज्ञान विवेक मोह' के आधार पर की हो। और उसको प्रसिद्ध करने के उद्देश्य से प्रसिद्ध लालदास से सम्बद्ध कर दी हो। ऐसा इसलिए क्योंकि 'मोह विवेक युद्ध' में ज्ञान विवेक मोह' की कुछ पंक्तियाँ ज्यों की त्यों उद्धृत मिलती हैं तथा सन् १७१० के लगभग किसी लालदास के होने का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता।

५२७. प्रस्तुत ग्रन्थ की जो हस्तलिखित प्रति हमें नाहटा जी ने भेजी है, उसमें कुल १६ पेज हैं। यह पेज छोटे कापी के नाप के हैं। जैसा कि बताया गया है, ग्रन्थ प्रबोधचन्द्रोदय का रूपान्तर है। इसमें मोह विवेक की सेना का वर्णन, उनका परस्पर युद्ध और अन्त में विवेक की विजय का वर्णन मात्र किया है। प्रबोध-चन्द्रोदय से प्रभावित होते हुए भी इसमें मौलिकता का पुट है।

५२८. इसके अध्ययन से हमें प्रबोध चन्द्रोदय से अतिरिक्त अनेक मौलिक विवरण मिलते हैं। इसके प्रारम्भ में, निर्गुण ब्रह्म के वर्णन के अनन्तर भगवान राम के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए, कवि ने गुरु की वन्दना की है। कवि के गुरु का नाम परमानन्द था (दोहा ६, पृष्ठ १)। कवि ने परिचय देकर, शरीर को 'काशी नगरी' से रूपक बांधते हुए लिखा है कि तीन गुण तीनों काल, दस इन्द्रियों, दस दिशाओं में बने दस दरवाजे आदि हैं। और यह माया का ही उत्पात है। मोह का बिवरण भी मौलिक रूप से करते हुए कवि ने बताया है कि माया से उत्पन्न मोह का तीनों पुरों (लोकों) में विस्तार है। अज्ञान देश उसकी राजधानी है। आलस्य उसका महल है। आशा पटरानी है। हिंसा पुत्री है। कुमति सखी है। छूत लौंडी है। लौंडा लालच है। रोग शोक और संशय तीन मित्र हैं। अधर्म की ध्वजा है। कलह के बाजे बजते हैं। दम्भ का छत्र है। छल का चंवर है। कपट वजीर है। पाखंड मंत्री है। काम, क्रोध, गर्व और लोभ उसके उपाय हैं जो महामोह की निरन्तर सहायता करते हैं। विवेक के सम्बन्ध में भी कवि ने एक मौलिक रूपक उपस्थित किया है। विवेक निर्मल साध नगर का प्रधान है। वह निरंजन कमलाकंत निर्गुन, निर्मल आदि अनन्त है। तिलक उसकी ध्वजा है। धर्म, धीरज और ज्ञान उसके उमराव हैं। विष्णुभक्ति के बाजे बजते हैं। वह आनन्दमहल में

निवास करता है। उसके आठ पुत्र सत्य, शील और संतोष आदि हैं। सत्ता, क्षमा, दया और शुभकार चार पुत्रियाँ हैं। शान्ति सखी है। शुचिकर्मा अनुराग मंत्री है। उसकी प्रेम रूपी सभा में वैराग्य बैठता है। गुणों का उसका चंवर है। ऐसे स्वाभाविक सिंहासन पर वह बैठता है। व्रत उसका वजीर है। तप संग खवास है। निर्भय मंत्री है और उसका मंत्र प्रकाश है। वेद, यज्ञ, सुख, चैन आदि उसकी कीर्ति हैं। स्नान आदि पवित्र आनन्ददायक कर्म हैं, शुभ वाणी है। इस प्रकार विवेक के राज्य और उसके सम्बन्धियों की विशेष रोचक योजना है। क्रोध के वर्णन में कवि ने जीवन में अनुभूत क्रोध की भावना का वर्णन, मनोवैज्ञानिक ढंग से ही किया है। जैसे:—

जब उर अंतर प्रगटै आइ, कांपै देह थर हरै पाई ।।३६।।
टेढ़ी भौंह अरक्त नैंन, अशुभ वचन मुखि बोलै बैंन।
जरै 'हृदो' मुखि निकसै झाल, रोम रोम प्रति दीया प्रजाल ।।३७।।

+ + +

क्रोध ही तैं नर नरकिहि जाइ, तिर्जग जोनि अवतरै आइ।
सिद्धि आज यह विनसे क्रोध, सब फल जाहि न पावै सोध ।।

—मोहविवेक युद्ध, पृष्ठ ४, ५।

५२९. 'प्रबोधचन्द्रोदय' के अहंकार नामक पात्र के स्थान पर, कवि ने गर्व नामक पात्र का वर्णन किया है। यह पात्र अन्य 'मोह विवेक युद्ध' में भी मिलता है। इस रूपान्तर के कुछ पात्रों के द्वन्द्व युद्ध में मूलप्रबोधचन्द्रोदय से कुछ साम्य के साथ अन्तर भी है। जैसे:——

मोह-विवेक युद्ध	**मूल-प्रबोधचन्द्रोदय**
काम से ज्ञान का द्वन्द्व युद्ध	'काम' से वस्तुविचार का
क्रोध से क्षमा का द्वन्द्व युद्ध	क्रोध से क्षमा
लोभ से संतोषका का द्वन्द्व युद्ध	लोभ से संतोष
मोह से विवेक का द्वन्द्व युद्ध	+ +

प्रस्तुत ग्रन्थ में काम से ज्ञान का द्वन्द्व युद्ध कराया गया है जब कि मूल में काम से वस्तुविचार का द्वन्द्व युद्ध होता है। कवि ने मोह और विवेक का भी परस्पर द्वन्द्व युद्ध का वर्णन किया है। मूल में केवल मोह के साथियों के नष्ट हो जाने से ही विवेक की विजय हो जाती है, उनके परस्पर द्वन्द्व युद्ध का वर्णन नहीं है। रूपान्तर के 'ज्ञान' पात्र के वार्तालाप में मूल के वस्तुविचार से साम्य है। मूल प्रबोधचन्द्रोदय में इससे समता रखता हुआ, वस्तुविचार का कथन पृष्ठ १४२ पर है। इसी प्रकार

क्षमा का क्रोध के प्रति जो कथन है, वह मूल के चतुर्थ अंक पृष्ठ १५१ के श्लोक १८ से भाव साम्य रखता है।

५३०. यह रूपान्तर पूर्ण रूप से पद्य में सम्पादित है। इसमें दोहे और चौपाई छन्द का प्रयोग है। गद्य का प्रयोग नहीं है। इस काव्य रूपान्तर में नाटकीय संकेत विशेष नहीं है। इसकी भाषा ब्रजभाषा है। भावों को व्यक्त करने मे इसकी भाषा समर्थ है। सरलता और सरसता इसकी प्रधान विशेषताएँ हैं।

५३१. लालदास के इस रूपान्तर में इनके पूर्ववर्ती गोपालदास के 'मोह विवेक युद्ध' से निम्नलिखित स्थलों पर समता दिखायी पड़ती है।

पृ० सं०	गोपालदास	पृ० सं०	लालदास
१	बपु बानारशी घंड ब्रह्मंडा। याही मैं दीशे नव खंडा। चौदह तीनि लोक इक ईश। सुरग नरक शब बिसवाबीश ॥५॥	१	काया कासी नगरी नाउ, त्रिगुन त्रिकाल त्रिविध को ठाउ। दस दरवाजे दस दिसि बने, + + तीनि लोक आहि तहा सर्व, दानव `व जछ गंधर्व।
१	शनकादिक नारद सुख ध्याऊ।	१	सुख नारस के पग परो,
३	कुटनी कुमति शदा शंगि रहै।	२	कुमत सखी ताकै संग रहै,
३	पाखंड मंत्री कपट प्रधान।	२	कपट बजीर असत्त खवास, पाखंड मंत्री वान्यौ तास।
३	अधर्म धजा फरहरे द्वार।	२	अधर्म धुजा गहै अग्यान,

५३२. इसी प्रकार अन्य स्थलों पर समता पाई जाती है। इससे यह अनुमान होना स्वाभाविक है कि लालदास किसी न किसी रूप में जनगोपाल से अवश्य प्रभावित रहे होंगे।

कवि बनारसीदास का 'मोह विवेक युद्ध'

५३३. लालदास और दादू पन्थी जनगोपाल के पश्चात् 'प्रबोधचन्द्रोदय' के रूप में बनारसीदास की 'मोह विवेक युद्ध' नामक रचना आती है। ये बनारसी दास प्रसिद्ध जैन कवि बनारसीदास से अभिन्न हैं या भिन्न—इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। परन्तु जैसा कि हम पूर्व में कह आए हैं, अन्तःसाक्ष्य और वहिःसाक्ष्य के प्रमाणों के आधार पर अधिकांश विद्वानों की दृष्टि में प्रसिद्ध जैन कवि बनारसी-दास से भिन्न ही हैं। इसलिए इनके समय का निर्णय करने के लिए जैन कवि का

आधार ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं। हम देखते हैं कि बनारसीदास ने मल्ह कवि, लालदास और गोपाल के नाम लिए हैं।[1] हम अभी सिद्ध कर चुके हैं कि प्रसिद्ध दादू पंथी जनगोपाल विक्रम संवत् १६५० से १७३० के बीच में वर्तमान थे। लालदास भी सं० १६३२ में अपनी रचना कर चुके थे। इसलिए इन लोगों का उल्लेख करने के कारण बनारसीदास इन लोगों के बाद के किसी भी समय के हो सकते हैं। इसके अतरिक्त इनके समय का निर्णय करने के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। इतना अवश्य है, अपने ग्रन्थ में जैन धर्म का उल्लेख करने के कारण कोई जैन कवि ही होंगे।

५३४. इनके 'मोह विवेक युद्ध' की जो प्रति हमारे पास है वह वि० नि० २४८१ में वीर पुस्तक भण्डार जयपुर से प्रकाशित है। जैसा कि बनारसीदास ने स्वयं कहा है। उपर्युक्त तीनों कवियों के ग्रन्थों का संक्षेप किया है। सारे ग्रन्थों को पढ़ने पर ७-८ ही ऐसे पद मिलें हैं जो बनारसीदास के अपने कहे जा सकते हैं। अन्य पद विशेषकर गोपालदास के मोह विवेक से उद्धृत किये हैं। एक पद लालदास के मोह विवेक से भी मिलता है। इसलिए इस ग्रन्थ का भी वर्ण विषय प्रायः वही है जो गोपालदास और लालदास के 'मोह विवेक युद्ध' के रहे हैं। जब हम यह दिखलाने का प्रयास करेंगे कि बनारसीदास के 'मोह विवेक युद्ध' से किससे कितनी समता है। बनारसीदास के 'मोह विवेक युद्ध' का निम्नलिखित पद्य :—

> **सहज सिंघासन बैसि विवेक, सुर नर मुनि कीयो अभिषेक।**
> **विमल बजायो भगति निसाण, सब कोऊ पावै सुख दान।।१०९।।**
> **—मोह विवेक युद्ध, पृष्ठ १९।**

लालदास के 'मोह विवेक युद्ध' के निम्नांकित पद्य कुछ अन्तर के साथ बिल्कुल समता रखता है :—

> **सहज सिंहासन बैठि विबेक, सुर नर मुनि कीनो अभिषेक।**
> **विमल वाजै भगत नीसान, सबको पावै सुख को दान।।**
> **—पृष्ठ १६**

---

१. पूरब भएसु कवि मल्ह, लालदास गोपाल।
मोह विबेक किएसु तिन्ह, बाणी वचन रसाल।।२।।
तिनि तीनहु ग्रंथनि महा, सुलप सुलप संधि देख।
सारभूत संक्षेप अरु, सोधि लेत हों सेष।।३।। —पृष्ठ ९।

५३५. गोपालदास की रचना से समता विषमता—जनगोपाल दादू पन्थी थे। अतएव 'प्रबोधचन्द्रोदय' में प्रतिपादित मतान्तरों एवं सिद्धातों का समावेश उन्होंने अपनी रचना में नहीं किया है। केवल मोह और विवेक के युद्ध प्रसंग को मूल कृति से लेकर अपनी मौलिक प्रतिभा से पद्यबद्ध कर दी है। इन्हीं का अधिक अनुसरण बनारसीदास ने किया है। परन्तु कहीं कहीं गोपाल ने अपने सिद्धान्त के अनुसार भक्ति का संकेत दिया है—वहां बनारसीदास ने जिन भक्ति का समावेश कर दिया है। इसलिए यह आसानी से कहा जा सकता है कि बनारसीदास जितना गोपालदास से प्रभावित हुए उतना अपने पूर्ववर्ती और किसी कवि से प्रभावित नहीं हुए। गोपाल कवि के नौ दोहों को छोड़कर दसवें छन्द से बनारसीदास ने संग्रह करना प्रारम्भ किया है। गोपाल कवि ने प्रारम्भ के नौ दोहों में निर्गुण ब्रह्म का वर्णन किया है और अन्त में दादू मत का संकेत दिया है। दसवें छन्द से मोह विवेक वंश परम्परा का परिचय प्राप्त होता है। इसी छन्द से अनुकरण भी है। जैसे :—

अन अंछवा अंछवा मन भयौ।
न्रिर्वति प्रर्वति कै घरि गयौ।
न्रिर्वति जायो पूत बमेक। (विवेक)
महा मोह माया के येक॥१०॥

—जनगोपाल—'मोह विवेक युद्ध', पृ० २।

अनइ छाइ छामन भयो। न्रिर्वत्ति प्रर्वत्ति कै घरू गयो॥३॥
न्रिर्वत्ति जायो पुत्र विबेक। महा मोह माया कैं एक॥४॥

—बनारसीदास 'मोह विवेक युद्ध' ९।

दोनों में कितनी समता है यह इससे स्पष्ट है। गोपालदास की रचना के कहीं-कहीं आठ दस छन्दों को छोड़ कर उसके आगे से पुनः छन्दों को बनारसीदास ने लिया है जिससे उनकी रचना कुछ संक्षिप्त हो गई है। वर्णनसाम्य सम्पूर्ण रचना में इसी प्रकार का है जैसा कि प्रस्तुत दसवें और चौथे छन्दों के उदाहरणों से व्यक्त है। कहीं-कहीं गोपाल कवि रचना के तत्सम्बन्धी भक्ति सिद्धान्त के स्थान पर बनारसीदास ने अपने सिद्धान्त को ला बिठाया है :—

भाव भगति भजन उमराव।
सहज शील हरि करै शहाव॥
धीरज मंत्री सुक्रित परधान।
प्रेम पयावो शंगि ही जान॥३॥

—जनगोपाल 'मोह विवेक युद्ध' पृ० ३

गोपाल के इस छन्द का रूपान्तर बनारसीदास ने इस प्रकार किया है :—

भाव भगति भजन उमराऊ, सहज सील जिन करै सहाऊ।
धीरज मंत्री सुक्रित प्रधान, प्रेम पयादो संगि ही जान ॥२१॥
—पृष्ठ ११

५३६. गोपाल कवि ने जहां छन्दों में अपना नाम 'जनगोपाल' दिया है, उन छन्दों को आवश्यकतानुसार या तो बनारसीदास ने परिवर्तित कर दिया या छोड़ दिया है। जैसे :—

अविभचारणी भगति जहां, गुर गोव्यंद सहाइ।
जन गोपाल फल का नहीं, तहां पै कछ न बशाइ ॥१३॥
—पृ० ४

बनारसीदास ने उक्त पंक्तियों को निम्न प्रकार से परिवर्तित किया है :—

अविभचारिणी जिन भगति, आतम अंग सहाय।
कहै काम ऐसी जहां, मेरी तहां न बसाय ॥३२॥ —पृष्ठ १२

५३७. इस प्रकार जनगोपाल की रचना से बनारसीदास की रचना में विशेष अन्तर नहीं है। गोपाल कवि की रचना से पृथक् पंक्तियाँ बनारसीदास की रचना में कुछ ही हैं :—

पृष्ठ ९ पर सातवें छन्द की एक पंक्ति।
पृष्ठ १० पर नौ, दस और ग्यारह छन्द।
पृष्ठ १२ पर छन्द ३९ की अन्तिम पंक्ति तथा छं० ४० पूर्व।
पृष्ठ १३ पर छन्द ४७, ४८ और ४९ हैं।

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर बनारसीदास कृत रचना गोपाल कवि की रचना से अपूर्व साम्य रखती है, यह हम निःसंकोच कह सकते हैं।

तीनों 'मोह विवेक युद्धों' में समानता

५३८. पूर्वोक्त तीनों 'मोह विवेक युद्ध' का समीक्षण कर लेने के पश्चात् जब हम इन तीनों में कहाँ कितनी समता है, देखेंगे। नीचे लिखी बातें तीनों में समान रूप से मिलती हैं :—

१. गर्व नामक पात्र का प्रयोग।
२. मोह और विवेक की सेना के वीरों का परस्परा वाग्युद्ध।
३. मोह और विवेक का परस्पर युद्ध।

४. तीनों में ही गद्य का प्रयोग नहीं है। कविता है।
५. काम के द्वन्द्वयुद्ध की वार्ता में भाव साम्य।

केशवदास की 'विज्ञान गीता'

५३९. हिन्दी साहित्य के प्रसिद्ध महाकवि केशवदास ने 'प्रबोधचन्द्रोदय' का एक रूपान्तर किया है, जिसका नाम 'विज्ञान गीता' है। कवि ने केवल 'प्रबोधचन्द्रोदय' के कथानक का आधार लेकर अपने आश्रयदाता के प्रसन्न करने के लिये, अपनी कल्पना से ज्ञानोपदेश का वर्णन किया है।[1] प्रबोधचन्द्रोदय' का अनुवाद तो कहीं-कहीं ही है। वस्तुतः केशव का उद्देश्य नाटक नहीं अपितु काव्य लिखना था क्योंकि 'विज्ञान गीता' को नाना पौराणिक आख्यानों और आध्यात्मिक उपदेशों से युक्त बनाकर—एक काव्य का रूप दिया गया है। तात्पर्य यह है कि 'विज्ञान गीता' का रूप एक काव्य का है, नाटक का नहीं। उन्होंने इसके प्रारम्भ में नट और सूत्रधार का प्रवेश न कराकर, शिव और पार्वती के संवाद के द्वारा अपने आश्रयदाता के यश का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

५४०. यह इक्कीस प्रभावों में विभक्त है। भाषा शुद्ध ब्रज है। 'प्रबोधचन्द्रोदय' के मोह और विवेक के संघर्षात्मक कथानक का आधार लेकर लिखा जाने के कारण आचार्य शुक्ल जी ने भी अपने इतिहास (पृष्ठ १८३) में लिखा है कि यह संस्कृत के 'प्रबोधचन्द्रोदय' के ढंग की पुस्तक है। 'विज्ञान गीता' के प्रारम्भ में कवि ने छप्पय छन्द में मंगालचरण किया है। उसमें जिसे निगम नैति नैति भाखता है उस अनादि एवं निरंजन ज्योति को उन्होंने प्रणाम किया है। उसके अनन्तर सवैया छन्द में 'हर' और 'गुर' को प्रणाम किया है। इसके अनन्तर उन्होंने वंश का परिचय दिया है, जिसके अनुसार ये वेदव्यास वंश के सनाढ्य ब्राह्मण काशीनाथ के पुत्र थे। तदुपरान्त अपने आश्रयदाता वीरसिंहदेव की प्रशंसा की है। ग्रन्थ का उद्देश्य, इसके अनन्तर बताते हुए केशव कहते हैं कि राजा वीरसिंह देव के हृदय में अध्यात्म ज्ञान की जिज्ञासा जागरित हुई। उसका समाधान करने के लिए उन्होंने केशवदास

---

१. **एक समय नृपनाथ, सभामध्य बैठे सुमति।**
बूझी उत्तम गाथ, कवि नृप केशवदास से।।२७।।

\+ + +

कहिये किहि भांति विकार नशावै।
जिव जीवतहीं परमानंद पावै।।३१।।

—विज्ञान गीता, पृष्ठ ७

से कहा 'हरि भक्ति और गंगा स्नान करते हुए भी जनसाधारण का चित्त विकार रहित क्यों नहीं हो पाता।'[१] इसी जिज्ञासा का समाधान केशव दास ने भागवत् और गीता के आधार पर मोह और विवेक के युद्ध के माध्यम से 'विज्ञान गीता' की रचना की थी।

५४१. इस ग्रन्थ का प्रकाशित संस्करण जो हमारे पास है उसमें १२५ पृष्ठ हैं और सर्ग के रूप पूरा ग्रन्थ २५ प्रभावों में विभक्त है जैसा कि कह आए हैं। प्रत्येक प्रभाव के आदि और अन्त में उसके प्रारम्भ और समाप्त होने की सूचना दी गई है। जैसे—आदि की सूचना प्रथम प्रभाव के समाप्त होने पर इस प्रकार है:—

विशद द्वितीयप्रकाश में, यह वर्णिबो प्रकाश।
कलह काम रतिको रुचिर, मंत्रविनोद विलास ॥१॥

—विज्ञान गीता, पृष्ठ ८

इसी प्रकार प्रथम प्रभाव के अन्त में—"**इति श्री चिदानंदमग्नायां विज्ञानगीतायां श्रीशिव पार्वत्यप्रश्नवर्णननामप्रथमः प्रभावः ॥१॥**" दिया गया है। सभी प्रभावों के आदि और अन्त में यही क्रम अपनाया गया है।

प्रस्तुत विज्ञान गीता में 'प्रबोधचन्द्रोदय' से अनूदित अंश—

५४२. केशवदास ने यद्यपि 'विज्ञान गीता' को मौलिक बनाने का प्रयास किया है तथापि वह पूर्ण मौलिक हो नहीं सकी है। उसमें 'प्रबोधचन्द्रोदय' के कुछ अंश का अनुवाद भी है। अनुदित अंश निम्नलिखित हैं:—

(१) **द्वितीय प्रभाव के पृष्ठ ९ पर—**

संतत मोह विवेक को, सुनियतु एकै वंश।
वंश कहा गजगामिनी, एकै पिता प्रशंश ॥११॥
ईश माय विलोकि के उपजाइयो मन पूत ॥
सुंदरी तिहि द्वै करी तिहि ते त्रिलोक अभूत।
एक नाम निवृत्ति है जग एक प्रवृत्ति सुजान।
वंश ै ताते भयो यह लोक मानि प्रमान ॥

---

१. **एक समय नृपनाथ, सभामध्य बैठे सुमति।**
बूझी उत्तम गाथ, कवि नृप केशवदास से ॥२७॥
\+ \+ \+
'चित्त न तजत विकार न्हात नर यद्यपि गंगा ॥२८॥

—विज्ञान गीता, पृष्ठ ७।

ये छन्द—'प्रबोधचन्द्रोदय' के निम्नलिखित अंश के अनुवाद हैं :—

"कामः—आः प्रिये, किमुच्यत एकमुत्पत्तिस्थानमिति। ननु जनक एवास्मा-कर्माभिन्नः। तथाहि

तस्य च प्रवृत्तनिवृत्ती द्वे धर्मपत्न्यौ।

—प्रथम अंक, पृष्ठ २०-२१।

इसी प्रकार निम्नलिखित अंश भी तत्तत स्थलों से अनूदित हैं :—

तृतीय प्रभाव पृष्ठ ११, १२, १३।

सातवां प्रभाव पृष्ठ ३२।

आठवां प्रभाव पृष्ठ ३४, ३५।

नवां प्रभाव पृष्ठ ४१, ४५, ४६।

तेरहवां प्रभाव पृष्ठ ६०।

—आदि अनेक स्थल

५४३. उपर्युक्त अनुवाद के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों ग्रन्थों में पर्याप्त समता है। ये समताएं निम्न हैं :—

दोनों में अध्यात्म का विवेचन है। दोनों में ही आत्मज्ञान से मुक्ति मानी गई है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि मोक्ष में बाधक माने गये हैं। अज्ञान रूपी मोह पर, निवृत्ति और सत्य ज्ञान—मोक्ष के ये तीन हेतु दोनों में प्रतिपादित किये गये हैं। मोहविवेक युद्ध कुछ समानता के साथ दोनों में है। कथाक्रम भी लगभग समान है। भावात्मक कथानक का आधार दोनों में लिया गया है। विवेक के जीत जाने पर—सरस्वती का मन को समझाना, वैराग्य का उदय, निवृत्ति में मन की नियुक्ति, उपनिषद् से वार्तालाप, श्रद्धा की खोज में पाखण्डों का वर्णन, श्रद्धा के मिल जाने पर विवेक की तैयारी और चढ़ाई आदि दोनों में समान ही है। पात्र भी दोनों में समान ही हैं। उपनिषद के द्वारा उपदेश दिया जाना दोनों में है। यह प्रसंग भावानुवाद है। इसी प्रकार यात्रा आदि का वर्णन भी दोनों में समता रखता है।

५४४. इतना होने पर भी दोनों में अन्तर भी पर्याप्त मात्रा में है। वे अन्तर निम्न हैं :—

शैली—विज्ञान गीता की रचना काव्य शैली में है जो कि कवि केशव के लिए स्वाभाविक थी। सके गूढ़ रहस्यों के वर्णन के लिए भी विस्तृत वर्णन आवश्यक था – जो कि हुआ है। इसके विपरीत प्रबोधचन्द्रोदय नाटकीय शैली में है।

नाम—गीता से प्रभावित होने के कारण केशव ने अपनी रचना का नाम 'विज्ञान

गीता' रखा, जबकि कृष्ण मिश्र ने नाटकीय नियमों का अनुसरण करते हुए उद्देश्य के आधार पर अपने नाटक का नाम 'प्रबोधचन्द्रोदय' रखा ।

पात्र—पात्रों के प्रयोग में भी अन्तर है। जिस पूर्णता के साथ भावतात्विक और मनोवैज्ञानिक पात्रों का प्रयोग 'प्रबोधचन्द्रोदय' में है वैसा 'विज्ञान गीता' में नहीं है। इसमें विवेक और मोह जैसे पात्र भी लौकिक पात्रों के रूप में दिखाए गये हैं। इनके नामों में भी परिवर्तन हो गया है, जैसे–प्रबोधचन्द्रोदय का 'पुरुष', विज्ञान गीता का 'जीव' हो गया है। इसी प्रकार प्रबोधचन्द्रोदय की उपनिषद के स्थान पर विज्ञान गीता में 'वेद सिद्धि' की सृष्टि की गई है।

कथा—कथा यद्यपि लगभग समान है, किन्तु प्रबोधचन्द्रोदय के प्रारम्भ में जो नाटकीय विकास का कथानक है, उसका विज्ञान गीता में अभाव है। इसके अतिरिक्त सामयिक पाखण्डों के वर्णन–ज्ञानोपदेश और राजनैतिक दांवपेंच के विस्तार से केशव की कथा क्षीण एवं विश्रृंखल हो गई है। प्रबोधचन्द्रोदय की कथा में यह बात नहीं है ।

५४५. केशव ने विज्ञान गीता में 'प्रबोधचन्द्रोदय' से अतिरिक्त मौलिकता दिखलाई है। शरद् वर्णन, वर्षा वर्णन तथा राजनैतिक वर्णन केशव के अपने वर्णन हैं। इसके अतिरिक्त तीन स्तोत्र भी इन्होंने इसमें दिये हैं। इसके अतिरिक्त तत्कालीन धार्मिक आडम्बरों का वर्णन, गीता का ज्ञानोपदेश, भागवत् एवं अन्य पुराणों की कथाएं, नवधा भक्ति और ब्राह्मणों की पूज्यता आदि का प्रतिपादन भी केशव का अपना है। शिव, पार्वती, पाखण्ड, संन्यासी, सती, भ्रम, वसुकला, नारी, वेश, उद्यम, राजधर्म, धीरज और सत्संग जैसे कुछ मौलिक पात्रों का भी केशव ने प्रयोग किया है। हिन्दी के प्रकृति के अनुकूल उन्होंने नवीन छन्दों की भी योजना की है। नवीन छन्द ये हैं। सवैया, सोरठा, दोहा, कामरूपमाला, विजय, दंडक, रूपमाला, हरिगीतिका, मधु, सुन्दरी, भुजंगप्रयात, तोटक, सरस्वती, गीतिका, तारक, नलिनी, चंचरी, और नाराच। इन छन्दों की योजना प्रबोधचन्द्रोदय में नहीं है। इसी प्रकार इनके संबंध के संवाद भी मौलिक हैं जो कि प्रश्नोत्तर की शैली में हैं। विज्ञान गीता में अनेक संवाद आए हैं जैसे —

शिव शिवा संवाद

राजा वामन एवं शनी का संवाद

५४६. **निष्कर्ष**—महाकवि केशवदास साहित्यिक प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्ति थे। **किन्तु उनकी इस रचना में कोई सौन्दर्य विशेष नहीं है। इस रचना को कवि ने**

साधारणजनों के लिए हिन्दी में बड़े ही संकोच के साथ लिखा था।[1] इसीलिए कवि साधारण वर्णन और गीता के उपदेश ही दे सका। गीता और भागवत के मन्थन से उत्पन्न ज्ञानराशि को सुव्यवस्थित ढंग से वह नियोजित न कर सका। ऐसा प्रतीत होता है कि विवश होकर यह रचना कवि को करनी पड़ी। अन्यथा ऐसे वर्णनों को स्थान न देता। वस्तुतः यदि इसकी रचना को कवि ने मौलिक रूप दिया होता तो यह उत्कृष्ट रचना होती।

पं० उमादयाल मिश्र का 'प्रबोधद्युमण्युदयः'

५४७. 'प्रबोधचन्द्रोदय' के रूपान्तर के रूप में उमादयाल मिश्र ने सन् १८९२ में 'प्रबोधद्युमण्युदय' नामक आध्यात्मिक नाटक की रचना की। इसका कथानक मूल कथानक के आधार पर ही है फिर भी कुछ रूपान्तरित हो गया है। पं० उमादयाल मिश्र के पिता का नाम पं० मातादीन मिश्र था, जो कि उरई के हाई स्कूल के संस्कृताध्यापक पं० मन्नूलाल जी के ज्येष्ठ भाई थे। इसकी सूचना हमें ग्रन्थ के मुखपृष्ठ से मिलती है।

५४८. इस ग्रन्थ की भूमिका से पूर्व ही ग्रन्थकार ने एक लम्बा मंगलाचरण दिया है, जिसमें ईश्वर के विभिन्न रूपों के वर्णन के उपरान्त वह असीम सत्ता को प्रणाम करता है:—

शैव सकल जाको निशिवासर शिवशिव नाम पुकारें।
बेद तत्व के जानन वाले जाको ब्रह्म उचारें।।

\+ + +

बौद्ध लोग जाको बुध कहि के प्रेमाधिक उपजावें।

\+ + +

जे कबीर के शिष्य जगत में जाको साहिब बोलें।
नानकशाही जाहि रैन दिन वाह गुरू मुख खोलें।
जाको मुसल्मीन अल्लह अरु खुदा सदा बतलाते।
जाको इंग्लिस्तान निवासी गाड ईशु कहि गाते।

---

१. मूढ़ लहै जो गूढ़मतु, अमित अनंत अगाधु।
भाषाकरि ताते कहौं, क्षमियो बुध अपराधु।।८।।
—विज्ञान गीता, पृष्ठ ४

महा प्रभू चैतन्य कृष्ण जिहि बंगाली नित ध्यावें।
और बहुत पंथाई जाको जो बहु नाम बतावें।
+ + +
उमा मिश्र मन वचन कर्म्म से ताकहं शीश नवाऊं।

ऐसा प्रतीत होता है कि उमादयाल मिश्र में सभी धर्मों एवं सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णुता की भावना थी। यही कारण है कि उन्होंने अपने समय के सभी मतमतान्तरों को अपने विस्तृत मंगलाचरण में स्थान दिया है। प्रस्तुत मंगलाचरण में संस्कृत के 'हनुमन्नाटक' के अधोलिखित श्लोक की छाया स्पष्ट है:—

'यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो'

इस मंगलाचरण के पश्चात् लेखक ने एक विस्तृत भूमिका लिखी है। जिसमें समसामयिक मतमतान्तरों के विरोध से उत्पन्न वैमनस्य के प्रति दुख प्रकट करने के उपरान्त सभी को भाई के समान एक हो रहने की प्रेरणा दी गई है। तदनन्तर लेखक ने प्रस्तुत 'रूपान्तर' के लिखने की प्रेरणा के सम्बन्ध में बताया है कि किस प्रकार पण्डित गयाप्रसाद जी और मुंशी महावीरप्रसाद जी ने लेखक को समाज को सत्प्रेरणा देने के लिए एक पुस्तक लिखने की प्रेरणा दी थी। उसी प्रेरणा का मधुर फल 'प्रबोधद्युमण्युदय' के रूप में समाज के समक्ष प्रस्तुत हुआ। भूमिका के अन्त में दिये गये समय सन् १८९२ ई० से अनुमान होता है कि प्रस्तुत रचना का रचनाकाल सन् १८९२ ई० ही रहा होगा।

५४९. 'प्रबोधचन्द्रोदय' से कुछ अंशों में यह रूपान्तर अपनी मौलिकता प्रकट करता है। प्रथम अंक की रचना नाटककार ने स्वतंत्र एवं मौलिक रूप से, तत्कालीन लोकरुचि एवं रंगमंचीय परम्परा के अनुकूल की है। इसमें गीतों को प्रमुखता दी गई है। अन्य अंकों में कहीं-कहीं अविकल अनुवाद और कहीं संक्षिप्त भावानुवाद है। मतमतान्तरों एवं दृष्टान्तों का विस्तार कहीं नहीं है। प्रथम अंक के प्रारम्भ में नान्दी के रूप में एक संस्कृत श्लोक की अवतारणा की गई है। इस नान्दी के पश्चात् सूत्रधार प्रवेश करता है जो अभिनय के हेतु प्रस्तुत नाटक का नाम बताता है। साथ ही वह नट को बुलाकर, अभिनय के द्वारा—उपस्थित विद्वन्मण्डली को प्रसन्न करने की आज्ञा देता है। इतने में नेपथ्य में से ध्वनि आती है कि यह मेरा पुत्र, मेरा धन, मेरा स्थान है:—

मम धन ये पितु मातु यह सुन्दर मम ग्राम।
मा अग्रज मो अनुज यह मम उत्तम यह धाम॥

सूत्रधार इस वचन पर इस आशय से कि इस स्वप्नवत् संसार में कौन मेरा धन, मेरा पिता आदि कह रहा है—आक्षेप करता है और स्वयं नट के पास चला जाता है। तत्पश्चात् जीव अपने मित्रवर्ग के साथ रंगभूमि में प्रवेश करता है और नेपथ्य में पढ़े हुए दोहे को एक बार पुनः पढ़कर ब्राह्मण वंश (नाटककार) का परिचय देता है। परिचय के अन्त में कथा का प्रारम्भ इस प्रकार से होता है कि जीव प्रसन्नतापूर्वक अपना परिचय देता है। तत्पश्चात् मित्रवर्ग उससे बाग में चलकर बहार देखने के लिए कहता है। जीव मित्रों के साथ बाग में टहलता है। वे सब पहले बाग की शोभा का वर्णन करते और फिर उपवन की बहार का आनन्द लेते हुए विरह की रागिनी का इस प्रकार आलाप करते हैं:—

कोयलिया कूकत आधी रात।
कारी कारी घटा देखि कै निशि दिन जिय घबड़ात।

इसी प्रकार नेपथ्य से ध्वनि आती है—विवेक की विजय नहीं, मोह की विजय ही सम्भव है। इसके पश्चात् एक मित्र काम और रति की शोभा का वर्णन करता है और उनके आने की संभावना बताकर वह मित्रमण्डली चली जाती है। यहां प्रथम अंक समाप्त हो जाता हे। द्वितीय अंक में काम और रति प्रवेश करते हैं। इनका प्रवेश और वार्तालाप 'प्रबोधचन्द्रोदय' की ही भांति है। इस रूपान्तर के प्रथम अंक में मूल कृति से अन्तर लाने की दृष्टि से गीतों और भजनों की योजना की गई है। जो सम्भवतः लोकरुचि को ध्यान में रखकर की गई है। लोकरुचि के ही लिए विप्रलम्भ शृंगार के गीतों से कामदेव के प्रवेश के प्रसंग को सम्बन्धित करने की योजना है। नाटककार ने अपनी मौलिक सूझ से तत्कालीन लोकरुचि के अनुकल गीतों के माध्यम से काम और रति के प्रसंग को शृँखलाबद्ध करके प्रारम्भ किया है।

५५०. प्रबोधद्युमण्युदय में प्रबोधचन्द्रोदय से अनूदित अंश—मौलिक अंशों के अतिरिक्त इस रूपान्तर में 'प्रबोधचन्द्रोदय' से कई स्थलों पर अविकल अनुवाद भी किया गया है। उदाहरण के लिए हम अधोलिखित अंश को ले सकते हैं:—

काम—शास्त्रोत्पन्नविवेक निश्चित केवल बुधजनों के हृदय में तभी तक रहता है जबलों इन्दीवराक्षी कमलनयनी की विशिख दृष्टि बाणसरिस, भृकुटी धनु से उन पर नहीं पड़ती है।। सुन्दर रम्य स्थान—सुनयनी मनमोहनी नवयौवना स्त्री छोटे-छोटे पौधे जिन पर मदमत्त गुंजार करते हुए भ्रमर शोभा दे रहे हैं—मल्लिका इत्यादि नाना प्रकार की मनोहर लतायें—और सुगंधित मन्द मन्द वायु—और सुन्दर

चांदनी रात्री—ये सब मेरे शस्त्र हैं—जिनके वश सर्व संसार होता है तो फिर विवेक की क्या सामर्थ्य है ?।।

(पृष्ठ १२-१३)

यह अंश 'प्रबोधचन्द्रोदय' के प्रथम अंक, श्लोक ११–१२ का अविकल अनुवाद है। इसी प्रकार 'प्रबोधद्युमण्युदय' के तृतीय अंक, पृष्ठ १६–१७ का, विवेक और मति का वार्तालाप, आदि प्रबोधचन्द्रोदय के तत्त्त प्रसंगों से अविकल रूप में अनूदित हैं। कुछ स्थलों पर अनुवाद के साथ ही साथ मौलिकता भी है। जैसे—प्रबोधचन्द्रोदय के द्वितीय अंक में मोह—अपनी सेना की तैयारी करता है। परन्तु 'प्रबोधद्युमण्युदय' के पंचम अंक में यह प्रसंग आता है। यह मूल की अपेक्षा संक्षेप में है। इसमें अधर्म नामक नये पात्र की योजना भी की गई है। प्रबोधचन्द्रोदय के चतुर्थ अंक में राजा विवेक की सेना की तैयारी का वर्णन है किन्तु 'प्रबोधद्युमण्युदय' के षष्ठ अंक में विवेक अपनी सेना को तैयार करता है। यहां सेना के वर्णन में वस्तुविचार और क्षमा का वर्णन विशेष है। इस प्रसंग में मूल की छाया का ही आभास होता है। इसी प्रकार अन्य अनेक स्थलों पर प्रबोधचन्द्रोदय का अनुवाद कुछ रूपान्तर के साथ मिलता है।

५५१. अन्त में हमें प्रस्तुत रूपान्तर में अनेक विशेषताएं मिलती हैं। इसकी भाषा व्रजभाषा का पुट लिए हुए खड़ी बोली है। सम्पूर्ण ग्रन्थ गद्य में है। कहीं-कहीं पद्यों की योजना है। प्रथम और पंचम अंक में कुछ संस्कृत श्लोक और भजन आदि भी संयोजित हैं। प्रबोधचन्द्रोदय के विभिन्न अंकों की कथा को अपनी सुविधा के अनुसार-पृथक् पृथक् अंकों में कर लिया गया है। बौद्ध, जैन और कापालिक मतों का वार्तालाप नहीं रखा गया है। विदूषक, अधर्म और सत्य आदि कुछ नए पात्रों का आयोजन किया गया है। इसके अतिरिक्त मूल के कुछ पात्रों—जैसे—श्रद्धा, विष्णुभक्ति, मैत्री, करुणा और मुदिता आदि का प्रयोग इसमें नहीं किया गया है। इसमें कोई भी मत सम्बन्धी आलोचनात्मक विवेचन नहीं है। सामयिक परिस्थिति का सामान्य वर्णन ही है। वार्तालापों में साधारण नाटकीयता है। उपदेश के प्रसंग में तथा समाज के दोषों के वर्णनप्रसंग में, वार्तालाप आवश्यकता से अधिक लम्बे हो गये हैं (पृ० २९, ३५, ३६)। प्रस्तुत नाटक में सात अंक हैं। इसमें पर्याप्त नाटकीय संकेत दिये गये हैं। पात्रों के प्रवेश, प्रस्थान और नेपथ्य आदि की योजना की गई है। इस रूपान्तर का प्रथम अंक मौलिक है, सातवां अंक मूल की छाया लेकर लिखा गया है। मध्य के पांच अंक में मूल रचना से कहीं तो ज्यों की त्यों अनुवाद कहीं संक्षेप में संवाद और विवरण ले लिया गया है। इस प्रकार यह प्रबोधद्युमण्युदय, प्रबोधचन्द्रोदय का अपने यग की साहित्यिक एवं धार्मिक

विशेषताओं से युक्त, एक रूपान्तर है। जिसे साधारण सामयिक रचना कहा जा सकता है।

५५२. **उपसंहार**--इन प्रसिद्ध कवियों के रूपान्तरों के अतिरिक्त एक और रचना का संकेत मिलता है। उसके रचयिता हैं दामोदरदास और उसका नाम 'मोह विवेक' है। परन्तु यह रचना उपलब्ध नहीं होती। अपितु केवल सूचना मात्र मिलती है। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की सन् १९२९-३१ की खोज रिपोर्ट पृ. २१३, संख्या ७५ पर इस ग्रन्थ का परिचय दिया गया है। इस ग्रंथ का विषय 'मोह विवेक' की कथा है। खोज रिपोर्ट में इसका आदि व अन्त दिया हुआ है। यह भाग किसी भी 'मोह विवेक' नामक रचना के एतत्सम्बन्धी भाग से समता नहीं रखता है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि किस रचना के प्रभाव में आकर दामोदरदास ने उनका प्रणयन किया था और न निश्चयपूर्वक यही कहा जा सकता है कि यह रचना उनकी मौलिक कृति है। खोज रिपोर्ट में इस ग्रन्थ के जो आदि और अन्त के अंश दिये गये हैं उनसे कथा का पता नहीं चल पाता, केवल विषय के नाम पर रिपोर्ट में मोह विवेक की कथा लिखा है, जिसके आधार पर यही अनुमान किया जा सकता है कि अन्य रचनाओं की तरह इसमें भी मोह और विवेक का युद्ध वर्णित होगा।

५५३. अध्ययन किये गए इन पांच रूपान्तरों में जो सबसे मुख्य बात देखने को मिलती है, वह है मानसिक अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण। प्रतीत होता है कि 'प्रबोधचन्द्रोदय' के अन्तर्द्वन्द्व के इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ने हिन्दी में रूपान्तरों की इस धारा को प्रवाहित किया।

सप्तम अध्याय

प्रबोधचन्द्रोदय की हिन्दी परम्परा के स्वतंत्र रूपक नाटक

५५४. अनुवादों और रूपान्तरों के अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य में कुछ ऐसे भी नाटक उपलब्ध होते हैं, जो शैली की दृष्टि से 'प्रबोधचन्द्रोदय' से अनुप्राणित होते हुए भी, पात्र, वस्तु और उद्देश्य की कल्पना में पूर्णरूपेण मौलिक हैं। इन्हीं रूपक-नाटकों को हमने चौथे अध्याय में प्रबोधचन्द्रोदय की परम्परा में आविर्भूत स्वतन्त्र रूपक नाटक माना है। हिन्दी साहित्य में भारतेन्दु युग से अद्यावधि पर्यन्त इस श्रेणी के अनेकों रूपक-नाटक प्रस्तुत हुए। ये नाटक अपने विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए या यों कहिये कि तत्तद्‌युगों में जाग्रत मानव-जीवन की ज्वलन्त समस्याओं का समाधान करने के हेतु साहित्य के रंगमंच पर अवतीर्ण हुए। इस दृष्टि से इन नाटकों को हम समस्या-नाटक भी कह सकते हैं, परन्तु जैसा कि डा० नगेन्द्र ने कहा है,[1] इनके पात्र अपना निजी व्यक्तित्व न रखकर लेखकों की मान्यताओं के प्रतीक-रूप में ही आए हैं, अतएव इन समस्या-नाटकों को भी हम एक प्रकार से रूपक शैली के ही नाटक मानते हैं।

५५५. अब हम इन नाटकों के विशिष्ट-अध्ययन की पृष्ठभूमि के रूप में इनके उद्देश्यों, कथानकों और पात्रों के स्वरूप पर यहाँ संक्षिप्त विचार प्रस्तुत करना चाहते हैं।

५५६. **उद्देश्य**—जैसा कि अभी कहा है, इन नाटकों का प्रणयन युगीन समस्याओं का समाधान करने के हेतु हुआ। इसलिए इनकी रचना के मूल में नाना प्रकार के उद्देश्यों की सत्ता परिलक्षित होती है। कुछ नाटकों का उद्देश्य यदि समाज में व्याप्त दोषों को निरस्त कर उसका परिष्कार करना है तो कुछ का प्राच्य और प्रतीच्य संस्कृति के सम्मिलन से उत्पन्न हुई अव्यवस्था का समाधान करना है, कुछ का उद्देश्य यदि धार्मिक सम्प्रदायों में व्याप्त दुराचारों का परिहार कर अपने-

---

१. डा० नगेन्द्र—आधुनिक हिन्दी नाटक, पृष्ठ ७४।

अपने दृष्टिकोण को सार्वजनिक मत के रूप में प्रतिष्ठित करना है तो दूसरों का उद्देश्य ुग की समस्याओं की पृष्ठभूमि में मनोवैज्ञानिक विश्लेषण को अग्रसर करना है, इसी प्रकार कुछ का लक्ष्य यदि हिन्दी साहित्य के अशान्त वातावरण के समुद्र में आन्दोलित साहित्य की नौका को शोभा-दिशा-निर्देश देकर उसे सत्पथ की ओर प्रेरित कर सम्पूर्ण अंगों से परिपुष्ट देखने की अभिलाषा है तो कुछ का उद्देश्य देश की राजनैतिक परिस्थितियों का साहित्य के माध्यम से मनोरम चित्रण करना है। स्पष्टतः इस प्रकार रूपक शैली के इन नाटकों में उद्देश्य की विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। इन विभिन्न उद्देश्यों के आधार पर उपरोक्त नाटकों को हम निम्नलिखित रूप में विभाजित कर सकते हैं:—

१. आध्यात्मिक
२. साहित्यिक
३. मनोवैज्ञानिक
४. सामाजिक
५. राजनैतिक
६. सांस्कृतिक

उद्देश्यों पर आधारित इसी विभाजन को सम्मुख रखकर हम इन रूपक-नाटकों का विशिष्ट अध्ययन अगले पृष्ठों में प्रस्तुत करेंगे, अतएव तत्तत्त प्रकरणों के पूर्व, इन छः प्रकारों की सामान्य प्रवृत्तियों का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराया जायगा, इसलिए यहाँ पर इनके सम्बन्ध में अधिक कहना ठीक नहीं।

५५७. कथानक—कथानक का विकास उसका रूप तथा आकृति और प्रकृति विशेषकर ग्रन्थों के उद्देश्य पर निर्भर रहा करती है। ऊपर हमने देखा है कि इन रूपक-नाटकों के प्रणयन में एक से अधिक उद्देश्यों का आधार लिया गया है, अतः यह स्वाभाविक था कि इनके कथानक भी बहुविध हो जाते। वैसे तो खोज करने पर इन नाटकों के कथानकों के कितने ही रूप देखे जा सकते हैं, परन्तु स्थूल रूप से हम उपरोक्त पाँच उद्देश्यों के समानान्तर छः प्रकार के ही कथानक मानते हैं। किस प्रकार के नाटकों में किस प्रकार के कथानक का प्रयोग किया गया है, इस सम्बन्ध में उद्भूत जिज्ञासा का समाधान तो यद्यपि इन नाटकों के विशिष्ट अध्ययन में ही उपलब्ध होगा, तथापि यहाँ भी इस सम्बन्ध में थोड़ी चर्चा कर देनी आवश्यक है—उद्देश्यों के आधार पर कथानकों का विवरण यों दिया जा सकता है।

५५८. आध्यात्मिक—इस प्रकार के नाटकों में कथानकों में बहुधा सत् और असत् प्रवृत्तियों का संघर्ष दिखाया गया है। इस संघर्ष में असत् प्रवृत्ति की पराजय

और सत प्रवृत्ति की प्रायः विजय होती है। किसी-किसी में आत्मा और माया का संघर्ष दिखा कर आत्मा को विजयी दिखाया गया है। उदाहरण के लिए 'मायावी' नाटक को लिया जा सकता है जिसमें उपरोक्त प्रकार के संघर्ष में आत्मा को विजयी सिद्ध किया गया है। किसी किसी में सामाजिक दशा के दिखाने के व्याज से तत्कालीन साधुओं की व्यभिचारशीलता का भी वर्णन है-- जैसे सत्य का सैनिक में।

५५९. **साहित्यिक**--इस श्रेणी में नाटकों के कथानकों में समाज का पत्रिकाओं के सम्बन्ध में मतभेद होना, अछूतोद्धार तथा ईसाई मत के प्रचार सम्बन्धी समस्याओं को स्थान दिया गया है। किसी में हास्यरस की दुर्दशा का चित्रण भी दिया गया है--जैसे 'पत्र पत्रिका सम्मेलन' में।

५६०. **मनोवैज्ञानिक**--इस प्रकार के नाटकों में मन का असंतुष्ट होना, उसका विलास में लिप्त होना तथा विलास के समाप्त हो जाने पर जीवन का व्यवस्थित होना आदि चित्रित किया गया है। किसी किसी में पात्र-विशेष की परिवर्तित मानसिक वृत्तियों का भी रोचक चित्र उपस्थित किया गया है, जैसे--"सन्तोष कहाँ" के मनसाराम की मानसिक वृत्तियों का।

५६१. **सामाजिक**--सामाजिक नाटकों के कथानकों में कलि और धर्म के संघर्ष के माध्यम से नारियों के सौभाग्य और दुर्भाग्य का संघर्ष दिखाया गया है, साथ ही भारत की स्त्रियों में जागरण की वृद्धि होना तथा भारतमाता की प्रार्थना का भी अंकन हुआ है। एक नाटक में कलियुग में घासलेट घी के प्रचार की पृष्ठ भूमि में एक मारवाड़ी परिवार का रोचक वर्णन भी है--जैसे 'मारवाणी घी' में।

५६२. **राजनैतिक**--इस कोटि के नाटकों के कथानकों में प्रायः भारत की स्वतन्त्रता के लिए तड़प ही प्रमुख रूप से मिलती है। इसके लिए नारी का त्याग और वीरता, भारत की दुर्दशा, स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए संघर्ष आदि का वर्णन किया गया है। भारत के स्वतन्त्र होने की भावना से लिखे गये किन्हीं नाटकों में देश के स्वतन्त्र होने का भी उल्लेख है--जैसे, "हिन्दू" में। किसी किसी में अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का भी चित्र है।

५६३. **सांस्कृतिक**--सांस्कृतिक नाटकों के कथानकों में अधिकतर भौतिकता और आध्यात्मिकता के संघर्ष में आध्यात्मिकता को विजयी दिखाकर उसके द्वारा संसार के दुःखादि की शान्ति की कामना की गई मिलती है।

५६४. इस प्रकार विभिन्न उद्देश्य के नाटकों में निम्नकोटि का ही कथानक दिखाई पड़ता है।

५६५. **पात्र**--इसके पूर्व के पात्रों का सामान्य अध्ययन किया जाय, उद्देश्य

के आधार पर नाटकों के सभी पात्रों का परिगणन कर देना आवश्यक है। इन नाटकों में प्रयुक्त पात्र निम्नलिखित हैं:—

५६६. आध्यात्मिक नाटकों में—मन (नट), विषय वासना (नटी), विज्ञान (राजा), प्रज्ञा (रानी), जीव (वृद्ध), शम (सिपाही), श्री गुरु के मंत्री-सन्तोष, सत्संग, विचार, ज्ञान, विवेक, वैराग्य (द्वारपाल), समता (दफ्तर), सेना—दभ, तितिक्षा, श्रद्धा, उपरति, समाधान।—विज्ञान (महाराज), प्रज्ञा (रानी), वैराग्य, दया, वेद, सत्संग अज्ञान, काम, आलस्य, दम्भ, प्रवृत्ति, मुमुक्षु, विज्ञान, प्रज्ञा, उपनिषद वेद, अभय, निवृत्ति, विश्वास, विवेक, क्षमा, भक्ति, समाधान, निदिध्यासन। विज्ञानदेव, लीलादेवी, घनदास, अमीरी, जगत्कुमार, अहंकार, लोभ, र्म, मन, विचार, फकीरी, सत्संग। सरलसिंह (शुद्ध आत्मा), मायावी (मायाजाल), अन्तसराम (अन्तःकरण), मन्शाराम (मन), ज्ञानानन्द, बुद्धि, फैशन, मदिरा। ओंकार, सोहम, ईश, रसमूल, चिन्ता, माया। सत्व, रज, निवृत्ति, वैराग्य, ब्रह्मचर्य, ज्ञान, विवेक, विश्वास, भक्ति, प्रज्ञा, सरलता, विरक्ति, अभीप्सा, तम, प्रवृत्ति, माया, अहम्, क्रोध, लोभ, काम, वासना, आसक्ति, मोह और संशय हैं।

५६७. साहित्यिक नाटकों में—समाजराय, जनताराय, पाठकमल, सफाईराय, भारती, शिक्षा, चांद। हास्य, समाज, साहित्य, चांद, मतवाला, गोलमाल, श्रीवेंकटेश्वर, भास्तमित्र, ग्राम गजट—समाचार पत्र, प्रकृति, कला, स्वाभाविकता, भारतमाता, शिक्षा, माधुरी, सरस्वती, प्रभा, गल्पमाला, मनोरमा, मोहिनी आदि पात्र हैं।

५६८. सामाजिक नाटकों के पात्र—कलियुग, दुर्भाग्य, रोग, क्रोध, मूर्खता, कलह, निद्रा, वैधव्य, विधवा-विवाह, सौभाग्य, धर्म पतिव्रत्, उत्साह, उद्यम, विद्या लक्ष्मी, एकता भारतमाता कलियुग, अधर्म, पाखण्ड, वैर, विरोधी लोभ, मोह, स्वार्थपरता, फूट, अपव्यय, फिचूलखर्ची, मदिरा, जुआ, सत्य और धर्म हैं।

५६९. मनोवैज्ञानिक नाटकों के पात्र—बलराज, विलास चन्द्र, नवीन चन्द्र, कल्पना, कामना, मनसाराम, और नीतिव्रत हैं।

५७०. राजनैतिक नाटकों में—भारत, भारतभाग्य, सत्यानाश, रोग, फूट, डाह, लोभ, भय, मदिरा, आलस्य, अन्धकार, शोक, अनुमार्जन, निर्बलता, भारत-दुर्देव, डिस्लायल्टी, बंगाली, महाराष्ट्री, एडीटर, कवि, नेकी, वदी, दुर्जन, धर्म, क्रूर, धर्मप्राण, कर्मदास, अनन्तप्रभा, धनदास। पृथ्वीमाता, हिन्दू, स्वतन्त्रता, प्राचीनता, एकता, परतन्त्रता, फैशन, नवीनता, अन्यायसिंह, दुर्भिक्ष, रोगराज, अत्याचार, स्वार्थराज, धनहरण, दमनसिंह, खिलाफत खाँ, राजमतसिंह, सत्यपाल, उद्योगानन्द, सुधारचन्द, प्रेमसिंह। जानबुल, अंकिलसाम, पेरी, डिक्टेटर, बकवादी, विप्लव।

भारतराज, धर्मराज, कर्मराज, मित्रराज, श्रद्धा, विज्ञानबाला और पश्चिमी बाला हैं।

५७१. **सांस्कृतिक नाटकों के पात्र**--लीला, विलास, कामना, सन्तोष, क्रूर, दुर्वृत्त, प्रमाद और दम्भ हैं।

५७२. सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर उपरोक्त सभी पात्रों को इन तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है:—

१. रूपक

२. प्रतीक

३. प्ररूप

५७३. **रूपक-पात्रों** को पांच उपविभागों में विभाजित किया जा सकता है—(क) प्रकृतितत्व, (ख) नैतिक तत्व, (ग) आध्यात्मिक, (घ) मनोवैज्ञानिक और (ङ) अन्य।

(क) प्रकृति तत्व—रूपकपात्रों के अन्तर्गत उपरोक्त पात्रों में से निम्नलिखित पात्र आते हैं—कलियुगराज, निद्रा, रोग, कलियुगराज, रोग, और रोगराज।

(ख) नैतिक तत्व—रूप पात्रों के अन्तर्गत निम्नलिखित पात्र आते हैं—विषयवासना, शम, तितिक्षा, दम, समता, फकीरी, फैशन, मदिरा, सरलता, विरक्ति, बलराज, नीतिव्रत, एकता, सत्य, मूर्खता, कलह, पतिव्रत, विधवा विवाह, सत्य, अधर्म, पाखण्ड, विरोध, अपव्यय, मदिरा, जुआ, फिजूलखर्ची, सत्यानाश, मदिरा, आलस्य, अन्धकार, अश्रुमार्जन, निर्बलता, नेकी, बदी, दुर्जन, क्रूर, एकता, फैशन, नवीनता, अत्याचार, दुर्वच और क्रूर।

(ग) आध्यात्मिक—पात्रों के अन्तर्गत निम्नलिखित पात्र आते हैं—मन, विज्ञान, प्रज्ञा, जीव, ज्ञान, सत्संग, वैराग्य, उपरति, विचार, विज्ञान, प्रज्ञा, वैराग्य, वेद, सत्संग, अज्ञान, मुमुक्षु, विज्ञान, प्रज्ञा, उपनिषद, वेद, भवित, निदिध्यासन, निवृत्ति, विज्ञान लीलादेवी, जगत्कुमार, धर्म, मन, विचार, सत्संग, सरलसिंह, मायावी, अन्तसराम, मन्शाराम, ज्ञानानन्द, ओंकार, सोहम्, ईश, रसमूल, माया, सत्व, रज, निवृत्ति, वैराग्य, ब्रह्मचर्य, ज्ञान, भक्ति, प्रज्ञा, तम, प्रवृत्ति, माया, धर्म, धर्म, धर्म, और धर्मराज।

(घ) मनोवैज्ञानिक—पात्रों की श्रेणी में निम्नलिखित पात्र आते हैं:—सन्तोष, विवेक, श्रद्धा, समाधान, दया, काम, दम्भ, प्रवृत्ति, अभय, विश्वास, विवेक, क्षमा, समाधान, अहंकार, लोभ, बुद्धि, चिन्ता, अभीप्सा, विवेक, विश्वास, अहम्, क्रोध, लोभ, काम, वासना, आसक्ति, मोह, संशय, हास्य, प्रकृति, कल्पना, कामना, नवीनचन्द्र, विलासचन्द्र, मनसाराम, क्रोध, उत्साह, उद्यम, वैर, लोभ, मोह, स्वार्थ-

परता, फूट, क्रूर, डाह, लोभ, भय, शोक, स्वार्थराज, श्रद्धा, विलास, कल्पना, सन्तोष, दम्भ और प्रमाद।

(ङ) अन्य—पात्रों की श्रेणी में निम्नलिखित पात्रों की गणना होती है—अमीरी, समाजराय, जनताराय, पाठकमल, सफाईराय, भारती, शिक्षा, चांद समाज, साहित्य, चांद, (मासिकपत्र), मतवाला, गोलमाल, (हास्यपत्र), भारतमित्र ग्राम गजट, कला, स्वाभाविकता, भारतमाता, शिक्षा, माधुरी, सरस्वती, प्रभा गल्पमाला, मनोरमा, मोहिनी, भारतमाता, दुर्भाग्य, सौभाग्य, वैधव्य, विद्या, लक्ष्मी भारत, भारतभाग्य, भारतदुर्दैव, डिसलायल्टी, अनन्तप्रभा, पृथ्वीमाता, हिन्द, स्वतन्त्रता, प्राचीनता, परतन्त्रता, दुर्भिक्ष, भारतराज, कर्मराज, और लीला।

५७४. प्रतीक पात्र— प्रतीकपात्र वे हैं जो गुणों, भावों तथा समस्याओं के प्रतीक रूप में नाटककारों की मान्यताओं का रूप धारण करके आए हैं। उपरोक्त पात्रों में प्रतीक पात्र निम्नलिखित हैं—धनदास, कर्मदास, धनदास, अन्याय सिंह, धनहरण, दमनसिंह, खिलाफतखाँ, राजमतसिंह, सत्यपाल, उद्योगानन्द सुधारचन्द, प्रेमसिंह, जानबुल, अंकलिसाम, पेरी, डिक्टेटर, बकवादी, विप्लव और मित्रराज।

५७५. प्ररूप (टिपिकल) पात्र—इस श्रेणी में वे पात्र आते हैं, जो वर्ग विशेष का प्रतिनिधित्व करते हैं। उपरोक्त पात्रों में से प्ररूप पात्र निम्नलिखित हैं—बंगाली, महाराष्ट्री, एडीटर, कवि, विज्ञान बाला और पश्चिमी बाला।

पात्रों की पुनरावृत्ति

५७६. उपर्युक्त विभाजन के आधार पर रूपक नाटकों के सभी पात्रों का एक सामान्य विवेचन हो जाने पर अब हमें यह देखना है कि इसमें से किस पात्र का कितने नाटकों में प्रयोग हुआ तथा उसका प्रथम आगमन किस नाटक में हुआ। क्योंकि बहुधा ऐसा देखा जाता है कि किसी एक नाटक में आए हुए किसी महत्व-पूर्ण पात्र की आवृति बाद के नाटकों में होती चली गई है। इस सन्दर्भ में हम पहले उन पात्रों को लेते हैं जिनका प्रयोग सभी नाटकों में से केवल दो नाटकों में हुआ है। इसके बाद हम यह देखेंगे कि उनका सर्व प्रथम प्रयोग कहाँ हुआ है।

५७७. दो नाटकों में प्रयुक्त पात्र ये हैं— अहंकार, आलस्य, एकता, कामना, काम, क्रोध, कलियुगराज, क्रूर, चांद, दम्भ, धनदास, प्रवृत्ति, फैशन, फूट, भक्ति, भारतमाता, भारत, मन, मनसाराम, माया, मोह, लीला, वासना, विचार, वैराग्य, वेद, विश्वास, शिक्षा, श्रद्धा, सन्तोप, सत्संग, समाधान, समाजराय और स्वार्थपरता।

५७८. इनमें से भारत, आलस्य और फूट नामक पात्रों का 'भारतदुर्दशा' नाटक में, एकता, कलियुगराज, क्रोध और भारतमाता का 'भारतललना' में, मन, विषय वासना, सन्तोष, सत्संग, समाधान, श्रद्धा और विचार का 'विज्ञान-नाटक' में, लीला देवी, धनदास और अहंकार का 'लीला विज्ञान विनोद' ये, वैराग्य वेद, काम, दम्भ और प्रवृत्ति का 'विज्ञान विजय नाटक' में मोह और स्वार्थपरता का 'मारदाड़ी घी' में विश्वास और भक्ति का 'ज्ञानगुण दर्पण' में, क्रूर का 'स्वर्ण, देश का उद्धार' में, फैशन का 'हिन्दू में, मनसाराम का 'मायावी में, समाज, शिक्षा- और चांद का 'पत्र पत्रिका सम्मेलन' में, कामना का 'कामना' में, माया का 'मुद्रिका' में, सर्वप्रथम प्रयोग हुआ है।

५७९. तीन नाटकों में प्रयुक्त होने वाले पात्र केवल तीन हैं—मदिरा, राग और विवेक। इनमें 'मदिरा' और 'राग' का 'भारत दुर्दशा' में तथा 'विवेक' का 'विज्ञान नाटक' में सर्वप्रथम प्रयोग हुआ है।

५८०. चार नाटकों में प्रयुक्त होने वाले पात्र भी केवल तीन हैं—प्रज्ञा, लोभ और विज्ञान। इनमें से 'लोभ' का 'भारत दुर्दशा' में तथा विज्ञान और प्रज्ञा का 'विज्ञान नाटक' में सर्वप्रथम प्रयोग हुआ है।

५८१. पांच नाटकों में केवल एक पात्र प्रयुक्त हुआ है—धर्म उसका सर्वप्रथम प्रयोग हुआ है 'भारत ललना' में।

पात्रों में एक रूपता

५८२. विभिन्न नाटकों में प्रयुक्त इन पात्रों में कुछ ऐसे भी पात्र हैं, जो केवल नाममात्र के लिए भिन्नता रखते हैं, परन्तु अभिप्राय उनका एक ही है। ऐसे पात्रों की सूची निम्नलिखित है—

अज्ञान—तम—अन्धकार
अहंकार—प्रमाद
अपव्यय—फिज़ूलखर्ची
अन्यायसिंह—अत्याचार—दमनसिंह
आसक्ति—प्रवृत्ति
उपरति—निवृत्ति—वैराग्य—विरक्ति
उद्यम—उद्योगानन्द
दुर्जन—दुर्वृत्त
धनदास—धनहरण—लोभ
धर्म—धर्म प्राण

नवीनचन्द्र—नवीनता
भारतमाता—भारत
मन—मनसाराम
काम—विषयवासना—विलासचन्द्र
विज्ञान—ज्ञान—विज्ञानानन्द
विचार—विवेक
सत्य—सत्यपाल

प्रबोधचन्द्रोदय के पात्रों से समता

५८३. इस प्रकार इन नाटकों में प्रयुक्त पात्रों का सामान्य सर्वेक्षण करने के उपरान्त हमें यह भी देख लेना चाहिये कि इन पात्रों की संस्कृत-प्रबोधचन्द्रोदय के पात्रों के साथ कितनी समता और विषमता है। अध्ययन करने पर जैसा कि अभी दिखाया गया है, इन नाटकों में कुछ ऐसे पात्र मिलते हैं, जो 'प्रबोधचन्द्रोदय' के पात्रों से नाम सादृश्य रखते हैं, और ठीक उसी अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, जिसमें कि 'प्रबोधचन्द्रोदय' में रूपक नाटकों और प्रबोधचन्द्रोदय के सदृश-पात्रों की तालिका निम्नलिखित है—विवेक, सन्तोष, वैराग्य, निदिध्यासन, मोह, काम लोभ, दम्भ, अहंकार, मन, श्रद्धा, उपनिषद, क्षमा और कलियुग।

५८४. अब हम उद्देश्य क्रम से इन नाटकों का सामान्य अध्ययन प्रस्तुत करेंगे।

आध्यात्मिक

५८५. इन नाटकों का उद्देश्य ज्ञान का प्रतिपादन और मुक्ति का उपाय बतलाना है। इन नाटकों में समाज का चित्र खींचते हुए कहीं-कहीं दाम्भिक साधुओं का यथार्थ चित्र अंकित किया गया है। इन नाटकों की संख्या ७ है—

१—विज्ञान नाटक
२—विज्ञान विजय नाटक
३—ज्ञान गुण दर्पण
४—लीला विज्ञान विनोद
५—मायावी
६—मुद्रिका
७—सत्य का सैनिक

५८६. इनमें से प्रथम तीन एक ही नाटक के भाग हैं, फिर भी क्योंकि इनका

नामकरण अलग-अलग है, इसलिए अध्ययन के लिए हम इन्हें अलग-अलग लेंगे। अब हम क्रम से इन नाटकों का सामान्य अध्ययन आरम्भ करते हैं।

१. विज्ञान नाटक

५८७. यह एक आध्यात्मिक नाटक है। इसकी रचना स्वामी शंकरानन्द ने की है। रचनाकाल का पता नहीं है, किन्तु इसकी चतुर्थ-आवृत्ति सन् १९११ में हुई थी।

५८८. यद्यपि शैली की दृष्टि से यह प्रबोध-चन्द्रोदय से प्रभावित है, फिर भी इसे स्वतन्त्र नाटकों की श्रेणी में रखा जा सकता है। इसके पात्र शम, सन्तोष, जीव, सत्संग, विचार और विवेक आदि हैं। इन रूपक पात्रों के प्रयोग के कारण ही यह नाटक रूपक नाटकों की श्रेणी में आता है। इसी प्रकार इस श्रेणी के अन्य नाटकों में भी है।

५८९. इस नाटक का उद्देश्य—आत्मिक ज्ञान और विज्ञान स्वरूप ब्रह्मानन्द में आत्मा का लय होना है।

५९०. कथानक—इसका कथानक कल्पित आध्यात्मिक कथानक है। अपने पति के साथ सती होती हुई एक रानी मन्त्रियों के द्वारा रोकी जाती है, परन्तु बिना रुके वह मन्त्रियों और पण्डितों के पूछे हुए प्रश्नों का उत्तर देती है। इस दृश्य को अपनी पत्नी प्रज्ञा के साथ विज्ञान राजा देख रहा था। राजा के द्वारा यह प्रश्न करने पर कि तुम भी मेरे वियोग में इसी प्रकार सती होगी। प्रज्ञा कहती है कि वह भी वियोग की अग्नि में जल मरेगी। इसके अनन्तर जीवराम नामक दुःखी व्यक्ति को गुरु उपदेश देता है। शम और सन्तोष आदि ने जीव को संसार चक्र से बचकर, सत्पथ पर चलने का उपदेश देते हैं। विचार और विवेक के समझाने पर जीव को तंग करने वाला दुष्ट मन भाग जाता है। इसके अनन्तर विज्ञान प्रज्ञा की परीक्षा लेता है। प्रज्ञा पति वियोग में अग्नि में जलकर मर जाती है। विज्ञान इससे बहुत दुःखी हो जाता है। उसी समय श्मशान में प्रविष्ट होकर एक साधु विज्ञान को तत्व ज्ञान का उपदेश देता है, जिससे उसमें सच्चे ज्ञान का उदय हो जाता है। फलस्वरूप उसे ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हो जाती है।

५९१. **पात्र**—इसमें दो प्रकार के पात्रों का प्रयोग हुआ है—रूपक और प्रतिनिधि। रूपक पात्रों में भी 'विषय वासना, दम' तितिक्षा और समता नैतिक तत्वात्मक हैं, शम, विज्ञान, प्रज्ञा, जीव, ज्ञान, सत्संग, वैराग्य, उपरति और विचार आध्यात्मिक तथा मन, सन्तोष, विवेक, श्रद्धा और समाधान, मनोवैज्ञानिक पात्र हैं।

५९२. पात्रों के स्वरूप का परिचय——नाटकों के पात्रों के परिचयात्मक वाक्यों से होता है।

५९३. **नैतिक तत्वात्मक**——विषय वासना——यह नटी के रूप में चित्रित की गई है। नाटककार ने वासना को मन की पत्नी, राग और द्वेष की बहन, तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहंकार की बुआ माना है, जिनके अभाव में इसका विनाश हो जाया करता है।[1]

५९४. **दम** और तितिक्षा को महाराज विज्ञान के सैनिक और समता को उसके दफ्तर के रूप में चित्रित किया गया है। नाटककार ने इनका स्वरूप परिचयात्मक कोई विवरण नही दिया है।

५९५. **आध्यात्मिक पात्र**——विज्ञान——यह पात्र प्रस्तुत नाटक का नायक है। नाटकार की मान्यता में यह शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा है। प्रज्ञा के कथन का अपने शब्दों में अनुवाद करते हुए उसने कहा है कि आत्मा का स्वरूप तो एकान्ततः शुद्ध है, अतएव प्रवृत्ति और निवृत्ति उसके धर्म न होकर नश्वर शरीर के धर्म हैं।[2]

प्रज्ञा——यह नायक विज्ञानराज की पत्नी और नाटक की नायिका है। इसने अपने आपको कर्तव्याकर्तव्य को विचार करने वाली बुद्धि के रूप में व्यक्त किया है। इसका विचार है कि शरीर का कारण जीव के पुराने कर्म हैं, जीव की चेष्टाएं उन्हीं कर्मों के द्वारा ही निर्दिष्ट होती रहती है।[3]

जीव——एक सांसारिक मानव के रूप में चित्रित किया गया है। यह मन को

---

१. नटी——(रोती हुई) हाय बड़ा हो अनर्थ हुआ, मेरा मन रूप नट मर गया मैं तो लुट गई मुझ वासना रूपी नटी के राग द्वेष रूप, जो भाई हैं हाय उनके बैठने तक को स्थान नहीं रहा और काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार जो मेरे भतीजे थे हाय अब वह भी मुझे मुख नहीं दिखलावेंगे।——आशा, तृष्णा, निन्दा, शंका, कल्पना आदि जो मेरी सहेली थी. ·. तुच्छ होकर सब से छुट गई।

——पृष्ठ ३०, ३१

२. विज्ञान राज.——प्रवृत्ति निवृत्ति शरीर का धर्म है, आत्मा में नहीं है, आत्मा शुद्ध है और वास्तव में विचार किया जावे तो प्रवृत्ति निवृत्ति और शरीर यह सब केवल मन ही की कल्पना है। पृष्ठ १९४

३. प्रज्ञारानी——यह शरीर प्रारब्ध करके रचा गया है, इस वास्ते जब तक शरीर बना रहता है तब तक प्रारब्धानुसार चेष्टा किया करता है। प्रारब्धानुसार प्रवृत्ति निवृत्ति शरीर का धर्म है। पृष्ठ १९०

अपना दास मानता है, किन्तु उसके प्रबल होकर अपने ऊपर आधिपत्य करने के कारण यह बहुत ही दुखी होता है।[1]

शम—यह नाटक में एक सपाही के रूप में हैं, जो कि इन्द्रियों के उपशमन के रूप में चित्रित किया गया है। यह लोगों को वैराग्य रूपी खड्ग से मोह को मारने तथा सन्तों से आत्मा को पवित्र करने का उपदेश देता है।[2]

सत्संग, विचार और ज्ञान—ये विज्ञान के मन्त्री है। इनके स्वरूप का परिचय नाटक से नहीं लगता है।

वैराग्य—यह द्वारपाल माना गया है। इसका कोई कथन नही है।

उपरति—यह सैनिक मानी गई है। इसके भी स्वरूप का कोई परिचय नहीं है।

मन—इस नाटक में यह नट के रूप में चित्रित किया गया है—आध्यात्मिक दृष्टि से यह चैतन्यस्वरूप आत्मा का अंश है—जो कि विकास के लिए मन रूपी नट का रूप धारण कर लेता है।[3]

५९६. **मनोवैज्ञानिक पात्र**—सन्तोष—यह भी विज्ञानराज के मंत्री के रूप में चित्रित किया गया है। यह मन से भोगों की तृष्णा न करने के लिए कहता है, ताकि वह दुःखी न हो।

विवेक—यह प्रस्तुत नाटक का द्वारपाल है। यह मन को भोग से विमुख होने के लिए कहता है, ताकि जीव अपने आनन्द रूपी दुर्ग में रह सके।

श्रद्धा, समाधान—इनको नाटककार ने विज्ञान की सेना में परिगणित कर दिया है।

५९७. **प्ररूप पात्र**—साधू—ज्ञानवान सत् उपदेशक के रूप में चित्रित किया गया है। इस नाटक में आध्यात्मिक दृष्टान्त प्रचुरता के साथ दिये गये है। इस प्रकार अमूर्त आध्यात्मिक पात्रों के प्रयोग से मुक्ति यह एक आध्यात्मिक रूपक नाटक है।

---

१. जीव—(सिर धुनकर) हाय बड़ा ही अनर्थ हुआ, कि इस मन रूप मेरे दास ने मेरा नाक में दम कर दिया और महादुखी कर दिया . . .। पृष्ठ ७१

२. शम—(रोता हुआ) आत्मज्ञान विचार बंदे क्यों मुख मोड़े तू संत सभा से। खड्ग वैराग सम्हार बंदे। मोह बली सब से अधिकाई—विवेक तमाचा मार बंदे। पृष्ठ ७७

३. नट—"चैतन्य अंश अस्ति-भाति-प्रियरूप नटशाला परम सुखदायक है और वही चैतन्य आत्मा विलास के निमित्त मन रूप नट होकर अपने आप इस सभा में आकर उपस्थित हुआ हूँ।" (पृ० १६)

यह नाटक पांच अंकों में विभाजित है--पृष्ठ २१४ है। इसमें दृष्टान्तों का अधिक प्रयोग किया गया है। नाटकीयता का अभाव है क्योंकि भाषण अधिक लम्बे हैं।

२. विज्ञान विजय नाटक

५९८. इसकी रचना स्वामी शंकरानन्द ने ही की है। इसका रचनाकाल सम्वत् १९७० (सन् १९१३ ई०) है। इसकी भी शैली रूपकात्मक है। अतएव रूपक नाटक की गणना में सम्मिलित हो सकता है।

५९९. 'उद्देश्य'—इस नाटक का उद्देश्य आत्मा के अहंकारादि विकारों पर विजय और सैद्धान्तिक प्रतिपादन है, जिसको कि नाटककार ने अपनी रचना कुशलता से सिद्ध सा कर दिखाया है।

६००. 'कथानक'—इस नाटक के कथानक में सत् और असत् का संघर्ष और उसमें सत् की विजय और असत् की पराजय दिखाई गई है, जैसा कि इस श्रेणी के नाटकों में प्रायः होता है। विरोधी राजा के दरबार में क्रोध और लोभ आदि विज्ञान के विरोध की योजना बनाते हैं। उधर विज्ञान की सभा में उद्योग और विवेक आदि अज्ञान के प्रतिरोध का उपाय ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं। अज्ञान के पक्ष की प्रकृति के द्वारा वंचित दया के द्वारा महाराज विज्ञान के प्रकृति के पक्ष में किये जाने की चेष्टा वैराग्य के द्वारा रोक ली जाती है। उधर अज्ञान अपने भटों को प्रोत्साहित कर उन्हें युद्ध के लिए प्रेरित करता है। विज्ञान को, अज्ञान को हराने का प्रयत्न करते समय एक जिज्ञासु मिल जाता है, जिसको वह ज्ञान का उपदेश देता है और तत्पश्चात् मंत्री से अज्ञानादि के विषय में पूछता है। मंत्री के यह कहने पर वे सब भाग गये, वह जाकर विश्वनाथ की पूजा करता है। अन्त में महाराज विज्ञान की सभा में 'वेद' के द्वारा अपनी निर्दोषता का प्रश्न पूछे जाने पर विज्ञान उसकी निर्दोषता को सिद्ध करता है, तथा सत्संग के कहने से प्रजा को ज्ञान का उपदेश करता है। इसके बाद नट और नटी के वार्तालाप के द्वारा 'नाटक' की प्रशंसा की जाती है और नाटक की समाप्ति हो जाती है। तात्पर्य यह कि इसके कथानक में उपदेश का आधिक्य है।

६०१. पात्र--इसमें दो प्रकार के पात्रों का प्रयोग किया गया है—(१) आध्यात्मिक और (२) मनोवैज्ञानिक। आध्यात्मिक पात्र--विज्ञान, प्रज्ञा, वैराग्य, वेद, सत्संग, अज्ञान।

विज्ञान--यह प्रस्तुत नाटक का नायक और महाराजा है। इसका स्वरूप नित्य शुद्ध-बुद्ध चैतन्यात्मक आत्मा का है। इसकी अन्य विशेषताएं पहले नाटक के समान ही हैं।

प्रज्ञा—यह विज्ञान की पत्नी और नाटक की नायिका है। इसका स्वरूप बुद्धि का है।

वैराग्य—यह विज्ञानराज का मंत्री है। इसका स्वरूप नाटककार की मान्यता में संसार के सभी विषयों से निवृत्ति रूप है। इसका कहना है कि बिना वैराग्य के शुष्क ज्ञान निरर्थक है क्योंकि वैराग्य के अभाव में प्रवृत्ति के प्रभाव से स्वरूप का आवरण हो जाता है।[1]

वेद—इसको प्रस्तुत नाटक में एक ब्राह्मण के रूप में उपस्थित किया गया है। यह अपने को सत्य, विद्या और परलोक का सीधा तथा निष्कण्टक मार्ग बताता है।[2]

सत्संग—इसे नाटक में विज्ञान के चोपदार के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यह अपना कर्तव्य सभी सदस्यों को विज्ञानदेव के सम्मुख करने को बताता है।[3]

अज्ञान—यह प्रस्तुत नाटक का प्रतिनायक है। इसकी यह मान्यता है कि इस सृष्टि की उत्पत्ति अज्ञान से ही हुई है और उसी के आश्रित है तथा वही इसका भोक्ता है। इसीलिए विज्ञान के द्वारा सृष्टि पर अपना आधिपत्य जमा लेने से उसे घोर दुःख है।[4]

---

१. "अर्थात् विना वैराग्य शुष्क ज्ञान निरर्थक है बस इतने में शत्रुओं का सब मन्तव्य सिद्ध हो जायगा। क्योंकि वैराग्य के शिथिल होते ही प्रवृत्ति के प्रभाव से स्वरूप का आवरण हो जाता है, इस कारण विज्ञानी पुरुष वैराग्य को सर्वकाल में प्रधान मानते हैं।"

—तीसरा अंक, पृष्ठ २९।

२. "यह सभी कोई जानता है कि बेद सत्य विद्या और परलोक का निष्कण्टक सीधा मार्ग है।"

—छठा अंक, पृष्ठ १५४।

३. "हे सर्वप्रजागण! मुझ सत्संग का जो कर्तव्य था कि 'आप लोगों को श्रीमद् विज्ञानदेव के सन्मुख करना' सो मैं पालन कर चुका।"

—छठा अंक, पृष्ठ १६०।

४. "अज्ञान—यह जगत मुझ (अज्ञान) से तो उत्पन्न हुआ है, मेरा ही आश्रित है और मुझे ही सर्वप्रकार से इसका अधिकार है फिर इस विज्ञान दुष्ट ने हमारा सर्वराज क्यों हर लिया है..."

—प्रथम अंक, पृष्ठ १५।

मनोवैज्ञानिक पात्र—दया, काम, दम्भ, प्रवृत्ति।

दया—दया को विज्ञान अपनी माता समझता है। यह अपने आपको विज्ञान की हितकारिणी के रूप में व्यक्त करती है।[१]

काम—यह प्रतिनायक अज्ञान का महामंत्री है। इसका स्वरूप मनुष्य में वासना की प्रवृत्ति है। यह अपने को बड़ा ही प्रबल समझता है और कहता है कि जब वह काशी में प्रवेश करेगा तो वहां के सभी व्यक्ति मदनातुर हो जायेंगे।[२]

दम्भ—यह महाराज अज्ञान का चोबदार है। इसका कहना है कि जब वह काशी में पहुंचेगा तो वहां के ब्राह्मणों की ऊपरी वेशभूषा ही धार्मिक रह जायगी, उनके अन्दर तो दम्भ का ही राज होगा।[३]

प्रवृत्ति—यह अपने आपको अज्ञान की परिचारिका बतलाती है। यह दया को अपनी ओर आर्कषित कर वैराग्य को शिथिल करना चाहती है, ताकि अज्ञान की विजय हो जाय।[४]

---

१. "दया—सो मुझको बड़ी भारी चिन्ता इस समय यह है कि उधर शत्रुओं का दल समुद्र की भांति उमड़ रहा है इधर आप स्वयं स्वरूप में मग्न हैं।"

—तृतीय अंक, पृष्ठ ३२।

२. काम—और मैं तो प्रतिज्ञा कर के कहता हूं कि जिस समय मैंने काशी में प्रवेश किया तो बड़े बड़े डुंगधारी, सन्यासी, ब्रह्मचारी सब मेरे ही चेले हो जायंगे अर्थात् वेदाध्ययन, शास्त्र विचार और योगाभ्यास त्याग कर मदनपरायण ही सब दीखेंगे।"

—तृतीय अंक, पृ० २०-२१।

३. "दम्भ—स्वामिन्, जिस समय मैंने काशी में पैर जमाया, उसी समय से गंगा घाटों पर बैठे हुए ब्रह्मचारी, ब्राह्मणों के हाथों में माला, गोमुखी और माथे पै तिलक ही तिलक शेष होंगे और अन्दर में राज्य करूंगा।"

—तृतीय अंक, पृष्ठ २१।

४. "दया—विज्ञान की माता उपनिषद् की दासी दया से मेरा बड़ा प्रेम और सहचार है। उस दया के द्वारा विज्ञान को जिस समय मैंने अपनी (प्रवृत्ति की) ओर खींचा और वैराग्य शिथिल हुआ, बस फिर तो अज्ञान का ही डंका चारों ओर बजेगा—यह काम ही कितना है।"

—तृतीय अंक, पृष्ठ १९।

६०२. पृष्ठ १९८ में लिखे गए इस सात अंकों के नाटक में आध्यात्मिकता की कथा चलती है। इसमें विशेष नाटकीयता नही है।

३. ज्ञानगुण दर्पण नाटक

६०३. विज्ञान नाटक का तीसरा भाग (पृ० ६) 'ज्ञानगुण दर्पण नाटक' है। यह प्रबोधचन्द्रोदय की शैली में लिखा स्वतंत्र रूपक नाटक है। सन् १९१९ में इसकी रचना श्री शंकरानन्द ने की थी। मुक्तिलाभ के उद्देश्य से ही ज्ञानादि अनेक पात्रों को लेकर रूपक नाटक बना है। कथानक कल्पित है। प्रारम्भ से अन्त तक मोक्ष सम्बन्धी ज्ञान वार्ता है। ज्ञान के आवश्यक गुणों और प्रक्रियाओं को पात्र का रूप दे दिया गया है।

६०४. इसके पात्र मुमुक्षु, विज्ञान, प्रज्ञा, उपनिषद, वेद, अभय, निवृत्ति, विश्वास, विवेक, क्षमा, भक्ति, समाधान और निदिध्यासन आदि पात्र है। पात्रों का स्वरूप वैसा ही है, जैसा कि पूर्व के दो भागों में इन पात्रों का है। दस अंकों और ५३८ पृष्ठों में इस विस्तृत नाटक के अध्ययन से ज्ञात होता है, स्वामी जी ने ज्ञान को जनसाधारण के हेतु सरल भाषा में रखने का श्रेष्ठ कार्य किया है। संस्कृत के उदाहरण भी दिये हैं। पात्रों के प्रवेशादि योजना तथा परस्पर के सम्बन्ध बना देने से ज्ञानवार्ता शुष्क एवं नीरस नहीं हुई है। कुछ नाटकीयता का पुट आ जाने से ज्ञानवार्ता सरल, रोचक और ग्राह्य हो गई है।

४. लीला विज्ञान विनोद

६०५. 'प्रबोधचन्द्रोदय' की शैली पर श्री स्वामी केशवानन्द ने सम्वत् १९६८ (सन् १९११) में 'लीला विज्ञान विनोद' नामक नाटक की रचना की। इसमें रूपक पात्रों का प्रयोग किया गया है, इसलिए यह भी एक रूपक शैली का नाटक है।

६०६- उद्देश्य—संक्षेप में इसका उद्देश्य ज्ञान का प्रतिपादन और मानव की प्रवृत्ति को मोक्ष की ओर उन्मुख करना है।

६०७. कथानक—इसके कथानक तीन प्रमुख विशेषताएँ हैं—(१) कल्पित कथानक, (२) पूर्ण रूपकता, (३) असत् प्रवृत्ति का विरोध और उसका शमन सत् प्रवृत्ति के द्वारा कल्याण का उदय। संक्षेप में इसकी कथा इस प्रकार है—लीला देवी और विज्ञान देव का मिलन होता है। विज्ञानदेव, धनदेव और अमीरी तथा मन और फकीरी का विवाह करके उन्हें क्रमशः चिन्तानगर और निश्चिन्त नगर-को भेज देता है। धनदेव और अमीरी दुःखी तथा मन तथा फकीरी अपने सम्बन्ध

से सुखी होते हैं। धनदेव और मन दोनों विज्ञानदेव से मिलने आते हैं। धनदेव भरी सभा में विज्ञानदेव को अपना दुःख बताता है। विज्ञानदेव उसे अपनी पत्नी और पुत्र को लाने के लिए कहता है। उधर मन फकीरी के साथ विज्ञानदेव और लीलादेवी से मिलता है। विज्ञान मन के पुत्र विचार को लाने का आदेश देता है। सबके आने पर विज्ञानदेव विचार और जगतकुमार को मिल कर रहने के लिए कहता है। इसके बाद वे सब मिलकर ऋषीकेश जाते हैं। वहीं आकर उनसे धर्म आदि मिलते हैं। और उनमें धर्म सम्बन्धी वार्तालाप होता है। वे सबके सब पुनः विज्ञानदेव और लीलादेवी से मिलते हैं। अन्त में अमीरी फकीरी में विलीन हो जाती है, तथा फकीरी मन में और धन धर्म में लीन हो जाता है तथा धर्म और धैर्य मन में, जगत्कुमार विचार में, विचार मन में, और मन विज्ञान में लीन हो जाता है। इसके बाद सूत्रधार और नटी नाटक की प्रशंसा कर विदा होते हैं और नाटक समाप्त हो जाता है।

६०८. पात्र—इसमें निम्न प्रकार के पात्र प्रयुक्त हुए हैं—तत्व रूपक, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक, प्रतीक और अन्य।

तत्वरूपक—पात्र इसमें केवल एक है। फकीरी निवृत्ति की प्रतीक है और विज्ञानदेव तथा लीलादेवी पुत्री है। इसकी प्रशंसा में विज्ञान कहता है कि यह सर्वोपरि है और महानुभावों की सभा में सुशोभित होगी।[1]

आध्यात्मिक पात्र—विज्ञान, लीलादेवी, जगत्कुमार, धर्म, मन, विचार, सत्संग।

विज्ञान—यह नाटक का नायक है। यह आत्मा के रूप में चित्रित है, क्योंकि लीला देवी के द्वारा कहे हुए आत्मा के लक्षणों को अपने में बताता है।[2]

लीलादेवी—यह विज्ञान की पत्नी है। यह अपना परिचय देती हुई कहती हैं कि उसका निवास ब्रह्मलोक में हैं तथा उसकी जाति अनिर्वचनीय है। (पृ० १३)

---

१. "विज्ञान. . .जो निवृत्ति रूप फकीरी हुई है सोई सर्वोपरि है। यही बड़े बड़े महानुभावों की सभा में सत्कार पाती हुई मातृ-पितृ-पुत्र के गौरव की फहराती हुई धवल ध्वजा ही सर्वोत्कृष्ट शोभायमान होगी।"

—द्वितीय अंक, पृष्ठ १८।

२. "लीला—हे देव! जरा, मरण, मान, अपमान, हर्ष, शोक, क्षुधा, पिपासादि रोग जिसमें न हों और मलमूत्र से रहित शुद्ध देह वाले योग्य पति को मैं बरूंगी।

विज्ञान—"देवी! ऐसे गुणी तो विज्ञान देव ही हैं।"

—पृष्ठ १४।

जगत्कुमार––यह धनदेव और अमीरी का लड़का है। यह संसार का रूपक है। पंडित जी इसकी विशेषता बताते हैं कि यह बाल्यावस्था में खेल खेलेगा, युवावस्था में भोग भोगेगा और वृद्धावस्था में सन्तों के साथ ज्ञानी बनेगा!

(पृष्ठ ३०)

धर्म––यह धन देव का पिता है। अपना परिचय देता हुआ यह कहता है कि उसका नाम धर्म है और वह धन का पिता है।[1]

मन––यह विज्ञान की पुत्री फकीरी का पति है। यह अपना स्वरूप बताते हुए कहता है कि वह फकीर है। उसके शत्रु और मित्र कोई नहीं हैं।

(पृष्ठ ४०)

विचार––यह मन और फकीरी का पुत्र है। इसका कहना है कि संसार के दुःखों का एकमात्र कारण अहंकार है। इस अहंकार के नाश से सम्पूर्ण दुखों का नाश हो जाता है।

सत्संग––इसे एक गायक के रूप में चित्रित किया गया है। यह लोगों को सन्तों का संग करने और आत्मज्ञान करने की प्रेरणा देता है।

(पृष्ठ ५९)

मनोवैज्ञानिक पात्र––अहंकार और लोभ आते हैं।

अहंकार––यह धनदेव का चोपदार है।

लोभ––यह धनदेव का मन्त्री है। यह जगत्कुमार के जन्म के उपलक्ष्य में धनदेव के खजाना लुटा देने से बहुत चिन्तित होता है।[2]

अन्य पात्रों में केवल अमीरी है––इसका विवाह धनदेव के साथ किया गया है।

प्रतीक पात्र––इस श्रेणी में केवल एक पात्र है। धनदेव, जो कि धनी व्यक्तियों का प्रतीक है। यह विज्ञान का दामाद और अमीरी का पति है। इसका कहना है

---

१. धर्म––(दीनता से)...मेरा नाम धर्म है, मैं धन का पिता हूँ और यह धैर्य्य उसकी माता है उनके देखे बिना बहुत दिवस हुए हैं...।"

––पृष्ठ २६।

२. लोभ––(मन ही मन) आज यह भली आफत लगी वह तो खुशी के मारे पागल हो खजाना लुटाये देते हैं। अगर लड़का कल ही मर गया तो कैसी होगी...।

––पृष्ठ २९।

कि अमीरों के कोई माता-पिता नहीं होते। अतएव यह दीन-दुखि ों के समाचार तक नहीं सुनना चाहता।[1]

६०९. यह नाटक १४४ पृष्ठों में है। इसमें ८ अंक हैं। पूरे नाटक में ज्ञान का ही प्रतिपादन है, नाटकीयता विशेष नहीं है।

५. मायावी

६१०. श्री ज्ञानदत्त सिद्ध ने सन् १९२२ में 'प्रबोधचन्द्रोदय' की शैली पर 'मायावी' नाटक की रचना की। इसमें रूपक पात्रों का प्रयोग किया गया है, अतएव यह रूपक नाटक है।

६११. उद्देश्य––इस नाटक का उद्देश्य मानव को सदाचार के व्यवहार और आत्मिक सुधार से ज्ञानवान बनाना है।

६१२. कथानक––इसके कथानक में तीन विशेषताएं हैं––कल्पित, पूर्ण रूपकता और आत्मा और माया का विरोध। मानव के सूक्ष्म अन्तर्जगत का कथानक है। मायावी, मन, बुद्धि और ज्ञान आदि को पात्र का रूप देकर सांसारिक आकर्षणों और माया मोह के कारण अनुभव किये जाने वाले दुखों का वर्णन है। मन संसार की माया में फंसकर आत्मा को भी दुःखी कर देता है। सद् बुद्धि और ज्ञान से सच्चा कल्याण हो जाता है, प्रस्तुत नाटक के कथानक का सारांश यही है।

६१३. पात्र––इसमें तीन प्रकार के पात्र हैं––नैतिक, फ़ैशन, मदिरा; आध्यात्मिक––सरलसिंह, मायावी अन्तसराम, मन्साराम और ज्ञानानन्द। मनोवैज्ञानिक––बुद्धि––इन पात्रों का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार से है :–

फैशन––यह मायावी की संगिनी है। यह मायावी कहती है कि उसे उसका (फैशन) का पूरा भरोसा है।

मदिरा––यह भी मायावी की संगिनी है। इसका कहना कि मदिरा काम को शीघ्र करेगी।

सरलसिंह––यह आत्मा का रूपक है। यही नाटक का नायक है। यह फैशन

१.––चोबदार! सुनो हम अमीर हैं, दर्शनी द्वार पर शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध––मैथुन सिपाहियों का दो दो घंटे का पहरा बोल दो और आज्ञा दो कि कोई संत, ब्राह्मण, भूखा-नंगा, दीन-दुखी, अंदर आ हमें न सतावे, और बग्घी, टमटम, चुरट, हाथी, घोड़े, पर सवार हो तो उसे न रोको, वेखटके आकर हमसे मिलने दो। (पृष्ठ २५)

और मदिरा से इतना प्रभावित हो गया है कि अपनी पत्नी बुद्धि से कहता है कि तुम चाहो तो चली जाओ, पर मैं इन्हें नहीं छोड़ सकता।[1]

मायावी––यह विषयवासना और मायाजाल की रूपक है। एक पात्री के रूप में इसका अंकन किया गया है। यह अन्तसराम और सरलसिंह को नष्ट कर देना चाहता है। इसीलिए यह सरलसिंह की दोनों लड़कियों के विषय में चिन्ता करते हुए कहता है कि वे यदि दोनों मुझे मिल गईं तो फैशन और मदिरा के द्वारा उन्हें पकड़वा लूंगा।[2]

अन्तसराम––यह अन्तःकरण का रूपक और आत्मा सरलसिंह का स्वामि-भक्त मंत्री है। सरलसिंह के राज्य के नष्ट हो जाने पर यह इस बात के लिए स्वामी ज्ञानानान्द से दुःख प्रकट करता है कि राज्य का भ्रंश हो गया, राजा मोहान्ध होकर बन्धन में पड़ गया, और प्रजा पर अत्याचार ढाए गये।[3]

मनसाराम––यह मन का प्रतीक और सरलसिंह का दुष्ट मन्त्री है। यह मायावी से बातचीत करते हुए कहता है कि बस फैशन और मदिरा को महाराज सरलसिंह को वश में कर लेने दो, तुम्हारी जीत, फिर तो निश्चय है।[4]

ज्ञानानन्द––यह ज्ञान का प्रतीक और प्रस्तुत नाटक का एक योगी पात्र है। यह अन्तसराम को धैर्य देता हुआ कहता है कि सुख के पीछे दुःख और दुःख के पीछे

---

१. सरल सिंह––(फैशन तथा मदिरा को) ठहरो! तुम कहीं मत जाओ! (बुद्धि से)...तुम मेरा अनादर कर रही हो।...चाहे मेरे प्राण भी चले जाँय पर मैं इनको नहीं छोड़ सकता! (पृष्ठ २०)

२. मायावी––(स्वगत)...यह बेटा अन्तसरास से जलता है। उसको किसी तरह चौपट कर देना चाहता है।...हां! क्या वाकई सरलसिंह की छोकरियां जैसी देश में सुनकर आया हूं वैसी ही हसीन हैं? जो यह बात सच निकली तो बस फ़ैशन और मदिरा को इधर छोड़ कर उनको उधर ले भगूँगा। (पृष्ठ २४)

३. अन्तसराम––महाराज! राज्य भ्रष्ट हो गया। राजा मोहान्ध हो कर बन्धन में पड़ गया, प्रजा अत्याचारों से पिस गई। इष्ट मित्रों को कारावास हो गया। (पृष्ठ ४७)

४. मनसाराम––बस यही कि महाराज को दोनों स्त्रियें (फैशन मदिरा) अच्छी तरह से वश में कर लें। जितना जल्दी काम बन जाय उतना हीं अच्छा। (पृष्ठ ३)

सुख आया करते हैं। इसलिए महाराज के राज्य भ्रंश की चिन्ता तुम्हें न करनी चाहिये।[1]

बुद्धि—यह बुद्धि की रूपक और सरलसिंह की पत्नी है। यह सरलसिंह से कहती है कि शुभ सम्मति देना ही उसका कर्तव्य है।[2]

६१४. यह नाटक तीन अंकों और ६५ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। इसमें नाटकीयता पर्याप्त है।

६. मुद्रिका

६१५. श्री सद्‌गुरुशरण अवस्थी ने 'मुद्रिका' नाटक की रचना सन् १९३९ मे की थी।

६१६. उद्देश्य—इसका उद्दश्य आध्यात्मिक ज्ञान का विश्लेषण, मतमतान्तरो में समन्वय का स्थापन, नारी और पुरुष की समान योग्यता की समस्या का समाधान करना है।

६१७. कथानक—इसका कथानक कल्पित है तथा पूर्ण रूप से रूपक है। ओंकार सोहम् और ईश्वर आदि को पात्र रूप देकर आध्यात्मिक तथ्यों का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। एक ही शक्ति के सम्बन्ध में उसके अनेक व्याख्याकारों मे मतभेद उपस्थित होता है जिससे उनमें द्वेष और कलह होती है और उनका नाश हो जाता है। इस बात को नाटकीय रूप दे रंगमंच पर प्रदर्शित करने में लेखव सफल हुआ है। नारी और पुरुष में समता है या नहीं? इस समस्या को भी मनोवैज्ञानिक ढंग से सुलझाने की चेष्टा की गई है। मुद्रिका के सूक्ष्म एवं प्रतीकात्मक कथानक में नाटककार ने अद्वितीय सफलता प्राप्त की है। वास्तव में उसकी कला के समूचे सौन्दर्य की ठेस, रसिकों को तिलमिला देने के लिए पर्याप्त है।

६—भूमिका।

६१८. पात्र—इसमें दो प्रकार के पात्र पाए जाते हैं—आध्यात्मिक, मनो-

---

१. ज्ञानानन्द—इतने विकल मत बनो! 'सुख के पीछे दुख और दुख के पीछे सुख आया ही करता है। परमात्मा की लीला अपार है। संसार में भले बुरे का ध्यान वही रखता है। (पृष्ठ ४७)

२. बुद्धि—यह कैसे? शास्त्र में लिखा है कि रोग के समय, विषय वासना की प्राप्ति के मोह में, पुरुष अपना कर्तव्य भूल जाय तो स्त्री को चाहिए कि समयोचित शिक्षा दे। (पृष्ठ २०)

वैज्ञानिक। आध्यात्मिक पात्र—ओंकार, सोहम्, ईश, रसमूल और माया। मनोवैज्ञानिक पात्र—इसमें केवल 'चिन्ता' है। इनका संक्षिप्त परिचय नीचे है:—

ओंकार—यह गृहपति शंकुक का पुत्र है। मुद्रिका इसी को समर्पित की जाती है। ओंकार के साथ उसके पिता की बातचीत में अन्य अनेक सिद्धान्तों का उद्भव होता है।

सोहम्—यह ओंकार और माया का पुत्र है। यह धर्म-प्रणेता के रूप में स्वीकार किया गया है। इसका सिद्धान्त है कि विना ज्ञान के मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती। उस परमतत्व का निरूपण करने के लिए बुद्धि और विवेक की परमावश्यकता है।[1]

ईश—यह ओंकार का मध्यम पुत्र है। इसकी भी मान्यता धर्मप्रणेता के रूप में मान्य है। इसका सिद्धान्त है कि संसार की मधुर और मनोरम मूर्तियों में ईश्वर की पूजा न करनी चाहिये, क्योंकि वे तो उस परम तत्व के चिन्ह मात्र हैं। वस्तुतः इनके उत्पादक, संचालक और प्राणदायक की उपासना करनी चाहिए।[2]

रसमूल—यह ओंकार का कनिष्ठ पुत्र है। इसे भी धर्म-प्रणेता माना गया है। यह स्वयं को अपने पिता के वेग का स्फूर्तिमय कण समझता है तथा मुद्रिका प्रदान की घटना के द्वारा सभी भाइयों से अपने को योग्य समझता है।[3]

माया—यह ओंकार की पत्नी है। यह परमेश्वर की माया के रूप में चित्रित की गई है।

---

१. सोहम्—परब्रह्म सबकी माया दूर करे। बिना ज्ञान मुक्ति नहीं होती। उस परमतत्व के परिस्थिति-निरूपण के लिए बुद्धि और ज्ञान के क्रमिक परिष्कार की आवश्यकता है। ब्रह्म को अपने से पर, अपने से पृथक, समझने वाली बुद्धि मायाप्लुत है। विश्व की अनेक रूपता में एक रूपता...उज्ज्वल विकसित परिस्थिति का चिन्ह है। द्वैत का भास अज्ञान दर्पण का प्रतिबिंब है।
(पृष्ठ २९)

२. ईश—"विश्व के प्रखर और उग्र रूपों अथवा स्निग्ध और मधुर मूर्तियों को ही ईश्वर समझ बैठना और उनकी पृथक्-पृथक् अर्चना करने लगना वैसे ही ना समझी है जैसे व्यक्ति को न पूज कर उसके केशों, करों और नेत्रों को पूजा जाय।
(पृष्ठ २५)

३. रसमूल—"बंधुओ! जीवन-संग्राम से भागने के लिए मैं तुम्हें शिक्षा नहीं देता। जीवन-संग्राम की घुस पैठ के योग्य बनाने के लिए मैं तुम्हें शिक्षा देता हूं।
(पृष्ठ २१)

चिन्ता--यह ओंकार की बहन और शंकुक की पुत्री है। यह स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार दिये जाने की पक्षपातिनी है। इसका कहना है कि स्त्रियाँ क्यों हेय समझी जाती हैं जब कि उनमें भी वही रजवीर्य वर्तमान है, जोकि पुरुषों में।[1]

६१९. यह नाटक 'एकांकी' है। इसमें आठ दृश्य और बासठ पृष्ठ हैं। नाटकीयता पर्याप्त है।

७. सत्य का सैनिक

६२०. इस नाटक के रचयिता हैं श्री नारायणप्रसाद बिन्दु। इसका प्रकाशन १९४८ ई० में हुआ था।

६२१. उद्देश्य---इसका उद्देश्य आध्यात्मिक विकास, व्यभिचारी साधुओंका दोषवर्णन, माया की वासना का नाश और ज्ञान की विजय तथा साधारण सांसारिक जनों को मोक्ष का उपाय बतलाना है।

६२२. कथानक---इसमें मानस के विकारों के संघर्ष की सूक्ष्म कथा के साथ सांसारिक जीव 'विजय' की कथा प्रधान रूप से है। विजय सांसारिक जीवन में भोग-विलास के प्रति विरक्ति अनुभव करता है। वह अपने जीवन में आध्यात्मिक शान्ति एवं परम ज्ञान की प्राप्ति के लिये व्याकुल एवं व्यथित होता रहता है। अन्त में उसकी आध्यात्मिक ज्ञान की पिपासा इतना प्रबल रूप धारण कर लेती है कि वह गृह और सम्बन्धियों को त्याग कर चला जाता है। कुछ दिनों की अशान्तिपूर्ण खोज एवं साधना के पश्चात् उसमें मुक्त पुरुष के लक्षण देदीप्यमान होने लगते हैं। वह मुक्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्रासंगिक रूप से साधुओं के व्यभिचार एवं परस्पर विरोधों के भी दोषों का वर्णन है।

६२३. पात्र---इसमें अनेक प्रकार के पात्र प्रयुक्त हुए हैं। नैतिक पात्र--सरलता और विरक्ति है। आध्यात्मिक पात्र--सत्व, रज, निवृत्ति, वैराग्य, ब्रह्मचर्य, ज्ञान, भक्ति, प्रज्ञा, तम, प्रवृत्ति, माया हैं। मनोवैज्ञानिक पात्र--अभीप्सा, विवेक, विश्वास, अहम्, क्रोध, लोभ, काम, वासना, आसक्ति, मोह और संशय। इनका संक्षिप्त वर्णन निम्न है:--

सरलता--यह मनुष्य की एक स्वाभाविक प्रकृति के रूप में चित्रित की गई है। ज्ञान इससे कहता है कि ईश्वर सरलता से ही प्रसन्न होता है। इसलिए वह मनुष्य को भक्त बनना सिखा दे।[2]

---

१. चिन्ता--"स्त्रियां क्यों हेय समझी जाती हैं? हम दोनों में तो एक ही रजोधर्म वर्तमान है।" (--पृष्ठ ८)

२. सरलता--"अपनी कुटिया में। छोटी सी सरलता को पूछता ही कौन है?

विरक्ति--यह वैराग्य की सहायिका के रूप में चित्रित की गई है। यह वैराग्य के यह पूछने पर कि तुम क्यों आयी हो, कहती है कि मैं उसकी सहायता करने आयी हूँ।

सत्य--यह सतोगुण का रूपक पात्र है। यह अपने को योग के लिये बताता है।[1]

रज--यह रजोगुण का प्रतीक है। यह सत्य से कहता है कि उसकी बातें उसे न जाने क्यों अप्रिय लगती हैं? (पृष्ठ ५)

निवृत्ति--यह सत्य की पत्नी है। इसका कहना है कि जहां सत्य है वहीं उसका मन लगता है, अन्यत्र नहीं।[2]

प्रज्ञा--यह ज्ञान से इस बात का अनुरोध करती है कि साधकों को सीधा समर्पण का मार्ग सिखाया जाय।[3]

तम--यह तमोगुण का प्रतीक है। यह सत्य से कहता है कि रज तो अभिमानी है, पर तुम भी कम अभिमानी नहीं हो। सत्य के चले जाने पर यह रज से मिल कर विश्व पर राज्य करने की बात करता है।[4]

वैराग्य--यह सत्यदेव के एक सेवक के रूप में चित्रित किया गया है। ज्ञान के यह पूछने पर कि पृथ्वी पर तुम्हारा आना किसलिए हुआ, यह उतर देता है कि उसका पृथ्वी पर आना इसलिए हुआ है कि वह मनुष्य को सत्य की बलिवेदी पर अपना सर्वस्व न्योछावर कर देने की शिक्षा दे सके।[5]

ज्ञान--छोटी सी सरलता! जानती हो भगवान् छलछिद्र से कैसे भागते हैं? देवि! तुम मनुष्य को भक्त सजना नहीं, भक्त बनना सिखाओ।"

(--पृष्ठ २५)

१. सत्य--"नहीं नहीं ऐसा मत कहो। मेरा जन्म योग के लिए है, भोग के लिए नहीं।" (पृष्ठ ९)

२. निवृत्ति--"जहां आप (सत्य) हैं वहीं सर्वसुख है और जहां आप नहीं हैं वहीं है घोर मंत्रणा।" --(पृ० १०)

३. प्रज्ञा--क्या ही अच्छा होता यदि साधक को सिखाया जाता समर्पण सीधा और प्रकाशपूर्ण मार्ग...। --(पृ० २३)

४. दुर्गंध युक्त केश, मैले में कुचैले बेश तम का प्रवेश। उसके प्रवेश करते ही चारों ओर छाईं पड़ जाती है। सत्य निष्प्रभ हो जाता है।

तम--(रज का हाथ पकड़ कर) आओ रज हम और तुम दोनों मिल कर विश्व में राज्य करें। --(पृ० ६)

५. वैराग्य--"...मेरा पृथ्वी पर आना, मनुष्य को वह शिक्षा देने के लिये

ब्रह्मचर्य--यह भी नाटक का एक पात्र है। इससे यह प्रश्न करने पर कि क्या इस दरबार में उसका कोई स्थान नहीं, भक्ति उत्तर देती है कि उसी का बल-वी और विद्युत् ही सबका आधार है। (पृ० २७)

ज्ञान--सत्य की सेना का नेतृत्व इसी के हाथ में है। ज्ञान सबको उनके उचित कर्तव्य को करने का आदेश देता है। यह वैराग्य से कहता है कि उन साधकों के पास जाने के लिये जिनके कि मन में सत्य की इच्छा नहीं उदित हुई है--उसे तब तक प्रतीक्षा करनी होगी, जब तक कि इच्छा का उदय न हो।[१]

भक्ति--यह भी एक पात्र है। इसके लिये ज्ञान कहता है कि वह सबके लिए अपना दरवाजा खोल दे तथा मरुभूमि की तप्त छाती पर मन्दाकिनी की शीतल धारा बहा दे। (पृ० २६)

प्रवृत्ति--यह रज से कहती है कि उसका कुछ लोगों की दृष्टि में यही दोष है कि वह लोगों को सिखाती है कि भोग ही जीवन है और प्रेम ही जीवन का उपभोग है।[२]

माया--यह क्रोध आदि को प्रोत्साहन देती है और सत्य से कहती है कि देखूंगी कि मेरा मुकाबला कौन करता है।[३]

अभीप्सा--मनुष्य की एक चित्तवृत्ति के रूप में इसका चित्रण हुआ है। इसके यह पूछने पर कि वह क्या करे भक्ति उसे आदेश देती है कि वह संसार में जाकर ज्योति जगा दे।[४]

विवेक--यह भी नाटक का एक पात्र है। वैराग्य के यह पूछने पर कि तुम

हुआ है जिससे कि वह सत्य की बेदी पर अपना सर्वस्व होम करने के लिये तत्पर हो सके।" --(पृ० १७)

१. ज्ञान--प्रतीक्षा करनी होगी--जब तक उसके विकास का समय न आये, प्रतीक्षा करनी होगी. . .यहीं से आरम्भ होगा स्वर्ग के साथ नरक का घोर संग्राम, अमृतत्व का मृत्यु के साथ घोर संघर्ष।" (पृ० १७, १८)

२. प्रवृत्ति--मेरा यही एक दोष है कि मैं लोगों को सिखाती हूं, भोग का सुनहला पल ही जीवन है, प्रेम मदिरा का पान ही जीवन का उपभोग है। (पृ० ७)

३. माया--देखूंगी-देखूंगी कैसे वह (सत्य) पृथ्वी पर सत्य का विस्तार करता है।

४. अभीप्सा--भीतर ही भीतर सुलगने वाली अभीप्सा का अंगड़ाई लेते हुए प्रवेश : तो मुझे क्या करना चाहिए। (पृ० २७)

क्या सोच रहे हो, विवेक उत्तर देता है कि जिनका द्वार वासना ने बन्द कर दिया है वहां उसका प्रवेश कैसे होगा—वह यही सोच रहा है। तब उसे वैराग्य मार्ग बताता है।[1]

विश्वास—वैराग्य इसको आदेश देता है कि वह ऐसा कुछ कर दिखाए जिससे लोगों को इस बात का पता लग जावे कि विश्वास पहाड़ को भी हिला सकता है, वही मोक्ष तथा मुक्ति है।[2]

अहम्—यह माया के दरबार का प्रधान मन्त्री है और काम आदि को ज्ञान का गर्व चूर्ण करने को कहता है। (पृ० १०)

क्रोध—यह अहंकार से मनुष्य को जलती आग में दौड़ पड़ने के लिये उकसा देने को कहता है।[3]

लोभ—यह अहंकार का सेवक है। यह उससे कहता है कि स्वार्थ के ताण्डव से विश्व को जलाने के लिये ही उसका पृथ्वी पर अवतार हुआ है।[4]

काम—यह अहंकार का सेनापति है। अहंकार के यह पूछने पर कि क्या वह ज्ञान का गर्व चूर्ण कर सकेगा, वह कहता है कि इसीलिए तो उसका जन्म हुआ है। (पृ० १०)

वासना—अहंकार वासना को माया के राज्य की नींव बताता हुआ कहता है कि वही मनुष्य के भीतर भोगैषणा का सोता प्रवाहित कर सकती है। (पृ० १४)

मोह—अहंकार के यह प्रश्न करने पर कि जब मनुष्य वासना के वश में हो

---

१. विवेक—उसके बाद

वैराग्य—उसके बाद उसे त्याग के चरणों में भोग की, परमार्थ के चरणों में स्वार्थ की बलि चढ़ाने की शिक्षा देना? (पृ० १९)

२. वैराग्य विश्वास से कहता है—ऐसा कुछ कर दिखाना होगा जिससे उसके जी में बैठ जाय कि विश्वास पहाड़ को भी हिला सकता है, विश्वास ही मोक्ष है, विश्वास में ही मुक्ति है।..." (पृ० २१)

३. क्रोध—तूफान उठा दूंगा। मनुष्य को जलती-जलती आग में दौड़ पड़ने के लिये उकसा दूंगा। (पृ० ११)

४. लोभ—(सोल्लास) स्वार्थ के तांडव से विश्व को खांडव की तरह दहन करने के लिए ही तो मैं भूतल पर भेजा गया हूं और यदि आप लालसा से कह दें कि वह मेरा साथ दे तो मैं मानव हृदय में वह आग लगा दूं जिसे प्रलय की वर्षा भी न बुझा सके। (पृ० ११)

अधर्म में लगेगा तो वह क्या करेगा ? मोह उत्तर देता है कि यह उस समय मनुष्य के हृदय में प्रवेश कर महारानी (माया) की ध्वजा फहरायेगा।[1]

संशय—यह अहंकार के राज्य के खुफिया विभाग का अध्यक्ष है। अहंकार इसे आदेश देता है कि वह इस बात का पता लगाये कि उसके राज्य में कहां पर क्या होता है ? (पृ० १२)

आसक्ति—यह अहंकार से कहती है कि जहां वह रहेगा वहीं आसक्ति भी रहेगी। (पृ० १३)

६२४. पांचअंकों का यह आध्यात्मिक नाटक १५४ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। इसमें नाटकीयता पर्याप्त मात्रा में है। भाषा की दृष्टि से इसे श्रेष्ठ कहा जा सकता है।

साहित्यिक नाटक

६२५. इन स्वतन्त्र रूपक नाटकों में केवल दो ही साहित्यिक नाटक मिलते हैं। पहला है 'न घर का न घाट का'[७] और दूसरा है 'पत्र-पत्रिका सम्मेलन'। इन दोनों के रचयिता होने का श्रेय प्राप्त है श्री जी० पी० श्रीवास्तव को। इन नाटको का सामान्य परिचय नीचे दिया जा रहा है।

१. न घर का न घाट का

६२६. इस नाटक की रचना श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने की है। इसकी छठी आवृत्ति १९५१ ई० में हुई है।

६२७. उद्देश्य—इसका उद्देश्य विशुद्ध साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं का नैतिक सुधार हरिजनों की दुर्दशा और ईसाइयों के प्रचार का विरोध करना आदि है।

६२८. कथानक—इसका कथानक कल्पित तथा रूपक है। समाजराय पत्र-पत्रिकाओं की तीव्र आलोचना करते हैं। जनताराय उससे सहमति व्यक्त करते हैं किन्तु पाठकमल सहमत नहीं होते। समाजराय और जनताराय घृणा व्यक्त करते हुए चांद के दफ्तर में पहुँचते हैं। चांद को पहले से ही चिन्तित देखकर सभा होती है जिसमें जनताराय पंच बनते हैं। विचार-विमर्श के बाद जनताराय फैसला देते हैं कि चांद ने स्त्रियों के लाभ के लिए यह कार्य किया है। यह अनुचित नहीं, किन्तु लाभदायक है। समाजराय को हारकर लौटना पड़ता है। समाजराय

---

१. मोह—उनके हृदय में प्रवेश कर महारानी की जयध्वजा फहराऊंगा :"
(पृ० १२)

जब घर आते हैं तब उनकी स्त्री भी चांद के शिशु अंक की प्रशंसा करती हुई उन्हें घर से निकल जाने के लिए कहती है। दूसरी तरफ भंगी सड़कों और नालियों को गन्दा करने वालों को बुरा-भला कहते हैं। इसी समय समाजराय मुँह में पट्टी बांधे आता है। उसे देखते ही वे भंगी अपने अछूत जीवन से दुखी होकर झाड़ छोड़कर, ईसाई सम्प्रदाय में मिल जाने की इच्छा व्यक्त करते हुए, भाग जाते हैं। रूपक पात्रों के आधार पर मौलिक कथानक की कल्पना करके नाटककार ने समाज के साहित्यिक स्तर का चित्रण सफलता के साथ किया है और रुचि परिष्कार की चेष्टा भी की है।

६२९. पात्र--इसमें निम्नलिखित प्रकार के पात्रों का प्रयोग हुआ है। तत्व-रूपक वर्ग के अन्य पात्र--समाजराय, जनताराय पाठकमल, सफाईराय, भारती, शिक्षा, चांद। इन पात्रों का संक्षिप्त परिचय देखिए--

समाजराय--यह समाज का रूपक पात्र है। इसको इस बात का बहुत दुःखहै कि आधुनिक साहित्य में साहित्यिकों और सम्पादकों ने मिलकर अश्लीलता की नदी प्रवाहित कर दी है। यह चांद के शिशु अंक को अश्लीलता का भण्डार कहता है।[1]

जनताराय--यह जनता का रूपक पात्र है। यह समाजराय के द्वारा चांद के ऊपर बिगड़ने पर उससे कहता है कि जब बेचुटकी वालों ने आपका बाल उखाड़ लिया था तब भी आप क्यों नहीं बोले थे? (पहला दृश्य)

पाठकमल--यह सामान्य पाठकों का रूपक पात्र है। यह समाजराय के यह कहने पर कि आज को पत्र-पत्रिकाओं में गन्दगी भरी रहती है, उससे कहता है जब शादी आदि में तुम्हें गालियां दी जाती हैं तब तुम नाक-भौं नहीं सिकोड़ते परन्तु साहित्य में गन्दगी के नाम पर इतना बिगड़ रहे हो। (पहला दृश्य)

सफाईराय--यह सफाई का दरोगा है। इसका म्युनिस्पल मेम्बर से कहना है कि भंगियों के आलस्य के कारण नगर की सफाई नहीं हो पा रही है। इसमे हमारा क्या दोष? (दृश्य ३)

भारती--यह समाजराय की पत्नी है। तथा भारतीय स्त्रियों का रूपक है। भारती इस बात के लिए चांद की प्रशंसा करती है कि उसने शिशु अंक निकाल कर स्त्रियों का अमित कल्याण किया है। (दृश्य ४)

---

१. समाजराय--धत् तेरे सम्पादकों और ग्रन्थकारों की दुम में धागा। कम्बख्तों ने आजकल अश्लीलता के नाबदान के नाबदान बहा दिये हैं।...आज लाइब्रेरी जाना भी पड़ा तो नाक में पट्टी बांध कर गया। (पहला दृश्य)

शिक्षा--यह भारती की सहेली है। इसका कथन है कि जब उसकी आंख और दोनों कान खुल जायेंगे तो किसी की सामर्थ्य न होगी कि वह ज्ञान को उन तक जाने से रोक सकें। (दृश्य ४)

चाँद--यह एक पत्रिका है। वह शिशु अंक के प्रकाशन पर बिगड़ने वाले समाजराय पर यह कहकर चोट करती है कि यदि ऐसे अंकों का प्रकाशन न किया जाय तो स्त्रियाँ अज्ञानता के अन्धकार में डूबती-उतराती रह जायेंगी।

६३०. यह 'एकांकी' नाटक है। इसमें पांच दृश्य हैं। अभिनय की दृष्टि से श्लाघ्य रचना है।

२. पत्र-पत्रिका सम्मेलन

६३१. इस नाटक की रचना श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने सन् १९२५ ई० में की यह एक रूपकात्मक प्रहसन है।

६३२. इसका उद्देश्य साहित्यिक विषय का प्रतिपादन, हिन्दी में हास्यरस की स्थिति का दिग्दर्शन साहित्य के अन्य अग, उपन्यास और नाटकों की अवस्था का चित्रण तथा तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं की स्थिति का चित्रण करना है।

६३३. कथानक—इसका कथानक पूर्णतया मौलिक कल्पना-प्रसूत और रूपकात्मक है। हास्य और उसकी स्त्री प्रकृति के वार्तालाप से कथानक का प्रारम्भ होता है। प्रकृति हास्य को पत्र-पत्रिकाओं-सम्मेलन में न जाने पर उलाहना देती है। हास्य कहता है कि वह रोना नहीं जानता, उसने तो हंसना ही सीखा है। और बिना रोए कोई किसी की बात नहीं सुनता है। इतने में कला वहां आकर शिक्षा द्वारा अपनी नाक काटे जाने के अपने अपमान को उन्हें सुनाती है। कला के अपमान का बदला लेने के हेतु प्रकृति हास्य को सम्मेलन में भाग लेने के लिये दृढ़ता के साथ प्रोत्साहित करती है। तभी स्वाभाविकता वहां पहुंचती है और अपने पति 'भाव' का पत्र हास्य को देती है। उसमें शिक्षा की निन्दा और स्वाभाविकता को शरण देने की प्रार्थना की गई है। इसके पश्चात् हास्य सम्मेलन में जाने को तत्पर हो जाता है। वह कौन से पत्र और पत्रिकाओं को सम्मेलन में चलने के लिए कहता है। परन्तु जब कोई जाने को तैयार नहीं होता तब वह अकेला ही वहां जाता है। समाज भारतमाता से सम्मेलन के हेतु रुपया मांगता है। परन्तु भारतमाता जब अपनी गरीबी का हाल उसे सुनाती है तब वह उसे मारता है। चांद वहां आ भारत मां को बचा कर जब समाज को पीटने लगता है तब भारतमाता समाज को पीटने नहीं देती—फलस्वरूप चांद को लौटना पड़ता है। हास्य को सम्मेलन में जाते समय रास्ते में माधुरी और सरस्वती मिलती है। दोनों अपरिचित अवस्था में हास्य की

ओर आकर्षित होते हैं। किन्तु जब उन्हें उसका परिचय मिलता है तब उसे तिरस्कृत करती हैं और चली जाती है। तभी सम्मेलन का मन्त्री हास्य को समाजराय का सम्बन्धी समझकर, सम्मेलन से संबंधित पत्र देकर अपनी उपस्थिति के लिए असमर्थता व्यक्त करके चला जाता है, किन्तु हास्य सम्मेलन के आवश्यक पत्रों को वहीं भूल कर प्रसन्नता से सम्मेलन में आ जाता है। साहित्य सभापति के आसन पर ओंघते हुए दिखाई देते हैं। हास्य मन्त्रीपद से, मनमाने ढंग से, भाषण देने लगता है, क्योंकि सामान तो वह बाहर ही भूल आया था। वह अपने भाषण में नौकरानी शिक्षा के द्वारा स्वामिनी कला की नाक काटे जाने की आलोचना करता है। अपने भाषण के बाद वह साहित्य को जगाकर पूछता है कि क्या यह तुम्हारे सोने का समय है? साहित्य के अपना भाषण मांगने पर वह कहता है कि वह तो छपने चला गया। वह सभा से यह कहकर कि सभापति का भाषण बाद में होगा नाटकमल का भाषण करा देता है। नाटकमल अपनी दुर्दशा का वर्णन करता है तब उसे सान्त्वना देकर बै ा देता है। इसके बाद उपन्यासराम अपनी दुःखद गाथा का गान करते हैं और तत्पश्चात् उपाधि वितरण होता है। इस प्रकार उपाधि वितरण के पश्चात् प्रहसन का अन्त हो जाता है।

६३४. पात्र—इसमें रूपक पात्र प्रयुक्त हुए हैं। मनोवैज्ञानिक पात्र—हास्य और प्रकृति है। अन्य रूपक पात्र—समाज, साहित्य, चांद, मतवाला, गोलमाल, भारतमित्र, ग्राम गजट, शिक्षा, माधुरी, सरस्वती, प्रभा, गल्पमाला, मनोरमा मोहिनी आदि। इनमें से हास्य प्रकृतिक तथा साहित्य जो कि मुख्य पात्र हैं, उनका संक्षिप्त परिचय निम्न है:—

हास्य—यह प्रकृति का पति है। यह साहित्य में अपना आदर न होने से दुःखी होता है।[1]

प्रकृति—यह हास्य की पत्नी और कला की सहेली है। यह सब लोगों को

---

१. प्रकृति—क्योंकि वह भी पत्र-पत्रिका सम्मेलन में जा रहे हैं और तुम टस से मस नहीं होते......।

हास्य—मुझे भी क्या कोई खुशामदी टट्टू समझ रखा है कि "मान न मान बड़ी खाला सलाम।"

प्रकृति—यह कैसे जानते हैं? ....

हास्य—अरी श्रीमतीजी, वहीं नहीं, बल्कि इस हिन्दुस्तान में कहीं भी नहीं हैं। (पहला दृश्य)

पत्र-पत्रिका सम्मेलन में जाते देखकर हास्य को भी वहां जाने के लिए प्रोत्साहित करती है। (पहला दृश्य)

साहित्य––यह पत्र-पत्रिका सम्मेलनका सभापति है और सम्मेलन में बैठकर ऊंघता रहता है। जब हास्य के द्वारा यह जगाया जाता है तब यह अपना भाषण मांगता है जिसके उत्तर में हास्य कहता है कि वह तो छपने के लिये गया है।[1]

और पात्रों का परिचय––'मतवाला', और 'गोलमाल', हास्य पत्र हैं। 'वंगवासी', 'श्री वेंकटेश्वर', 'भारतमित्र', और 'ग्राम गजट', समाचार पत्र है। 'चांद' मासिक पत्रिका है। 'कला', 'स्वाभाविकता', प्रकृति की बहनें हैं। 'भारतमाता' समाज की मां है। 'शिक्षा'-कला की नौकरानी है। 'सरस्वती' और 'प्रभा' मासिक पत्रिका हैं। 'नाटकमल',[2] और 'उपन्यास' आदि साहित्य के अंग नाटक और उपन्यासों के रूपक पात्र हैं।

६३५. यह 'एकांकी' प्रहसन है। इसमें तीन दृश्य हैं।

मनोवैज्ञानिक नाटक

६३६. मानव मन के अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण करने के उद्देश्य से भी कुछ नाटक 'प्रबोधचन्द्रोदय' की शैली पर लिखे गये, जिन्हें हम 'रूपकशैली के मनोवैज्ञानिक नाटक कह सकते हैं। ऐसे मनोवैज्ञानिक नाटक हिन्दी में केवल दो मिलते हैं। जिनके नाम हैं––'छलना' और 'सन्तोष कहां?' इन नाटकों में मानव जीवन की विविध पृष्ठभूमियों में उसके मन के विभिन्न स्तरों के सूक्ष्म विश्लेषण की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है। इनका उद्देश्य साधारणतया भौतिक जीवन की अपेक्षा आध्यात्मिक जीवन को श्रेष्ठतर प्रतिपादित करना है। अब हम इन नाटकों का सामान्य अध्ययन प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे।

---

१. साहित्य––(साहित्य का सभापति के आसन पर ऊंघते हुए दिखाई देना) (चौंक कर) हां अच्छा लाओ मेरा व्याख्यान दो पढ़ दूं।" (तीसरा दृश्य)

२. नाटकमल––(प्लेटफार्म पर आ कर) मैं अपनी दुर्दशा भला किस मुंह से बयान करूं? आखिर मेरी सूरत भी हो तब तो। नाटककारों ने उसे ऐसी बिगाड़ी है कि वह देखने काबिल ही नहीं रही।...सीन-सीनरी की चकाचौंध, पोशाक की जगमगाहट में, पाउडर की लीप-पोत में, संगीत की झंकार में––मेरी असलियत की थाह नहीं पाते।" (तीसरा दृश्य)

१. छलना

६३७. श्री भगवतीप्रसाद वाजपेयी ने 'छलना' नामक रूपक नाटक का प्रणयन सन् १९३९ ई० में किया था ।

६३८. उद्देश्य—इसका उद्देश्य मनोवैज्ञानिक समस्याओं का चित्रण कर आदर्श की स्थापना है ।

६३९. कथानक—इसका कथानक कल्पित और पूर्ण रूपकात्मक है। मनोवैज्ञानिक एवं भावात्मक पात्रों की कथा इसमें चित्रित है। आदर्शवादी बलराज की स्त्री का नाम 'कल्पना' है । कल्पना अपने पति से सन्तुष्ट नहीं हो पाती है। अभावों को दूर करने की चेष्टा में बलराज बम्बई चला जाता है। 'कल्पना' कुछ दिनों तक 'विलास' के साथ ऐश्वर्य से जीवन व्यतीत करती है किन्तु उसे शान्ति और सुख नहीं मिलता। अन्त में बलराज उसके पास पुनः लौट आता है और विलास स्वेच्छा से आत्महत्या कर लेता है। प्रासंगिक रूप से एक, जगेसर, चम्पी और सूर जैसे निम्न स्तर के व्यक्तियों की भी कथा मुख्य कथा के साथ चलती है।

६४०. पात्र—इसमें रूपक पात्रों का प्रयोग पाया जाता है । नैतिक पात्र-बलराज है। मनोवैज्ञानिक पात्र—कल्पना, कामना, नवीनचन्द्र और विलास चन्द्र हैं। अब हम इन पात्रों का संक्षिप्त परिचय प्राप्त करेंगे :—

बलराज—यह इस नाटक का नैतिक पात्र और नायक है। इसे हम आत्मा का रूपक कह सकते हैं। इसका कहना है कि मनुष्य की आत्मा का विलास के साथ कुछ ऐसा सम्बन्ध है कि आदर्श के स्पर्शमात्र से उसका विलास गायब हो जाता है।[1]

कामना—यह एक जज की पुत्री और कल्पना की सखी है। इसके सम्बन्ध में 'नवीन' का कहना है कि वह किसी को तंग नहीं करती। वह तो साक्षात् प्रगति की देवी है। उसके विना मनुष्य उन्नति ही नहीं कर सकता है।[2]

कल्पना—यह बलराज की पत्नी है। यह आध्यात्मिक संस्कृति की अपेक्षा भौतिक सभ्यता को अधिक चाहती है। नित्यप्रति का इसका जीवन केवल

---

१. बलराज—(गम्भीरता से) प्रतीत होता है, मनुष्य की आत्मा के साथ विलास का ऐसा ही कुछ सम्बन्ध है। आदर्श का सम्पर्क होते ही वह अन्तर्ध्यान हो जाता है। (पृ० १२१)

२. नवीन—चुपके से कामना की ओर इशारा करके। कामना किसी को तंग नहीं करती। वह तो प्रगति की देवी है। कामना के बिना मनुष्य की रति कहां है। यह बात दूसरी है कि कोई व्यक्ति उसे अपनाकर निद्रित हो उठे। (पृ० ११७)

अनन्त भोगों की कल्पना में बीतता है। अतएव इसे सन्तोष नहीं होता। इसका कहना है कि शारीरिक भोग से परे कोई आत्मा का भी आनन्द है, यह एक भ्रम की वस्तु है।[1]

नवीनचन्द्र—यह फिल्म कम्पनी का अभिनेता है और नवीनता का रूपक है। यह निन्य प्रति कामना किया करता है। इसका कहना है कि मानव की प्रगति का केन्द्र तो कामना ही है। (पृ० ११७)

विलासचन्द्र—यह एक नवयुवक और कालेज की बी० ए० कक्षा का छात्र है। यह आधुनिक भौतिक सभ्यता को मानने वाला है। यह मनुष्य को आगे बढ़ने के लिए उसमें असन्तोष का होना आवश्यक मानता है, क्योंकि असन्तोष के अभाव में मनुष्य में आगे बढ़ने का भाव पैदा हो ही नही सकता।[2]

६४१. इस नाटक में तीन अंक और छः दृश्य और १२१ पृष्ठ हैं। इसमें पर्याप्त नाटकीयता है।

२. सन्तोष कहां ?

६४२. 'सन्तोष कहाँ' नामक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक रूपक नाटक के रचयिता हिन्दी साहित्य के प्रख्यात नाटककार श्री सेठ गोविन्ददास जी हैं। इस नाटक का प्रथम प्रकाशन सम्वत् २००२ (सन् १९५५) है।

६४३. उद्देश्य—इसका उद्देश्य भौतिक सभ्यतामय जीवन से जायमान असन्तोष के दूर न होने की मनोवैज्ञानिक समस्या का समाधान करना है।

६४४. कथानक—मनसाराम नामक एक युवक अपनी अवस्था से ऊँचे उठते उठते मिनिस्टर तक बन जाता है। किन्तु मित्र नीतिव्रत के यह प्रश्न करने पर कि क्या वह अपने पद से सन्तुष्ट है ? वह पूर्ण विश्वास के साथ कोई उत्तर नहीं दे पाता है और शीघ्र ही विरक्ति का अनुभव करने लगता है। अन्त में उसे सेवाकार्य से ही सन्तुष्टि एवं शान्ति मिलती है। इस वैज्ञानिक एवं भौतिक सभ्यता के युग में परिश्रम से साधनोपलब्धि हो जाने पर भी कहीं न कहीं से असन्तोष की रेखा मानव के विचारशील मन को व्यथित करती है। इसी असन्तुष्टि की मनोवैज्ञानिक समस्या को सुलझाने के हेतु रूपक कथानक की कल्पना की गई है, और इसी दृष्टि-

---

१. कल्पना—यह एक भ्रम है। शारीरिक भोग से परे आत्मिक आनन्द नाम की कोई वस्तु संसार में है, मैं नहीं जानती। (पृ० ३४)

२. विलासचन्द्र—किन्तु यदि मनुष्य में असन्तोष न हो, तो वह उन्नति कैसे करे—आगे बढ़ने का भाव ही कैसे उसमें आये ? (पृ० १५)

कोण से कथानक में परिवर्तित परिस्थितियों की सफल नाटकीय योजना है। यह पूर्ण रूप से कल्पित और रूपक है तथा इसमें मन की सात्विक प्रकृति तथा अस्थिर भौतिक सन्तुष्टि के संघर्ष का चित्रण मनोविज्ञान की पृष्ठभूमि मे किया गया है।

६४५. पात्र—इसमें रूपक पात्रों का प्रयोग हुआ है। नैतिक पात्र—नीतिव्रत है। मनोवैज्ञानिक पात्र—मनसाराम है। इन पात्रों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

नीतिव्रत—यह नायक मनसाराम का मित्र है। यह नीति का उपदेश देकर मनसाराम के अन्तर्जगत की उथल-पुथल को शान्त करता है। इसका कहना है कि वह मनसाराम के सभी कष्टों को जानता है। परन्तु उसे कष्टों का सामना तो करना ही पड़ेगा, क्योंकि कष्टों का सहना ही जीवन का लक्षण है।[1]

मनसाराम—यह इस नाटक का नायक है। इसको एक सांसारिक मन के रूप में चित्रित किया गया है। यह बहुत ही अध्यवसायी, अध्ययनशील और परिश्रमी है, परन्तु कभी सन्तुष्ट नहीं होता है। अतएव यह नीतिव्रत से कहता है कि यद्यपि उसने काफी अध्ययन किया है फिर भी न जाने क्यों सन्तोष नहीं होता है।[2]

६४६. इस नाटक में पांच अंक और ८७ पृष्ठ हैं। नाटकीयता पर्याप्त मात्रा में है।

सामाजिक नाटक

६४७. हिन्दी साहित्य में 'प्रबोधचन्द्रोदय' की रूपक शैली में कुछ ऐसे नाटक भी लिखे गये जिनमें समाज के दोषों एवं नारी जीवन की कठिनाइयों का मर्म-स्पर्शी चित्रण किया गया है। इन नाटकों को हम 'सामाजिक रूपक' नाटक के नाम से अभिहित कर सकते हैं। ऐसे नाटक दो उपलब्ध हुए हैं—'भारत ललना', और 'मारवाड़ी घी'। जैसा कि इनके नामों से स्पष्ट है, एक सामान्य नारी जीवन की जटिल समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करता है, और समाज में व्याप्त

---

१. तुम्हारी अड़चनें, तुम्हारे कष्ट मैं जानता हूं मनसाराम! लेकिन अड़चनों और कष्टों का सामना करना यही तो जीवन है। दो ही वर्षो में इस तरह घबड़ा कर किसी चीज को छोड़ देना...। (पृ० ५८)

२. मनसाराम—खैर, अब यह तो तुम बहुत आगे बढ़ गये, पर मैं भी इतना मानता हूं कि मैंने पढ़ा है (कुछ रुक कर) पर नीतिव्रत। मुझे अपने इस अध्ययन से भी सन्तोष नहीं है। (पृ० ५)

बुराइयों का दिग्दर्शन करा कर उन्हें दूर करने का प्रयास करता है। इन नाटकों का सामान्य अध्ययन नीचे किया जा रहा है।

१. भारत ललना

६४८. इस नाटक की रचना महाराजाधिराज कुंवरलाल खंगबहादुर मल्ल ने की है। इसका द्वितीय प्रकाशन सन् १९०६ में हुआ था।

६४९. उद्देश्य—इस नाटक का उद्देश्य भारत दुर्दशा का चित्रण तथा नारी दुर्दशा का चित्रण कर उसके सुधार की ओर लोगों को प्रेरित करना है।

६५०. कथानक—यह कथानक पूर्ण रूप से कल्पित और रूपकात्मक है तथा इसमें नारी के दुर्भाग्य और सौभाग्य के सघर्ष का चित्रण है। कथा इस प्रकार है—कलिराज की सभा में सौभाग्य और दुर्भाग्य दोनों आते हैं। कलिराज सौभाग्य को भारत छोड़ने और दुर्भाग्य को भारत की स्त्रियों पर साम्राज्य करने की आज्ञा देता है। दुर्भाग्य, मूर्खता, रोग और कलह आदि के सहयोग से स्त्रियों में अपने राज्य का विस्तार करता है। उधर सौभाग्य धर्म, विद्या और लक्ष्मी आदि के साथ भारत से प्रस्थान करने का प्रयास करता है। भारतमाता अपनी पुत्रियों की दशा देख दुःखी होती हैं तभी सौभाग्य भारत माता से विदा लेने के हेतु उनके पास आता है। उसे जाता देखकर भारतमाता की पुत्रियां भारतमाता से प्रार्थना करती है कि वे सब उसकी आज्ञा का पालन करेंगी। अतएव सौभाग्य आदि को यहां से नही जाना चाहिये। किन्तु वह अपनी विवशता व्यक्त करता है। अन्त में वे सब ईश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह अपने भक्तों की भारत ललना का भी उद्धार करे।

६५१. पात्र—इसमें तत्वरूपात्मक वर्ग के पात्र प्रयुक्त हैं : प्रकृतितत्व पात्र—कलियुगराज, और निद्रा। नैतिकतत्व पात्र—एकता, मूर्खता, कलह, पतिव्रत, विधवा विवाह। आध्यात्मिक पात्र—धर्म। मनोवैज्ञानिक पात्र—क्रोध, उत्साह, उद्यम। अन्य पात्र—भारतमाता, दुर्भाग्य, सौभाग्य, वैधव्य, विद्या, लक्ष्मी। प्रमुख पात्रों का क्रमशः सामान्य परिचय नीचे दिया जा रहा है। अन्य पात्रों का परिचय अन्य नाटकों में आ ही चुका है।

कलियुगराज—कलियुगराज राजसिंहासन पर विराजमान—मुकुट पहने राजवेश में दिखाये जाते हैं। यह अपने राज्यविस्तार के लिए सौभाग्य और दुर्भाग्य मंत्रियों को आज्ञा देते हैं। (प्रथम दृश्य)

निद्रा—निद्रा रोग की पत्नी और उसकी सहायिका है। उसकी कृपा से सब घर नष्ट हो जाते हैं। (द्वितीय दृश्य)

एकता—भारत की स्त्रियों में एकता न होने से, दुखी हैं। अतः एकता भारत से विदा होना चाहती है। (तीसरा दृश्य)

मूर्खता—यह मूर्खता का रूपक है। यह कहती है कि उसमें प्रत्येक में ऐसा घर बना लिया है कि लोग भूतप्रेतों तक को देवता मानने लगे हैं।

कलह—यह झगड़े का रूपक है। यह अपना प्रभाव बताता हुआ कहता है कि स्त्रियों के कारण आज भाई भाई आपस में लड़ रहे हैं, यह उसी का प्रताप है।

पतिव्रत—पतिव्रत भारत के दुराचार और व्यभिचार से दुखी होता है। (तृतीय दृश्य)

विधवा विवाह—विधवा विवाह वैधव्य नामक पात्र से कहता है कि विधवाओं के विवाह से धार्मिक लाभ नहीं समझना। उसका उपहास करता और इसे अधर्म ही बताता है। (द्वितीय दृश्य)

धर्म—यह मनुष्य की धार्मिकता के रूप में चित्रित किया गया है। भारत को विद्या, वीर्य, धैर्य, सुख और सम्पत्ति से विहीन होते देख इसे बड़ी तीव्र वेदना होती है और यह कहता है कि हाय—अब भारत अनाथ होने जा रहा है।

क्रोध—यह क्रोध का रूपक पात्र है। इसका कहना है कि यह उसी का प्रताप है कि स्त्री पति को लात मारने और अपने पुत्र को खा जाने के लिए तत्पर हो जाती है। (द्वितीय दृश्य)

दुर्भाग्य—यह मनुष्य के दुर्भाग्य के रूप में अंकित किया गया है। इसका कहना है कि यद्यपि उसका पुरुषों पर उतना प्रभाव नहीं पड़ा है, क्योंकि वे लोग विद्या और सभ्यता आदि को नहीं छोड़ रहे, किन्तु निपट गँवार स्त्रियों में तो उसने अपना अभूतपूर्व प्रभुत्व जमा लिया है। (प्रथम दृश्य)

सौभाग्य—यह मानव के सौभाग्य के रूप में रंगमंच पर अवतीर्ण होता है। भारत को छोड़ते हुए इसे असीम वेदना होती है और यह अपने आप कहने लगता है कि मुझे आज अपनी प्यारी भारतभूमि को छोड़ना पड़ रहा है। (प्रथम दृश्य)

वैधव्य—यह स्त्रियों के विधवापन का सूचक है। इसमें वह अपना बड़ा भारी पराक्रम समझता है कि स्त्रियों के मन में उसने बाल्य विवाह और वृद्ध विवाह की प्रवृत्ति को अंकुरित किया। (द्वितीय दृश्य)

विद्या—यह लक्ष्मी से कहती है कि बहिन ! क्या कहूं, जो भारत एक दिन पातिव्रत, सत्य, धर्म और तपस्या के लिए सारे विश्व में विख्यात था—आज उसी भारत में इनका कोई नाम लेनेवाला नहीं रहा। (तृतीय दृश्य)

लक्ष्मी—यह देश की समृद्धि की रूपक है। यह विद्या से कहती है कि जैसा वह कह रही है ठीक है और वह उसका समर्थन करती है। (तृतीय दृश्य)

६५२. इस एकांकी नाटक में चार दृश्य हैं। नाटकीयता की दृष्टि से उच्च कोटि का नाटक है।

२. मारवाड़ी घी

६५३. 'मारवाड़ी घी' नामक इस रूपक नाटक का रचयिता एक ऐसा व्यक्ति है जो अपना नाम न लिख कर, एक जातीय हितैषी मारवाड़ी लिखना अधिक पसन्द करता है। संभवतः इसका कारण समाज का भय रहा होगा। इस नाटक का प्रथम प्रकाशन भारत की महानगरी कलकत्ता सन् १९१७ में हुआ था।

६५४. उद्देश्य--इसका सामान्यतः सामाजिक--सुधार की पृष्ठभूमि में वनस्पति घी के दोषों का वर्णन कर उसे छोड़ने के लिए जनता को प्रेरित करना है।

६५५. कथानक--इसका कथानक कल्पित और रूपकात्मक है। कथा इस प्रकार है--नायक कलियुग अपने सभासदों--अधर्म, मोह, अन्याय विरोध और फूट आदि को कार्यभार सौंप कर अपना प्रभाव व्यापक बनाने का आदेश देता है। प्रति नायक धर्म अपने सहयोगी सत्य के साथ दुःखी होकर भटकता है। लोभ के कारण व्यापारियों ने घी में चर्बी मिलाकर अपने व्यापार को बढ़ा लिया है। जिससे समाज में कलियुग के व्यापक प्रभाव का अनुमान होता है। जब नर्तकियां नृत्य करती हुई कलियुग की जय बोलती हैं उस समय नेपथ्य से एक ध्वनि आती है कि विजय धर्म की ही होगी। स्वार्थी कितना ही प्रयास करे, उन्हें विजय कभी नहीं मिलेगी। यहीं पर कथानक का अन्त हो जाता है। इसके ृतीय अंक में 'मारवाड़ी घी' और कलयुग के दोषों का वर्णन है।

६५६. पात्र--इसमें तत्व रूपक वर्ग के नीचे लिखी श्रेणियों का प्र ोग किया गया है। प्रकृतितत्व पात्र--कलियुगराज। नैतिकतत्व पात्र--सत्य, अधर्म, पाखण्ड, विरोध, अपव्यय, मदिरा, जुआ, फिजूलखर्ची। आध्यात्मिक पात्र--धर्म। मनोवैज्ञानिक पात्र--लोभ, मोह, स्वार्थपरता, फूट। इन पात्रों का सामान्य परिचय क्रमशः दिया जा रहा है :--

कलियुग राज--यह इस नाटक का नायक है। यह कहता है कि लोगों की बुद्धि मारी गई है जो मुझे संसार से निकालना चाहते हैं। परन्तु मुझे इसका कोई भय नहीं है। क्योंकि मेरे हाथ में राजदण्ड है। (पृष्ठ ८)

सत्य-- यह सच्चाई के रूप में चित्रित किया गया है। यह धर्म से कहता है कि लोग स्वार्थपरता से प्रेम कर खाद्य वस्तुओं में अखाद्य पदार्थों का मिश्रण कर रहे हैं। इसलिए मैं तो यहां नहीं रहूंगा। (पृष्ठ २९)

अधर्म— यह पात्र साक्षात अधर्म का रूपक है। यह कहता है कि वह दिनरात इसी चिन्ता में पड़ा रहता है कि लोग लोक-धर्म की दुहाई देकर उसे छोड़ना चाहते हैं, वह क्या करे?[१]

पाखण्ड— यह पात्र ठोंग का रूपक है। यह विरोध और फूट के साथ कहता है कि उसने सभी के घर में डेरे डाल दिये हैं। अब तो प्रतिनिधि बनकर प्रतिनिधियों के साथ चाहे जहां चला जाता है। (पृष्ठ ४२)

विरोध— यह लोगों में विरोध की भावना का बीज बोता है। इसमें भी उपर्युक्त कथन को कहा है।

अपव्यय— यह लोभीराम और फिजूलखर्ची का पुत्र है। यह अपनी माता के साथ साथ रहता है।

मदिरा—यह जुवा की बहिन और कलियुग की सहायिका है। यह कहती है कि अत्याचार, अन्याय और अधर्म करने से समर्थो को दोष नहीं लगता। (पृष्ठ ३३)

जुआ— यह मदिरा का भाई है। यह अपनी बहन से कहता है कि सरकार के कानून और जासूसियों से वह तंग आ गया है। (पृष्ठ ३३)

फिजूलखर्ची— यह अपव्यय की माता और लोभीराम की पत्नी है। यह अपने पति की सहायता करती है।

धर्म— यह नैतिक तत्व के रूप में चित्रित किया गया है। चारों तरफ अधर्म के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर यह घबड़ा कर कहता है कि कहां जाय और क्या करें। (पष्ठ २७)

लोभ— यह कलियुग से कहता है कि वह तो जी-जान से अपने काम में लगा हुआ है। परन्तु कुछ लोगों ने उसके बने बनाए घर को ढहा दिया। अन्ततः, तो उसे सफलता मिलकर रहेगी। (पृष्ठ १२)

मोह— यह पात्र–कलियुग से कहता है कि उसने कई रंग बदले, लोभ और अधर्म के साथ कितना ही प्रयास किया, परन्तु उसको उद्योग में सफलता नहीं मिली है। महाराज के प्रताप से अब की बार उसके फन्दे से कोई बच नहीं पाएगा। (पृष्ठ १२)

---

१. स्वार्थपरता अधर्म के लिए कहता है—कहिए जनाब! संसार को नचाने वाले धर्म को गिराने वाले। आज क्या सोच रहे हैं?

अधर्म—लोक! धर्म की दुहाई दे देकर हमें बुरी तरह दुत्कार रहे हैं। (पृष्ठ १५)

स्वार्थपरता— यह मनुष्य की स्वार्थी प्रवृत्ति का रूपक है। यह फूट के साथ अधर्म की इस आज्ञा को कि महाराज नाराज हैं, अतः उन्हें वासना करने के लिए निर्लज्जा देवी के साथ-लोगों के मकानों पर डेरा डालना चाहिये—स्वीकार कर लेती है। (पृष्ठ १४)

फूट—यह लोगों में फूट की भावना को जन्म देती है। यह विरोध और पाखण्ड के साथ में कहती है कि उसने सनातनियों और समाजियों में झगड़ा मचा दिया है। उनमें खूब नोटिसबाजी हो रही है। (पृष्ठ ४२)

६५७. इस नाटक में तीन अंक हैं और चौरासी पृष्ठ हैं। नाटकीयता पर्याप्त है।

राजनैतिक नाटक

६५८. इन्हीं रूपक नाटकों की परम्परा में हिन्दी में कुछ ऐसे भी नाटक लिखे गये, जिनमें अपने समय की राजनैतिक स्थिति का विशद चित्रण किया गया है—ऐसे नाटकों को हम "राजनैतिक रूपक नाटक" कह सकते हैं। हिन्दी के कुछ रूपक—"भारत दुर्दशा," "अनोखा बलिदान," "स्वर्ण देश का उद्धार," "हिन्दू," "डिक्टेटर," "भारतराज"। इन नाटकों का सामान्य अध्ययन नीचे दिया जा रहा है।

१. भारत दुर्दशा

६५९. भारतेन्दु जी ने "भारत दुर्दशा" नामक रूपक नाटक की रचना १८७६ ई० में की थी। कदाचित् उनकी नाट्य कृतियों में यही कृति सबसे पहली है।

६६०. उद्देश्य—इसका उद्देश्य देशभक्ति की पृष्ठभूमि में उस समय की राजनैतिक एवं भारत की दुर्दशा का चित्र उपस्थित कर भारतभूमि की उद्धार की प्रेरणा लोगों में जागरित करना था।

६६१. कथानक— इसका कथानक कल्पित-रूपकात्मक और विरोधी परिस्थितियों के संघर्ष को चित्रित करने वाला है। कथा इस प्रकार है— एक योगी, गौरवमय अतीत वाले भारतवर्ष की तात्कालिक वेदनामयी दशा का वर्णन करता है। वह इतना दुःखी हो जाता है कि अन्ततः मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है। उसी अवस्था में उसे आशा और निर्लज्जता रंगमंच पर से ले जाती हैं। उधर भारतदुर्दैव अपने सैनिकों की सहायता से भारत के विनाश की योजना बनाता है अतएव फूट, डाह, लोभ, असन्तोष, भय, उपेक्षा, दुर्भिक्ष, स्वार्थपरता, अति

वृष्टि और अनावृष्टि आदि अपने सैनिकों को उपद्रव मचाने के लिए भेज देता है। रोग आलस्य, और मदिरा आदि भी उसे उसके काम में सहयोग देते हैं। उधर सात देश भक्तों की गोष्ठी में भारत दुर्देव से भारत की रक्षा के सम्बन्ध में विचार-विमर्श होता है। अभी योजना नहीं बन पाई थी कि उन्हें भारत दुर्देव का विरोध करने के अपराध में "डिस्लायल्टी" पकड़ ले जाता है। इसके बाद भारत-भाग्य भारत को जगाने का प्रयास करता है। परन्तु जब वह नहीं जागता तो आत्म-हत्या करके मर जाता है।

६६२. पात्र—इसमें रूपक पात्र प्रयुक्त हुए हैं। रूपक—प्रकृतितत्व पात्र—रोग है। नैतिकतत्व पात्र—सत्यानाश, मदिरा, आलस्य, अन्धकार, अश्रुमार्जन, निर्बलता है। मनोवैज्ञानिक पात्र—फूट, डाह, लोभ, भय, शोक हैं। अन्य पात्र—भारत, भारतभाग्य, भारत दुर्देव, और डिस्लायल्टी है। प्ररूप पात्र—बंगाली, महाराष्ट्री, एडीटर, कवि हैं। इनमें से कुछ प्रमुख पात्रों का परिचय नीचे दिया जा रहा है।

रोग— यह अपनी बड़ाई करता हुआ कहता है कि उसका प्रभाव इतना बड़ा है कि सारा संसार उससे डरता है। वह कुपथ का मित्र और पथ्य का शत्रु है।[1]

सत्यानाश— यह अपना परिचय देता हुआ कहता है कि उसका नाम सत्यनाश है, वह राजा के पास आया हुआ है। लाखों वेश धारण करके उसने इस देश को चौपट कर डाला।[2]

मदिरा— यह अपना परिचय देती हुई कहती है कि वह सोम की कन्या है। संसार की चार जातियों हिन्दू, बौद्ध, मुसलमान और क्रिस्तान में उसकी चाल मूर्तियां-सोमपान, वीराचमन, शराबुनतहुरा और बायंटेजिग वाइन के नाम से व्याप्त है।

आलस्य—यह कहता है कि दुनियां में आकर मनुष्य को हाथ पैर नहीं हिलाना चाहिये। कहीं जाने के बजाय मर जाना कहीं अच्छा है।

अन्धकार— यह अहर्निश कलियुग और मोहराज की जै बोलता रहता है। नाश की सामग्री कलह, अविद्या आदि की यह जै जै कार करता है।

---

१. रोग— मेरा प्रभाव जगत विदित है। कुपथ का मित्र और पथ्य का शत्रु मैं ही हूं...।

२. सत्यानाश फौजदार—हमारा नाम है सत्यानास आए हैं राजा के हम पास।
धर के हम लाखों ही भेस। किया यह चौपट सारा देश।

अश्रुमार्जन— यह आसुओं को पोंछने के रूप में चित्रित है।

निर्बलता— यह भारतवासियों की निर्बलता के रूप में अंकित है।

भारत—यह भारतवर्ष का रूपक है। दिल्ली की भूमि का वर्णन करता हुआ यह कहता है कि यह वही भूमि है जिसमें श्रीकृष्ण के दूत बन कर आने पर भी दुर्योधन ने कहा था कि बिना युद्ध के सुई का अग्र भाग भी नहीं दूंगा।

भारत दुर्दैव— यह भारत के अभाग्य के रूप में चित्रित किया गया है। यह अपना वर्णन करता हुआ कह रहा है कि मैं ईश्वर के कोप से उत्पन्न होकर भारत में आया हूं, यदि हिन्दू को छार कर दूं-तभी मैं उत्तम हूंगा-अन्यथा नीच हूं।

डिस्लायल्टी— यह अंग्रेजी सरकार की खुफिया पुलिस का रूपक है। एक स्थान पर गोष्ठी करते हुए सात देश भक्तों से यह कहती है कि वह उनको गिरफ्तार करेगी, क्योंकि वे लोग सरकार के विरुद्ध षड़यंत्र रच रहे हैं।

६६३. इस नाटक में छः अंक हैं।

२. अनोखा बलिदान

६६४. इस नाटक के रचयिता हैं श्री पं० उमाशंकर सरमंडल जो कि खंडवा (सी० पी०) के निवासी हैं। इसकी रचना सन् १९१५ ई० में हुई थी।

६६५. उद्देश्य—इसका उद्देश्य सच्चा त्याग, कठोर परिश्रम, सच्चरित्रता और स्वतन्त्रता प्राप्ति है।

६६६. कथानक—इसका कल्पित आंशिक रूपक है। इसमें सत् और असत का संघर्ष भी है। सती नारी सुशीला दुर्मति के अधीन नहीं होती। जीवन के सभी सुखों का परित्याग कर वह अंतिम समय तक स्वयं को बचाने का प्रयास करती है। अन्त में दुर्मति परास्त होती है। सुशीला के पुत्र मनोहर को राज्य मिलता है। सब सुखी होते हैं। यह कथानक राजनैतिक, स्वतंत्रता और सत्यता पर आधारित है।

६६७. पात्र—इसके नैतिकतत्व पात्र—नेकी, बदी और दुर्जन हैं। सुशीला आदि साधारण पात्र हैं।

नेकी— यह मनुष्य की सद्वृत्तियों की परिचायिका है, यह जगत्पिता के प्रति कहती है कि वह कितना दयालु है। अपने दुराचारी और दुष्ट व्यक्तियों पर पिता से भी ज्यादा प्यार करती है। वे मनुष्य धन्य हैं जो सच्चे हृदय से उस परमपिता का ध्यान करते हैं। (पृष्ठ २)

बदी— यह 'बुराई की रूपक है। यह नेकी से कहती है कि संसार का भाग्य

मेरे बाएं हाथ में और उसकी कुंजी दाहिने हाथ में है। तुम सब स्वर्ग की आशा से संसार को नरक बनाए हुए हो। (पृष्ठ २)

दुर्जन—यह दुष्ट मनुष्यों का प्रतिनिधि है। यह सुरेन्द्र से कहता है कि अरे, धर्म के पागल ! तू क्या समझ कर संसार के सुखों से विमुख है। तेरी एक हाँ पर सारा राजसी वैभव तेरे चरणों पर लौटने लगेगा। (पृष्ठ ८)

इसके अन्य पात्र मानव रूप में ही हैं इसलिए उन पर विचार करने का कोई प्रसंग नहीं है।

६६८. इस नाटक में तीन अंक और ११६ पृष्ठ हैं ।

३. स्वर्ण देश का उद्धार

६६९. इस प्रसिद्ध रूपक नाटक की रचना प्रो० इन्द्र विद्या वाचस्पति ने की है। इसकी रचना सन् १९३१ में हुई थी ।

६७०. उद्देश्य—इसका उद्देश्य राजनैतिक समस्या का हल, देशभक्ति का प्रचार, भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति की प्रेरणा देना, अन्याय और अत्याचारों का अन्त करना है।

६७१. कथानक—इसका कथानक कल्पित, रूपकात्मक और संघर्षात्मक है। कथा इस प्रकार है—धर्मप्राण नामक देशभक्त, देश भक्ति के अपराध में जेल भेज दिया जाता है। न्यायाधीश देशभक्त को अपराधी होने में शंका करता है । इस पर राज्य का मन्त्री न्यायाधीश को भी अपदस्थ कर देता है जिससे राज्य में अत्याचार और अन्यायों की वृद्धि हो जाती है। एक प्रासंगिक कथा भी है-धनदास लोभ के कारण अपनी कन्या का विवाह नहीं करता है। अन्यायी मंत्री धनदास को राज्य का खजाञ्ची बना देता है। उधर धनदास की कन्या अनन्तप्रभा घर से निकल कर देश जागृति के कार्य में लग जाती है। अपदस्थ न्यायाधीश राजा, दीवान और मंत्री के विरोध में प्रजा को विद्रोही बना देता है। राजा और मंत्री कैद में जाते हैं । वहां धर्मप्राण और अनन्तप्रभा का मिलन होता है। धर्मप्राण के हाथ में स्वतन्त्र देश का नेतृत्व आता है। देश में अन्याय और अत्याचार का अन्त होकर शान्ति फैलती है।

६७२. पात्र— इसके पात्र अनेक प्रकार के हैं। नैतिकतत्व पात्र—'क्रूर' है। आध्यात्मिक पात्र—'धर्म' है। अन्य पात्र–अनन्तप्रभा है। प्रतीक पात्र—धर्मदास, धनदास है। नीचे इन पात्रों का सामान्य परिचय दिया गया।

क्रूर—यह क्रूरता एवं कठोरता का रूपक है। इसका कहना है कि लोगों की यह धारणा कि धर्म सबसे अधिक बली है, बिलकुल मिथ्या है। क्योंकि इतिहास

और समय ने सिद्ध कर दिया है कि धर्म घर में पालने की चीज है न कि व्यवहार में लाने की। (पृष्ठ २)

धर्म—यह नैतिक पात्र है। यह कहता है कि वह कभी निर्बल नहीं हुआ। पहले ही जैसी मिठास आज भी उसमें बसती है। उसी प्रकार वह पहले की भांति कड़वा भी है। वह पहले की भांति नर्म, कठोर और शक्तिशाली भी है। (पृष्ठ २)

अनन्त प्रभा—यह धनदास की पुत्री है। साक्षात् देशभक्ति की प्रतिमूर्ति है। यह महात्मा कर्मदास से कहती है कि उसके माता पिता कुछ तो राजभय से और कुछ लोभ के कारण उसको कष्ट देने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करते। उसके ऊपर अत्याचार प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है वह क्या करे? (पृष्ठ ७)

धर्मदास—यह 'कर्म' का प्रतीक है और इस नाटक में एक महात्मा के रूप में चित्रित किया गया है। यह अनन्त प्रभा को ढाढ़स बंधाता हुआ कहता है कि अत्याचारी का अत्याचार स्वयं खण्डित हो जायगा। तप में बड़ा बल होता है। उससे पत्थर भी पिघल जाता है। अतएव तुम सहन करती जाओ। संकल्प शालिनी और दृढ़ भावना वाली होने के कारण अन्त में तेरी ही विजय होगी। (पृष्ठ ७–८)

धनदास—यह 'धन' का प्रतीक है और महालोभी है। भिक्खू के द्वारा आधा मकान लिखने को विवश कर दिये जाने पर यह कहता है कि जिस धन के लिए बेटी को घर से निकाला, जिस धन के लिए चचा को विष देकर मार डाला-उसी को आज यह बदमाश मुझसे छीने ले जा रहा है। (पृष्ठ ४४)

६७३. इसमें तीन अंक और ७८ पृष्ठ हैं।

४. हिन्दू

६७४. श्री जमनादास मेहता ने 'हिन्दू' नामक, रूपक नाटक की रचना सन् १९२२ में की थी।

६७५. उद्देश्य—इसका उद्देश्य भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए प्रेरणा देना अन्याय और फैशन का विनाश, एकता की स्थापना और देशभक्ति का प्रचार करना है।

६७६. कथानक—इसका कथानक पूर्ण रूप से कल्पनाप्रसूत, रूपकात्मक और परतन्त्रता और स्वतन्त्रता के संघर्ष को चित्रित करने वाला है। कथा इस प्रकार है—परतन्त्रता और स्वतन्त्रता में विरोध होता है। स्वतंत्रता के लिए, देशभक्त, सुधारचन्द, प्रेमसिंह, और उद्योगानन्द आदि प्रयास करते हैं। अन्त में

भारत स्वतन्त्र हो जाता है। इसके साथ ही फैशन, नवीनता, अन्याय, कूट और स्वार्थ का नाश हो जाता है।

६७७. पात्र—इसके पात्र रूपक और प्रतीक हैं। प्रकृतितत्व पात्र—रोगराज है। नैतिकतत्व पात्र—एकता, फैशन, नवीनता, अत्याचार हैं। मनोवैज्ञानिक पात्र—स्वार्थराज है। अन्य पात्र—पृथ्वीमाता, हिन्द, स्वतन्त्रता, प्राचीनता, परतन्त्रता, दुर्भिक्ष हैं। प्रतीक पात्र—अन्यायसिंह, धनहरण, दमनसिंह, खिलाफत खां, राजमतसिंह, सत्यपाल, उद्योगानन्द, सुधारचन्द और प्रेमसिंह हैं। कुछ प्रमुख पात्रों का परिचय नीचे दिया जा रहा है—

एकता—यह हिन्दुओं की एकता की प्रतीक है। जब अत्याचार स्वतंत्रता को पकड़ना चाहता है तब यह कहती है कि सावधान हो-और स्वतन्त्रता से क्षमा मांगो। (पृष्ठ ८२)

फैशन—यह अपना परिचय देता हुआ कहता है कि उसका नाम फैशन है और उसका काम बूढ़े को जवान और इन्सान को हैवान बना देना है। (पृ० १९)

अत्याचार—यह भारत में हुए अत्याचार का रूपक है। यह स्वतन्त्रता से कहता है कि अब वह सहन नहीं कर सकता है इसलिए वह उसके ऊपर वार करना चाहता है। (पृ० ८२)

पृथ्वीमाता—यह पृथ्वी की रूपक है।

स्वतन्त्रता—यह स्वतन्त्रता का रूपक है। यह परतन्त्रता से कहती है कि यह देश इतने दिनों तक रोग आदि से तेरे ही कारण आक्रान्त रहा है। अब तू क्यों नहीं छोड़ेगी। (पृष्ठ ८)

परतन्त्रता—यह स्वतन्त्रता के वचन का खण्डन करती हुई कहती है कि वह भारतवर्ष को अपने चंगुल से कभी नहीं छोड़ेगी। (पृष्ठ ९)

दुर्भिक्ष—यह अकाल का रूपक है। यह नाटक में भारत की दुर्दशा का करुण चित्र प्रदर्शित करता है।

६७८. यह नाटक तीन अंकों और ११२ पृष्ठों में समाप्त हुआ है।

५. डिक्टेटर

६७९. 'डिक्टेटर' नामक का रूपक नाटक के रचयिता पाण्डे बेचनशर्मा 'उग्र' हैं। इस नाटक का प्रकाशन सन् १९३७ में हुआ था।

६८०. उद्देश्य—इसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का वर्णन और जनता के आदर्श राज्य की स्थापना है।

६८१. कथानक—इसका कथानक कल्पित, रूपकात्मक और संघर्षात्मक

है। इसमें विभिन्न राष्ट्रों की विचारधाराओं का संघर्ष दिखाकर अन्त में सम्पूर्ण विश्व में एक राज्य के स्थापित होने की कामना की गई है जिसमें जनता का राज्य होगा, गरीब और दुःखी जनता स्वतन्त्र और सुखी रहेगी।

६८२. पात्र—इसमें प्रतीक पात्र का प्रयोग हुआ है। ये प्रतीक पात्र—जानबुल, अंकिलसाम, पेरी, डिक्टेटर, बकवादी, विप्लव हैं। इन पात्रों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया गया है—

जानबुल—यह ब्रिटिश साम्राज्य शाही का प्रतीक है। यह विप्लव के सम्बन्ध में कहता है कि ये महोदय साम्राज्यवाद का नाश चाहते हैं और गरीबों को बादशाह बनाने की धुन में इधर उधर फिर रहे हैं। (प्रथम अंक का दूसरा दृश्य)

अंकिलसाम—यह पूंजीवाद अमेरिका का प्रतीक है। अंकिल और जानबुल के बीच में जब बकवादी जो कि हिन्दुस्तान की जनता का प्रतीक है-बोलने लगता है तो यह कहता है कि गुलाम इण्डियन हमारे बीच में क्यों बोलने लगा।

(प्रथम अंक का दूसरा दृश्य)

पेरी—यह फ्रांस के प्रजावादी का प्रतीक है। यह विप्लव से कहता है कि आप धीरे-धीरे बोलिये। क्योंकि गाली देने से तर्क का प्रभाव घट जाता है।

(प्रथम अंक का दूसरा दृश्य)

डिक्टेटर—यह जर्मनी के बलवादी का प्रतीक है। यह एक सुन्दरी से कहता है कि वह पहाड़ में दबा हुआ ज्वालामुखी है। उसकी ज्वाला अब ठण्डी हो चुकी है, लावा बह गया है, राख भी उड़ गयी है। वह इस समय पूर्ण रूप से पराजित हो गया है। (प्रथम अंक तीसरा दृश्य)

बकवादी—यह भारतवर्ष का प्रतीक है। अंकलसाम के यह कहने पर कि यह गुलाम इंडियन बीच में क्यों बोलता है। यह उत्तर देता है कि क्योंकि हिन्दुस्तानी भी जनता माता का एक पुत्र है, इसलिए वह भी बोलने का अधिकारी है। (प्रथम अंक दूसरा दृश्य)

विप्लव—यह साम्यवाद का प्रतीक है। यह भारतमाता से कहता है कि अब उसके विश्व साम्राज्य का शासन पुत्र के नाम से नहीं, माता के नाम से हो। जनता पर जनता को ही राज्य करना चाहिये।

६८३. प्रस्तुत नाटक में तीन अंक हैं।

६. भारतराज

६८४. श्री लक्ष्मीकान्त मुक्त, ने सन् १९४९ में रूपक शैली में भारतराज नामक नाटक का प्रणयन किया।

६८५. उद्देश्य—इसका उद्देश्य राजनैतिक चेतना का जागरण और भारत की दशा का चित्रण करना है।

६८६. कथानक—इसका कथानक कल्पित, रूपकात्मक और संघर्षात्मक है। कथा इस प्रकार है। भारत में हिन्दू एक होने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु उनके आपसी झगड़े से भारत में अंग्रेजों का राज्य स्थापित हो जाता है। सन् १८५७ में अंग्रेजों के विरुद्ध भारी युद्ध होता है किन्तु सत्य के अभाव में भारतवासियों की पराजय होती है। अन्त में श्रद्धा देवी सन्देश देती हैं कि सत्य की साधना से भारत को पुनः ज्ञान, विज्ञान और शक्ति की प्राप्ति होगी।

६८७. पात्र—इसमें मुख्यतः रूपक पात्रों का प्रयोग हुआ है। आध्यात्मिक पात्र-धर्मराज, मनोवैज्ञानिक पात्र—श्रद्धा है। अन्य पात्र—भारतराज, कर्मराज है। प्रतीक पात्र—मित्रराज है। प्ररूप पात्र—विज्ञानवाला, पश्चिमी बाला है। इन पात्रों का सामान्य परिचय नीचे दिया जा रहा है :—

धर्मराज—यह हिन्दू विश्वासों का प्रतीक है। भारतराज के श्रद्धा को यह आश्वासन दिये जाने पर कि उसे घबड़ाना नहीं चाहिये क्योंकि धर्मराज उसकी एक टांग से भी रक्षा करेगा। धर्मराज स्वीकार कर लेता है।

श्रद्धा—यह भारतराज के प्रति भारतवासियों की विशुद्ध भक्ति भावना की प्रतीक है। यह भारतराज से कहती है कि ज्ञानहीन लोग उसकी दुर्दशा करेंगे।

भारतराज—यह भारतवर्ष का प्रतीक है। विज्ञान बाला के द्वारा चरण स्पर्श किये जाने पर क्रुद्ध होकर कहता है कि मेरा चरण छूकर मुझे अपवित्र मत करो।

कर्मराज—यह मुस्लिम राजा का प्रतीक है, जो कि केवल कर्म करने में विश्वास करता है। भारत राज्य के यह कहने पर कि जो मनुष्य कर्मान्ध हैं वे ईश्वर को कभी नहीं देख सकते, क्योंकि उनके नेत्र बन्द हो चुके होते हैं। कर्मराज कहता है कि कुरान तो कहती है कि खुदा का जलवा प्रत्येक वस्तु में होता है, उसे आंखों का अन्धा भी देख सकता है। (छठा दृश्य)

मित्रराज—यह ईस्ट इंडिया कम्पनी का संचालक है। पश्चिमी बाला के यह समझाने पर कि आजकल धर्मराज कमज़ोर पड़ गया है, अतएव वह कर्मराज पर आश्रित हो गया है। फलतः धर्मराज को तोड़ना आसान है, तो यह कहता है कि कर्मराज तो यहां के कण-कण में छाया हुआ है।

विज्ञानबाला—यह भारत की वैज्ञानिक शक्ति की प्रतीक है। यह भारत-राज के द्वारा ठुकराये जाने पर उससे कहती है कि उसे मत ठुकराओ अन्यथा जीवन भर पछताओगे। वह उसके लिए सुखों का द्वार खोल देगी।

पश्चिमी बाला—यह ईस्ट इंडिया कम्पनी की प्रतीक है। यह मित्रराज से कहती हैं कि वह कर्मराज की मदद के बदले भारत की जमीन को अपने राज्य में पहले से मिलाता चले।

६८८. तीन अंकों का यह नाटक ११८ पृष्ठों में समाप्त हुआ है।

६. सांस्कृतिक नाटक

६८९. भौतिक सभ्यता की अपूर्णता और आध्यात्मिक संस्कृति की पूर्णता को दिखाने के लिए भी हिन्दी साहित्य में "प्रबोधचन्द्रोदय" की रूपक शैली का अवलम्बन किया गया है। इस शैली के अवलम्बन से विकसित नाटक-प्रणाली को हम सांस्कृतिक रूपक प्रणाली कह सकते हैं। इस प्रणाली का हिन्दी साहित्य में केवल एक ही नाटक है और वह है कामना और उसके रचयिता हैं हिन्दी साहित्य के प्रख्यात नाटककार जयशंकर प्रसाद। नाटककार ने इसमें संस्कृति के स्वरूप का परिचय कराते हुए उसको अपनाने की प्रेरणा दी है।

'कामना' नाटक—जयशंकर प्रसाद ने इसकी रचना सन् १९२७ में की थी।

६९०. इसका उद्देश्य भौतिक सभ्यता और आध्यात्मिक संस्कृति के संघर्ष में आध्यात्मिक संस्कृति की विजय दिखाना और उसके महत्व को प्रतिष्ठित करना है।

६९१. कथानक—इसका कथानक कल्पित, रूपकात्मक और संघर्षात्मक है। कथा इस प्रकार है। आध्यात्मिक संस्कृति के अनुयायी फलों के देश में निवास करते हैं। वहीं पर सोना लेकर भौतिक सभ्यतावादी प्रवेश करते हैं। किन्तु भौतिक सभ्यता के विकास से प्रजा में कष्ट और असन्तोष फैलने लगता है, अतएव फूलों में निवास करने वाले लोग विलास और लालसा का सारा सोना नाव में लादकर विदा कर देते हैं। तब फूलों के देश के निवासी सुखी और सन्तुष्ट हो जाते हैं। प्रसाद जी ने रूपक पात्रों की सहायता से भारतीय संस्कृति की कल्याण-मयता और स्वतन्त्रता का शुभ सन्देश इन दोनों कार्यों को एक साथ प्रतिपादित किया है। इसका कथानक अतीव रोचकता-पूर्ण एवं प्रभावशाली है। इसमें उत्थान और विकास का क्रमिक रूप दिखाई पड़ता रहता है, जिसे हम मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कह सकते हैं।

६९२. पात्र—इसमें प्रयुक्त हुए पात्र मुख्यतः रूपक हैं। नैतिकतत्व पात्र—दुर्वृत्त और क्रूर हैं। मनोवैज्ञानिक पात्र-विलास, कामना, सन्तोष, दम्भ, लालसा महत्वकांक्षा, और करुणा हैं। अन्य पात्र—लीला है। अब हम इन पात्रों का सामान्य परिचय प्राप्त करेंगे।

दुर्वृत्त—यह इस नाटक का एक पात्र है जो दुराचार का रूपक है। परन्तु दुराचरण को ही यह धर्म और संस्कृति समझता है। प्रमदा और दम्भ के विलास-शील मनुष्यों के एकान्त संकेत स्थान के लिए नगर निर्माण की योजना बनने पर इसे बहुत प्रसन्नता होती है। यह कहता है कि इसमें सुन्दर महल, सार्वजनिक भोजनालय और मदिरा मन्दिरों को देखकर अर्द्धसभ्य देहाती विशेष आकर्षित होंगे, और इससे धर्म-संस्कृति का विशेष प्रचार होगा। (पृष्ठ ६५)

क्रूर—यह भी इस नाटक का एक पात्र है और क्रूरता का रूपक है। दम्भ के द्वारा निर्मित होने वाले नगर के विषय में इसकी धारणा है कि वहां अधिक सोने की आवश्यकता होगी-व्यय इतना होगा कि लोगों को अभाव ग्रस्त हो जाना पड़ेगा और अन्य स्थानों से सुन्दर वस्तुओं का संग्रह करने के लिए वहां उद्योगधन्धों की नींव डालनी होगी। (पृष्ठ ६६)

विलास—यह विलास का रूपक है। इसका कहना है कि मनुष्य की मनुष्यता सुखों, विलासों के संचय और उसके उपभोग में है। नियमों के भले और बुरे दोनों प्रकार के कर्त्तव्य होते हैं। (पृष्ठ ३६)

कामना—यह मानव की अभिलाषाओं की रूपक है। इसका कहना है कि वह जो कुछ प्राप्त है, उससे भी अधिक और महान् पाना चाहती है, चाहे वह कुछ भी हो।

सन्तोष—यह मनुष्य की निस्पृहता का सूचक है। यह हरे भरे खेतों, पहाड़ियों, झरनों, वृक्षों, गायों और उनके बच्चों को देखकर यही सोचता है कि इनसे भी अच्छा पदार्थ कोई दुनिया में होगा ?[१]

दम्भ—यह मनुष्य के ढोंग का मूर्तिमान रूप है। इसी ढोंग को प्रश्रय और बढ़ावा देने के लिए विलासियों के रमण के हेतु सुन्दर-सुन्दर नये भवनों से युक्त नगर-निर्माण की योजना बनाता है जिसमें मदिरा की नदियां प्रवाहित होंगी और उससे धर्म और संस्कृति के झरने प्रवाहित होंगे। (पृष्ठ ६५)

लालसा—यह मनुष्य की वह चित्तवृत्ति है जो जीवन में कभी भी सन्तोष का अनुभव नहीं करती। यह उन्मत्त विलास करने, मदिरा पीने और यथेच्छ विहार करने के उपरान्त भी असन्तुष्ट ही रहती है। (पृ० ७८)

महत्वाकांक्षा—यह मानव की उच्च अभिलाषाओं की रूपक है। इसका कहना है कि जब प्रकृति में किसी प्रकार का सीमा चिन्ह नहीं है तो वह अपने सुखों के अनन्त साधनों का विकास क्यों न करें। (पृष्ठ ८२-८३)

---

१. ये हरे भरे खेत, छोटी-छोटी पहाड़ियों से ढुलकते-मचलते हुए झर ने—कुछ न समझने वाले उन्मत्त समुद्र कहां मिलेंगे। (पृष्ठ ४)

करुणा—यह मनुष्य की यह चित्तवृत्ति है जिसे हम दया कहते हैं। काम करते-करते थक कर चूर हुए सन्तोष से यह कहती है कि उसे आज बहुत काम करना पड़ा है इसलिए वह थक गया होगा। अतएव उसे चलकर कुछ खा लेना चाहिये। (पृष्ठ ८२)

लीला—यह क्रीड़ा की प्रतीक है, और विनोद की प्रियतमा है। यह अपने को तारा की सन्तान कहती है। यह बन लक्ष्मी से कहती है कि मनुष्य के लिए जितना स्वाभाविक है, वही अच्छा है। अतः वह (वन लक्ष्मी) अभावों की सृष्टि करके जीवन को जटिल बना रही है। (पृ० १५)

६९३. इस नाटक में तीन अंक, ८ दृश्य और १०० पृष्ठ हैं। साहित्यिकता का पुट लिए हुए यह कृति-सर्वथा अनुपम है।

उपसंहार

६९४. अनेक स्वतंत्र रूपक नाटकों का अध्ययन करने के पश्चात् हमें अन्य विविध विषयों पर भी 'प्रबोधचन्द्रोदय' की शैली में रूपक और प्रतीकों से समन्वित नाटक मिलते हैं।

६९५. 'गृहस्थ सुधार' नामक एक ऐसी रचना है जिसमें गृहस्थ सुधार सम्बन्धी अनेक उपयोगी विषयों पर विचार किया गया है। विषय के अनुसार अध्यायों का विभाजन है। प्रत्येक अध्याय अभिनयात्मक रूप में लिखा गया है। अभिनय के चार पात्र हैं—'ज्ञानप्रकाश', 'सत्यव्रत', 'सन्तोष कुमारी' और 'उसकी सास'। इन पात्रों के नाम रूपकात्मक एवं प्रतीकात्मक हैं। ये ही पात्र प्रत्येक विषय का अपने जीवन की समस्या को हल करने के रूप में वर्णन करते हैं। कथोपकथन, प्रश्नोत्तर, भाषण, उपदेश आदि की योजना करके प्रत्येक अध्याय को रोचक बना दिया गया है और ज्ञान भी सहज ग्राह्य हो गया है। प्रस्तुत पुस्तक की रचना श्री महात्मा प्रभु जी आश्रित महाराज ने श्रावण २००१ विक्रमी में की थी।

६९६. 'कामदेव दमन नाटक' का प्रणयन प्यारेलाल गौतम 'हरी' ने चन्दौसी से किया है। इस नाटक का तृतीय संस्करण भार्गव प्रिंटिंग वर्क्स चन्दौसी से प्रकाशित हुआ है। धार्मिक भावों को मनोवैज्ञानिक ढंग से रूपक शैली में व्यक्त करने वाला यज्ञ शिक्षापूर्ण नाटक है। इस नाटक के रूपक पात्र—दंभ, ज्ञान, वैराग्य, शील, संतोष, धैर्य, विवेक, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, छल और अज्ञान हैं। इन रूपक पात्रों का चित्रण भी मनोवैज्ञानिक हुआ है।

६९७. 'स्वामी विवेकानन्द' नाटक मराठी भाषा का नाटक है। इसका अनुवाद पं० लक्ष्मीधर बाजपेयी ने (सं० १९७४) सन् १९१७ ई० में किया था।

इस नाटक के पात्रों का नाम भी भावतात्विक एवं प्रतीकात्मक है—चैत्यानन्द, विश्राम, शून्य हृदय, मत्सर, चतुर, असूया आदि। स्वामी विवेकानन्द के जीवन अमेरिका सम्बन्धी विशेष घटनायें इस नाटक का आधार हैं।

६९८. पौराणिक कथा लेकर भारतेन्दु जी ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में भी रूपक पात्रों का प्रयोग किया है, जैसे—पाप, धर्म, सत्य आदि प्रत्यक्ष पात्र के रूप में रंगमंच पर अभिनय करते हैं।

६९९. व्यास जी के शिष्य देव की रचना 'देवमाया प्रपंचनाटक'[१] नाम से मिलती है। यह रचना सत्रहवीं ई० शताब्दी की है। यह भावात्मक रचना प्रबोध-चन्द्रोदय की रूपक शैली में ही मानी गई है। विजयानन्द त्रिपाठी का एक 'महामोह विद्रावण नाटक' है। जिसकी रचना सन् १८८४ ई० की है। सम्भवत: इसमें मोहादिकों के पराजय की रूपक योजना है।[२] 'अद्भुत नाटक' कमलाचरण मिश्र की सन् १८८५ की रचना है। यह एक सामाजिक रूपक है।[३] रतनचन्द का 'न्याय सभा' नाटक भी एक राजनैतिक रूपकात्मक रचना है।[४] सन १९०४ में श्री किशोरी लाल ने 'नाट्य सम्भव' नाटक की रचना की थी। इसमें उन्होंने नाटक की कथा को रूपकात्मक शैली में व्यक्त किया है।[५] डा० सोमनाथ गुप्त जी ने दरियावसिंह

---

१. (क) हिन्दी साहित्य का इतिहास—पंडित रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ १७०।
(ख) हिन्दी नाट्य साहित्य—बाबू ब्रजरत्नदास, पृष्ठ ४६।
(ग) हिन्दी नवरत्न—मिश्रबन्धु, पृष्ठ २२०-२२१।
(घ) हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास, डा० दशरथ ओझा, पृ० ५०९

२. आधुनिक हिन्दी साहित्य—डा० वार्ष्णेय, पृ० २४३।

३. (क) हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, डा० सोमनाथ गुप्त, पृ० ८१-८२।
(ख) हिन्दी नाट्य साहित्य—बाबू ब्रजरत्नदास, पृ० ११५।

४. (क) हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास—डा० सोमनाथ गुप्त, पृष्ठ ८१-८२।
(ख) हिन्दी नाट्य साहित्य—बाबू ब्रजरत्नदास, पृ० ११२।
(ग) भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य—डा० गोपीनाथ तिवारी, पृष्ठ २२४।

५. (क) हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास, डा० सोमनाथ गुप्त, पृ० १२४।
(ख) भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य—डा० गोपीनाथ तिवारी, पृष्ठ ४०१।

के नाटक 'मृत्यु सभा' को एक रूपात्मक रचना माना है।[1] इसका रचनाकाल सन् १८९६ ई० है।

७००. इस प्रकार प्रबोधचन्द्रोदय की रूपकात्मक शैली में विविध प्रकार की स्वतंत्र रचनाएं मिलती हैं। अनुवादों और रूपान्तरों के अतिरिक्त स्वतंत्र रचनाओं का इन विविध प्रकारों में होना प्रबोधचन्द्रोदय की रूपक शैली की एक विस्तृत परम्परा को व्यक्त करता है।

नोट—प्रबोधचन्द्रोदय की हिन्दी परम्परा के स्वतंत्र रूपक नाटकों का (संक्षिप्त) परिचय आगे चार्ट (अ) में दिया गया है और पात्रों का विशेष अध्ययन चार्ट (ब) में दिया गया है।

---

१ हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास——डा. सोमनाथ गुप्त, पृ० ८१-८२।

(अ) स्वतन्त्र रूपक नाटकों का संक्षिप्त परिचय

क्रम संख्या	विभाजन	नाम व समय	उद्देश्य	कथा	पात्र-रूपक प्रतीक तथा प्ररूप
	१	२	३	४	५
१.	आध्यात्मिक	'विज्ञान नाटक'–शंकरानन्द (पहला भाग), सन् १९११ ई०, चतुर्थ प्रकाशन।	आत्मिक ज्ञान और विज्ञान स्वरूप ब्रह्मानन्द में आत्मा का लय होना।	नश्वर और सअत् संसार से निवृत्ति तथा विज्ञान स्वरूप मोक्ष प्राप्ति का प्रयत्न है।	मन (नट), विषयवासना (नटी), विज्ञान (राजा), प्रज्ञा (रानी), जीव (वृद्ध मनुष्य), श्रीगुरु साधु (ज्ञानी), शम (सिपाही), (श्रीगुरु के मन्त्री)–सन्तोष, सत्संग, विचार, ज्ञान (विवेक वैराग्य), द्वारपाल, समता (दफ्तर), सेना, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान।
२.	,,	'विज्ञान विजय नाटक'–शंकरानन्द (द्वितीय भाग), सन् १९१३ रचनाकाल	अहंकारादि विजय तथा विकारों पर सैद्धांतिक प्रतिपादन	सत और असत् का संघर्ष तथा सत् की विजय।	सतपक्ष–विज्ञान (महाराज), प्रज्ञा (रानी) वैराग्य, दया, वेद और सतसंग। असत-पक्ष–अज्ञान, काम, आलस्य, दम्भ, प्रवृत्ति।
३.	,,	'ज्ञान गुण दर्पण नाटक'–शंकरानन्द (तृतीय भाग), सन् १९१९ रचना काल	मुक्तिलाभ	मोक्ष संबंधी ज्ञान वार्ता और ज्ञान के आवश्यक गणों तथा प्रक्रियाओं को पात्र रूप देना।	मुमुक्षु, विज्ञान, प्रज्ञा, उपनिषद्, वेद, अभय, निवृत्ति, विश्वास, विवेक, क्षमा, भक्ति, समाधान, निदिध्यासन।

क्रम संख्या विभाजन	नाम व समय	उद्देश्य	कथा	पात्र-रूपक प्रतीक तथा प्ररूप
१	२	३	४	५
४. अध्यात्मिक	'लीला विज्ञान विनोद'—केशवानन्द जी, सन् १९११ रचनाकाल	ज्ञान प्रतिपादन और मोक्ष की ओर प्रवृत्ति।	सत्-असत् का संघर्ष और सत् की विजय	विज्ञानदेव, लीलादेवी, धनदास, अमीरी, जगत्कुमार, अहंकार, लोभ, धर्म, मन, विचार, फकीरी, सत्संग।
५. ,,	'मायावी'—श्री ज्ञानदत्तसिद्ध सन् १९२२ ई०, नवम्बर, रचनाकाल	सदाचार के व्यवहार और आत्मिक-सुधार से ज्ञानवान बनने का उद्देश्य	संसार की माया से सदात्मा का संघर्ष	सरलसिंह (शुद्ध पवित्रात्मा नायक), मायावी (मायाजाल प्रतिनायक), अंतसराम (अन्तःकरण), मंशाराम (मन), ज्ञानानन्द (सत्य और आत्मिक ज्ञान), बुद्धि (मानव बुद्धि-नायिका), फैशन और मदिरा।
६. ,,	'मुद्रिका'—सद्गुरु शरण अवस्थी, सन् १९३९ ई०, रचना	आध्यात्मिक ज्ञान के विश्लेषण से मत-मतातरों का समन्वय, नारी पुरुष की समान योग्यता की समस्या	मुद्रिका से संबंधित कथा में विभिन्न मतों के समन्वय का प्रतिपादन।	ओंकार, सोहम्, ईश, रसमूल, चिन्ता, माया।

म विभाजन ख्या	नाम व समय	उद्देश्य	कथा	पात्र-रूपक प्रतीक तथा प्रतीक
१	२	३	४	५
अध्यात्मिक	'सत्य का सैनिक'—नारायण प्रसाद बिन्दु, सन् १९४८ ई०, प्रथम प्रकाशन	वासनाओं का नाश, मोक्ष तथा व्यभिचारी साधुओं का सुधार	मानसिक विकारों के संघर्ष पर विजय तथा मोक्ष-प्राप्ति, साधु समाज के बाह्याडम्बर का चित्रण	सत्पक्ष—सत्व, रज, निवृत्ति, वैराग्य, ब्रह्मचर्य, ज्ञान, विवेक, विश्वास, भक्ति, प्रज्ञा, सरलता, विरक्ति और अभीप्सा। असत्पक्ष—तम, प्रवृत्ति, माया, अहं, क्रोध, लोभ, काम-वासना, आसक्ति, मोह, संशय।
साहित्यिक	'न घर का न घाट का'—जी० पी० श्रीवास्तव, सन् १९५१ छठा प्रकाशन	पत्र-पत्रिकाओं के नैतिक सुधार का साहित्यिक उद्देश्य।	समाजराय का पत्रिकाओं के विकास के सम्बन्ध में मतभेद, उसकी आलोचना और विकास की प्रेरणा है। अछूतोद्धार, ईसाई मत के प्रचार की समस्या का प्रसंगवश समावेश किया गया है।	समाजराय, जनताराय, पाठकमल सफाईराय, भारती शिक्षा, चांद।

क्रम संख्या	विभाजन	नाम व समय	उद्देश्य	कथा	पात्र-रूपक प्रतीक तथा प्ररूप
१		२	३	४	५
२.	साहित्यक	'पत्र-पत्रिका सम्मेलन'—जी० पी० श्रीवास्तव, सन् १९२५ ई० रचनाकाल।	साहित्य में हास्यरस की दुर्दशा का चित्रण।	पत्र-पत्रिकाओं के सम्मेलन में हास्यरस की दुर्दशा का चित्रण, पत्र-पत्रिकाओं की अवस्था का वर्णन भी होता है।	हास्य—प्रकृति का पति, समाज, भारत-माता का पुत्र, साहित्य-सम्मेलन का सभा-पति, चांद—मासिक पत्र, मतवाला, गोल-माल—हास्य पत्र, श्रीवेंकटेश्वर, भारतमित्र—ग्राम गजट (समाचार पत्र), प्रकृति (हास्य की स्त्री), कला, स्वाभाविकता (प्रकृति की बहनें), भारतमाता (समाज की माँ), शिक्षा (कला की नौकरानी), माधुरी, सरस्वती, प्रभा, गल्पमाला, मनो-रमा, मोहिनी (मासिक पत्रिकाएँ)।
१.	मनोवैज्ञानिक	'छलना'—भगवती प्रसाद बाजपेयी, रचना काल सन् १९३९ ई०	भौतिक जीवन से मनो-वैज्ञानिक असन्तुष्टि और आदर्श की प्रधानता।	एक परिवार में विलासता के कारण असंतुष्टि, विला-सता के समाप्त होने पर जीवन व्यवस्थित चित्रित किया गया है।	बलराज, विलासचन्द, नवीनचन्द्र, कल्पना, कामना।

क्रम संख्या	विभाजन	नाम व समय	उद्देश्य	कथा	पात्र-रूपक प्रतीक तथा प्ररूप
	१	२	३	४	५
२.	मनोवैज्ञानिक	'सन्तोष कहाँ'—सेठ गोविंददास, प्रथम प्रकाशन, सन् १९४५।	भौतिक जीवन से मनोवैज्ञानिक असंतुष्टि की समस्या का हल।	मनसाराम नामक पात्र के जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों की नाटकीय योजना है। मनसाराम को त्याग से ही सन्तुष्टि मिलती है।	मनसाराम और नीतिव्रत।
१.	सामाजिक	'भारत ललना'—खंगबहादुर मल्ल, द्वितीय प्रकाशन, सन् १९०६।	भारत और नारी की दुर्दशा का चित्रण और जागरण सन्देश।	कलिराज और धर्मराज के संघर्ष में नारी के दुर्भाग्य और सौभाग्य के संघर्ष की कथा।	असत्पक्ष पात्र—कलियुग राजा, दुर्भाग्य, रोग, क्रोध, मूर्खता, कलह, निद्रा, वैधव्य और विधवा विवाह। सतपक्ष—सौभाग्य, धर्म, पतिव्रत, उत्साह, उद्यम, विद्या, लक्ष्मी एकता, भारतमाता।
२.	,,	'मारवाड़ी घी'—एक जातीय हितैषी मारवाड़ी, प्रथम प्रकाशन, सन् १९१७ ई०।	मारवाड़ी (वनस्पति) की और समाज के दोषों का सुधार।	कलियुग के द्वारा घी के प्रचार का वर्णन और मारवाड़ी घी का प्रचार करनेवाले मारवाड़ी परिवार की कथा।	असत्पक्ष—कलियुग राजा (धर्मराज का विरोधी), अधर्म, पाखण्ड, वैर-विरोध, लोभ, मोह, स्वार्थपरता, फूट, अपव्यय, फिज़ूलखर्ची, मदिरा, जुआ। सत्पक्ष—सत्य और धर्म।

क्रम संख्या	विभाजन	नाम व समय	उद्देश्य	कथा	पात्र-रूपक प्रतीक तथा प्ररूप
	१	२	३	४	५
१.	राजनैतिक	'भारत दुर्दशा'—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, रचनाकाल सन् १८७६ ई०।	भारतकी दुर्दशाका चित्रण	भारत की दुर्दशा, स्वतत्रता के लिए सघर्ष, अत्यन्त कष्ट में भारत का अन्त।	भारत, भारत-भाग्य, सत्यानाश, रोग, फूट, डाह, लोभ, भय, मदिरा, आलस्य, अन्धकार, शोक, अश्रुमार्जन और निर्बलता, भारत दुर्दैव, डिस्लायल्टी, बंगाली, महाराष्ट्री, एडिटर, कवि।
२.	"	'अनोखा बलिदान'—उमाशंकर।	सच्चरित्रता के द्वारा कठोर परिश्रम से स्वतंत्रता प्राप्ति।	नारी की वीरता और त्याग से पुत्र को स्वराज्य-प्राप्ति की कथा।	नेकी, बदी, दुर्जन।
३.	"	'स्वर्ण देश का उद्धार'—इन्द्र विद्या वाचस्पति रचनाकाल सन् १९२१ ई०।	देशभक्ति का प्रचार और स्वतन्त्रता-प्राप्ति।	न्याय और अत्याचार का संघर्ष, अन्त में न्याय की विजय की कथा।	धर्म और क्रूर, धर्मप्राण, कर्मदास, अनन्त प्रभा, धनदास।
४.	"	'हिन्दू'—जमनादास मेहरा रचनाकाल सन् १९२२ई०	देशभक्ति का प्रचार और स्वतन्त्रता-प्राप्ति।	देश की स्वतन्त्रता के हेतु प्रयत्नों की कथा।	पृथ्वीमाता, हिन्द, स्वतन्त्रता, प्राचीनता, एक्यता, परतन्त्रता, फैशन, नवीनता, अन्यायसिंह, दुर्भिक्ष, रोगराज, अत्याचार, स्वार्थराज, धनहरण, दमनसिंह, खिला-

क्रम संख्या	विभाजन	नाम व समय	उद्देश्य	कथा	पात्र-रूपक प्रतीक तथा प्ररूप
	१	२	३	४	५
					फत खाँ, राजमतसिह, सत्यपाल, उद्योगानन्द, सुधारचन्द, प्रेमसिह।
	राजनैतिक	'डिक्टेटर'-बेचन शर्मा 'उग्र' प्रकाशन सन् १९३७।	आदर्श जनता राज्य की स्थापना	अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का चित्रण	जानबुल, अंकिलसाम, पेरी, डिक्टेटर, बकवादी, विप्लव।
	"	'भारत राज'—लक्ष्मीकांत, रचनाकाल सन् १९४९ई०	राजनैतिक चेतना का जागरण	विदेशी सत्ता से संघर्ष का चित्रण	भारतराज, धर्मराज, कर्मराज, मित्रराज, श्रद्धा, विज्ञानबाला, पश्चिमीबाला।
	संस्कृति	'कामना'—जयशंकरप्रसाद रचनाकाल सन् १९२७ई०	आध्यात्मिक सभ्यता की श्रेष्ठता-सिद्धि।	फूलदेश के निवासियों का भौतिक-संस्कृति से संघर्ष और आध्यात्मिकता से सुख शान्ति।	लीला, विलास, कामना, सन्तोष, क्रूर, दुर्वृत्त, दम्भ।

(ब) पात्रों का

विभाजन	नाम	तत्व रूपक		
		प्रकृति तत्व	नैतिक तत्व	आध्यात्मिक
१	२	३	४	५
१. आध्यात्मिक	विज्ञान नाटक		विषय वासना, तितिक्षा, दम, समता।	मन, विज्ञान, प्रज्ञा, जीव, शम, ज्ञान, सत्संग, वैराग्य, उपरति, विचार
२. ,,	विज्ञान-विजय			विज्ञान, प्रज्ञा, वैराग्य वेद, सत्संग, अज्ञान,
३. ,,	ज्ञानगुण दर्पण			मुमुक्षु, विज्ञान, प्रज्ञा, उपनिषद्, वेद, भक्ति, निदिध्यासन, निवृत्ति
४. ,,	लीला विज्ञान		फकीरी	विज्ञान, लीलादेवी, जगतकुमार, धर्म, मन, विचार, सत्संग
५. ,,	मायावी		फैशन, मदिरा	सरलसिंह (आत्मा), मायावी, अंतसराम, मंशाराम, ज्ञानचन्द
६. ,,	मुद्रिका			ओंकार, सोहं, ईश, रसमूल, माया
७. ,,	सत्य का सैनिक		सरलता, विरक्ति	सत्व, रज, निवृत्ति, वैराग्य, ब्रह्मचर्य, ज्ञान, भक्ति, प्रज्ञा, तम, प्रवृत्ति, माया
१. साहित्यिक	न घर का न घाट का			
२ ,,	पत्र-पत्रिका सम्मे-			

मनोवैज्ञानिक	अन्य	प्रतीक पात्र	प्ररूप पात्र
६	७	८	९
सन्तोष, विवेक, श्रद्धा, समाधान			साधु
दया, काम, दम्भ, प्रवृत्ति			
अभय, विश्वास, विवेक, क्षमा, समाधान			
अहंकार, लोभ	अमीरी	धनदेव	
बुद्धि			
चिन्ता			
अभीप्सा, विवेक, विश्वास, अहं, क्रोध, लोभ, काम, वासना, मोह, संशय, आसक्ति			
	समाज राय, जनता राय, पाठकमल, सफाईराय, भारती, शिक्षा, चाँद		
हास्य, प्रकृति	समाज, साहित्य, चाँद (मासिक पत्र), मत-वाला, गोलमाल (हास्य पत्र), कला, स्वाभा-विकता, भारतमाता, शिक्षा, माधुरी, सर-स्वती, प्रभा, गल्पमाला, मनोरमा, मोहिनी (मासिक पत्रिकाएँ)		

(ब) पात्रों का

विभाजन	नाम	तत्व रूपक		
		प्रकृति तत्व	नैतिक तत्व	आध्यात्मिक
१	२	३	४	६
१. मनोवैज्ञानिक	छलना		बलराज	
२. ,,	सन्तोष कहाँ ?		नीतिव्रत	
१. सामाजिक	भारत ललना	कलियुगराज, निद्रा	एकता, सत्य, मूर्खता, कलह, पतिव्रत, विधवा-विवाह	धर्म
२. ,,	मारवाड़ी घी	कलियुगराज	सत्य, अधर्म, पाखंड, विरोध, धर्म, अपव्यय, मदिरा, जुआ, फिजूल-खर्ची	
१. राजनैतिक	भारत दुर्दशा	रोग	सत्यानाश, मदिरा, आलस्य, अंधकार, अश्रुमार्जन, निर्बलता	
२. ,,	अनोखा बलिदान		नेकी, बदी, दुर्जन	
३. ,,	स्वर्णदेश का उधार		क्रूर	धर्म
४. ,,	हिन्दू	रोगराज	एकता, फैशन, नवीनता, अत्याचार	
५. ,,	डिक्टेटर			
६. ,,	भारतराज			धर्मराज
१. संस्कृति	कामना		दुर्वृत्त, क्रूर	

मनोवैज्ञानिक	अन्य	प्रतीक पात्र	प्ररूप पात्र
६	७	८	९
कल्पना, कामना, नवीन चन्द्र, विलासचन्द्र			
मनसाराम			
क्रोध, उत्साह, उद्यम	भारतमाता, दुर्भाग्य, सौभाग्य, वैधव्य, विद्या, लक्ष्मी		
वैर, लोभ, मोह, स्वार्थ-परता, फूट			
फूट, डाह, लोभ, भय, शोक	भारत, भारत-भाग्य, भारत-दुर्दैव, डिस्ला-यल्टी		बंगाली, महाराष्ट्री, एडिटर, कवि
	अनन्तप्रभा	कर्मदास, धनदास	
स्वार्थराज	पृथ्वीमाता, हिन्द, स्वतन्त्रता, प्राचीनता, परतन्त्रता, दुर्भिक्ष	अन्यायसिंह, धनहरण, दमनसिंह, खिलाफत खाँ, राजमतसिंह, सत्य-पाल, उद्योगानन्द, सुधारचन्द, प्रेमसिंह	
		जानबुल, अंकिल साम, पेरी, डिक्टेटर, बकवादी, विप्लव	
श्रद्धा	भारतराज, कर्मराज	मित्रराज	विज्ञानबाला, पश्चिमी बाला
विलास, कामना, सन्तोष, दम्भ	लीला		

अष्टम अध्याय

प्रबोधचन्द्रोदय की हिन्दी परम्परा के अंशतः प्रभावित नाटक

७०१. इससे पूर्व के अध्याय में विवेचित स्वतन्त्र रूपक नाटकों के अतिरिक्त हिन्दी साहित्य में कुछ ऐसी भी नाट्य रचनाएँ प्रस्तुत हुई जो 'प्रबोधचन्द्रोदय' की रूपक शैली से कथावस्तु, घटनाचक्र और अधिकांश पात्रों में नितान्त पार्थक्य रखती हैं, परन्तु उनके प्रसंग-प्राप्त कुछ पात्रों में 'प्रबोधचन्द्रोदय' की रूपक शैली की स्पष्ट छाया आलोकित होती है। तात्पर्य यह है कि ऐसे नाटकों में केवल कुछ पात्र ही 'प्रबोधचन्द्रोदय' की शैली के प्रयुक्त हुए हैं जब कि अन्य तत्व पूर्णतः मौलिक रहे हैं। निश्चय ही इन नाटकों को न तो हम 'प्रबोधचन्द्रोदय' के अनुवादों की कोटि के अन्तर्गत रख सकते हैं और न रूपान्तर और स्वतन्त्र रूपक नाटकों की ही कक्षा में प्रविष्ट कर सकते हैं, क्योंकि ये रचनाएँ सभी दृष्टियों से उपरोक्त रचनाओं से अपना पार्थक्य रखती हैं। ऐसी अवस्था मे इस प्रश्न का उत्तर कि इनको किस कोटि में रखा जाय, कुछ जटिल सा दिखलाई पड़ता है। हम देखते हैं कि इन रचनाओं में कुछ पात्र ही प्रबोधचन्द्रोदय की शैली से प्रभावित रहे हैं। इस प्रकार यह प्रभाव आंशिक रूप में ही हुआ है, यह स्पष्ट है। अतएव यदि हम इन नाटकों को प्रबोध-चन्द्रोदय की हिन्दी परम्परा में अंशतः प्रभावित नाटक—कहें तो कदाचित् सत्य के अधिक निकट होगा। प्रस्तुत अध्याय में हम इसी नाम से इन नाटकों में प्रबोध-चन्द्रोदय के प्रभाव (पात्रों का) का अध्ययन करेंगे।

७०२. इस कोटि की जितनी भी रचनाएँ उपलब्ध हो सकी हैं,[1] उनका सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर उन्हें निम्नलिखित श्रेणियों में, अधिक सुविधा के साथ, विभाजित किया जा सकता है—

१. धार्मिक सुधार सम्बन्धी

२. सामाजिक सुधार सम्बन्धी

---

१. रचनाओं के नाम चार्ट में द्रष्टव्य हैं।

३. राजनैतिक

७०३. अब हम उपरोक्त शीर्षकों के अन्तर्गत आने वाली नाट्य रचनाओं का उद्देश्य तथा सामान्य परिचय के साथ उनके पात्रों का अध्ययन क्रमशः करेंगे।

७०४. उद्देश्य—प्रत्येक रचना के मूल में कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है। इस दृष्टि से यदि हम इन नाटकों पर विचार करें तो स्पष्टतः प्रतीत होगा कि उपरोक्त तीनों श्रेणियों के नाटकों के पृथक् पृथक् उद्देश्य थे। अब हम यहां यह देखने का प्रयास करेंगे कि किस श्रेणी के नाटकों का उनकी रचना के पीछे क्या उद्देश्य था।

७०५. धार्मिक सुधार सम्बन्धी—सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो इस श्रेणी के सभी नाटकों में उद्देश्य के रूप में धार्मिकता का सूत्र चाहे यह सुधार के रूप में हो या अपने वास्तविक स्वरूप में—ओतप्रोत है। फिर भी—प्रत्येक रचना में इस सामान्य उद्देश्य के अन्तर्गत उनके अवान्तर उद्देश्य भी निहित हैं—जैसे 'अत्याचार का अन्त' नामक नाटक का उद्देश्य धर्म के आत्मिक बल की विजय दिखाकर अत्याचार की पराजय के द्वारा देश का जागरण, रखा गया है तथा 'कलि युगागमन' का उद्देश्य कालेज के विद्यार्थियों को उपदेश देना, निर्धारित है। ये दोनों ही धार्मिकता की परिधि में आते हैं। इसी प्रकार किसी का उद्देश्य सत्य पालन की शिक्षा देना, किसी का धार्मिक सुधार के द्वारा देश की स्वतन्त्रता को बल देना, किसी का नास्तिकों को आस्तिकता का उपदेश, मदिरापान आदि दोषों से सावधान करना और वनस्पति घी के प्रचार का विरोध करना, किसी का व्यभिचारी साधुओं में सुधार की आकांक्षा, किसी का बुद्ध भगवान् की अहिंसा के प्रचार की उद्दाम अभिलाषा का होना, किसी का मानवजीवन के ऊपर मनोविकारों के प्रभाव का अंकन, किसी का न्यायपूर्ण व्यवहार से धर्म की विजय दिखाना, किसी का अत्याचारों और विपत्तियों पर धर्म की विजय का चित्रण और किसी का उद्देश्य महात्मा निम्बार्क के सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार तथा साधुओं के सुधार से सम्बन्धित रहा है।

७०६. सामाजिक-सुधार-सम्बन्धी—इस श्रेणी के भी सभी नाटकों में यद्यपि सामान्य रूप से सामाजिक सुधार का ही उद्देश्य मुखर रहा है फिर भी पृथक् पृथक् इसके कई स्तर देखे जा सकते हैं—जैसे 'जनकनन्दिनी' में भगवती जानकी के चरित्र के आधार पर नारी समाज के चरित्र को सुधारने का उद्देश्य सामने रखा गया है। इसी प्रकार किसी का उद्देश्य विद्यार्थियों को शिक्षा प्रसार की प्रेरणा देना, किसी का अनमेल विवाह को रोकना और लोगों में देशभक्ति का प्रचार करना, किसी का बाल-विवाह से होने वाले दोषों से लोगों को सावधान करना, किसी का सूद की प्रथा में सुधार और गांव की जागृति करना, किसी का ब्राह्मणों के पाखण्डों का

उद्घाटन तथा वेश्या एवं हरिजनों की दीन दशा को सुधार के साथ देश भक्ति का प्रचार करना, किसी का बालकों को निर्भीक और वीर बनने की प्रेरणा देना, किसी का सत्य की विजय और असत्य की पराजय को चित्रित करना, किसी का नारी चरित्र की पवित्रता का वर्णन करना और किसी का विवाह सम्बन्धी कुरीतियों को दूर करने की उत्कट इच्छा का होना रहा है।

७०७. राजनैतिक—प्रायः इस श्रेणी के सभी नाटकों में देश की राजनैतिक स्थिति ही मुखर रही है। यह दूसरी बात है कि उसकी पृष्ठभूमि में कुछ दूसरे उद्देय भी झांकते प्रतीत हों। उदाहरण के लिए—'आजकल' नामक नाटक में देश की राजनैतिक स्थिति के पीछे महात्मा गान्धी के अहिंसा-सिद्धान्त के प्रचार की कामना छिपी हुई है। अन्य नाटकों के विशेष उद्देश्य यों है—किसी का उद्देश्य देशभक्ति का प्रचार करना, किसी का देश में जागृति की भावना को प्रसारित करना, किसी में स्वतन्त्रता प्राप्ति रूपी लक्ष्य की ओर देश की जनता को अग्रसर करना तथा हिन्दू और मुसलमान—इन दोनों ही जातियों के बीच एकता उत्पन्न करने का प्रयास करना, किसी का देश में नारी-जागृति को प्रोत्साहन देना, किसी का हिन्दू-मुसलिम सम्प्रदायों में एकता लाते हुए देशभक्ति का प्रचार करना, किसी का देश की विभिन्न जातियों में सौजन्य और ऐक्य की ज्योति जगा कर स्वतन्त्रता के लिए जनता को प्रेरित करना, किसी का सत्य और अहिंसा का प्रचार करना और किसी का देशभक्ति का विकास करना रहा है।

७०८. कथानक—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इन नाटकों के कथानकों के ऊपर प्रबोधचन्द्रोदय के रूपकात्मक कथानक का कोई प्रभाव दृष्टिगत नहीं होता। कथानक के आधार पर हम इन्हें विशुद्ध साहित्यिक नाटक कह सकते है। परन्तु फिर भी इनमें प्रसगतः कथानक के किसी अंश में उसके आदि मध्य या अन्त में आंशिक रूप से ही रूपक शैली का आभास मिल जाता है। इन अंशों में दो-चार रूपक पात्र किसी उद्देश्य-विशेष के लिए रंगमंच पर लाए जाते हैं और नाटककार अपना उद्देश्य पूरा कर इन्हें विदा कर देता है। उदाहरण के लिए 'अत्याचार का अन्त' नामक धार्मिक नाटक में कंस-वध की कथा है। इसके कथा के प्रारम्भ के पूर्व ही लेखक ने एक प्रसंग में परतन्त्र भारत की स्थिति का वर्णन रूपक पात्रों के द्वारा कराकर उन्हें रंगमंच से तिरोहित कर दिया है। 'जनकनन्दिनी' जो कि एक सामाजिक नाटक है और जिसमें भवभूति के 'उत्तर राम चरित' से मिलती जुलती सीता-वनवास की कथा दी गई है—की कथा के प्रारम्भ में ही भावतात्विक और रूपकात्मक—अहंकार और क्रोध आदि—पात्रों का प्रयोग कर कथानक को गतिशील बनाया गया है। उसी प्रकार 'आजकल' नामक राजनैतिक नाटक के कथानक में

प्रसंगवश दो प्रतीक पात्रों––व्यंगलाल और सत्यव्रत––की योजना की गई है। इन्हीं दोनों पात्रो के द्वारा गान्धी जी की अहिंसा और सत्य के पालन की व्यवस्था कराई गई है। अब हम इन तीनों ही श्रेणियों के नाटकों के कथानकों का सामान्य परिचय देंगे।

७०९. धार्मिक-सुधार-सम्बन्धी––इस श्रेणी के सभी नाटकों में कथानक धार्मिकता का पुट लिए हुए है। इनमें से किसी में यदि कंस-वध की कथा है तो किसी में राजा परीक्षित की, किसी में सत्यवादी हरिश्चन्द्र का कथानक है तो किसी में महात्मा बुद्ध का, किसी में विभिन्न प्रसंगों के आधार पर धार्मिक सुधार की कथा है तो किसी में सुदामा और कृष्ण की कथा दी हुई है, किसी में धार्मिक जीवन व्यतीत करने वाले किसी धनी परिवार की कथा दी गई है तो किसी में किसी धार्मिक राजा की कथा है। इसी प्रकार एक नाटक में श्री निम्बार्क महामुनीन्द्र का चरित्र अंकित किया गया है। तात्पर्य यह कि सभी के कथानकों में धार्मिकता भरी हुई है।

७१०. सामाजिक सुधार-सम्बन्धी––इस वर्ग के सभी नाटकों में कथानक सामाजिक सुधार से ही सम्बन्ध रखने वाले है। इनमें से, यदि किसी में अधिक अध्ययन की इच्छा रखने वाले किसी बालक की करुण कहानी दी हुई है तो किसी में सती सीता के वनवास की कथा दी गई है, किसी में किसी धनिक पुत्र की कथा है तो किसी में अज्ञान-चन्द्र नामक किसी मूर्ख की कथा है, किसी में सूदखोर महाजन की कथा है तो किसी में कानूनीमल वकील साहब की कथा है, किसी में स्काउटों का कथानक चित्रित किया गया है तो किसी में किसी झूठबोलने वाले व्यक्ति की कथा का अंकन किया गया है, किसी में किसी साहसी नारी द्वारा अपने सतीत्व की रक्षा के प्रयत्न की कथा है तो किसी में किसी व्यक्ति के द्वारा अपनी भांजी के विवाह के लिए एक व्यक्ति की हत्या के लिए प्रयास का कथानक दिया गया है। निष्कर्ष यह है कि समाज के किसी न किसी वर्ग से सम्बन्धित ही कथानक इनमें दिए हुए हैं।

७११. राजनैतिक––इस वर्ग के नाटकों के कथानकों में देश की तत्कालीन राजनैतिक स्थिति का सजीव चित्र अंकित किया गया है। इनमें से, यदि, किसी में अहिंसा और सत्याग्रह के अनुयायी किसी देशभक्त की कहानी दी गई है तो किसी में न्याय-पथ पर चलने वाले किसी देशभक्त के द्वारा देश की शासन-सत्ता के प्राप्त करने की कथा है, यदि किसी में देशभक्तों के चुनाव और अंग्रेज़ों के शासन प्रबन्ध की कहानी है, तो किसी में दो देशभक्त परिवारों की कथा अंकित है, किसी में नारी जागृति के सम्बन्ध में कोई कथानक दिया हुआ है तो किसी में राज्य-विशेष में रहने वाले हिन्दुओं और मुसलमानों की एकता के सूत्र में बांधने की कथा दी गई है, किसी में भारत की स्वतन्त्रता के लिए हिन्दू-मुसलमान, सिख और ईसाई आदि जातियों

के सम्मिलित प्रयत्न की कथा का संयोजन किया गया है तो किसी में अत्याचारी राजा से प्रजा के संघर्ष और उसकी विजय की कथा चित्रित की गई है। इसी प्रकार एक में एक देशभक्त की कहानी दी गई है। कहने का तात्पर्य यह है कि इन सभी नाटकों के कथानक राजनीति की किसी न किसी गतिविधि से परिपूर्ण हैं।

७१२. पात्र—जैसा कि पहले बताया गया है कि इन नाटकों के पात्रों पर ही प्रबोधचन्द्रोदय की रूपकात्मक शैली का कुछ प्रभाव पड़ा है। अतः अब हमें यह देखना है कि इन नाटकों में कुल कितने रूपकात्मक भावतात्विक पात्र प्रयुक्त हुए हैं, उनका स्वरूप क्या रहा है, अमुक पात्र कितने नाटकों में प्रयुक्त हुआ है तथा इन पात्रों की प्रबोधचन्द्रोदय और स्वतन्त्र रूपक नाटकों के पात्रों से कितनी समता और विषमता है आदि। इसके लिए हमें प्रथम उद्देश्यों के आधार पर विभाजित नाटकों में पात्रों के प्रयोग को देखना आवश्यक होगा। धार्मिक सुधार सम्बन्धी—नाटकों में निम्नलिखित रूपकात्मक भावतात्विक प्रतीक और प्ररूप पात्र प्रयुक्त हुए हैं—

धर्म, लज्जा, शान्ति, दया, एकता,सत्य, सरस्वती, भारतमाता, प्रेम। विचार, कलियुग, कुमत, मदिरा, रोगराज, आलस, चौपटसिंह। सत्य, पाप। भारतमाता, धर्म, द्वापर, क्रोध, कलि, पाप, फूटदेव। कलियुगराज, अधर्म, काम, मोह, लोभ, क्रोध, अहंकार, तृष्णा, मदिरा, जीवनशाह, धनदास, नास्तिक, चातक (वेश्या), पादड़ी। पृथ्वीमाता, शान्ति, दया, धर्म, पाखण्ड, स्वार्थ, हिंसा, धनपति, साधु, पुजारी, स्त्री। भक्ति, लोभ, अशान्ति। धर्मपाल, न्यायसेन। धर्म, अधर्म, धर्मसेन। करुणा, दया, सौशील्य, सौहार्द, स्वामिता, सत्यप्रतिज्ञता, कृतज्ञता, शरण्यता, उदारता, धीरता, वीरता, वैराग्य, ज्ञान, भक्ति, धर्मानन्द, शिष्य, उलूकानन्द, और मूर्खानन्द।[1]

७१३. सामाजिक-सुधार-सम्बन्धी नाटकों में निम्नलिखित रूपकात्मक भावतात्विक प्रतीक और प्ररूप पात्र प्रयुक्त हुए हैं—

आशा, आत्मसम्मान, कर्तव्य, छात्र। पाप, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, भावी, कर्म। ज्ञानप्रकाश, धर्मदास, स्वार्थचन्द्र, लोलूपचन्द, क्रूरसिंह। अज्ञानचन्द्र, दुराचारीसिंह, रंगीलेसिंह, सूदीमल, सुधारचन्द। कानूनीमल, यमदूत, यमराज, धर्मराज, ढबढब पाण्डेय, भग्गू चौधरी, मनमोहिनी (वेश्या)। धोखेराम, अविद्या बाई, विद्यावती, ज्ञानचन्द, साहसनाथ, तर्कप्रसाद। फूटचन्द, ठीकचन्द चन्द्रोदयसिंह, दुर्जनसिंह, ज्ञानचन्द, स्वार्थ बुद्धि, क्षुद्रबुद्धि, अज्ञानसिंह, उन्मत्तसिंह, धृष्ट बुद्धि, करोड़ीमल। मनहूसलाल, कम्बख्तलाल, दुखदेई, धोतीप्रसाद और बिगड़े दिल।[2]

---

१. देखिये चार्ट (अ)

२. देखिये चार्ट (अ)

७१४. राजनैतिक नाटकों में निम्नलिखित रूपकात्मक भावतात्विक प्रतीक और प्ररूप पात्र प्रयुक्त हैं---

व्यंगलाल, सत्यव्रत। ज्ञानशंकर, जालिमसिंह, चौपटानन्द। बेढ़गासिंह, उपाध्याय, खुशामदचन्द, पेटूलाल, अमृतलाल। शक्ति, धर्म, भारतमाता, कर्मवीर, बीरबल, ईमानदार, धर्म, भारतमाता ब्रिटेनिका, नारीजाति, सत्यधर्म, प्रेम, ऐक्य, शान्ति, बुद्ध सत्व, फूट, मदिरा, आलस्य, दुर्दैव। भारतमाता, हिन्दू, मुसलमान, बंगाली, सिक्ख, सत्यवक्ता, वक्रसेन, प्रकाशचन्द और दुर्जनसिंह।[1]

७१५. विभाजन---उपरोक्त तीनों प्रकार के नाटकों में प्रयुक्त सभी पात्रों को हम निम्नलिखित वर्गों में विभाजित कर सकते हैं---१, तत्वरूपक, २. प्रतीक और प्ररूप।

(क) तत्वरूपक---वर्ग के पात्रों को पांच उपवर्गों में विभाजित किया जा सकता है---प्रकृति तत्व, नैतिक तत्व, आध्यात्मिक, मनोवैज्ञानिक और अन्य।

प्रकृतितत्व---में ये पात्र आते हैं---कलियुग, रोगराज, द्वापर, कलि, कलियुगराज और यमराज।

नैतिक तत्व---में ये पात्र आते हैं---कुमत, मदिरा, आलस, चौपट सिंह, सत्य, पाप, फूटदेव, अधर्म, मदिरा, पाखण्ड, अधर्म, स्वामिता, सत्य प्रतिज्ञता, कृतज्ञता, शरण्यता, उदारता, धीरता, वीरता, कर्तव्य, पाप, धोखेराम, अविद्याबाई, विद्यावती, ज्ञानचन्द, एकता, फूट, मदिरा और आलस्य।

आध्यात्मिक---में ये पात्र आते हैं---धर्म, धर्म, धर्म, शक्ति, धर्म, वैराग्य, ज्ञान, भक्ति, धर्मराज, धर्म, धर्म, सत्य और धर्म।

मनोवैज्ञानिक---में ये पात्र आते हैं---लज्जा, शान्ति, दया, प्रेम, एकता, विचार, क्रोध, काम, मोह, लोभ, क्रोध, अहंकार, तृष्णा, शान्ति, दया, स्वार्थ, हिंसा, लोभ, अशान्ति, करुणा, दया, सौशील्य, सौहार्द, आशा, आतमसम्मान, कांम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, साहसनाथ, तर्क प्रसाद, प्रेम और शान्ति।

अन्य---में ये पात्र आते हैं---सरस्वती, भारतमाता, भारतमाता, पृथ्वीमाता, भावी, कर्म, यमदूत, शक्ति, भारतमाता, भारतमाता, बुद्ध-सत्व, दुर्दैव और भारतमाता।

(ख) प्रतीक---वर्ग में निम्नलिखित पात्र आते हैं---जीवनशाह, धनदास, धर्मपाल, न्यायसेन, धर्मसेन, ज्ञानप्रकाश, धर्मदास, स्वार्थचन्द, लोलुपचन्द, कूरसिंह, अज्ञानचन्द, दुराचारीसिंह, रंगीलेसिंह, सूदीमल, सुधीरचन्द, कानूनीमल, झूठचन्द,

---

१ देखिये चार्ट (अ)

ठीकचन्द, चद्रोदयसिंह, ज्ञानचन्द्र, स्वार्थ बुद्धि, क्षुद्र बुद्धि, अज्ञान सिंह, उन्मत्तसिंह धृष्टबुद्धि, करोड़ीमल, मनहूसलाल, कम्बख्तलाल, दुखदेई, धोतीप्रसाद, बिगड़ दिल, व्यंगलाल, सत्यव्रत, ज्ञानशंकर, जालिमसिंह, चौपटानन्द, बेढगासिंह, उपाध्याय, खुशामदचन्द, पेटूलाल, अमृतलाल, कर्मवीर, वीरबल, ईमानदार, सत्यवक्ता, वक्रसेन, प्रकाशचन्द्र और दुर्जनसिंह।

(ग) प्ररूप—वर्ग के अन्तर्गत निम्नलिखित पात्र आते हैं : नास्तिक, चातक (वेश्या), पादड़ी, धनपति, पुजारी, साधु, स्त्री, धर्मानन्द, शिष्य, उलूकानन्द, मूर्खानन्द, छात्र, ढबढब पाण्डे, भग्गू चौधरी, मनमोहिनी, ब्रिटेनिका, नारी जाति, हिन्दू, मुसलमान, बंगाली और सिक्ख।

किस पात्र का कितने नाटकों में प्रयोग हुआ

७१६. सामान्यतः अधिकांश पात्र एक ही नाटक में प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु कुछ ऐसे भी पात्र है जो दो या उससे अधिक नाटकों में प्रयुक्त हुए है। नीचे एक से अधिक नाटकों में प्रयुक्त होने वाले पात्रों की सूची दी जा रही है।

७१७. दो नाटकों में प्रयुक्त होने वाले पात्र इस प्रकार हैं—अधर्म, अहंकार आलस, एकता, कलियुग, काम, दुर्जनसिह, प्रेम, झूठदेव, भक्ति, मोह और ज्ञानचन्द।

७१८. तीन नाटकों में प्रयुक्त पात्र इस प्रकार है : क्रोध, दया, पाप, मदिरा, लोभ, शान्ति और सत्य।

७१९. पांच नाटकों में 'भारतमाता' नाम पात्र और नौ नाटकों में 'धर्म' नामक पात्र का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त सभी पात्र एक-एक नाटक में प्रयुक्त हुए है।

स्वरूपतः एक होते हुए भी विभिन्न नामों से प्रयोग

७२०. इन पात्रों में कुछ पात्र ऐसे भी है जो अर्थ में तो समान हैं किन्तु नाटककारों के द्वारा विभिन्नता लाने के उद्देश्य से भिन्न-भिन्न नामों से प्रयुक्त किए गये हैं। ऐसे पात्रों की सूची निम्नलिखित है :

कलि, कलियुग, कलियुगराज।

अज्ञानचन्द, अविद्याबाई, अज्ञानसिंह, प्रकाशचन्द।

करोड़ीमल, धनदास, धनपति।

कानूनीमल, तर्क प्रसाद।

क्रूरसिंह, जालिमसिंह, दुराचारीसिंह, दुर्जनसिंह, धृष्टबुद्धि, बिगड़े दिल, उन्मत्तसिंह।

चौपटसिंह, चौपटानन्द, मूर्खानन्द।
धर्मपाल, धर्मानन्द, धर्मदास, न्यायसेन।
सत्यव्रत, सत्यवक्ता।
ज्ञानप्रकाश, ज्ञानचन्द, ज्ञानशंकर।
कर्म, कर्तव्य।

स्वतन्त्र रूपक नाटकों के पात्रों से समता

७२१. स्वतन्त्र रूपक नाटकों और इन नाटकों के निम्नलिखित पात्र, अर्थ और रूप दोनों मे समता रखते है :

अधर्म, अहंकार, आलस, काम, क्रोध, कलियुग, दया, धनदास, फूट, बंगाली, भक्ति, भारतमाता, मदिरा, मोह, रोग, विचार, वैराग्य, स्वार्थ, सत्य और ज्ञान।

कुछ पात्र थोड़े से रूपान्तर के पश्चात् रूपकनाटक के पात्रों से समता रखते हैं। जैसे——

अज्ञान	अज्ञानचन्द
क्रूर	क्रूरसिंह
कर्मदास	कर्मवीर
दुर्जन	दुर्जनसिंह
प्रेमसिंह	प्रेम
भारत दुर्दैव	दुर्दैव
मूर्खता	मूर्खानन्द
स्वार्थपरता	स्वार्थचन्द
ज्ञानानन्द	ज्ञानचन्द

स्वतन्त्र रूपक नाटकों में अप्रयुक्त पात्र

७२२. इन अंशत: प्रभावित नाटकों में कुछ ऐसे पात्रों का भी प्रयोग हुआ है जो स्वतन्त्र रूपक नाटकों में प्रयुक्त नहीं हुए हैं, जैसे——लज्जा, तृष्णा, शान्ति, हिंसा, स्वामिता, सत्यप्रतिज्ञता, कृतज्ञता, शरण्यता, शौशील्य, वीरता, आत्म-सम्मान, छात्र, भावी, द्वापर, चौपटसिंह, उन्मत्तसिंह, कम्बख्तलाल, धोतीप्रसाद, बेढंगासिंह, उपाध्याय, ईमानदार, धोखेराम, ढबढब पाण्डेय, भग्ग चौधरी, रंगीले सिंह और व्यंगलाल आदि।

प्रबोध चन्द्रोदय के पात्रों से समता

७२३. इन नाटकों के निम्नलिखित पात्र प्रबोधचन्द्रोदय के पात्रों से समता रखते हैं :—

विचार, वैराग्य, मोह, काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, कलियुग, हिंसा, तृष्णा, शान्ति और करुणा। प्रबोधचन्द्रोदय का चार्वाक इन नाटकों में 'नास्तिक' के रूप में प्रयुक्त हुआ है।

पात्रों की उपादेयता

७२४. प्रबोधचन्द्रोदय की शैली के पात्रों से प्रभावित हिन्दी परम्परा में प्रयुक्त पात्रों की कई उपयोगिताओं को ध्यान में रखकर प्रयोग किया गया है। नीचे हम उन उपयोगिताओं और उनके लिए प्रयुक्त पात्रों का सामान्य विवरण प्रस्तुत करेंगे।

७२५. इन राजनैतिक, सामाजिक, एवं धार्मिक नाटकों में प्रबोधचन्द्रोदय की हिन्दी परम्परा में जिन रूपक, प्रतीक और प्ररूप पात्रों का प्रयोग हुआ है, उनसे नाटककारों की समस्याएं सजीव रूप में चित्रित हो सकी हैं और उनके द्वारा दिये गये सुधार और समाधान की सत्प्रेरणा सदा के लिए अमर हो गई।

७२६. नाटककारों ने समाज की भावना के संस्कार और परिष्कार के लिए, सद्भावनाओं के रूपक पात्रों का प्रयोग करके समाज को आदर्श-भावना-सम्पन्न बनाना चाहा। इसके लिए उन्होंने लज्जा, शान्ति, दया, प्रेम, विचार, करुणा, सौशील्य, सौहार्द, स्वामिता, सत्यप्रतिज्ञता, कृतज्ञता, शरण्यता, उदारता, धीरता, वीरता, वैराग्य, आशा, आत्मसम्मान, कर्तव्य, कर्म और शक्ति जैसे रूपक पात्रों का प्रयोग किया।

७२७. इन नाटककारों ने इन आदर्श भावनाओं से सम्पन्न समाज की कल्पना करके स्वतन्त्र देश की दृढ़ नींव डालनी चाही थी। उस समय का समाज लोभ, मोह, तृष्णा और फूट आदि भावनाओं के कारण पतनोन्मुख हो रहा था। उस पतनोन्मुख समाज का सच्चा चित्र खींचने के लिये नाटककारों ने पाप, क्रोध, काम, मोह, लोभ, क्रोध, अहंकार, तृष्णा, पाखण्ड, स्वार्थ, हिंसा, अशान्ति और फूट जैसे असद्भावनाओं के पात्रों को रंगमंच पर उतारा।

७२८. उस समय के समाज में धार्मिक विश्वास अधिक था। यह धार्मिकता अधिकांश में अन्धविश्वास की संकुचित सीमा में जकड़ी हुई थी। उस संकुचित सीमा का परित्याग कर, धर्म को व्यापक स्वरूप देने की उद्दाम कामना से इन नाटककारों ने धर्म, सत्य, सरस्वती, भक्ति और ज्ञान जैसे धार्मिक पात्रों का प्रयोग किया। इसके अतिरिक्त इन नाटककारों का ध्यान समाज में व्याप्त नैतिक दोषों की ओर भी

गया। उनसे समाज को मुक्त करने के लिए उसमें पूर्ण नैतिकता की प्राण-प्रतिष्ठा करने के लिए और उन दोषों का जिनके कि कारण समाज दूषित हो चुका था, स्वरूपोद्घाटन करने के निमित्त इन नाटककारों ने चौपटसिंह, स्वार्थचन्द, लोलुप-चन्द, धनपति, क्रूरसिंह, अज्ञानचन्द, दुराचारीसिंह, रंगीले सिंह, धोखेराम, झूठचन्द, दुर्जनसिंह, स्वार्थबुद्धि, क्षुद्रबुद्धि, उन्मत्तसिंह, धृष्टबुद्धि, करोड़ीमल, मनहूसलाल, कम्बख्तलाल, दुखदेई, बिगड़ेदिल, जालिमसिंह, चौपटनानन्द, बेढंगासिंह उपाध्याय, खुशामदचन्द और वक्रसेन जैसे नैतिक दोष वाले पात्रों का प्रयोग किया है ताकि लोग इनके स्वरूप को समझ सकें।

७२९. इन नैतिक दोषों के अलावा समाज में अनेक प्रकार के दोष प्रविष्ट हो गये थे। जैसे कलह का होना, अधर्म की भावना की वृद्धि का होना, लोगों में नाना प्रकार की विपरीत बुद्धियों का सद्भाव, मदिरापान, गन्दे रहने के कारण रोगों का चारों तरफ फैलना, समाज का अकर्मण्य होकर बैठा रहना, लोगों में वेश्यागमन की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलना, सूदखोर सेठों के द्वारा गरीब जनता से सूद पर सूद लेकर उनका सर्वस्व अपहरण कर लेना,लोगों में अशिक्षा के साम्राज्य का फैलना, रूढ़िवादी लोगों का अपनी विनाशकारिणी परम्पराओं से चिपटे रहना तथा लोगों के धन को एकत्रित कर उनको किसी भी कार्य में न लाना आदि उस समय अतीव वृद्धि पर थे। इन सब दोषों को समाज से दूर करने की कल्पना से ही इन नाटककारों ने निम्न लिखित पात्रों का प्रयोग कर व्यंग्य रूप से समाज पर कठोर प्रहार किया है। वे पात्र निम्न हैं:—

कुमति, मदिरा, रोगराज, आलस, चातक 'वेश्या', सूदीमल, अविद्याबाई, धोतीप्रसाद और पेटूलाल।

७३०. इसके अतिरिक्त उस समय के समाज में एक क्रान्तिकारी सुधार का आन्दोलन चल रहा था। इसके लिए इन लोगों ने निम्नलिखित पात्रों का प्रयोग कर समाज के सम्मुख धर्म के सत्य स्वरूप को उपस्थित करने की चेष्टा की। यह कार्य इन पात्रों के द्वारा किया गया:—

एकता, भारतमाता, पृथ्वीमाता, न्यायसेन, धर्मसेन, छात्र, ज्ञानप्रकाश, धर्म-दास, सुधारचन्द, कानूनीमल, विद्यावती, ज्ञानचन्द, साहसनाथ, तर्कप्रसाद, ठीकचन्द, व्यंग्यलाल, सत्यव्रत, ज्ञानशंकर, अमृतलाल, कर्मवीर, ईमानदार, नारी जाति, सत्यवक्ता आदि।

७३१. इन सबके अलावा उस समय के समाज में फैले नास्तिकों, जिनके कि कारण समाज में अनैतिकता एवं अनुशासन हीनता की भावना की वृद्धि होती है—लोगों में अराष्ट्रीय भावनाओं को भड़काने वाले पादरी, समाज को दूषित करने

वाले साधु और पुजारी, दुनियां को मूर्ख बनाने वाले लोग और ढोंगियों के प्रभाव से समाज को मुक्त करने की आवश्यकता भी बनी हुई थी। इन सबके लिए इन लोगों ने नास्तिक, पादड़ी, साधु, पुजारी, धर्मानन्द, शिष्य, उलूकानन्द, मूर्खानन्द, ढबढब पाण्डेय और भग्गू चौधरी जैसे पात्रों का प्रयोग किया है।

७३२. इन सब दोषों के मूल कारण में विद्यमान हैं कलियुग और अधर्म। इन लोगों ने कलियुग के दोषों और अधर्म के सभी अत्याचारों को समाज के समक्ष रखने के उद्देश्य से ही इन कलियुग और अधर्म जैसे पात्रों का प्रयोग किया है।

७३३. इन पात्रों के अलावा ब्रिटेनिका, बंगाली और सिक्ख जैसे प्ररूप पात्र भी इसमें प्रयुक्त हुए हैं। उनका उद्देश्य तत्कालीन समाज में होने वाली तत्त्त प्रान्तीय एवं देशज भावनाओं को चित्रित कर उनके दोषों की ओर संकेत करना है।

७३४. इस प्रकार उपरोक्त पात्रों के प्रयोग के द्वारा इन नाटककारों ने समाज और उस समय की राजनीति आदि में आए हुए जिन दोषों के परिहार की चेष्टा की थी—वे दोष आज भी—भारत के स्वतन्त्र होने के एक दशक बाद भी—वर्तमान हैं। अतएव इस दिशा में किये गये उपरोक्त नाटककारों के प्रयत्नों की आज के युग में कम आवश्यंकता नहीं है। इन दोषों को दूर करने के लिए उपरोक्त नाटकों के रूपक-प्रतीक एवं प्ररूप पात्र अपने मत एवं सजीव रूप में मानो उन्हें चुनौती दे रहे हैं।

नोट—प्रबोधचन्द्रोदय की हिन्दी परम्परा के अंशतः प्रभावित नाटकों का (संक्षिप्त) परिचय आगे चार्ट (अ) में दिया गया है और पात्रों का विशेष अध्ययन चार्ट (ब) में दिया गया है।

अंशतः प्रभावित नाटकों का संक्षिप्त परिचय

क्रम संख्या	विभाजन	नाम व समय	उद्देश्य	कथा	पात्र
	१	२	३	४	५
१.	धार्मिकसुधार	'अत्याचार का अंत'–श्री वशिष्ठ, प्रथम प्रकाशन, सन् १९२२	धर्म के आत्मिक बल की विजय अत्याचार की पराजय दिखा कर देश के जागरण का उद्देश्य।	कंस बध की कथा के साथ ही भारत की अवस्था का चित्रण।	धर्म, लज्जा, शान्ति, दया, एकता, सत्य, सरस्वती, भारतमाता, प्रेम।
२.	,,	'कलियुगागमन'–पं० रामेश्वरदत्त, तृतीय प्रकाशन, सन् १९२२ ई०	कालेज विद्यार्थियों को सदुपदेश	राजा परीक्षित की कथा	सतपक्ष–धर्म, विचार। असतपक्ष–कलियुग, कुमत, मदिरा, रोगराज, आलस, चौपटसिंह।
३.	,,	'सत्य हरिश्चन्द्र'–मास्टर नियादरसिंह, प्रथम प्रकाशन सन् १९३६।	सत्यपालन की शिक्षा	सत्यवादी हरिश्चन्द्र की कथा	सतपक्ष–सत्य। असतपक्ष–पाप।
४.	,,	'कर्मवीर'–पं० रेवतीनंदन भूषण, प्रथम प्रकाशन, सन् १९२५ ई०	धार्मिक सुधार की प्रेरणा से समाज और देश की उन्नति।	राजा परीक्षित की कथा के साथ भारतदेश की दशा का चित्रण।	सतपक्ष–भारतमाता, धर्म और द्वापर। असतपक्ष–क्रोध, कलि, पाप और फूटदेव।

क्रम संख्या	विभाजन	न म व समय	उद्देश्य	कथा	पात्र
	१	२	३	४	५
५.	धार्मिकसुधार	'जीवन मुक्त नाटक'—पं० भगवानदत्त पाण्डेय, प्रथम प्रकाशन, सन् १९१७ ई०	नास्तिकों को आस्तिकता का उपदेश मदिरा और वेश्यादि दोषों का सुधार, मारवाड़ी घी के प्रचार का विरोध।	एक ज्ञानी साधु विभिन्न प्रसंगों में सुधार लाने का प्रयत्न करता है।	कलियुगराज, अधर्म, काम, मोह, लोभ, क्रोध, अहंकार, तृष्णा, मदिरा, जीवनशाह, धनदास, नास्तिक, चातक (वेश्या), पादड़ी।
६.	,,	'बुद्धदेव'—श्री विश्वम्भर सहाय, प्रकाशन सन् १९३५	बुद्धमत की दया, अहिंसा का प्रचार, व्यभिचारी साधुओं का सुधार	महात्मा बुद्ध के जीवन की कथा	पृथ्वीमाता, शान्ति, दया, धर्म, पाखण्ड, स्वार्थ, हिंसा, धनपति, साधु, पुजारी, स्त्री।
७.	,,	'दीन नरेश'—प्रो० सरनामसिंह शर्मा 'अरुण', प्रकाशन जयपुर से।	मनोविकारों का प्रभाव	सुदामा और कृष्ण की कथा	भक्ति, लोभ, अशान्ति।
८.	,,	'स्वार्थी ससार'—श्री दास, प्रकाशन उपन्यास बहार आफिस।	न्यायपूर्ण व्यवहार से धर्म की विजय।	न्यायपूर्ण जीवन व्यतीत करनेवाले धनी परिवार की कथा।	धर्मपाल, न्यायसेन।

क्रम संख्या	विभाजन	नाम व समय	उद्देश्य	कथा	पात्र
१		२	३	४	५
९.	धार्मिकसुधार	'अधर्म का अन्त'—श्री मोहन लाल गुप्त, प्रकाशन, सन् १९३८ ई०।	अन्याचारों विपत्तियों पर धर्म की विजय।	धर्मपालन करनेवाले राजा की कथा।	धर्म, अधर्म, धर्मसेन।
१०.	,,	'श्री निम्बार्कावतरण'—दान बिहारीलाल शर्मा, प्रथम प्रकाशन, सन् १९३२ ई०।	श्री निम्बार्क के सिद्धांतों का प्रचार तथा साधुओं का सुधार।	श्री निम्बार्क का जीवन-चरित्र	करुणा, दया, सौशील्य, सौहार्द, स्वामिता, सत्य, प्रतिज्ञता, कृतज्ञता, शरण्यता, उदारता, धीरता, वीरता, वैराग्य, ज्ञान, भक्ति, धर्मानन्द, शिष्य, उलूकानन्द, मूर्खानन्द।
११.	सामाजिक	'छात्र दुर्दशा'—पाण्डेय लोचन शर्मा, प्रकाशन, सन् १९१५।	विद्यार्थियों में शिक्षा प्रसार की प्रेरणा।	अधिक अध्ययन करने की इच्छा करने वाले विद्यार्थी की करुण कहानी।	आशा, आत्मसम्मान, कर्तव्य, छात्र।
१२.	सामाजिक सुधार	'जनक नन्दिनी'—पण्डित तुलसीदत्त शैदा, प्रथम प्रकाशन, सन् १९२५ ई०।	नारी के सच्चरित्र का चित्रण।	सती सीता की बनवास की कथा।	पाप, काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार, भावी, कर्म।

क्रम संख्या	विभाजन	नाम व समय	उद्देश्य	कथा	पात्र
१		२	३	४	५
१३.	सामाजिक सुधार	'भारत रमणी'—श्री दुर्गा-प्रसाद जी, प्रथम प्रकाशन, सन् १९२३ ई०।	अनमेल विवाह का सुधार और देशभक्ति का प्रचार	एक धनी पुत्र की कथा है।	सतपक्ष—ज्ञानप्रकाश, धर्मदास। असतपक्ष—स्वार्थचन्द्र, लोलुपचन्द, क्रूरसिंह।
१४.	,,	'बाल्य विवाह दूषक,—पं० देवदत्त मिश्र, प्रथम प्रकाशन सन् १८८५ ई०।	बालविवाह के दोषों का सुधार।	अज्ञानचन्द नामक एक मूर्ख की कथा।	अज्ञानचन्द, दुराचारीसिंह, रंगीलेसिंह।
१५.	,,	लकड़बग्घा'—श्री जी०पी० श्रीवास्तव, सन् १९२७ ई० ई० के लगभग रचना।	सूदकी प्रथाका सुधार और गाँव की जनता में जागृति।	सूदखोर महाजन की कथा	सूदीमल, सुधारचन्द।
१६.	,,	'लोक परलोक'—श्री जी० पी० श्रीवास्तव, प्रथम प्रकाशन, सन् १९५० ई०।	ब्राह्मणों के पाखण्ड का, वेश्या का तथा हरिजनों का सुधार के साथ देशभक्ति का प्रचार।	कानूनीम वकील की कथा है उसमें अन्य उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अन्य प्रासंगिक कथाएँ भी मिली हुई हैं।	कानूनीमल, यमदूत, यमराज, धर्मराज, ढबढब पाण्डे, भग्गू चौधरी, मनमोहिनी वेश्या।

क्रम संख्या	विभाजन	नाम व समय	उद्देश्य	कथा	पात्र
१		२	३	४	५
१७.	सामाजिक सुधार	'सच्चा भूत'—पं० दशरथ ओझा, बाल नाटक माला का प्रकाशन सन् १९४६ ई०	बालकों को निडर और वीर बनने की प्रेरणा।	स्काउटों की कथा।	घोखेराम, अविद्याबाई, विद्यावती, ज्ञानचन्द, साहसनाथ, तर्कप्रसाद।
१८.	,,	'सच की खोज'—पं० विद्याप्रसाद जी शुक्ल, प्रकाशन, सन् १९४६ ई०।	सत्य की विजय, झूठ की पराजय।	एक झूठ बोलने वाले व्यक्ति की कथा।	झूठचन्द, ठीकचन्द।
१९.	,,	'सती चरित्र नाटक'—श्री हनुमंत सिंह रघुवंशी, रचना सन् १९०१ ई०।	नारी चरित्र की पवित्रता का वर्णन।	साहसी नारी द्वारा अपने सतीत्व की रक्षा करने की कथा।	चन्द्रोदयसिंह, दुर्जनसिंह, ज्ञानचन्द्र, स्वार्थबुद्धि, क्षुद्र बुद्धि, अज्ञानसिंह, उन्मत्तसिंह, धृष्ट बुद्धि, करोड़ीमल।
२०.	,,	'गड़बड़ झाला'—श्री जी० पी० श्रीवास्तव, छठा प्रकाशन, सन् १९५१ ई०।	विवाह सम्बन्धी कुरीतियों का सुधार।	अपनी भांजी के विवाह के लिए एक प्रयत्नशील व्यक्ति की कथा।	मनहूसलाल, कम्बख्तलाल, दुखदेई, धोतीप्रसाद, बिगड़े दिल।
२१.	राजनैतिक	'आजकल'—श्री ताराप्रसाद वर्मा, प्रकाशन १९३९ ई०।	गांधी के अहिंसा और सत्याग्रह का प्रचार।	अहिंसा और सत्याग्रह के अनुयायी देशभक्त की कहानी।	व्यंगलाल और सत्यव्रत।

क्रम संख्या	विभाजन	नाम व समय	उद्देश्य	कथा	पात्र
	१	२	३	४	५
२२.	,,	'कराल चक्र'—श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय, प्रथम प्रकाशन, सन् १९३३ ई०।	देशभक्ति का प्रचार	न्याय के अनुयायी देशभक्त को शासन सत्ता प्राप्त होने की कथा।	ज्ञानशंकर, जालिमसिंह, चौपटानन्द।
२३.	,,	'कौंसिल के उम्मीदवार'—पं० हरशंकर प्रसाद उपाध्याय, प्रथम प्रकाशन, सन् १९२१ ई०।	देश जागृति	देशभक्तों के चुनाव और अंग्रेज़ों के शासन प्रबन्ध की कथा।	बेढंगासिंह, उपाध्याय, खुशामदचन्द, पेटूलाल तथा अमृतलाल।
२४.	राजनैतिक	'देश दीपक'—लाला किशनलाल जेवा, प्रथम, संस्क०, सन् १९२२ ई०।	स्वतन्त्रता प्राप्ति और हिन्दू मुस्लिम एकता।	दो देशभक्त परिवारों की कथा।	शक्ति, धर्म, भारतमाता, कर्मवीर, बीरबल, ईमानदार।
२५.	,,	'भारतमाता'—श्री राधेश्याम कथावाचक, रचना, सन् १९१९ ई०।	देश में नारी जागृति।	नारी जागृति की कथा।	धर्म और भारतमाता, ब्रिटेनिका, नारी-जाति।

क्रम विभाजन संख्या		नाम व समय	उद्देश्य	कथा	पात्र
१		२	३	४	५
२६.	,,	'भारतोदय'—पण्डित रामगोपाल मिश्र, प्रकाशन सन् १९३० ई०।	हिन्दू मुस्लिम एकता देशभक्ति का प्रचार।	हिन्दू और मुसलमानों की एकता की एक राज्य से सम्बन्धित कथा।	सतपक्ष—सत्य, धर्म, प्रेम, ऐक्य, शान्ति, बुद्ध, सत्व । असतपक्ष—फूट, मदिरा, आलस्य और दुर्दैव।
२७.	,,	'भारतवर्ष'—श्रीदुर्गाप्रसाद गुरु, प्रकाशन उपन्यास बहार आफिस।	विभिन्न जातियों की एकता और देशभक्ति का प्रचार	हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई आदि सभी जातियों के सम्मिलित प्रयत्न से भारतमाता के प्रसन्न होने की कथा।	भारतमाता, हिन्दू, मुसलमान, बंगाली और सिख।
२८.	,,	'सत्यविजय'—कवि गोकुलप्रसाद, द्वितीय सं० उपन्यास न्यास बहार आफिस	सत्य अहिंसा का प्रचार।	अत्याचारी राजा से संघर्ष और सत्य की विजय।	सत्यवक्ता, वक्रसेन।
२९.	,,	'संघर्ष'—श्री छगनलाल जैन प्रकाशन १९४९ ई०।	देशभक्ति का प्रचार।	एक देशभक्त की कथा।	प्रकाशचन्द्र और दुर्जनसिंह।

(ब) पात्रों का

विभाजन	नाटक का नाम	तत्व रूपक		
		प्रकृति तत्व	नैतिक तत्व	आध्यात्मिक
१	२	३	४	५
१. धार्मिक सुधार	अत्याचार का अंत		सत्व	धर्म
२. ,,	कलियुगागमन	कलियुग, रोगराज	कुमत, मदिरा, आलस, चौपटसिंह	धर्म
३. ,,	सत्य हरिश्चन्द्र		सत्य, पाप	
४. ,,	कर्मवीर	द्वापर, कलि	पाप, फूटदेव	धर्म
५. ,,	जीवनमुक्त नाटक	कलियुग राज	अधर्म, मदिरा	
६. ,,	बुद्धदेव		पाखण्ड	
७. ,,	दीन नरेश			भक्ति
८. ,,	स्वार्थी संसार			
९. ,,	अधर्म का अन्त		अधर्म	धर्म
१०. ,,	श्री निम्बार्क		स्वामिता, सत्य, प्रतिज्ञता, कृतज्ञता, शरण्यता, उदारता, धीरता, वीरता	वैराग्य, ज्ञान, भक्ति
१. सामाजिक सुधार	छात्र दुर्दशा		कर्त्तव्य	
२: ,,	जनकनन्दिनी		पाप	
३: ,,	भारत-रमणी			
४. ,,	बाल्यविवाह दूषक			
५. ,,	लकड़बग्घा			

		प्रतीक पात्र	प्रतिनिधि पात्र
मनोवैज्ञानिक	अन्य		
६	७	८	९
लज्जा, शान्ति, दया, प्रम, एकता	सरस्वती, भारतमाता		
विचार			
क्रोध	भारतमाता		
काम, मोह, लोभ, क्रोध, अहंकार, तृष्णा		जीवनशाह, धनदास	नास्तिक, चातक (वेश्या) पादड़ी
शान्ति, दया, धर्म, स्वार्थ, हिंसा	पृथ्वीमाता		धनपति, पुजारी, साधु, स्त्री
लोभ, अशान्ति			
		धर्मपाल, न्यायसेन	
		धर्मसेन	
करुणा, दया, सौशील्य, सौहार्द			धर्मानन्द, शिष्य, उलूकानन्द, मूर्खानन्द (साधु)
आशा, आत्मसम्मान			छात्र
काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार	भावी, कर्म		
		ज्ञानप्रकाश, धर्मदास, स्वार्थचन्द, लोलुपचन्द, क्रूरसिंह	
		अज्ञानचन्द, दुराचारीसिंह, रंगीलेसिंह	
		सूदीमल, सुधारचन्द	

(ब) पात्रों का

विभाजन	नाटक का नाम	तत्व रूपक		
		प्रकृति तत्व	नैतिक तत्व	आध्यात्मिक
१	२	३	४	५
६. ,,	लोक परलोक	यमराज		धर्मराज
७. ,,	सच्चा-भूत		धोखेराम, अविद्या-बाई, विद्यावती, ज्ञानचन्द	
८. ,,	सच की खोज			
९. ,,	सतीचरित्र नाटक			
१०. ,,	गड़बड़झाला			
१. राजनैतिक	आजकल			
२. ,,	करालचक्र			
३. ,,	कौंसिल के उम्मीद-वार			
४. ,,	देशदीपक			धर्म
५. ,,	भारतमाता			धर्म
६. ,,	भारतोदय		एकता, फूट, मदिरा, आलस्य।	सत्य, धर्म
७. ,,	भारतवर्ष			
८. ,,	सत्य विजय			
९. ,,	संघर्ष			

मनोवैज्ञानिक	अन्य	प्रतीक पात्र	प्रतिनिधि पात्र
६	७	८	९
	यमदूत	कानूनीमल	ढवढव पाण्डे, भग्गू चौधरी, मनमोहिनी
साहसनाथ, तर्कप्रसाद			
		झूठचन्द, ठीकचन्द	
		चन्द्रोदयसिंह, दुर्जनसिंह, ज्ञानचन्द, स्वार्थबुद्धि, क्षुद्र बुद्धि, अज्ञानसिंह, उन्मत्तसिंह, धृष्टबुद्धि, करोड़ीमल	
		मनहूसलाल, कम्बख्तलाल, दुखदेई, धोतीप्रसाद, बिगड़े दिल	
		व्यंगलाल, सत्यव्रत	
		ज्ञानशंकर, जालिमसिंह, चौपटानन्द	
		बेढंगासिंह उपाध्याय, खुशामदचन्द, पेटूलाल, अमृतलाल	
	शक्ति, भारतमाता	कर्मवीर, बीरबल, ईमानदार	
	भारतमाता		
प्रेम, शान्ति	बुद्धसत्व, दुर्दैव		
	भारतमाता		हिन्दू, मुसलमान, बंगाली और सिक्ख
		सत्यवक्ता, वक्रसेन	
		प्रकाशचन्द्र, दुर्जनसिंह	

नवम अध्याय

प्रबोधचन्द्रोदय की हिन्दी परम्परा में धर्म और संस्कृति

७३५. विगत अध्यायों में 'प्रबोधचन्द्रोदय' और उसकी हिन्दी परम्परा में आने वाले अनुवादों, रूपान्तरों, स्वतन्त्र रूपक नाटकों एवं अंशतः प्रभावित रचनाओं का एक आलोचनात्मक एवं शास्त्रीय अध्ययन कर लेने के उपरान्त उपरोक्त परम्परा में धर्म और संस्कृति का अध्ययन करना अतीव आवश्यक प्रतीत होता है। धर्म और संस्कृति समाज का प्राण या जीवन होती है। अतएव उस समाज में रहनेवाले ग्रन्थ के लेखक और उसकी परम्परा के प्रवर्तकों में अनिवार्य रूप से ग्रन्थकार की अनिच्छा के होते हुए भी, हठात् उसके कुछ तत्व आ मिलते हैं। इसी धर्म और संस्कृति के तत्व समूह के कारण ही उन ग्रन्थों और रचनाओं में जीवनी शक्ति का उदय होता है जिसके बल पर वे कल्पान्त तक अजर और अमर बने रहते हैं। परन्तु जिन ग्रन्थों में इस जीवनी शक्ति का अभाव होता है वे अकाल में ही काल कवलित होते देखे गये हैं। इस प्रकार विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि धर्म और संस्कृति वे आधार स्तम्भ हैं जिनके आधार पर किसी देश या समाज तथा जिनका चित्रण करने पर किसी ग्रन्थ के जीवन-प्रासाद का स्थायित्व निर्भर करता है। 'प्रबोध-चन्द्रोदय' ने महान् गौरव, अपूर्व जीवनी शक्ति और विशाल परम्परा के प्रवर्तनमें उसके, तत्कालीन देश और समाज के विभिन्न वर्गों और सम्प्रदायों के विकीर्ण सांस्कृतिक तत्वों के समन्वयात्मक प्रस्तुतीकरण में जो योगदान किया है, वह इतिहास के पृष्ठों में स्वर्णाक्षरों में अंकित है, और सुदूर भविष्य में भी अंकित रहेगा। संस्कृति के इस महत्व को देखते हुए यह आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी प्रतीत होता है कि यह देखा जावे कि उस महान् ग्रन्थ की विशाल परम्परा में उसके सांस्कृतिक तत्वों का किस सीमा तक संरक्षण हो पाया है और किस सीमा तक, परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों में अंकुरित नवीन सांस्कृतिक चेतना का संस्थापन किया गया है।

७३६. जैसा कि देख चुके हैं—यह परम्परा बहुत विशाल है। एक तो इसमें

आने वाले कुछ ग्रन्थों का अभी तक ठीक से काल निर्धारण भी नहीं हो पाया है तथा कुछ ऐसे भी ग्रन्थ हैं जिनमें सांस्कृतिक तत्वों को खोज निकालना कोई सरल कार्य नहीं, क्योंकि वे 'प्रबोधचन्द्रोदय' के केवल अनुवाद होने के कारण अपने समय की संस्कृति का चित्रण अपने आप में ठीक से प्रस्तुत न कर सके, साथ ही अनुवादों के अव्यवस्थित, विशृंखल और मनमाना छोटा बड़ा कर देने के कारण 'प्रबोधचन्द्रोदय' में चित्रित संस्कृति का भी संग्क्षण इनमें नहीं हो सका है। दूसरे इस परम्परा में प्राप्त स्वतन्त्र रूपक नाटकों एवं अंशतः प्रभावित रचनाओं में अवश्य ही नवीन समाज की नयी सांस्कृतिक चेतना जागरूक है। परन्तु इसका अध्ययन पृथक् अनुसन्धान की अपेक्षा रखता है। अतः हम यहां पर केवल प्रबोधचन्द्रोदय के अनुवादों और रूपान्तरों में प्राप्त सामग्री के आधार पर झलकने वाले धर्म और संस्कृति के तत्वों की एक झलक मात्र प्रस्तुत करते हैं।

७३७ अब यहां पर पहले अनुवादों, उसके बाद रूपान्तरों का अध्ययन करेंगे। इनमें भी हम 'कालक्रम' के अनुसार एक-एक को लेंगे।

७३८ मल्ह कवि का अनुवाद (१५४४ ई०)—इस अनुवाद में अत्यन्त संक्षेप से काम लिया गया है। फलस्वरूप 'प्रबोधचन्द्रोदय' के दार्शनिक स्थलों का अनुवाद बहुत ही संक्षिप्त हो गया है। इसलिए धर्म और संस्कृति के ऊपर इससे अधिक प्रकाश नहीं पड़ता। कही कहीं कुछ तत्व विखरे अवश्य हैं, जैसे—जैन साधु को 'खोना', कापालिक को 'जंगम' और बौद्ध साधु को 'भिखू' कहा गया है। साथ ही साधुओं के व्यभिचार का भी वर्णन किया गया है। इससे जहां यह सिद्ध होता है कि कवि ने अनुवाद को मूल रूप के निकट लाने का प्रयास किया है, वहां यह भी सिद्ध होता है कि उस समय के समाज में धार्मिक बाह्याडम्बरों की प्रधानता थी। साधुओं का प्रचार था। जनता साधारणतया इन लोगों के चक्कर में फंस जाती थी। जैन साधुओं को 'खोना' और कापालिकों को 'जंगम' कहा जाना, तत्कालीन समाज की देन है।

इसी प्रकार—

दिप्तदेह पुनि तिलक ललाटा।
शंख चक्र भूप परे पाटा।।छन्द ५।।

यह प्रकट करता है कि साधुओं का एक सम्प्रदाय ललाट में तिलक और बाहुओं में शंख और चक्र का चिन्ह धारण करता था।

७३९ महाराज जसवन्तसिंह का अनुवाद (सन् १६४३)—यह अनुवाद भी सांस्कृतिक अंशों को जैन, बौद्ध आदि की आलोचना को संक्षेप में प्रस्तुत

करता है। फिर भी व्यभिचारी साधुओं के आडम्बरों का विस्तृत वर्णन किया गया है। गम्भीर तत्वों के विवेचन में लेखक नहीं गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि उस समय के समाज में किन्हीं कारणों से जैनियों और बौद्धों की आलोचना की प्रवृत्ति घट रही थी—जब कि साधुओं के आडम्बर अपने पूर्ण यौवन पर थे। लड़ाई झगड़े के कारण शायद धार्मिकों में दर्शन शास्त्र की ओर झुकाव कम हो गया था। इसमें 'विष्णु भक्ति' के स्थान पर 'आसतिकता' को लाया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि उस समय के समाज में विष्णुभक्ति का कोई विशेष महत्व नहीं रह गया था। इसलिए सभी में ग्राह्य 'आसतिकता' को ही जसवन्त सिंह जी ने पात्र रूप में ग्रहण किया।

७४०. ब्रजवासीदास का अनुवाद (१७६० ई०)—इसमें विस्तार से पाखण्डों एवं आडम्बरों का वर्णन किया गया है। इसके वर्णन से प्रतीत होता है कि समाज में अन्धविश्वास जड़ जमाए हुए थे। वैष्णव सम्प्रदाय के लोग छापा-तिलक का प्रयोग करते थे। यति, सेवरा, साधु और संन्यासी आदि को आपस में कलह करते देख प्रतीत होता कि ये लोग अपने लक्ष्य तत्व चिन्तन से पराङमुख होकर केवल बकवादी हो गये थे। जैसे—

लम्बी धोती कटि तट लसै। नामांकित जु उपरना लसे।
टोपी अति चटकीली लाल। छापा तिलक विराजत भाल।
चारु जनेऊ अरु उरु माल। नैन रसील वचन रसीले।
इत उत धरी पोथी धनी। तकिया गादी उज्ज्वल बनी।।

इसके इन पद्यों से उस समय के पाखण्डी धार्मिक समाज का चित्र प्रत्यक्ष हो जाता है।

७४१. गुलाबसिंह का अनुवाद (सन् १७८९)—गुलाबसिंह जी सिक्ख मत के अनुयायी थे। इसलिए इनके अनुवाद में गुरु गोविन्दसिंह जी की वन्दना की गई है। फिर भी उनमें संकुचित विचार नहीं दिखाई पड़ते। इन्होंने 'नारायण' के भक्तों की भी चर्चा की है—बहुनाम नारायण मांहि, प्रतीत सृजन को आई।—कवि ने कुबुद्धि और अनाचार जैसे नये पात्रों का प्रवेश किया है जिससे यह प्रतीत होता है कि उस समय के समाज में कुबुद्धि और अनाचार का बोलबाला था। लोग धर्म को बहुत संकीर्ण दृष्टि से देखने लगे थे।

उर निस वासर दमड़ा चाहे कबहूं न होवें रामरति

इसके इस पद्यांश से प्रतीत होता है कि साधु-समाज पैसे के पीछे पड़ा रहता था। राम से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया था।

७४२. नानकदास का अनुवाद (सन् १७८९)—इस अनुवाद में समाज के साधुओं का वर्णन विस्तार के साथ दिया गया है। साधु लोग कण्ठी, माला, छापा, तिलक आदि लगाकर लोगों को ठगा करते थे। वे दम्भी तथा ताड़ी पीने वाले होते थे। नानक दास ने यह भी बताया है कि मथुरा और काशी आदि तीर्थों में भी प्रतिभाशाली विद्वान नहीं रह गए थे—'इन तीर्थन पर ब्राह्मण केते—कितना कठोर व्यंग्य है। शूद्र जातियां शस्त्र और शास्त्र में पारंगत थीं, जब कि ब्राह्मण उस से विमुख हो चले थे—सूद झीवरों को दिये शस्त्र शास्त्र विचार। इससे यह भी प्रतीत होता है कि उस समय जैन साधु—'श्रेवरा' और बौद्ध साधु 'पूज' कहे जाते थे। समाज की स्थिति को नीचे का पद्य कितनी सुन्दरता के साथ व्यक्त करता है—

दिन में भेष बनाइ के बैठे ताड़ी लाइ।
निशि सोबे कद मांस अपि नारी कण्ठ लगाई।।

७४३. धोंकल मिश्र का अनुवाद (सन् १७९९)—इस अनुवाद में साधुओं और सन्यासियों के आपसी विरोध और आडम्बरों का वर्णन नही किया गया है। पौराणिक देवताओं पर ग्रन्थकर्ता की विशेष श्रद्धा दीख पड़ती है। वस्तुतः देश का एक बड़ा वर्ग पौराणिक संस्कृति पर ही अधिक विश्वास करता है। यह अनुवाद इन्हीं लोगों का प्रतिनिधित्व करता है। अनुवादक साधुओं के अर्थ में 'पण्डे' और 'दम्भ' के वर्णन के प्रसंग में 'सिद्ध महंत' के नाम से इन्हें अभिहित करता है। जैसे—

देषो भीषनि मत्त करे वृत्तए मुंडित कच मुंडा।
बेदंतन को पढ़े पढ़ाबे, कहै बड़े हम पंडा।। (पृ० २०)
सिद्ध महन्त को यह आसन।
किहि विधि वास विचारयो। (पृष्ठ ५३)

इससे बात की भी व्यंजना होती है कि साधु आदि उस समय भी पाखण्डी ही थे।

७४४. अयोध्या प्रसाद चौधरी का अनुवाद (सन् १८८५)—इस अनुवादक ने बड़े ही संक्षेप से वाद-विवाद के अंशों का अनुवाद कर दिया है। जैनों और बौद्धों को केवल दम्भी और विलासी कह कर छोड़ दिया है। इससे यह अनुमान होता है कि इनकी प्रवृत्ति मतों के विरोध की ओर थी। फिर भी पौराणिक देवताओं की और उसकी श्रद्धा का परिचय उसके अनुवाद से लगता है। इसमें विष्णु की नवधा भक्ति का वर्णन किया गया है जिससे ग्रन्थकार पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव प्रतीत होता है। यहीं पर श्री मन्नारायण की उपासना और स्मरण को मोक्ष का उपाय बताया गया है। इससे भी अनुवादक का वैष्णव धर्म की ओर विशेष झुकाव प्रतीत होता

है। वैष्णव सम्प्रदाय के छापा तिलक आदि का भी उल्लेख इसमें मिलता है, जैसे—
"हमको क्या स्त्री पुरुष सब कोई छापा तिलक लगाओ जिससे सब दुख दूर हों।"

७४५. भुवदेव दुबे का अनुवाद (सन् १८९३)—यह अनुवाद ब्रजवासीदास के आधार पर किया गया है। इसलिए इसमें धर्म और संस्कृति के स्वरूप की ओर जो भी संकेत मिलते हैं, वे इसके अपने न होकर के, ब्रजवासीदास के अनुवाद के हैं। किन्तु कुछ तो ग्रन्थकर्ता ने उस ओर संकेत किया ही है। इससे प्रतीत होता है कि उसके समय में भी साधु समाज दूषित था और धर्म की ओर उसका उतना आकर्षण न था जितना कि विलास की ओर। इससे अधिक इस अनुवाद से कोई प्रकाश नहीं पड़ता।

७४६. कार्ष्णि गोपालदास का अनुवाद (सन् १९०८)—यह अनुवाद प्रबोधचन्द्रोदय का अविकल अनुवाद है। इसलिये इसमें धर्म और संस्कृति के सम्बन्ध में स्वतन्त्र संकेत नहीं प्राप्त होते। इतना ही कहा जा सकता है कि इन्होंने अपने अनुवाद में प्रबोधचन्द्रोदय के धर्म और संस्कृति के स्वरूप को अक्षुण्ण रखा। इन्होंने अपने अनुवाद के प्रारम्भ में श्री वृन्दावनबिहारी की वन्दना की है। इससे इतना मात्र प्रतीत होता है कि ये श्रीकृष्ण के भक्त थे।

७४७. महेशचन्द्र प्रसाद का अनुवाद (सन् १९३५)—यह अनुवाद आधुनिक काल में किया गया है, इसलिए इसमें प्रबोधचन्द्रोदय की पुरानी कट्टरता देखने को नहीं मिलेगी। ग्रन्थकार ने अपनी भूमिका में ही इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि आज के युग में हरिजन कहे जाने वाले लोगों को जब गले से लगाया जा रहा है तब जैनों एवं बौद्धों की आलोचना करना—कोई माने नहीं रखता। इसी दृष्टिकोण को सामने रखने के कारण इस अनुवाद में मतों एवं सम्प्रदायों का पारस्परिक दोषों का उद्घाटन नहीं कराया गया है। यद्यपि कापालिक और महन्तों के दोषों को अपने हिन्दू समाज के अंग समझ कर कुछ उद्घाटित किया गया है। इसका कारण भी लेखक ने—'अपने समाज के फोड़े फुन्सी देखने चाहिए' कह कर बता दिया है। यह सब आधनिक युग की सहिष्णुता का प्रभाव है। महन्त का यह वर्णन देखिये—

(घूमकर श्रद्धा से) अघ कृष्णार्चन भी कैसा सुखद है। धन्य वह रासक्रीड़ा।

\+ \+ \+

यद्यपि इस अनुवाद से प्रबोधचन्द्रोदय की धर्म और संस्कृति का परिचय नहीं मिलता फिर भी अनुवादक ने अपने युग की धर्म और संस्कृति के स्वरूप को अच्छी प्रकार निर्धारित किया है—यह कहा जा सकता है।

७४८. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का अनुवाद—'पाखण्ड विडम्बना' यह 'प्रबोध-चन्द्रोदय' के तीसरे अंक का अविकल अनुवाद है। अतएव इसकी भी संस्कृति और

धर्म प्रायः वही हैं जो कि 'प्रबोधचन्द्रोदय' के थे। परन्तु इसका कापालिक तथा अन्य पात्र खड़ी बोली में बोलते हैं, जब कि जैन दिगम्बर तथा बौद्ध भिक्षु—ये दोनों अपनी एक विशिष्ट भाषा में बोलते हैं—

जैन दिगम्बर—अरे सरावकोरा कुल एक छिण मत छेड़िया।

बौद्ध भिक्षु—अले, छुनो भगवान छोगत का वचन छुनो, भिच्छुओ, अले सुनो, भगवान छोगत का बचन छुनो।

इस भाषा विभेद के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि भारतेन्दु के समय इस प्रकार के साधु रहे होंगे—जो उपर्युक्त बोलियों को बोलते रहे होंगे।

७४९. विजयानन्द त्रिपाठी का अनुवाद—यह अनुवाद 'प्रबोधचन्द्रोदय' का अविकल अनुवाद है। तथा अनुवादक सनातनी विचारधारा का है। इसलिए उसने सनातनधर्म से मतभेद रखने वाले सभी मतों के स्वरूप का प्रबोधचन्द्रोदय के अनुकूल ही वर्णित किया है। इसलिए इसमें जो भी संकेत धर्म और संस्कृति के प्रयुक्त हुए हैं वे प्रबोधचन्द्रोदय के ही है। इस प्रकार त्रिपाठी जी प्रबोधचन्द्रोदय की संस्कृति और धर्म को अक्षुण्ण रखा है। यह साधिकार कहा जा सकता है।

रूपान्तर

७५०. 'प्रबोधचन्द्रोदय' के रूपान्तर के रूप में जो कृतियां उपलब्ध होती हैं, उनकी संख्या केवल पांच है। विगत छठे अध्याय में हम इन कृतियों का अध्ययन कर चुके हैं। वैसे इन रूपान्तरों का 'प्रबोधचन्द्रोदय' की हिन्दी परम्परा में एक विशिष्ट महत्व है, परन्तु संस्कृति और धर्म का प्रश्न जब सामने आता है तब हमें बड़ी ही निराशा के साथ यह कहना पड़ता है कि इनमें से कुछ ही कृतियां अपने महत्व के अनुरूप बन पड़ी है। बात यह है कि इन पांचों कृतियों में से आदिम जो तीन कृतियां 'मोह विवेक युद्ध' के नाम से निर्मित्त हुई हैं उनमें किसी विशेष संस्कृति तथा धर्म का कोई विवरण हमें उपलब्ध नहीं होता। यद्यपि रूपान्तर होने के कारण उनमें अनुवादों की अपेक्षा सामयिक संस्कृति और धर्म का निरूपण करने के लिए अधिक अवकाश था। परन्तु यहां सामयिक सस्कृति धर्म की बात तो दूर रही, प्रबोधचन्द्रोदय में चित्रित सस्कृति और धर्म की ओर भी संकेत नहीं किया गया।

७५१. ये तीनों ही कृतियों के रचयिता हैं, लालदास, जनगोपाल और बनारसी दास। इनमें से लालदास किस सम्प्रदाय या मत को मानते थे इसका पुष्ट प्रमाण उपलब्ध नहीं होता। अवश्य ही उनके रूपान्तर को देखने पर प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार राम को अन्य देवताओं की अपेक्षा अधिक महत्व देता था। क्योंकि उसने स्थान-स्थान पर रामभक्ति का गुणगान किया है। जनगोपालदास दादू सम्प्रदाय

के प्रसिद्ध सन्त माने जाते हैं। इन्होंने अपने रूपान्तर में निर्गुणतत्व के ऊपर जोर दिया है। तीसरे बनारसीदास ने जो कि जैन कवि थे अपने रूपान्तर सर्वत्र जिन भक्ति की ही चर्चा करते दिखाई पड़ते हैं। इनके अतिरिक्त इन ग्रन्थों में और कोई सामग्री नही मिलती। जिनके आधार पर हम उसके समय की संस्कृति और धर्म के स्वरूप का विवरण दे सकें।

७५२. अब रह जाते हैं दो रूपान्तर 'विज्ञान गीता' और 'प्रबोधद्युमण्युदय'। इनमें अवश्य ही अपने समय की कुछ न कुछ सांस्कृतिक चेतना जागरूक रही है। इसलिए यहां पर इन दोनों का ही इस दृष्टि से सामान्य विवरण दिया जाता है।

७५३. केशवदास की विज्ञान गीता (सन् १६६७ ई०)--'विज्ञान गीता' प्रबोधचन्द्रोदय का प्रसिद्ध रूपान्तर है। पहिले ही यह बताया जा चुका है कि रूपान्तर में कवि को मार्गान्तरीकरण का जितना अवकाश मिलता है उतना अनुवाद में नहीं। यह कहा जा सकता है कि केशवदास ने इस स्वतन्त्रता का उपयोग किया और अपने समय की संस्कृति और धर्म का चित्रण 'विज्ञान गीता' में किया। जैसा कि उनके निम्न पद्य से प्रतीत होता है, उन्होंने अपने ग्रन्थों में दार्शनिक मीमांसा के लिए श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत का आश्रय लिया था--

कहें भागवत में असम, गीता कहे समान।
अप्रमान कौर्नाहि करो, कौर्नाहि करौ प्रमान।।

इससे यह सिद्ध होता है कि केशवदास एक ऐसे समाज में थे या वे ऐसे मत को मानते थे जिससे गीता और भागवत दोनों को प्रामाणिक माना जाता था। इन दोनों को प्रामाणिक मानने का अर्थ होता है, सगुण ईश्वर की सत्ता में पूर्ण विश्वास करना। यह चीज उस समय के समाज में सर्वत्र व्याप्त थी। केशव दास के समय में पाखण्डों का भी खूब प्रचार था--यह उनके आठवें अध्याय को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है। इस आठवें अध्याय की पुष्पिका को उन्होंने 'पाखण्ड धर्म वर्णनों नाम अष्टम प्रभावः' के रूप में दिया है। तंत्र मंत्र जानने वाले नाथ सम्प्रदाय के साधुओं की भी सत्ता उस समय परिलक्षित होती है। इससे उस समय के समाज में तंत्र-मंत्र के भी प्रचार की सिद्धि होती है।

७५४. उमादयाल का 'प्रबोधघुमण्युदय'--यह प्रबोधचन्द्रोदय का अन्तिम रूपान्तर है। इस ग्रन्थ की भूमिका में ही रूपान्तरकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि सभी धर्म वास्तव में, ईश्वर को प्यारे हैं। इसलिए मतों या धर्मों को लेकर झगड़ा या कलह करना ठीक नहीं है। उनकी भूमिका का यह अंश देखिये--"वास्तव में यदि पक्षपात छोड़ विचार किया जाय तो निश्चय ईश्वरीय और सत्यमत एक हैं. . .

ईश्वर हम सब पर समान प्यार करता है, हम सबको अतएव पक्षपात , द्वेष, ईर्ष्या छोड़ना उचित है और सत्य ग्रहण करना ही धर्म है।" (पृष्ठ ३) इस अंश से यह सिद्ध होता है कि ग्रन्थकार के समय में एक ऐसी संस्कृति का प्रवाह समाज में प्रवाहित हो रहा था जो सभी धर्मों में भेदभाव को समाप्त कर देना चाहती थी। यद्यपि ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के आरम्भ में जो मंगलाचरण किया है, उसमें अनेकों धर्म और उनके इष्ट देवताओं का विवरण दिया है, परन्तु इससे भी अन्त में उसने देवताओं और धर्मों का एकत्व ही सिद्ध किया है। तात्पर्य यह है कि ग्रन्थकार की दृष्टि में हिन्दू और पारसी तथा मुसलमान और ईसाई का भेद वर्तमान नहीं था——उसके मंगलाचरण की कुछ पंक्तियां दृष्टव्य हैं——

"जाको मुसल्मीन अल्लह् अर खुदा सदा बतलाते।
जाको इंगलिस्तान निवासी गाड ईशु कहि गाते।"

इस विशेष संस्कृति से प्रभावित होते हुए भी ग्रन्थकार ने अपने समाज की स्थिति की ओर से आंखें नहीं मूंदी। उसने इसकी ओर अपनी भूमिका में ही संकेत कर दिया है। जैसे——'हिन्दू मुसलमानों को म्लेच्छ, मुसलमान हिन्दुओं को काफिर कहते हैं। आर्य समाजी पण्डितों को पोप, पण्डित आर्य समाजियों को लोप और गप्पाष्टकी बतलाते हैं।" इससे सिद्ध होता है कि उस समय में भी समाज में संघर्ष वर्तमान था। इस प्रकार यह ग्रन्थकार अपने समय की संस्कृति और धर्म को अंकित करने में जागरूक रहा है।

७५५. निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि इस परम्परा में कुछ ने प्रबोधचन्द्रोदय की संस्कृति और धर्म को अक्षुण्ण रखा, कुछ ने नई संस्कृति का चित्रण किया और कुछ ने न तो उनके पुराने रूप को ही ग्रहण किया और न उनके नये रूप को ही।

नोट——अनुवादों और रूपान्तरों में आए हुए धर्म और संस्कृति के संकेतों का चार्ट आगे दिया गया है।

प्रबोधचन्द्रोदय की हिन्दी परम्परा में धर्म और संस्कृति

क्रम संख्या	ग्रन्थ	धर्म संस्कृति के संकेत
१.	'प्रबोधचन्द्रोदय' अनुवाद —मल्ह कवि	१. जैन साधु—'खोना' कहे जाते थे। कापालिक—'जंगम' कहलाते थे बौद्धमतानुयायी—'भिखू' कहलाते थे। } इनका प्रचार समाज में था २. माधो की स्तुति होती थी। ३. शंख, चक्र और तिलक आदि बाह्याडम्बरों का प्रचार था। (अनुच्छेद ७३८)
२.	प्र० च० अनुवाद —जसवन्तसिंह	१. मतमतान्तरों के विरोध का चित्रण नहीं है, विचार उदार एवं सहिष्णु। २. विष्णुभक्ति के स्थान पर आस्तिकता नामक स्त्री पात्र का प्रयोग किया गया है। (अनुच्छेद ७३९)
३.	प्र० च० अनुवाद —ब्रजवासीदास	१. गीता का उपदेश देने वाले कम थे। २. हरि के गुण का गान करने वालों के छापा, तिलक, जनेऊ, नामांकित उपरना, गद्दी, तकिया आदि वस्तुओं और व्यभिचार का वर्णन है। ३. कृष्ण की भक्ति से उद्धार की कामना की जाती थी। (अनुच्छेद ७४०)
४.	प्र० च० अनुवाद —गुलाबसिंह	१. गणेश और अन्य सनातन देवताओं की बन्दना है। २. सिक्ख-गुरु-गोविन्दसिंह को प्रणाम किया गया है। ३. रामोपासकों के धर्मच्युत होने का वर्णन है। ४. धनलिप्सा में लिप्त रहते थे। ५. नारायण की उपासना सच्ची श्रद्धा-भक्ति से होती थी। (अनुच्छेद ७४१)
५.	प्र० च० अनुवाद —नानकदास	१. जैन साधु—'श्रेवरा' कहलाते थे। बौद्ध साधु—'पूज' कहलाते थे। २. साधुसमाज में, कण्ठी-माला, छापा, तिलक आदि बाह्याडम्बरों का प्रचार था तथा वे लोगों को ठगते थे। ३. काशी और मथुरा जैसे तीर्थों में भी विद्वान् नहीं रह गये थे।

क्रम संख्या	ग्रन्थ	धर्म संस्कृति के संकेत
५.	प्र० च अनुवाद —नानकदास	४. शूद्र और झींवर जातियां शास्त्रों में पारंगत थीं, किन्तु ब्राह्मण विद्या से विमुख हो चले थे। (अनुच्छेद ७४२)
६.	प्र० च० अनुवाद —धोंकल मिश्र	१. साधुओं, सन्यासियों के आपसी विरोध और मतमतान्तरों का वर्णन नहीं है। २. पौराणिक देवताओं पर विशेष श्रद्धा व्यक्त की गई है। ३. साधुओं को 'पण्डा' और पाखण्डियों को 'सिद्ध महन्त' कहा जाता था। (अनुच्छेद ७४३)
७.	प्र० च० अनुवाद —अयोध्याप्रसाद चौधरी	१. जैनों और बौद्धों को केवल विलासी और दम्भी कहा गया है। २. पौराणिक देवताओं पर विशेष श्रद्धा प्रकट की गई है। ३. विष्णु की नवधाभक्ति का वर्णन है। ४. श्रीमन्नारायण की उपासना और स्मरण से मोक्ष सम्भव माना गया है। ५. साधुओं के छापा, तिलक का उल्लेख है। (अनुच्छेद ७४४)
८.	प्र० च० अनुवाद —भुवदेव दूबे	१. व्रजवासीदास के आधार पर। (अनुच्छेद ७४५)
९.	प्र० च० अनुवाद —कार्ष्णि गोपालदास	१. वृन्दावन बिहारी को नमस्कार किया गया है। (अनुच्छेद ७४६)
१०.	प्र० च० अनुवाद —महेशचन्द्र प्रसाद	१. जैन साधुओं का वर्णन नही किया गया है। २. कृष्ण के रास के उपासक महंत का उल्लेख है। (अनुच्छेद ७४७)
११.	पाखण्ड बडम्बना —भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	१. जैन साधु और बौद्ध साधु अपनी विशेष बोली में बोलते है। (अनुच्छेद ७४८)
१२.	प्र० च० अनुवाद —विजयानन्द त्रिपाठी	— (अनुच्छेद ७४९)
१३.	मोह विवेक युद्ध —कवि लालदास	१. रामभक्ति का वर्णन है। (अनुच्छेद ७५१)
१४.	मोह विवेक युद्ध —जनगोपालदास	१. दादू सम्प्रदाय में प्रचलित निर्गुण तत्व की भक्ति का वर्णन है। (अनुच्छेद ७५१)

क्रम संख्या	ग्रन्थ	धर्म संस्कृत के संकेत
१५.	मोह विवेक युद्ध —बनारसीदास	१. जिन भक्ति का वर्णन है। (अनुच्छेद ७५१)
१६.	विज्ञान गीता —केशवदास	१. गीता और भागवत को प्रामाणिक माना गया है। २. सगुण ईश्वर में विश्वास किया गया है। ३. साधुओं के पाखण्डों का वर्णन है। ४. तन्त्र और मन्त्र का भी प्रचार था। (अनुच्छेद ७५३)
१७.	प्रबोधद्युमण्युदय —उमादयाल मिश्र	१. हिन्दू, ईसाई, मुसलमान, बौद्ध, जैन और सिक्ख आदि धर्मों का सहिष्णुता के साथ उल्लेख। २. सभी मत एक ही ईश्वर को प्राप्त करने के लिए हैं। इस मत का प्रतिपादन किया गया है। (अनुच्छेद ७५४)

दशम् अध्याय

उपसंहार

७५६. 'प्रबोधचन्द्रोदय' की हिन्दी परम्परा के उपर्युक्त अध्ययन का उपसंहार करते हुए हम अध्ययन के निष्कर्ष को इस रूप में उपस्थित कर सकते हैं।

७५७. 'प्रबोधचन्द्रोदय' के रचयिता कृष्ण मिश्र अनेक शास्त्रों के पारगामी विद्वान् और बहुश्रुत व्यक्ति थे। उनके निवासस्थान के सम्बन्ध में यद्यपि विद्वानों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है, परन्तु उपलब्ध सामग्री के आधार पर वे बिहार प्रान्त के उत्तर-पूर्वी भाग के सिद्ध होते हैं। उनके स्थितिकाल के विषय में भी पर्याप्त मतभेद पाया जाता था। किसी भी एक विद्वान् का मत दूसरे विद्वान् के मत से मेल नहीं खाता था। परन्तु इधर मुझे कृष्ण मिश्र के आश्रयदाता राजा कीर्तिवर्मा के जो दो शिलालेख मिले, उनके आधार पर निर्भ्रान्त रूप से उनका काल ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी सिद्ध हो जाता है। जहां तक उनकी कृतियों की संख्या का प्रश्न है, कुछ स्थलों पर उनके नाम से अन्य कृतियों का उल्लेख होने पर भी एकमात्र 'प्रबोध-चन्द्रोदय' को ही उनकी कृति होने का गौरव प्राप्त है।

७५८. 'प्रबोधचन्द्रोदय' रूपकात्मक भावतात्विक शैली में लिखा गया, संस्कृत-साहित्य का एक विख्यात नाटक है। यद्यपि इस शैली को नाटकीय रूप देने का सर्वप्रथम प्रयास कृष्ण मिश्र का ही है, परन्तु इसके विकास का मूल स्रोत हमें वेदों में ही मिलता है। ब्राह्मणों और उपनिषदों में भी वेदों की ही रूपक शैली को कुछ परि-ष्कृत और रूपान्तरित रूप में अपनाया गया। यही रूपक शैली आगे चलकर लौकिक संस्कृत में भी अपनायी गई। जैन कवि सिद्धर्षि ने 'उपमितिभव प्रपंच कथा' को रूपकात्मक भावतात्विक शैली में निबद्ध कर अपने अलौकिक पाण्डित्य का परिचय दिया था। इसके अतिरिक्त संस्कृत के अन्य किसी काल में इस शैली का प्रयोग देखने को नहीं मिलता। अश्वघोष के उपलब्ध खंडित नाटक 'शारिपुत्र प्रकरण' में इस शैली के देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि नाटकों में इसका प्रथम प्रयोग करने का श्रेय अश्वघोष को ही प्राप्त है। उसके परवर्ती नाटककार उसके उत्तराधि-कार का उपयोग नहीं कर सके। अन्ततः इस शैली का पूर्ण विकास हमें 'प्रबोधचन्द्रो-

दय' में ही दिखाई पड़ता है। इसके पश्चात् लिखे गए 'संकल्प सूर्योदय' आदि रूपक नाटकों में हमें अवश्य इस शैली का प्रयोग मिलता है, परन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि उनमें इतनी सफलता और प्रभावात्मकता के साथ इसका प्रयोग नहीं हो सका जितना कि 'प्रबोधचन्द्रोदय' में।

७५९. 'प्रबोधचन्द्रोदय' न केवल एक रूपक नाटक है, अपितु जैसा कि देखा गया है, नाटक के सभी गुणों से भी समन्वित है। भाषा और शैली की दृष्टि से तो यह अपनी परम्परा में अपना प्रतिद्वन्द्वी ही नहीं रखता। शान्त रस को मुख्य रस मान कर इसके पहले कभी कोई नाटक लिखा ही नहीं गया था। 'प्रबोधचन्द्रोदय' की रचना के रूप में, कृष्ण मिश्र ने संस्कृत साहित्य को इस दृष्टि से एक नयी, दिशा दी यह दूसरी बात है कि शान्त रस का अभिनय के लिए कुछ आचार्यों ने निषेध किया है। परन्तु आचार्यो के द्वारा निषिद्ध होने पर भी, उस दिशा में अग्रसर होना कृष्ण मिश्र जैसे साहसी का ही काम था। अन्य रसों का भी अंग के रूप में, सुरुचिपूर्ण निवेश इसमें किया गया है। पाश्चात्यमतानुसार कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, शैली, उद्देश्य और टेकनीक इन तत्वों की दृष्टि से, इसमें किसी प्रकार की कमी नहीं दिखाई पड़ती। सन्धियों और अवस्थाओं का भी मनोहर विकास इसमें हुआ है। भाव सम्पत्ति की दृष्टि से भी नाटक महत्वपूर्ण है। अपने निराकरणीय मतों को पृष्ठभूमि के रूप में उपस्थित कर अद्वैत मत और विष्णुभक्ति के समन्वय से जीव की मुक्ति का सिद्धान्त, जो कि नाटककार का अपना सिद्धान्त प्रतीत होता है, भव्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। इसी महत्व के कारण न केवल संस्कृत में अपितु हिन्दी में भी इस नाटक की विशाल परम्परा का प्रवर्तन हुआ।

७६०. यह हिन्दी परम्परा चार रूपों में मिलती है—अनुवाद, रूपान्तर, स्वतंत्र रूपक नाटक और अशतः प्रभावित नाटक। इनमें से उपलब्ध और अनुपलब्ध अनुवादों की संख्या कुल बीस के लगभग है। जो अनुवाद उपलब्ध हुए हैं उनके अध्ययन से यह पता चलता है कि जहां तक प्रबोधचन्द्रोदय के मुख्य विषय अर्थात् विवेक और महामोह का युद्ध का प्रश्न है, यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि इन अनुवादों में उसके साथ न्याय हुआ है; किसी न किसी प्रकार इस विषय को प्रत्येक अनुवाद में लाया गया है। परन्तु अन्य विषयों का संयोजन प्रबोधचन्द्रोदय के समान किसी में नहीं हुआ है और इसीलिए प्रबोधचन्द्रोदय का सफल सर्वांगीण और परिशुद्ध अनुवाद इसमें से अधिकांश नही हो सके हैं। न तो प्रबोधचन्द्रोदय की भाषा की तरलता, सरलता और विषय-प्रतिपादन की उपयुक्तता इनकी भाषा में मिलती है और न शैली की गूढ़ता और व्यंजनात्मिकता इनकी शैली में। आधुनिक युग में भी जो अनुवाद हुए उनमें से विजयानंद त्रिपाठी तथा कार्ष्णि गोपालदास के अनुवाद

अविकल कहे जा सकते हैं। तात्पर्य यह है कि इन अनुवादों के द्वारा प्रबोधचन्द्रोदय के केवल मुख्य विषय का ही प्रतिपादन किसी रूप में हो सका है।

७६१. 'रूपान्तर' पांच मिलते हैं। इनमें विषय तो प्रायः 'प्रबोधचन्द्रोदय' का विवेक और मोह का युद्ध—ही किया गया है—जहाँ तक हो सका है शैली और पात्र भी उसी के लिए हैं किन्तु ग्रन्थ के नामकरण की संज्ञा को बदल दिया है। नाम बदल देने से उन्हें विषयों के भी प्रतिपादन का भी उन्मुक्त क्षेत्र मिल गया—जिसका कुछ रूपान्तरकारों ने, जैसे केशवदास और उमादयाल मिश्र ने अपनी रचनाओं में उपयोग किया। इन रूपान्तरों में तीन तो 'मोह विवेक युद्ध', एक 'विज्ञान गीता' और एक 'प्रबोधद्युमण्युदय' के नाम से प्रसिद्ध है। यहां यह समझना भ्रमपूर्ण होगा कि प्रबोधचन्द्रोदय और इन रूपान्तरों में केवल नाम का ही अन्तर है। वस्तुतः प्र० च० और उसके इन रूपान्तरों के स्वरूप, वर्णन प्रणाली में भी अन्तर दिखाई पड़ता है। इन दोनों के अन्तर निम्नलिखित रूप से प्रकट किये जा सकते हैं—

प्रबोधचन्द्रोदय	रूपान्तर
१. नाटक ग्रन्थ है।	१. अधिकतर काव्य हैं।
२. युद्ध का संकेत दिया गया है।	२. प्रत्यक्ष युद्ध का दृश्य उपस्थित किया गया है।
३. शस्त्रों से युद्ध होने का संकेत मिलता है।	३. केवल वाक्‌युद्ध है।
४. सैनिक पात्र अपने-अपने राजाओं के सम्मुख अपनी-अपनी वीरता और पौरुष का वर्णन करते हैं।	४. सैनिक-पात्र युद्ध क्षेत्र में शत्रु राजा के समक्ष अपने पौरुष का बखान करते हैं।
५. भावनाओं का वर्णन किया गया है।	५. भावनाओं के वर्णन में कहीं प्रबोध-चन्द्रोदय का अनुकरण किया गया है और कहीं मौलिकता का सहारा लिया गया है।
६. महामोह और विवेक का द्वन्द्व-युद्ध नहीं दिखाया गया है।	६. मोह और विवेक द्वन्द्व-युद्ध दिखाया गया है।
७. धर्म और दर्शन का समन्वय उपस्थित किया गया है।	७. धर्म और दर्शन की विवेचना में गम्भीरता नहीं रह गई है, कुछ मनोवैज्ञानिकता का पुट अवश्य है।

७६२. इन अन्तरों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये रूपान्तर प्रबोधचन्द्रोदय से कितने ही अंशों में अपना पार्थक्य रखते हुए भी समान हैं। प्रबोधचन्द्रोदय से प्रभावित मोह-विवेक-युद्ध रूप मनोवैज्ञानिक संघर्ष इन रूपान्तरों में अनेक विशेषताओं के साथ व्यक्त हुआ।

७६३. स्वतन्त्र रूपक नाटक प्रबोधचन्द्रोदय की हिन्दी परम्परा की तीसरी श्रेणी में आते हैं। इनमें कुछ तो प्रबोधचन्द्रोदय की आध्यात्मिक परम्परा को ही लेकर चले हैं और कुछ सामयिक समस्याओं के समाधान का मार्ग प्रशस्त करने के लिए भिन्न-भिन्न उद्देश्यों को समक्ष रख कर सामाजिक और राजनैतिक नाटकों के रूप में प्रस्तुत हुए। तात्पर्य यह है कि यहां आकर प्रबोधचन्द्रोदय की परम्परा आध्यात्मिकता के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्र में भी उसका प्रवेश हुआ। सामाजिक और राजनैतिक उद्देश्यों को लेकर लिखे गये नाटकों में, नाटककारों ने अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिए सामाजिक और राजनैतिक पात्रों का प्रयोग किया है। इनका कथानक तो पूर्णतया अमूर्त और रूपक है। अधिकतर नाटककारों ने अपने उद्देश्य को व्यक्त करने के ही लिए प्रबोधचन्द्रोदय के रूपक और अमूर्त शैली को अपनाया।

७६४. इस परम्परा की चौथी कड़ी के रूप में हम उन रचनाओं को लेते हैं जो प्रबोधचन्द्रोदय से अंशतः प्रभावित रही हैं। क्योंकि इन रचनाओं में कथानक और शैली आदि सब अपनी हैं किन्तु प्रसंगवश कहीं-कहीं प्रबोचन्द्रोदय के रूपक पात्रों जैसे कुछ पात्रों का प्रयोग हो गया है। तात्पर्य यह कि इन रचनाओं और प्रबोधचन्द्रोदय में साम्य केवल रूपक पात्रों को लेकर ही है। अन्य दृष्टियों से वैषम्य ही है। इस साम्य को व्यक्त करने के लिए हम उन पात्रों की सूची प्रस्तुत कर देना चाहते हैं जो कि स्वतन्त्र रूपक नाटकों और अंशतः प्रभावित रचनाओं में प्रयुक्त हुए हैं।

(अ) स्वतंत्र रूपक नाटकों के पात्र-रूपक, प्रतीक, प्ररूप

१. अज्ञान	८. अपव्यय	१५. आलस्य
२. अभय	९. अन्धकार	१६. आसक्ति
३. अमीरी	१०. अश्रुमार्जन	१७. ईश
४. अहंकार	११. अनन्त प्रभा	१८. उपरति
५. अन्तसराम	१२. अन्यार्यसिंह	१९. उपनिषद
६. अभीप्सा	१३. अत्याचार	२०. उत्साह
७. अधर्म	१४. अंकिलसाम	२१. उद्यम

२२. उद्योगानन्द
२३. एडिटर
२४. एकता
२५. ओंकार
२६. काम
२७. क्रोध
२८. कला
२९. कल्पना
३०. कामना
३१. कलियुगराज
३२. कलह
३३. कवि
३४. क्रूर
३५. कर्मदास
३६. कर्मराज
३७. खिलाफत खां
३८. गल्पमाला
३९. गोलमाल
४०. ग्राम गजट
४१. चिन्ता
४२. चांद
४३. जीव
४४. जगत्कुमार
४५. जनताराय
४६. जुआ
४७. जानबुल
४८. डाह
४९. डिक्टेटर
४०. डिस्लायल्टी
५१. तितिक्षा
५२. तम
५३. दंम
५४. दया
५५. दम्भ
५६. दुर्भाग्य
५७. दुर्जन
५८. दुर्भिक्ष
५९. दमनसिंह
६०. दुर्वृत
६१. धनदास
६२. धर्म
६३. धर्मप्राण
६४. धनहरण
६५. निवृत्ति
६६. निदिध्यासन
६७. नवीनचन्द्र
६८. नीतिव्रत
६९. निद्रा
७०. निर्बलता
७१. नेकी
७२. नवीनता
७३. प्रज्ञा
७४. पाठकमल
७५. प्रवृत्ति
७६. प्रकृति
७७. प्रभा
७८. पतिव्रत
७९. पाखण्ड
८०. पश्चिम वाला
८१. पृथ्वीमाता
८२. प्राचीनता
८३. परतंत्रता
८४. प्रेमसिंह
८५. पेरी
८६. फैशन
८७. फूट
८८. फकीरी
८९. फिजूलखर्ची
९०. बुद्धि
९१. बलराज
९२. ब्रह्मचर्य
९३. बंगाली
९४. बदी
९५. बकवादी
९६. भक्ति
९७. भारती
९८. भारतमित्र
९९. भारतमाता
१००. भारत
१०१. भारतभाग्य
१०२. भारत दुर्दैव
१०३. भय
१०४. मन
१०५. मुमुक्षु
१०६. मायावी
१०७. मन्शाराम
१०८. मदिरा
१०९. माया
११०. मोह
१११. मतवाला
११२. माधुरी
११३. मनोरमा
११४. मोहनी
११५. मूर्खता
११६. महाराष्ट्री
११७. मित्रराज

११८. रसमूल
११९. रज
१२०. रोग
१२१. राजमर्तसिंह
१२२. लीला
१२३. लक्ष्मी
१२४. लोभ
१२५. विषय वासना
१२६. विज्ञान
१२७. विचार
१२८. विवेक
१२९. वैराग्य
१३०. वेद
१३१. विश्वास
१३२. विरक्ति
१३३. विलासचन्द्र
१३४. वैधव्य
१३५. विधवा विवाह
१३६. विद्या
१३७. वैरविरोध
१३८. विप्लव
१३९. विज्ञानवाला
१४०. शम
१४१. शिक्षा
१४२. शोक
१४३. श्रद्धा
१४४. श्री वेंकटेश्वर
१४५. सन्तोष
१४६. सतसंग
१४७. समता
१४८. समाधान
१४९. सरलसिंह
१५०. सोहम
१५१. सत्व
१५२. सरलता
१५३. संशय
१५४. समाजराय
१५५. सफाईराय
१५६. साहित्य
१५७. स्वाभाविकता
१५८. सरस्वती
१५९. सौभाग्य
१६०. स्वार्थपरता
१६१. सत्य
१६२. सत्यानाश
१६३. स्वतंत्रता
१६४. सत्यपाल
१६५. सुधारचन्द
१६६. हास्य
१६७. हिन्द
१६८. क्षमा
१६९. ज्ञान
१७०. ज्ञानानन्द

(ब) अंशतः प्रभावित नाटकों के पात्र-रूपक, प्रतीक, प्ररूप

१. अधर्म
२. अहंकार
३. अशान्ति
४. अज्ञानचन्द
५. अविद्याबाई
६. अज्ञानसिंह
७. अमृतलाल
८. आलस
९. आशा
१०. आत्मसम्मान
११. ईमानदार
१२. उदारता
१३. उन्मत्तसिंह
१४. उपाध्याय
१५. उलूकानंद
१६. एकता
१७. कलियग
१८. कुमत
१९. क्रोध
२०. काम
२१. करुणा
२२. कृतज्ञता
२३. कर्त्तव्य
२४. करोड़ीमल
२५. कमबख्तलाल
२६. कर्मवीर
२७. कानूनीमल
२८. कर्म
२९. क्रूरसिंह
३०. खुशामदचन्द
३१. चौपटसिंह
३२. चातक (वेश्या)
३३. चन्द्रोदयसिंह
३४. चौपटानन्द
३५. छात्र
३६. जीवनशाह

३७. जालिमसिंह
३८. झूठचन्द
३९. ठीकचन्द
४०. ढबढब पाण्डे
४१. तृष्णा
४२. तर्कप्रसाद
४३. दया
४४. द्वापर
४५. दुराचारीसिंह
४६. दुर्जनसिंह
४७. दुखदेई
४८. दुर्दैव
४९. धर्म
५०. धनदास
५१. धनपति
५२. धर्मपाल
५३. धीरता
५४. धर्मानन्द
५५. धर्मदास
५६. धृष्टबुद्धि
५७. धोतीप्रसाद
५८. धोखेराम
५९. न्यायसेन
६०. नारीजाति
६१. नास्तिक
६२. प्रेम
६३. पाप
६४. पादड़ी
६५. पृथ्वीमाता
६६. पाखण्ड
६७. पुजारी
६८. प्रकाशचन्द्र
६९. पेटूमल
७०. फूटदेव
७१. बिगड़ेदिल
७२. बंगाली
७३. बेढ़वसिंह
७४. ब्रिटेनिका
७५. बुद्धसत्व
७६. भारतमाता
७७. भक्ति
७८. भग्गू चौधरी
७९. मदिरा
८०. मोह
८१. मूर्खानन्द
८२. मनमोहनी (वेश्या)
८३. मनहूसलाल
८४. मुसलमान
८५. यमदूत
८६. यमराज
८७. रोगराज
८८. रंगीलेसिंह
८९. लज्जा
९०. लोलुपचन्द
९१. लोभ
९२. विचार
९३. वीरता
९४. वैराग्य
९५. विद्यावती
९६. व्यंगलाल
९७. वीरबल
९८. वक्रसेन
९९. शान्ति
१००. शिष्य
१०१. शरण्यता
१०२. शक्ति
१०३. सत्य
१०४. सरस्वती
१०५. स्वार्थ
१०६. स्वार्थचन्द
१०७. सत्यप्रतिज्ञता
१०८. स्वामिता
१०९. सौहार्द
११०. सौशील्य
१११. साधू
११२. सूदीमल
११३. सुधारचन्द
११४. साहसनाथ
११५. सत्यव्रत
११६. सिख्ख
११७. स्त्री
११८. सत्यवक्ता
११९. हिन्दू
१२०. हिंसा
१२१. क्षुद्रबुद्धि
१२२. ज्ञान
१२३. ज्ञानप्रकाश
१२४. ज्ञानचन्द
१२५. ज्ञानशंकर

७६५. प्रबोधचन्द्रोदय की हिन्दी परम्परा में चित्रित धर्म और संस्कृति के स्वरूप का सम्यक् उद्घाटन करने के लिए विस्तृत अनुसन्धान की आवश्यकता है। इसलिए केवल उसके प्रमुख अंगों, अनुवादों एवं रूपान्तरों को ही आधार बना कर प्रस्तुत अध्ययन के नवें अध्याय में धर्म एवं संस्कृति को निरूपित करने का प्रयास किया गया है। परन्तु इन ग्रन्थों में धर्म और संस्कृति के तत्वों का स्वरूप विवरण संक्षेप में दिया गया है।

७६६. इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में यह दिखाया गया है कि रूपक शैली का विकास किस रूप में हुआ, किस प्रकार प्रबोधचन्द्रोदय ने इस शैली का आश्रय ग्रहण कर संस्कृत नाटक साहित्य को एक नया मोड़ दिया और किस प्रकार वह अपने इस गौरवपूर्ण कार्य के द्वारा संस्कृत साहित्य में एक महान् स्थान का अधिकारी बना। अन्त में यह दिखाने का प्रयास किया गया है कि इस महत्वशाली ग्रन्थ की हिन्दी परम्परा के विशाल साहित्य का प्रवाह अनुवाद और रूपान्तर आदि की विविध धाराओं में प्रवाहित होता हुआ किस प्रकार भारतीय जनजीवन के धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनैतिक पहलुओं को प्रभावित कर सका

परिशिष्ट

(१) प्रबोध चन्द्रोदय (हिन्दी अनुवाद) 'मल्ह कवि' (हस्तलिखित प्रति)

(पृ० १)

प्रबोधचन्द्रोदय (मोह विवेक)—मल्ह कवि। पत्रसंख्या—२५। साइज—८×६ इंच। भाषा—हिन्दी प० रचनाकाल—सं० १६०१। लेखनकाल—११ पूर्ण। वेष्टन नं० ८९९। क्रमसंख्या—५८९। प्राप्तिस्थान—दीवान बधीचन्द का मन्दिर, जयपुर।

श्री गणेशाय नमः

अथ प्रबोधचन्द्रोदय नाटक ग्रंथ मोह विवेक लि० ॥

चौपाई—अभिनंदन परमारथ कीयो, अरु व्है गलित ज्ञान रस पीयो।
नाटिक नागर चित मैं बस्यौ, ताहि देखि तन मन हुलस्यौ ॥१॥
कृष्णभट्ट करता है जहाँ, गंगासागर भेटे जहाँ।
अनुभौ कौ धरु जानै सोई, ता सम नाहि विबेकी कोई ॥२॥
तिन प्रबोधचन्द्रोदय कीयो, जानै दीपक हाथ लै दीयो।
करणीसूर सु पावै स्वाद, कायार ओर करैं प्रतिबाद ॥३॥
इंद्री उदर प्ररायन होई, कबहू पै नहीं रीझै सोई।
पंच तत्व अब गति मन धार्‌यौ, तिहि माया नाटिक विस्तार्‌यौ ॥४॥
अंतर नाड़ी सोखै बाय, समरस आनंद सहज समाय।
विस्व चक्र मैं चितन होय, पंडित नाम कहावै सोय ॥५॥
जब बर खेमचंद गुर दीयो, तब आरंभ ग्रन्थ को कीयो।
यह प्रबोध उतपन्यो आय, अंधकार तिहि घाल्यो खाय ॥६॥
भीतर बाहर कहि समुझावै, सोई चतुर तापै कहि आवै।
जो या रस का भेदी होई, या मैं खोजै पावै सोई ॥७॥
मथुरादास नाम विस्तार्‌यौ, देवीदास पिता को धार्‌यौ।
अंतरबेद देस मैं रहै, तीजै नाम मल्ह कवि कहै ॥८॥
ताहि सुनत अद्‌भुति रुचि भई, निहचै मन की दुविधा गई।
जितने पुस्तक पृथ्वी आंहि, यह श्री कथा सिरोमणि ताहि ॥९॥

(पृ०२)

यह निज बात जानीयो सही, पचैं प्रगट मल कवि कही।
पोथी एक कहूं तै आनि, ज्यो उहां त्यो इहा राखी आनि ॥१०॥
सोरह सै संवत जब लागा, तार्महि वरष एक अर्द्ध भागा।
कार्तिक कृश्न पक्ष द्वादसी, ता दिन कथा जु मन मैं बसी ॥११॥
जो हौं कृश्न भक्ति नित करौं, बासुदेव गुरु मन मैं धरौं।
तौ यह मो पैं ह्वै ज्यौं जिसी, कृश्नभट्ट भाषी है तिसी ॥१२॥

दोहा—मथुरादास बिलास इहिं, जो रमि जानै कोय।
इहिं रस बेधे मल्ह कहिं, बहुरि न उलटै सोइ ॥१३॥

जब निसु चंद्र अकासै होई, तब जो तिमर न देखै कोई।
तैसैहि ग्यांन चंद्र परकासै, ज्यौं अग्यान अंध्यारौ नासै ॥१४॥
परमात्म परगट है जाहि, मानों इहै महादेव आहि।
ग्यान नेत्र तीजे जब होई, मृगतृष्णा देखै जगु सोई ॥१५॥
अनुभै ध्यान धारना करै, समता सील मांहि मन धरै।
इहि बिधि रमि जो जानैं सही, महादेव मन वच क्रम कही ॥१६॥

कथा संबंध

राइ गुपालचंद्र व्रत लीयो, जिनि सब राज सिष्य कौं दीयो।
करता कृत ब्रह्म सो कह्यौ, आपुनु निरालंब ह्वै रह्यौ ॥१७॥
परमात्मा गुपालहि मानि, कृत ब्रह्म जीव अभिन्न वखानि।
राजा कृत ब्रह्म है जैसौ, अब हुं बरनि सुनाऊं तैसौ ॥१८॥
नवद्वारा सरबंगी देस, तिहुं लोकगामी वन रेस।
महा अग्र कछु कह्यौ न जाई, विद्यामान नट लीयो बुलाई ॥१९॥
तब आयुस भुवपाल जु दीयो, नवरस नाच सबै तुम कीयो।
अनुभै नाचि दिखावहु तैसै, सांति निरंतर निहचल जैसै ॥२०॥

× × ×

(पृ० १०)

सुमति उवाच

स्वामी सुमतिन कबहूं बोलै, जो यह प्रभु के बंधन खोलै।
अबहि नाथ ताहि हुकम करावहु, बाहि बुलाइ बेगि ले आवहुं ॥९६॥

श्री विवेकोवाच

श्री विवेक बुलावै दोऊ, सरधा सांति और नहीं कोऊ।
सरधा माता सांति जु पुत्री, दोऊ आय राय पै उतरी ॥९७॥
सवै समान राय पै आई, दोऊ मिलि बानारसी चलाई।
ल्यावहु तुम उपनिषध हेरी, तुम अति चतुर भांवती मेरी ॥९८॥

इति श्री प्रबोधचन्द्रोदय नाटक के प्रथमो अंक ॥१॥

जव जासूस मोह पै आयौ, मतौ विवेक कौ कहि समझायौ।
सुनि विचार बुरौ व्है जाई, हमैं विवेक कहि बढ़ी लराई ॥१॥
जो कोऊ उपनिषध कौं ल्यावै, निहचै मींच हमारी आवै।
महामोह पाखंड बुलायो, बिदा कीयो बानारसी आयो ॥२॥
ऊँचा द्वार धौलहर ठानै, मौतिन चौंक चौंतरा बांनै।
पुर पाखंड चलायौ जैसै, महामोह कहि पठयो तैसै ॥३॥

× × ×

अनुवाद का अन्त—(छठा अंक—पृ० ४७)

पुरषवाच

तब आकास भयौ जैकारा, औरु सभै मिट गयौ बिकारा।
पुरुष प्रगट परमेस्वर आहि, तिसै विवेक जानियौ ताहि ॥६६॥
अब प्रभु भयो मोखि तन धरीयो, चंद्र प्रबोध उदै तब करीयौ।
सुमति बिबेक रु सरधा सांति, काम दंक काटन कौं कांति ॥६७॥
इनिकी कृपा प्रबल मन मुवो, जो हो आदि सोइ फिरि हुवो।
विष्णु भक्ति तेरे परसादा, कृत कृत भयो मिट्यो अनुबादा ॥६८॥
अब निह संग रहै गो एही, हौं लयौ ब्रह्म बिसरीयो देही।
विश्नुभक्ति तूं पुहची आइ, कीयो अनंद जु सदा सहाइ ॥६९॥
अरु चिरंकाल मनोरथ पूजे, गयो सत्रु साल है दूजैं।
जो निरवर्त्ति बासना होई, तातैं प्यारा और न कोई ॥७०॥
अद्वैत राज अनभै पद लयो, अचित चिंतवत अचि तै भयो।
जासिर ऊपर सनक सनंदा, अरु वासिष्ट बंदै ताहि बंदा ॥७१॥

(पृ० ४८)

कृष्ण भट सोइ रस गाथा, मथुरादास सारु सोई बाता।
बंदे गुरु गोबिंद के पाइ, मति उनमान कथा सो गाइ ॥७२॥

इति श्री मल्ह कवि विरचिते प्रबोधचन्द्रोदयनाटके षंष्टमो अंकः समाप्त ॥६॥

।। श्री कुंवर सेन जी पठनार्थ ।।

दोहरा—आंब खांनस्यौ काम है, पेड़ गिनन स्यौ नांहि।
बाद बिबादहि छांडि कै, करौ विचार या मांहि ।।१।।

श्री कस्तूरचन्द जी कासलीवाल के सौजन्य से प्राप्त।

लिपिकार—सुगनचन्द जैन, जैन साहित्य शोध संस्थान, सवाई मानसिंह हाईवेज, जयपुर।

(२) प्रबोधचन्द्रोदय (हिन्दी अनुवाद) जसवन्तसिंह (टाइप प्रति)
अथ श्रीगणेशाय नमः ।। अथः प्रबोधनाटक लिख्यते।

कवित्त—जैसे मृग त्रिस्ना विषे जल की प्रतीत होत,
रूपे की प्रतीत जैसे सीप विषे होत है।।
जैसे जाके विन जाने जगत सत जानियत,
जाके जाने जा नियत विस्व सब तोत है।
एसो जो अखंड ग्यान पूरन प्रकासवान,
नित सम सभी सत्त आनंद उदोत है।
ताही परमातमा की करत उपासना ही,
निसंदेह जानो या की चेतना ही जोत है ।।१।।

ऐसे मंगल पाठ कर सुत्रधार अपनी नटी बुलाइ। यह ही आग्या दीजै। सूत्रधार बोल्यो ।। दोहा ।। महाविवेकी ज्ञान निधि। धीरजमूरयतावान ।। परमप्रतापी दानि अति ।। नीति रीति को जान ।।१।। तिन महाराज ने आज्ञा करी है।। कि हमारे सभा के लोक हैं ।। तिनके लिये प्रबोधनाटक दिषावऊ ।। जो इनको विवेक होइ।। अरु मोह को नास होइ ।। तब नटी सोच करन लागी ।। कि महाराज की सभा में ।। एसे सुभट बैठे हैं ।। तिनके मन में संतोस कैसे आवे। तितने जमनिका में काम बोल्यो ।। अरे पापी अधम नट ।। हमारे जीवत हमारे प्रभू को ।। नास विवेक तें क्यों कहत है ।। तब सूत्रधार कछु भय लिए नटी सु बोल्यो ।। कि यह काम है ।। और रति प्रसंग है। याको मेरे बचन ते क्रोध भयो है ।। तातें हमारो रहिबो बनत नही ।। यह कहि के चले ।। तितनेकाम रति संग लियो ।। सक्रोध जन्म का कैं। बाहेर आइ बोल्यो ।।

दोहा—ग्यानी पंडत एसबे। जो लोकेष्ठा वान।
तो लौ एनां हिन परे। मेरे उन परवांन ।।२।।

और यहीं ही जानत हो ।। कि जो लों ए मेरे बान हैं ।। तो लौं विवेक को कहां

सामर्थ है ।। और प्रबोध कैसे होइगो । रति बोली ।। अहो तो राजा महामोह को वह विवेक मोही सत्रु है। काम बोल्यो ।। तो को कहां विवेक तें भय उपज्यो तूं मेरो धनुष ।। और एवांन फूलन के जानत है। पें देवता और मनुष्य ए मेरे इन बानन की आग्या लोप सके नही ।। और ते सुनी ही होइगी ।। कि मेरे बांन। ब्रह्मा ।। इन्द्र।। चंद्रमा और ही अनेक कै कैसो नास करीयो ।। तो इन लोकन के विवेक को नास करनो कहा है ।। रति बोली।। अहो यही हैं ये तऊ बोहत सहाय जा सत्रु के ।। होहि और जम नैमादिक से महाबली मत्री होइ ।। ताते भय उपजे ही ।।

× × × ×

(पृ० २)

।।मति बोली।। अहो एसे जो पितामह छुटे तो मोकुं औ कहा चाहिये ।। राजोवाच।। जो तु एसी हमारी आज्ञा में हैं तो हमारे कारज सहजे सिद्ध भए। सुनि एक को बाँधि अनेक कियो है। और मुत्यु को प्रापत कियो है। ते बंध छुड़ाइ और ब्रह्म एकता को प्रापत करो। तब मैं हूं प्रान त्याग प्रायश्चित करि ।। ब्रह्म एकता को पाऊ ।। एसे कहि के चले ।। तितने दभ आये। (पृ० ३) आय के बोल्यो ।। राजा महामोह नें मोको ।। आग्या दीनी है ।। पुत्र दंभ विवेक ने प्रबोध कै उदिम कियो है। उदिम कहा कियो। अपने सेवक ठौर ठौर पठ ए प्रबोध करिबे को ।। ताते तुम सावधान हो ।।

× × × ×

अनुवाद का अन्त (पृ० ११)—तितने देवी आस्तिकता आइ ।। आइके हरख सहित कह्यो ।। बोहत काल तें हमारो ।। मनोरथ भयो ।। जु सत्रु रहित तुमको देखे ।। तब पुरुष बोल्यो ।। देवी के प्रताप ते ।। प्रसाद ते कहा कठिन हैं। यह कहि के पाय परियो ।। देवी आस्तिकता पुरष को ।। उठाय के कहयो ।। और तोको कहा उपकार करो ।। तब पुरुष बोल्यो ।। यांते परै कहा हैं ।।

दोहा—जापर है सब भार यह । ताहि न भार विचार ।।
जापर नाहि भार सो । मृत भार के भार ।।१।।
जा बिनु जाने कहत हो । उहे लिख्यो जु रेख ।।
ता जाने जाने नही । हान समान विसेष ।।२।।
जाबिनु जाने सार कोई । जाने राग द्वेष ।।
ता जाने जाने नहीं । हान समान विसेष ।।३।।
जाबिनु जाने भासतौ । बिधी विधी भाष अलेख ।।
जाबिनु जाने विस्व में ।लिने फिरी फिरी भेष ।।४।।
ता जाने जाने नही । हानी समान विसेष ।।५।।

जल निध विना तरंग जो। विना पवन आकाश॥
द्वंद रहित त्यों हो भयो। आत्म ग्यान प्रकाश॥६॥
यह काहि के चल्यो। तितने सूत्रधार आय आसीरवाददयौ।

कवित्त

जो को लौ गंगा को प्रवाह वहत खिति मंडल में
सेस धरे भार ज्यों सकल ब्रह्मंड को।
ससि की किरन जो लौ पोखत हैं।
ओषधीन प्रबल प्रकाशतपे बिम्व मारतंड को॥
छांडत न मरजाद अपनी उदधि जल
जौ लौ आयु बल महा रिषि मारकंड को।
तेज परिवान को धनधाम सुष संततसु।
तो लौ राज करै महाराज नव षंड को॥१॥

इति श्री महाराजाधिराज महाराज श्री जसवन्तसिंह जी कृत प्रबोध नाटक भाषा सम्पूर्ण। शुभं भवतु। श्रीरस्तुकल्याणास्तु।

श्री रस्तु कल्याणमस्तु
जोधपुर से प्राप्त
टाइपकर्ता Shri Mangi Lal

(३) प्रबोध चन्द्रोदय (हिन्दी अनुवाद) ब्रजवासी दास (प्रकाशित प्रति)

(मुख पृष्ठ)

श्री
प्रबोधचन्द्रोदय नाटक
बृजबासीदास कृत
जिसको
सन्मार्गावलम्बी रसिक जनों के चित्त
विनोदार्थ अतीव शुद्धता से
प्रोप्राइटर सेठ टीकाराम जी ने
निज 'ज्ञान भास्कर'' प्रेस बाराबंकी में
छाप कर प्रकाशित किया
Gyan Bhaskar Press, Bara Banki
फाल्गुण कृष्ण २ सम्वत् १९५६

श्री गणेशाय नमः

(पृ०१) **अथ प्रबोधचन्द्रोदय नाटक**

दोहा—चरण कमल बन्दौं रुचिर जे हरिदास अनन्य।
जिनकी कृपा कटाक्ष ते सकल देव परसन्य ॥१॥
धवल धाम जिनके हृदै सदा शांति सुखरास।
तहां सच्चिदानन्द हरि करत निरन्तर बास ॥२॥
जिन हरि को निरगुण सगुण एक अनेक विधान।
बहुमत बहुश्रुति बहुस्मृति करत बिबिध बिधि गान ॥३॥
बरणत विविध विधान सब नहिं पावत कछु पार।
ताते यह निरणय कियो नेति नेति निरधार ॥४॥
ऐसो प्रभु उरमें धरे बिचरत हैं संसार।
जल पुरइन के पात लों सकल जगत ब्यौहार ॥५॥
परस्वारथ स्वारथ जिन्हैं परमारथ दातार।
जिनकी संगत ते लहैं जीव पदारथ चार ॥६॥
दीनदयाल कृपाल शुचि ऐसे सन्त सुजान।
जन ब्रजबासीदास की विनय कीजिये कान ॥७॥
दीजै दीनदयाल मुहिं बड़ो दीन जन जानि।
चरण कमल को आसरो सतसंगत की बानि ॥८॥

× × ×'

(पृ० २)

सो०—सतसंगति परणम्य गुरुपद पंकज राखि शिर।
प्रथम सुकह अति रम्य ग्रन्थोत्पत्ति जिहि बिधि सुनी ॥१२॥

चौ०—दक्षिन भूमि भयो एक पण्डित। भक्ति ज्ञान विद्यागुण मण्डित ॥
दयाल दीन हितकारी। जीवन को पूरण चितकारी ॥
ष्यनं करै ज्ञान उपदेशा। जनम मरन जिहि मिटै कलेशा ॥
हतिमिर नाशक जिमि धामा। कृष्णदास भट अस ता नामा ॥
नके शिष्य एक द्विज बालक। गुरू कृपा शरणागत पालक ॥
दयाभाव तापर अति भारा। भवसागर ते चहै उबारा ॥
ताहि गुरू वेदान्त पढ़ावै। भक्ति ज्ञान वैराग दिढ़ावै ॥
सो किशोर वय काम नवीना। श्रृंगारादिक रसमन भीना ॥

गुरु उपदेश न मन में आवै। जिमि ज्वर ग्रसित सुनाजन भावै॥
जो मांगै तौ कुपथ खटाई। जाके खात ताप अधिकाई॥
ताहि वैद्य समरत्थ सुजाना। चूरण देत खटाई साना॥
जाके खात होइ ज्वर नाशा। औगुण अमल न करै प्रकाशा॥
सो०—तैसे गुरू सुजान कीन्हों ग्रन्थ नवीन तब।
कला विदूषक खान अर्थ सिद्ध वेदान्त मय ॥१४॥

(पृ० ३)

संगीतिका छन्द—नाम राख्यो ग्रन्थ को परबोध चन्द उदोत। सुनत मधुरे श्रवण को अति समुझिते सुख होत॥ मथि निकास्यो वेद निधि तें सुधा को सो सोत। रीत नाटक तासु पाठक शिष्य कीन्हों पोत॥१५॥ सतसंग में ऐसे सुनी मैं ग्रंथ की उतपत्ति। रचना विचित्र प्रबन्ध सुन्दर वस्तु बरनन सत्ति॥ हानि अह मम मोह प्रापति ज्ञान की सम्पत्ति॥ सुनै समुझै पढ़ै रुचि सौं मिटै जगत विपत्ति॥१६॥

दोहा—सो तौ बाणी संस्कृत प्राकृत करि न बिचार।
ताके समुझन को चही विघा बुद्धि अपार॥१७॥
बलीराम ताकी करी भाषा यमन किताब।
सोऊ विद्या अति कठिन समुझि न परै शिताब॥१८॥
मित्र एक ऐसी कही जो यह भाषा होय।
सरल होय तो सबन को सुनि सुख पावै लोय॥१९॥
ताते यह भाषा करी अपनी मति अनुसार।
सत संगत परताप ते बिपुल छन्द बिस्तार॥२०॥
नहीं चतुरनहिं रसिक बर नहिं कबि युक्त उदार।
पाछो लै हरिजन कहत ले है साधु सुधार॥२१॥
हरिजन चितवै जासु तन दया दृष्टि करि बंक।
तासु भाल बिधि लिखित जो होहिं कुअंक सुअंक॥२२॥
ऋषि शशि धन गणपति रदन सम्मत सरस बिलास।
तामें यह भाषा करी जन व्रजबासी दास॥२३॥
कृष्णदास यह शिष्य सों कहत कथा परबोधि।
नट लीला के ब्याज करि परम तत्वमय शोधि॥२४॥

कृष्णदास भट उवाच चौ०।

सुनहु शिष्य इक कथा सुहाई। परम विचित्र परम सुख दाई॥
कीरति ब्रह्म नाम इक भूपा। परम अनूप जासु को रूपा॥
× × × ×

(पृ० २९)

विवेक-दोहा

धन्य तुम्हारी रति सुमति मोहिं भरोसो तोर।
चलो समादिक को बिदा करिये तीर्थन ओर ॥१७६॥
यहि बिधि मति सों मंत्र करि गयो विवेक भुआल।
गाय उठे नट शिष्य तब बाजे तंत्री ताल ॥१७७॥
इति श्री प्रबोधचन्द्रोदय नाटके भाषायां प्रथमः टंकः ॥१॥

नट० दोहा—तब नृप कीरत ब्रह्म सों बोल्यो नट सरदार।
राजन राजामोहने सुन्यो विवेक विचार ॥१॥
ताते अपने मंत्रिन हुँ आज्ञा दीन्ही मोह।
करिये यतन विवेक की मंत्र सिद्ध नहिं होइ ॥२॥
ताही अंतर दम्भ को आयो स्वांग सवाँरि।
तिन पर मन्दिर ते कह्यो ऐसी भाँति पुकारि ॥

× × × ×

(अनुवाद का अन्त पृष्ठ १३३)

हरिगीतिका छन्द—जोरि कर विनती करी ये मात सब सुख धाम तू।
कहा दुर्लभ तुव कृपा ते सकल पूरण काम तू।
तुम अनुग्रह ते लह्यो अब मेटि दुख आनन्द महा।
महिमा अपार अनन्त गुन पावन चरित कहिए कहा ॥१६०॥

कुसुम विचित्रा छन्द—श्री विष्णु भक्ति ह्वै कै प्रसन्न। कह्यो पुरुष को धन्य धन्य।
अब कहि जो तुहि इच्छा होय। करो आशु ही बिलम न सोय।
मोको अति प्रसन्न अनुमान। मांगि लेहु वाञ्छित बरदान॥
हे देवी मेरो जो काज। सो सब पूरण भयो जु आज॥
भयो सुथिर भव भर्म नशाय। सुखमय परम शांत को पाय॥
द्रोही नृप विवेक के जिते। भये विनाशवंत सब तिते॥
अभयानन्द विमल पद जहाँ। अस्थित कियो मोहिं तुम तहां॥
अब कछु इच्छा नाहिं न मोहिं। तदपि देवि याचत हों तोहिं॥
हैं जो दुखित जीव जग माहिं। भवसागर के भंवर भ्रमाहिं॥
ममता लहर माँझ बहि मरैं। बूड़त उछरत धीर न धरैं॥

ते करि कृपा पार करि लेहु। अहो देवि मोको यह देहु।।
पुरुष वचन सुनि भक्ति सुजान। कह्यो होहु सबको कल्यान।।
बहुरौ स्वांग संग सब लये। निकसि सभा ते बाहिर गये।।
याको भाव अहै यह अबै। भये ब्रह्म को प्रापत सबै।।१६१।।

दोहा—बहुरि सभा के मध्य नट कीन्ह्यो नृत्य सुदेश।
भयो प्रसन्न चरिंत लखि कीरत ब्रह्म नरेश।।१६२।।
मनते ममता मैल की काई ह्वै गई दूर।
सादर नट सनमान करि कियो काम भरिपूर।।१६३।।
कृष्णदास भट शिष्य को जब यह ग्रन्थ सुनाय।
ह्वै कै निरमल बुद्धि सों पर्‍यो गुरू के पाँय।।१६४।।
फीकी परि गइ चित्त ते विषय वासना रूप।
भयो विवेकी विशदमति पण्डित परम अनूप।।१६५।।
पढ़ै सुनै समुझै गुनै जो कोऊ यह ग्रन्थ।
ताके उरते छूटि है अहं अविद्या ग्रन्थ।।१६६।।
भक्ति होय भगवन्त की और विवेक प्रकास।
भक्ति बिना त्रिभुवन दुखी कह ब्रजबासीदास।।१६७।।
जो चाहै आनन्द सदा रे ब्रजबासी दास।
तौ कीजै हरिभक्ति को छोड़ि विषय की आस।।१६८।।
इति श्री प्रबोधचन्द्रोदयनाटके भाषा षष्ठष्टङ्कः ।।६।।

इति श्री प्रबोधचन्द्रोदय नाटक समाप्तम् ।।

(४) प्रबोधचन्द्रोदय (हिन्दी-अनुवाद) गुलाबसिंह (प्रकाशित प्रति) (मुख पृष्ठ)

।। श्री : ।।

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक

कवि गुलाब सिंह कृत

जिसको

पं० गुरु प्रसाद उदासीन ने गुरुमुखी अक्षरों से

देवनागरी में टिप्पणी सहित बनाया।

तथा

मुमुक्षजनों के हितार्थ,

श्रीमान १०८ स्वामी परमानन्द जी ने
खेमराज श्री कृष्णदास के
बम्बई
श्रीवेंकटेश्वर : स्टीम : यंत्रालय में
: प्रथमा वृत्तिः
छपाकर प्रसिद्ध किया
संवत् १९६२, शके १८२७
रजिस्टरीहक प्रसिद्ध कर्ता ने स्वाधीन रक्खा है।
श्री गणेशाय नमः
ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः।
अथ श्रीमत्कवि गुलाबसिंह कृत—
प्रबोधचन्द्रोदय नाटक भाषा प्रारम्भः

दोहा

गौरी पुत्र गणेश पद, वन्दों वारंवार।
कार्य[1] कीजिये सिद्ध मम, देह सुबुद्धि दार ॥१॥
जाके नाम प्रताप ते, जल पर शैल तराहिं।
वह रघुनायक दास के, सदा बसैं मन माहिं ॥२॥
गुरुनानक गोविन्द गुरु, जासम और न कोई।
अभिवन्दन पद कमल बिन, जोर सदा कर दोइ ॥३॥
भारत भूमि पुनीत पद, तपोज्ञान अवतार।
मानसिंह गुरु को नमो, तारण करुणासार ॥४॥

नराज छन्द

प्रबोधचन्द्र नाटकं, सुबोध ग्रन्थ मैं करों।
अलंब साधु संग को, विचार चित्त में धरों॥
सुनै पढ़ै सु जे जना, निवार मोह बन्धना।
लहै अपार मोक्ष को, टुटै समस्त फन्धना ॥५॥

---

१. ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति रूप।

सवैया

भूपन[१] बोध सुबोध अति कौतुक माहिं रहे लपटाए।
बोध बिना जगमोक्ष कहाँ इस संत समै मुखवेद[२] अलाए।।
अन्त समै यम दीन करे विन हेर महा करुणारस आए।
बोध उपावन हेत सतो नरनाहन के इह ग्रन्थ बनाए।।६।।
भानु मरीचि सुनीर सम पुनि जा अज्ञान जगत्त बनायो।
वायु अकाश सुपावक नीर मही पुनि लोक सुनीत उपायो।
जाहि पिखेर जुसापजि में जगफेर सभोतिन माहिं बिलायो।
उज्ज्वल आतम बोध[३] हम ब्रह्म आँनद सों उरमाहिं धियायों[४]।।७।।
प्रत्यक्ज्योति[५] सनातन जो जग व्याप रही सममाहिं सुहाई।
रिद शान्त विशे अति भासत है कृत संयम को जिह आनन्द ताई।
विधु चूड़ निरोध सुवायु भले ब्रह्म रन्ध्र हते अति ऊँच चलाई।
दृगतीसर ब्याज सुभाल विषेशिव संयम वंतसु आप दिखाई।।८।।

दोहा

कीरति वरमा नाम जिह, भूपति बड़ो रसाल।
ताहि सभा में विमलमति, आहि प्रधानु गुपाल।।९।।
वर्ष एक नाटक तहां, भयो सुसभा मंझार।
जाको हेरसुज्ञान लहिं, भये भूप भव पार।।१०।।
याको सुने जु कान में, नीके चित्त लगाइ।
आसुर संपति दूर तज, वेग ज्ञान बहु पाइ।।११।।
सूत्रधार उवाच स्वपत्नि प्रति।।

सवैया

बहु बातन को कछु काम नहीं अब आयसु मोहिं गुपाल दई।
सम भूपति जां मुकटामणि के पद पंकज आरती आनेकई।।

---

१. आदि अन्त के ग्रहण सें दशों बादशाहों का ग्रहण करना, २. ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः। ज्ञानादेवतुकैवल्यम् इत्यादि बेद। ३. अविद्या तत्कार्यमलरहितस्वप्रकाशरूप, ४. सेवते हैं अर्थात् उपासते हैं, ५. अनृत जड़ दुखरूप अहंकारादिकों से प्रतिकूल होयकर अर्थात् सत्यज्ञानान्दादिरूपकर जो प्रकाशे सो कहिए प्रत्यक् सोई होवै ज्योति कहिए प्रकाश रूप सो कहिए प्रत्यक् ज्योति।

काम उवाच ।।

सवैया

(पृ० २०)

रति जे कुल नाश प्रवृति भये, बहु पाप करें नहिं पाप डराए।
मुख नीत मलीन रहे तिनको, उपजे निजतात सुआतम घाए।।
बलि पावक धूम सुमेघ भयो फिर धूम[1] घुंजंहन आप खपाए।
कुल कंटक अहि विवेक सुनो नित पाप करे नहिं रंच लजाए।।१०९।।
(अथ नेपथ्ये कल कला शब्द)

विवेक उवाच ।।

सवैया

आहि दुरातम काम कलंक सुतूधरभातम आप अलाए।
ते अघवंत सुपाप करें इम भाष अघी हमको सुठराए।
नाहि लयो मन तात मतो जिम मूढ मनोज सुनो चितलाए।
तात[2] भयो सुत मोह अधीन सुमारग वेद को दूर भुलाए।।११०।।
कार्य औ अकार्य को गुरु जोन पिखे उरमें गरबाए।
वेद विरुद्ध सुपंथ विषे मन के मद कै जब पाँउ टिकाए।
ताहि त्याग सुवेद कहे मनुस्मृति[3] मैं पुन एहुबताए।
बीच पुरानन व्यास कहे ऋषि पूर्व ले पुन एहु अलाए।।१११।।

दोहा

पिता गुरू मत त्याग कर, बड़भागी प्रह्लाद।
मुक्ति पाइ बन्धन तजे, हरि के सेव सुपाद।।११२।।

कवित्त

(पृ० २१) तात जो हमारो सुहंकार के अधीन भयो,
कार्य अकार्य न रंचक विचारियो।।

---

(१) अग्नि, (२) मन, (३) श्लोक---गुरोप्यवलिप्रस्य कार्याऽकार्य-मजानतः। उत्पथ प्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते। अर्थयहः---जो गुरु अहंकारादिक दोषों करके उन्मत्त भावकूं प्राप्त भया है तथा जो शास्त्र करणे योग्य अर्थकूं तथा शास्त्र निषिद्धं अकरणे योग्य अर्थकूं जाणता नहीं तथा शास्त्र निषिद्ध मार्ग में प्रवृत्त होवै है ऐसे गुरु का शिष्य परित्याग करणा।

जगत को पति जो परमात्मासु तात निज
ताहि को सुबाध जग-शृंखल मे डारियो।।
मोहमदमान निसदिन सनमान कर,
छोड़िनो सुदूर बंध दृढ विसतारियो।।
ऐसो मन तात जोई हत एन दोष कोई,
कर्‌यो हम त्याग नहिं ताहि मतो धारियो।।११३।।

सवैया

इह औसर काम विलोकन कै रति के प्रति एहु सुवाक अलायो।
हमरे कुल में सुप्रधान बड़ो मति संगिमिल्यो सुविवेक हि आयो।।
गजगामनि आवत है इत और चले मृग के पति ज्यों हुलसायो।
शिव ज्यों तुहिनाचल की तन्या, मति संगमिले इह भाँति सुहायो।।११४।

दोहा—रागादिक जिन बस किये, कीरतिवंत उदार।
उर अतिकोप्यो मान धन, मनोनिरादर धार।।११५।।

सवैया

तन दूबर एहु विवेक पिखो रति चित्त कठोर महादुख दाई।
'कलषी मति माहि सुयो लस कै तुहिना चल ज्यों शशि देत दिखाई।
इह कारण ते हम योग्य नहीं इह ठौर निवास चले सुपलाई।
रति संग मनोज सुभाग गए, मति संग विवेक बरे तिहआई।।११६।।

(पृ० २८) ऐसे मति मान मति पति तौ बखान कर।
गए भौन और पिख जाहि सुख पाइये।।१४४।।

सवैया

मति संग विवेक विचार कियो जग भीतर जो जन को सुखदाई।
जिह सों सभ जीव की बन्ध मिटे परमात्म संग सुबेग मिलाई।।
तप सातट तीरथ जोग भजे उपजे सुत बोध बड़ो जस दाई।
कवि सिंह गुलाब बसु एह कथा प्रथमै यह अंब निरंतर गाई।।१४५।।
गुलाब सिंह मति पति मतो, जान मोह भूपाल।
दंभ कलादिक• पठेगो, तीरथहनन बिसाल।।१४६।।

---

१. रागादि रूप कालस

इति श्रीमन्मानसिंह चरण शिक्षित गुलाबसिंह विरचिते प्रबोधचन्द्रोदयनाटके प्रथमोंऽकः समाप्तः ॥१॥

इति श्रीमदुदासीनवर्य्य परमानंद शिष्य गुरुप्रसाद विरचिता प्रबोधचन्द्रोदय नाटक प्रथमांऽकटिप्पणिका समाप्ता। १॥

ॐ श्रीगणेशायनमः

अथ षष्ठोंऽकः प्रारंभः ॥६॥

दोहा

(पृ० १५०) याउपरंत सुहोयगी, जीवनमुक्ति[1] रसाल।
सभामांहि प्रवेश तब, कीनो शांति बिसाल ॥१॥

शांतिरुवाच

चौपाई

नृप विवेक इम मोहि अलायो। समाचार शांति तें पायो।
मन सुत कामादि कथे जेई। मुए महांरण भीतर तेई ॥२॥
मोह बिलीन वैराग्य उपाए। पंच[2] कलेश सुदूर मिटाए॥
मन प्रशांति की संगति धार। तत बोधनर करे विचार ॥३॥
तुम उपनिषद पास अब जावो। आदर कर तिह मम ढिग ल्यावो।
यों कहि शान्ति सुजवै पधारी। श्रद्धा आवत तांहि निहारी ॥४॥
हरष हेर इम शांति उवारे। यह श्रद्धा कछु मंत्र विचारे।
इही ओर यह आवत नीकी। सुनो भला अब याके जी की ॥५॥

× × ×

---

(१) जीवन्मुक्ति का लक्षण---श्रवणादिकों करकै उत्पन्न भया है ब्रह्म साक्षात्कार जिसकूं तिस ब्रह्म वेत्ताकूं जा जीवत अवस्था विषे कर्तृत्व भोक्तृत्वादि रूप सर्वबन्ध प्रतीति की निवृत्ति है ताका नाम जीवनमुक्ति है। (२) (अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनि बेशाः क्लेशाः) मिथ्या ज्ञान का नाम अविद्या है (१) बुद्धि तथा आत्मा के ऐक्याध्यास का नाम अस्मिता है, (२) विषय की इच्छा का नाम राग है, (३) साधन सहित दुख में अप्रीति द्वेष है। (४) मरण से भय का नाम अभिनिवेश है।

(पृ० १८०)

गौरी जननी लोक में राया जनक महान।
गुलाबसिंह सुत ताहि के नाटक कीन बखान ॥२२२॥

× × × ×

(पृ० १८१)

जिह अज्ञान निवारयो, दीनो मोक्ष अपार।
मानसिंह गुरु चरन को, बन्दौ बारम्बार ॥२२४॥

शंकर छंद

रस[६] वेद[४] औ वसु[८] चन्द[१] संवत लोक भीतर जान।
नभमास भृगु पुन वासरे दशमी वदी पहिचान।
गुरुमानसिंह पदारविंद अलंबना उरठान।
कुरुक्षेत्र प्राचीकूल तट यह कीन ग्रन्थ बखान ॥२२५॥

श्लोक

शुद्धाशुद्धान्च संशोध्य गुदार्थाश्च प्रकाशिताः।
अविशिष्टाम शुद्धिच शोधयन्तु मनीषिणः ॥१॥
गुरोः कृपा समासाद्य रचयित्वा सुटिप्पणीम्।
मया गुरु प्रसादेन गुरोः पादे सर्मपिता ॥२॥

इति श्रीमन्मानसिंह शिक्षित गुलाब सिंह विरचिते प्रबोधचन्द्रोदय नाटके षष्ठोंकः समाप्तः ॥६॥

इन्दुस्कन्दांक चन्द्रऽब्दे द्वादश्यां श्रावणे तिथौ
बनखण्डिप्रसादाख्यात्सम्पूर्णा टिप्पणी शुभा[१]।

१. अर्थ यह--इस ग्रन्थ में शुद्धाऽशुद्धशोधन करके गूढ़ अर्थों का प्रकाश किया है तथा अविशिष्ट (बाकी) रही हुई अशुद्धि को बुद्धिमान पुरुष स्वयं शोध लेते ॥१॥

गुरु महाराज की कृपा को प्राप्त होयकर मैंने गुरुप्रसाद से सुन्दर टिप्पणी का निर्माण करके श्री गुरु जी के चरणों में सर्मपित कियी है ॥२॥

इति श्री १०८ मत्परमानन्दोदासीन शिष्य गुरुप्रसाद विरचिता प्रबोधचन्द्रोदय नाटक टिप्पणी का समाप्ता ॥इति शुभम्।

(५) प्रबोधचन्द्रोदय (हिन्दी अनुवाद) नानकदास (हस्तलिखित प्रति)

(पृ० १)

ओं स्वस्ति श्रीगणेशायनमः
अथ प्रबोधचंद्र नाटक लिष्यते नानकदास कृत
ओं नमो भगवते वासुदेवाय

दोहरा

विघन हरन मंगल करन क्षेम कुशल परसादि।
ऊस्तति ऊस्तति जोग हरि हितकर ऊचरों आदि ॥१॥
जगत नाट जिसु तट रच्यो ऊषत षपत समरथु।
मै तिस कर्त्ता पुरुष कों ध्यायत मंगल अरथु ॥२॥
नरुनारायण को प्रणम श्री गुरुचर्ण जुहार।
वोधचंद्र नाटक कहों सुनो संत चित धार ॥३॥

चौपई

दक्षण देश अवंती नगरी, जाकी प्रजा धरम रत सगरी।
तहा रहे कृष्णदास भट नाम, अति प्रवीन पंडित गुन ग्राम।
परम विवेक वान हरि भगत, अहि निश कृष्ण भगति आसकत।
तिनका एक शिष्य था मूढ, जो बन कर चंचल बडह हूड।
जो गुर तांको ऊपदेश बतावै, परवहु मंत्र हृदै नही लावै।
जद्यपि गुरु उपदेश न धरै, पर गुरु की सेवा नित करै।
ताते गुरु को लगे पिआरा, चाहै सिष्य का होय उधारा।
ज्ञान मुक्तिदायक नर देहा। भजन करन को अवसर एहा ॥४॥

दोहरा

भजन कह्यो तांते भज्यो, भज्यो न एकी बार।
दूर भजन तांते कह्यो, ताकों भजे गवार ॥५॥
मानुष देह जहा जु है, भव निध तरवे काज।
गुर खेवट हरि पवन लहि, तरे सुराजन राज ॥६॥

चौपाई

बहुत निगम आगम सिषराए, भगति ज्ञान के पंथ बताए।
पर बहु सिष्य जुथा बहु चपल, तांको रुचै नाहि इह सकल ॥

हास विलास वुझारत राता, हित सो सुने युद्ध की वाता।
लोक वार्त्ता ही तहि भावै, पसू अनुमानऊ गाली खावै।।
गुरु उपदेश जु अत सुषदाइक। लोक लोक परलोक सहाइक।
किंचित अपने हृदै न लावै। अंव्रत तजि मानो विष खावै।।
कृष्णदास भट थे परवीने। शास्त्र पुरान सभै जिन चीने।
सेवक भव निध डूवत जाना। संत सुभाऊ अनुग्रह नाना।।७।।

दोहरा

(पृ० २)

बोधचन्द्र नाटक जु इह सकल शास्त्र अनुसार।
नाटक मिस वरनन कीओ षट अध्याय मझार।।८।।
जद्यपि सुनवे मात्र एहि है नाटक अज्ञान।
पर केवल याको अरथ लीए विराग ज्ञान।।९।।

कवित्त

प्रथमे अध्याय मैं अविद्या को संग पाइ
निजानंद आदि रूप अपना भुलाया है।
अहंकार महामोह ममता अधीन भयो
वार वार जनम मरण माहि आया है।
अव जिन दैव की क्रिया ते सतसंग कर
भले शास्त्र पडि सर्वात्मा दिडाया है।
तवी इह दुविधा आवर्ण को नास होइ
चिर जिन याके हृदे आत्मा छपाया है।।१०।।

चौपई

क्रिष्णदास पंडत सुर ज्ञानी। निज सेवक सों कथा विषानी।।
हे सुत थोरो ही काल विहाना। भयो एक धरती को राना।।
कीरत वरम नाम था याका। सगली धरनि राजथाना का।।
इक दिन सो राजा बल धारी। सुख सों बैठ्यो सभा मझारी।।
नृप ढिग बहुतकि नटूए आए। नट नटनी यां बहुत संग छाए।।
अरु अनेक याजंत्री संग। चहें कीयो नाटक को रंग।।
नृप को सभन करी परणामा। ऊचर्‍यो राग मधुर अभरामा।।
वाजंत्रीयों विजाए वाजे। लगे करन वाजी ढिग राजे।।११।।

दोहरा

आगे करी कनात इक स्वांग वनावन काज।
जाते आवैं स्वांग वन देषे सकल समाज॥१५॥

चौपाई

तव इक नट् अनकाजु सिरोमण, पटते निकस कह्यो ऊचे मन।
रे भई आम तरागु अलावौ। अरु रे मत वाजंत्र वज़ावौ॥
राजा की आज्ञा सुन लीजै। सोई करो जासो नृप रीझै॥
सुन कर सभही चुप कर गए। अरु वाजंत्र धरनि धर दए॥
तव ही सूत्रधार की नारी। नट विद्या में चतर करारी॥
पति पाछे आप ठाढी भई। पट भूषण करि सोभा मई॥

(पृ० ३)

सूत्रधार तब ताहि उचारा। सुन प्यारी पिक वचन हमारा॥
पिस नृप के वजीर गोपाल। हमको आज्ञा करी रसाल॥१३॥

× × × × × ×

(पृ० १७)

इह विध वृद्ध अरु राइ विवेक। कहे परस्पर वचन अनेक॥
समदम यम नेमादि महा भट। तिनके पठवन को तीर्थन प्रत॥
दोऊ अखारे ते ऊठ गए। रिपु मारन हित ऊद्दम ठए॥
बोल पठायो समदम तांई। पठ्यो क्षेत्र तीरथन धाई॥
सगल सूरमा सजधज आए। सातो पुरीयों मों गड छाए॥
बिंद्रावन मो वस्यो प्रेम। कांशी माहि मुक्ति अरु क्षेम॥
जगन्नाथ मो भगति सुहाग। द्वारकानाथ ज्ञान वैराग॥
रामनाथ मो धर्म महान। द्वारकानाथ पुत्र परधान॥१०२॥

दोहरा

(पृ० १८)

यत्न प्रीत परतीति विन दिसै न आत्म योत।
खांड खांड के कहे ते कव मुख मीठा होत॥१०३॥
सीसे माहि गुलाव है सीसे के किस काम।
ईऊं जड़ को सूझे नही घट घट आतम राम॥१०४॥

इति प्रथम अंक समाप्तम

दोहरा

नृप विवेक को जत्न सुन दुतीए मोहनर राज।
निज भट पठहै दसे दिस विघ्नऊ पावन काज ॥१॥

चौपाई

फिर नटवर एकठ होइ आए। राग अलाप वजंत्र वजाए ॥
ता छिन स्वांग दभ का आया। बड़े शब्द सों गर्ज सुनाया ॥
मेरी बाते सुनो रस भरी। महामोह मोहि आज्ञा करी ॥
जो विवेक नृप पठ्यो वजीरन। सम दम यम नेमादिक धीरन ॥
तीर्थ क्षेत्र जाइ तिन घेरे। आज काल आवत है नेरे ॥
अरु विवेक हमरे वध लीने। सम दमाद भल विदि आ कीने ॥
वोध पुत्र चाहत ऊपजायो। तासों चाहत हमैं हतायो ॥
तुम भी सावधान अब होवो। तन मन तें आलस सभ खोवो ॥२॥

चौपाई

(पृ० ११५) (अनुवाद का अन्त)

सुन करि विष्णु भगति हर्षानी। तथास्त पुर्ष कों दिषानी ॥
कोई वर्ण जात किन होई। मेरी सर्ण ऊधर है सोई ॥
शक्ल स्वांग तव पूर्ण भए। वाजे वाजन ते मिट गए ॥
सूत्रधार सभ वाहरि आए। राजा को सभनों सिर न्याए ॥

(पृ०११६)

कीर्तवर्म नाम भुवपाल। अरु वजीर तांको गोपाल ॥
अैसे अचर्य स्वांग निहारे। तिनके वचन सुनो रद धारे ॥
सभ संसे तिनके मिट गए। परम तत्तु को प्राप्त भए ॥
मिट्यो अहं मोहु अज्ञान। पायो अनभव पद निर्वांन ॥१७७॥

कवित्त

कृष्णदास पंडित को सेवक के ऊधरन की
बहुतक अभिलाषा दृढ निता प्रति ही रहै।
काहू विध मेरो सिष्य तन को अभिमान तजे
भगवत की भगति द्वार तत्तु ज्ञान को लहै।

अदभुत इतहास सरच विषार्यो निज सिक्ष पास
एक पक्षि युद्ध को विलास जहां ठाओ है।
ज्ञान पक्षि दूजे जित काम क्रोध लोभ आदि
शम दम यम नेम भगति द्वार ज्ञान को गहै ।।१७८।।

दोहरा

इह इतहास सुनाइ के, सेवक कीयो ऊधार।
ब्रह्म ज्ञान को पाइ के, त्यगे सगल विकार ।।१७९।।
कृष्णदास सुख पाइयो, पायो आत्म ज्ञान।
पढे सुने जे अवरु ही लहे भगति भगवान ।।१८०।।
इह पोथी पूरण करी बलीराम हरि संत।
तांको भाखा मों रच्यो नानकदास विनवंत ।।१८१।।

सोरठा

हौं अल्पज्ञ अजान यथा बुद्धि भाखा करी।
तुम साधू सज्ञ्यान भुल चुक लेहु सवार के ।।१८२।।
सक्ल संतन के पासि मांगो दो करजोर के।
पावों भगति निवासि कामादिक दल कों दलों ।।१८३।।

दोहरा

अत हित चित सों जो पढे अथवा सुने सुनाइ।
प्रेम भगति भगवांन की सहजें सों जन पाइ ।।१८४।।

× × ×

इह इतहास पुनीत वड जहां अध्यात्म ग्यांन।
पढे सुने जो प्रीत सों पावै पग भगवान ।।१८९।।
संवत सत अखाद्रस अवर षष्ट चालीस।
मंधर शुक्ला पचमी पोथी पर्ण करीस ।।१९०।।
इति श्री प्रबोधचन्द्र नाटके षष्टमो अंक समाप्तं ।।६।।
ओं नमो भगवते वासुदेवाय ओं नमः शुभम्

(६) प्रबोधचन्द्रोदय (हिन्दी अनुवाद) धोंकलमिश्र

(हस्तलिखित प्रति)

(मुखपृष्ठ)

श्री

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक

(पद्यानुवाद)

धोकल मिश्र कृत

(श्री तेज सिंह के आश्रित)

(लिपि काल अज्ञात)

हस्त सं० ६५।५२ पत्र सं० १—१२४ पूर्ण साइज

(श्री मायाशंकर याज्ञिक संग्रह से)
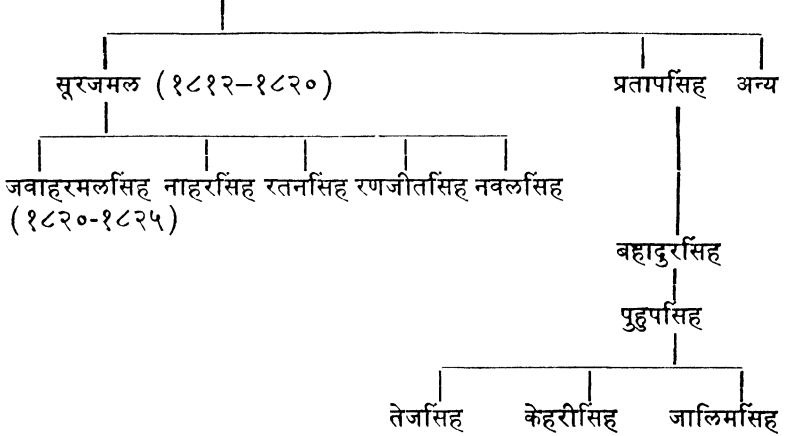
नोट—यह वंश वृक्ष मूल पुस्तक में नहीं है। श्री याज्ञिक जी से इसे बनाया है।

श्रीगणेशाय नमः

पृ० १

छप्पै

शंकरनंदन इंदुभाल गणपाल महामति।
मुक्तिमाल गलचारु हारु झमकत उरि विस्तृति।।
हरत विघन वरजाल हाल पूजित नव निधि घर।
तुंदि विशाल निहाल करत ध्यावत सव सुर नर।।
गजवदन रदन इक सुष सदन मदन दहन मूषक गवन।
जय शिवानंद आनंद निधि अति अमंद भारति भवन।।१।।

फट्टिय षंभ तडक्कि प्रगट्टिय रूप प्रचंडिय ।।
भयउं सद्द दुद्धरष सकल ब्रह्मंडरमंडिय ।।
दिठ्ठिय भार अपार कष्ट निज जन कौं वठ्ठिय।
कुद्धित अति विकराल माल गल आंतन मठ्ठिय।
दैत्येंद्र झटक्कि पटक्कि करनषन विध्वंसिय जंघ धर।
षंडन अषंड संकट विकट श्रीनृसिंह आनंद कर ।।२।।

दोहा

ज्ञानांजन की सीक लै अंजे जिहि जग नैन।
अज्ञ तिमिर कौ नास किय तिह पदन मौं सुचैंन ।।३।।

वंस वर्नन, अनुगति छंद

भूपति भयौ जदुवंस मैं इक बदन स्यंघ उदार।
जलनिधि सुता जिहि भुवन में प्रगटी अमित विस्तार ।।
भूपाल भूमि जिते सकल वंदत चरन अरविंद।
नंदन बहुत जाकै भये पूजत संदा गोविंद ।।४।।
द्वैसुत उदार सुचारु ते सिरदार छविजिन मार।
गुन ग्राम मंडित जुद्ध पंडित षंडि शत्रु अपार।
वय करि बड़े महराज सूरजमल्ल उज्जल रूप ।।
जीती अनेकन वार सैनां म्लेच्छ वोरे कूंप ।।५।।
तिनतें भये परताप लघु जिनकी अलघु परताप।
श्री रामचरण सरोज वंदत प्राप्त पद दुखाप ।।
तिनके वहादुर सिंघ राजा भये गुन गंभीर।
गुणिजन समुद आनंद कर हम कर सरस रस धीर ।।६।।
सुत श्री वहादुर कै पहुय परसिद्ध विपुल स्वरूप।
जगमगत जाकौ तेज उज्वल लषत भज्जत भूप।
श्री पुष्प कैं सुत तीन प्रगटे जे महा परवीन।
महराज श्री रणजीत स्यंह प्रताप रक्षित पीन ।।७।।
सुंदर पुरंदर नंद मनु जिमि उदधि नंदन चंद।
प्रगट्यौ कुसुम नंदन वडौ श्री तेज स्यंह अनंद ।।
रघुवर चरण युग नित्य वंहत लहत परमानंद।
गावत सुनत निरमल चरित ध्यावत गुनन के वृंद ।।८।।

श्री तेजसिंह भुवाल कविजन करत बहु सत्कार।
गुरुदान मान अमान मानत षान पांन प्रचार।
असमांन आंन प्रमान राजत सभामधि गुनवांन।
द्युतिवांन अंग अनंग निदरत बुद्धिवांन सुजांन।।९।।
इक दिन अनुज्ञा करी रचियै ग्रंथ यह सुछंद।
परबोधचंद्रोदय सुनाटक वानि नर सानंद।
तवही अनुज्ञा पाय धौकल भिश्र मति अनुसार।
रचिवर्ण भाषा के धरे सज्जन पढौ करि प्यार।।१०।।

छप्पै

धरनि नीर हुत वहन पवन अंवर इमि भासत।
तीन लोक जिह ज्ञांन विना अज्ञांन विकासत।।
मध्यम दिनकर किरन मीर जिमि है मृग तिसना।
व्रथा भ्रमत तिह निरषि मंद जिनकी है धिसना।
जिह तत्व जानि पंडित तजत सर्प बुद्धि जिमि सुगविसै।
तिहँ भजत विमल आनंदमय तेज आतम भा सकल सैं।।११।।
नाडिन करि उद्धूत पवन अंतर उल्लंघिय।
ब्रह्म रंध्र पुनि सांत मन विषै आनद फुल्लिय।
उज्ज्वल कज्जल हीन सकल ब्रह्मडर मडिय।
परघट तीजे नेंन व्याज लल्लाट सुमडिय।।
जय चंड ज्योति चंडीस की द्युति प्रचड निरषंड भुव।
माल भाल सुविसा लगल वसन व्याल की कित्ति ध्रुव।।१२।।

× × ×

(पृ० ३)

सोनाटक श्रीकृष्ण मिश्र नै रचि कै हमकौ दीनौं।

(पृ० ४)

नाम प्रबोध इंदु कौ जामैं उदय सुमति सौं कीनौं।
तिही ष्याल की रचना अव हम करिहैं ताके आगै।
कीत्तिवर्म राजा अरु परिसद सकल लषौ अनुरागै।।२१।।
इतनी कहि ग्रहमध्य धस्यौ पुनि घरनी सों इमि वोल्यौ।
करौ तयारी गीत नाट्य की जो कछु होय अमोल्यौ।।

पुनि जथा थान थित व्है कें सन्मुष नेपथ्यहि अवलोक्यौ।
कही आर्ये इतकुं आवौ तुम सब कौ मन रोक्यौ ॥२२॥

दोहा

मति बोली पीतम सुनौ जो स्वामी छुटि जाय।

(पृष्ठ १८)

त्रौ तुम अज्ञा मानि सब रचना रचै वनाय ॥१३३॥

छप्पै

जौ तू भई प्रसन्न सिद्ध सब भये मनोरथ।
एक जगत कौ ईस चलायौ पापिन दुःप्पथ।
परम पुरुष बहु बांधि मृत्यु ताकी करवाई।
कियौ ब्रह्म नैं भेद ईसहू तै प्रभुताई।
विद्याहि संग ले रंग में तिनि पापिन कौ हौ हनौं।
पुनि पर ब्रह्म सौ ऐक्यता प्रायश्चित्तहि सम गनौं ॥१३४॥

दोहा

कही जु मैं सो होयगी प्रिया चलौ उत्ताल।
सम दमादि मंत्रीन कौं अज्ञा करैं जुहाल ॥१३५॥

हरिगीत छंद

श्री पुष्प रंजन तेज राजत इंदु वंस प्रदीप है।
रघुवीर पद अरविंद कौ हिय ध्यान और प्रतीप है।
तिह आंन मांन सु छंद धौकल मिश्र रचित निसंक है।
परबोधचन्द्रोदय सु नाटक भयौ प्रथम सुअंक है ॥१३६॥

इति श्री पदुकुलावतंस राजा जी श्री तेजस्यंघ्य आज्ञा मिश्र धौकल **विरचित** प्रबोधचन्द्रोदय नाटके प्रथमोऽक ॥१॥

सोरठा

(पृ० १९)

दंभ कियौ परवेस महामोह अज्ञा दई।
सत्रुन कौ वलवेस लखै प्रतिज्ञा जिन करी ॥१॥

भुजंगीछंद

दई मोहि अज्ञा महामोह राजा।
सुधारौं सवै काज ताके समाजा ॥

करी हे प्रतिज्ञा जु ज्ञानी नरिंदा।
पठाए करौ ज्ञांन जू मंत्रि नंदा॥२॥

दोहा

सम दमादि मंत्री गए तीरथ पुण्य सुथांन।
ज्ञांने भूप कौ राज बिन थाप्यौ सकल जिहांन॥३॥
हमरे कुल कौ नास जव लष्यौ मोह महिपाल।
तव मोकौं अज्ञा दई तू करि इनकौ काल॥४॥
परम मुक्ति दाता सुनी नगरी कासी नाम।
प्रथम विघ्न तामें करौं च्यारि वरन के धाम॥५॥
सो मैंने वाराणसी अपनी करी वसाय।
स्वामी कौ आदेसहू कीयौ अदव वजाय॥६॥

× × ×

अनुवाद का अन्त
(पृ० १२०)

उचरी हर्षित वैन भयौ सव सिद्ध सुकामा।
सांति अराति तुम्है अवलोकंत हौं चिरकाला।
सुनि देवी कौ वैंन पुरुष उचर्‌यौ तिहिं काला।
हे देवी तुव परसाद तैं मोकौं कछु दुल्लभ नहीं।
इमि वैंन कहि चरनार विंदनि भेटि सुष पायौ तहीं॥२०७॥

मोहनी छन्द

विष्णु भक्ति उचरी तिहिं वैंन सुनाय।
उठौ पुत्र कछु चहियै लेव सुभाय॥२०८॥
पुरुष उच्चरयौ मात न बातैं और।
भलौ कियौ उपकार कहौं सिर मौर॥२०९॥
सांति अराति भए भूपति के आज।
भो कृत कृत्य विवेक लहे सुष साज॥२१०॥
निरमल आनन्द पद मैं कियौ प्रवेस।
यातैं परैं न कारिज और सुवेस॥२११॥
श्री पुष्प नंदन तेज राजत इंदु बंस प्रदीप है।
रघुवीर पद और विंद कौ हिय ध्यांन और प्रतीप है।

तिहिं आंनि मांन सुछंद धौकल मिश्र रचित निसंक है।
परवोध चंद्रोदय सुनाटक भयौ षष्ठम अंक है ॥२१२॥

(७) प्रबोधचन्द्रोदय (हिन्दी अनुवाद) अयोध्याप्रसाद चौधरी।
(हस्तलिखित प्रति)

(मुख पृष्ठ)

प्रबोधचन्द्रोदय (नाटक)
(हिंदी भाषा गद्य में)

जिसको कस्बा लखना जिला इटावा निवासी पंडित देवीदीन अध्यापक नार्मल स्कूल आगरा ने अपने विद्यार्थी अयोध्या प्रसाद चौधरी मल्हौसी वांसी से बनवाया और प्रकाशित किया।

सुख सम्पति अरु भक्ति प्रद नाशक तन अज्ञान।
पढ़हु चित्त दै ग्रंथ यह सत्य स्वर्ग सोपान॥

आगरा

मतबअ अबुल उलाई मुहल्ला विल्लोचपुरा में गफूर बख्श के प्रबंध से छपा।
भाद्रपद सं० १९४२ वि०
सितम्बर १८८५ ई०

प्रथमबार २५०
पुस्तक

(पृ० १) निवेदन!

प्रिय पाठकगण! यद्यपि इस नाटक में समयाभाव और विस्ताराभाव के कारण विशेष रोचकता नहीं आयी। तथापि आप लोगों का समय व्यर्थ न जायगा लीजिये! आद्योपांत इसे मन लगा कर एक बार देख तो जाइए तो इस ग्रंथकार का परिश्रम सुफल हो। इति सज्जन जन भूल-चूक क्षमा करें।

ग्रंथकार

(पृ० २)

श्री गणेशाय नमः

दोहा

मंगलाचरण

गुण गणेश गावो गुणी सब विधि सुख सरसाय।
बाढ़ै बुद्धि बिबेक बल महामोह मिटि जाय॥

अलख अनादि अनंत अज अद्भुत अतुल अभेव।
अविनाशी अद्विय अमित नमस्कार तिहि देव॥

प्रस्तावना

स्थान राजसभा

(गोपाल नाम मंत्री विचार करता आया) हमारे महाराज कीर्तिवर्म विषय-वासना में ऐसे लिप्त हो रहे हैं कि उससे छूटना बड़ा कठिन है। यत्न तो मैंने ऐसा किया जो सहज ही में उसके ज्ञानचक्षु खुल पड़े (साम्हने देखकर) आहा सभा में तो सब सभासद आ गये (साम्हने जाकर) महाराज मैं प्रणाम करता हूँ।

राजा—स्वागत—आओ आज अब तक कहां रहे मैं बड़ी देर से प्रत्याशा कर रहा था।

मंत्री—महाराज वह एक नया नट आ गया था उसकी बातचीत में देर हो गई वह बड़ा चतुर है और विवेक और मोह के झगड़े का जिसमें मोह की हार और विवेक की जीत होगी बहुत अच्छा स्वांग करना जानता है मैं उसे अभी बुला आया हूँ आता होगा आप भी उसका कौतुक देखें।

राजा—अच्छा देखेंगे।

(स्त्री-समेत सूत्रधार आया)

सूत्रधार—(धीरे स्त्री से) प्यारी देखो यही साम्हने राजा कीर्तिवर्म निज मंत्री गोपालचन्द्र समेत सिंहासन पर बैठे है × × × राजा का मन विषयवासना में अत्यन्त ही लिप्त देखकर इसी मंत्री महाशय ने विचार कर इनके मन में ज्ञान प्रवेश करने को वह प्रबोधचन्द्रोद्योत नाटक हम लोगों को सिखलाया है वही आज इस सभा में होगा × × ×।

× × × ×

(पृ० ३)

सूत्रधार— × × × अब यहां ठहरना उचित नहीं चलो और स्थान में चलें। (दोनों जाते हैं)

(इति प्रस्तावना)

प्रथम अंक

स्थान रंगभूमि निज स्त्री रति समेत कामदेव आया।

कामदेव—देखो प्यारी निर्लज्ज सूत्रधार क्या गप्प मारता था। हमारे

महाराज मोह की पराजय और विवेक राजा की जय मिथ्या वखानते उसे लाज नहीं आती।

× × × ×

(पृ० ५)

कामदेव——××× इससे रिस भरा इधर ही आता जान पड़ता है। इससे अब यहां रहना न चाहिए। चलो मोह राजा के पास चलें। (दोनों गये)

इति प्रथम अंक

अथ द्वितीयो अंक

(निज स्त्री मति सहित राजा विवेक आया)

विवेक——देखो प्यारी दुष्ट कामदेव कैसी कैसी गर्व की बातें वृथा बक गया यह संसार मिथ्या है जिसमें यह संसारिक सुख बिलकुल झूठ है।

× × × ×

(पृ० १५)

अथ छठा अंक

स्थान सभा

(विद्या का प्रवेश)

विद्या——(आप ही आप) मैंने सुना है कि मेरे दादा मन महाराज बहुत दिनों से माया में फंस कर अचेत हो रहे है सो मैं इन्हीं की भूल निवारण हेतु यहां आई हूँ। ×××

(मन) हे! विद्या देवी! यह कुटुम्ब स्नेह हृदय से नहीं छूटता।

× × × ×

विद्या——यह जो मोहमयी माया है सो आपके हृदय में समाई हुई है। इससे अब एक ईश्वरीय माया का नाटक आपको दिखलाती हूँ। जैसे श्रीमन्नारायण जी ने मालव देश निवासी गाधिनाम ब्राह्मण निज भक्त को अपनी माया का चरित्र दिखा कर माया से छुड़ाय जीवन मुक्त किया था तो आपके हृदय से माया अलग हो जायगी अब आप चित्त धर कर देखिए।

अथ प्रथम गर्भांक

(स्थान नदी तट)

(गाधिनाम ब्राह्मण का प्रवेश)

गाधि——(आप ही आप) कोटिशः धन्यवाद है। उस करुणावा उस करुणालय प्रभ का जिसकी माया ने संसार को मोह रक्खा है।

× × × ×

(पृ० २४) (सनुवादक का अन्त)

विद्या—× × × इससे कर्त्ता अकर्त्ता वही है उसी का ध्यान नित्य करना चाहिए। वह माया में मोहित नहीं होता इससे हे मन राजा माया त्याग कर उसी में लीन हो जाओ।

(मन) हे विद्या देवी ! धन्य-धन्य हो अब मेरे हृदय का अंधकार दूर हुआ। माया दूर हुई अब मुझे यह सर्व संसार ब्रह्ममय भासता है जो है सो ब्रह्म है (अब मैं वन में जाकर समाधि लगाऊँगा (गया) सब गये।

इति पाँचवाँ गर्भांक

कीर्तिवर्म—(आश्चर्य और आनंद से) अहा यह क्या ! मैं संसार जाल में कैसा फँसा था कि किसी प्रकार निकलना संभव न था। सो अज्ञान इस सूर्यरूपी पवित्र नाटक के देखने से तम की भाँति नष्ट हो गया। यह संसार झूठ है जो है सो सब ब्रह्म है। (मत्री से) मित्र तुम धन्य हो बारंबार तुम्हारा धन्यवाद है। तुमने ही कृपा कर मुझे इस अंधकूप से निकाल लिया अहा सत्संग धन्य है। ईश्वर करे ऐसा मित्र सबको मिले। न जाने मेरे किस जन्म के पुन्य उदय हुए जो तुम सा मित्र पाया। मैं तुम्हारी कृपा का पात्र हूँ।

मंत्री—महाराज मैं तो आपका सेवक हूँ। यह सब उसी नारायण की कृपा है नहीं तो मेरी क्या सामर्थ्य थी अतएव उस दया सागर से बारंबार विनय है कि हम सब इस संसार के आवागमन से छूट मुक्ति पदार्थ पावें। और जो कोई इस नाटक को देखे अथवा उसकी कथा पढ़ै-सुनै वह भी माया से छूट कर भवसागर पार हो।

॥ इति ॥

(८) प्रबोधचन्द्रोदय (हिन्दी अनुवाद) भुवदेव दुबे (प्रकाशित प्रति) (मुख पृष्ठ)

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक

प्रथम व द्वितीय भाग

जिसमें

नाटक की रीति पर नट और नटी—काम और रति विवेक और सुमति दम्भ, दम्भशिष्य—अहंकार, मोह चारवाक, अज्ञान,-क्रोध, लोभ-तृष्णा, हिंसा-भरमावती, मिथ्या—इनमें परस्पर अनेकानेक चित्र-विचित्र वार्ता हुई है उसका वर्णन है।

जिसको

नाट्य रसिक पुरुषों के चित्त विनोदार्थ पण्डित भुवदेव दुबे गढ़ा कोटासागर निवासि ने देश भाषा में अति ललित बनाया है।

प्रथम बार

लखनऊ

मुंशी नवलकिशोर (सी० आई० ई०) के छापेखाने में छपा

एप्रिल सन् १८९४ ई०

इस पुस्तक का हक़ तसनीफ़ महफ़ूज़ है बहक़ नवलकिशोर प्रेस

जुज़ ३ वर्क १

टिप्णी—इसके मुख पृष्ठ के पश्चात् द्वितीय पृष्ठ पर मुख पृष्ठ के वर्णन से कुछ अन्तर है।

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक

जिसमें

नाटक की रीति पर नट और नटी, काम और रति,
विवेक और सुमति इनमें परस्पर अनेकानेक चित्र-विचित्र वार्ता
हुई है उसका वर्णन है

जिसको

नाट्य रसरसिक पुरुषों के चित्त विनोदार्थ पण्डित
भुवदेव दुबे गाढ़ा कोटासागर निवासी ने देश
भाषा में अति ललित बनाया है

प्रथम बार

लखनऊ

मुंशी नवलकिशोर (सी० आई० ई०) के छापेखाने में छपा

अक्टूबर सन् १८९३ ई०

इस पुस्तक का हक़ तसनीफ़ महफ़ूज़ है बहक़ नवलकिशोर प्रेस

(पृ० २)

श्री गणेशाय नमः

प्रथमांक

नाटक पात्र

(कीर्त्तब्रह्म राजा गुपाल मंत्री साधु समागम नट समाज)

वार्ता—कीर्त्तब्रह्म महाराज की सभा में साधु समागम नामी नट अपर निज सहायक रूप यौवन गर्वित पुरुष स्त्री सहित संपूर्ण बीणा, मृदंग, सितार आदि यंत्र लेकर प्रवेश करते गान करने लगे पश्चात् नट कहता है)

नट—(भुजा उठा कर कहता है) अहो समस्त तंत्री गण हो किंचित समय पर्यन्त यंत्रों को मौन करके श्रवण करो (फिर निज स्त्री से कहता है) हे मृगनैंनी कोकिल बैंनी मेरी प्रिया आज महान सुखदायक एक अद्भुत आकाशवाणी हुई है जिसके श्रवण करते ही मेरे शिर पर से अभिमान का भार गिर गया जिससे अब मैं पांय फैलाकर सुखपूर्वक सोता हूँ—

नटी—(हंस कर) अहो प्राणपति प्रीतम कहिए वह बाणी किसने कही और उसने क्या कहा—

नट—हे प्रिये जो पुरुष प्रकाशमय प्रसिद्ध अविगत अविनाशी जगत प्रकाशीं जिसके रोम रोम में ब्रह्मांड है और सबके सुखदायी सुखधाम सर्वव्यापक परमानंद है और अकल अनीह अज अनंत भगवान् हैं, जिसको नेति नेति कहि वेद गान करते है और जिसकी आज्ञानुसार माया ने सम्पूर्ण संसार प्रपंच रचा है। जो अगुग अनूप सर्वगुण रूप अवर्णनीय है जो बिनत्वक् स्पर्शी है—बिना पद के गमन कर्ता है बिना नेत्रों देखता है बिना श्रवण के सुनता है बिना नासिका के सूंघता है बिना मन के गुनता है × × × उसी ने बिना बाणी के सम्पूर्ण दासों की कामना पूर्ण होने के निमित्त कहा है कि जो कीर्तब्रह्म नामी भूपति सपूर्ण राज कार्यानुरागी है तथापि उसने सांसारिक विषय मिथ्या समुझ कर परमार्थ मार्ग पर चरण रख मोहजाल के तोड़ने की अभिलाषा की परन्तु इसी अन्तर्गत में गुपाल मंत्री ने फिर राज्याशक्ति करा दिग्विजय कराय दी × × ×।

× × × ×

(पृ० ५)

(यहां तक नट के वचन सुनकर परदा के भीतर से काम का स्वांग बोल उठा)

काम— (महान् क्रोध करके) अरे हे नीच तूने यह क्या कहा अरे मूर्ख तू महाराज मोह का द्रोह करता है विवेक की क्या सामर्थ्य है जो जीत सके कारण कि जिनके हम सरीखे चढ़वायक हैं × × ×।

× × × ×

(पृ० २१)

सुमति—हे नाथ जो इस प्रकार से शील समुद्र पुत्र उत्पन्न होवे तो मन आपके वश हो जायगा और मैं भी वड़भागिनी होऊँगी और हे प्राणप्यारे आपको पिता का उपकार करना उचित है और मैं तो आपकी आज्ञा में हूँ इससे शीघ्र ही श्रद्धा को उपनिषद् के समीप भेजिए सो मनाय ल्यावे × × × ×।

विवेक—(ऐसे वचन सुन कर अत्यन्त हर्ष से कहते हैं) हे सुमति अब जो तुम मेरी सहायक हुई हो तो सम्पूर्ण कार्य बिना ही प्रयास से सिद्ध हो जावेंगे × ×।

(पृ० २२)

सुमति- –हे नाथ आपने जो यह मंत्र किया है सो मैंने भी निश्चय कर लिया है × × × ×।

(पृ० २३)

विवेक—हे सुमति तुमको धन्य है मुझको तुम्हारा भरोसा है इससे अब चलकर समाधिकों को तीर्थो की ओर बिदा करैं (इस प्रकार कहि कर विवेक महाराज गये और संत्रीगण गान करने लगे)

इति प्रथमो टंक

"भुवदेव दुबे"

गढ़ाकोटा सागर

मुंशी नवलकिशोर (सी० आई० ई०) के छापेखाने में छपा

अक्टूबर सन् १८९३ ई०

इस पुस्तक का हक़ तसनीफ़ महफूज़ है बहक़ नवलकिशोर प्रेस

१ जुज़ ४ वर्क

श्री गणेशाय नमः

प्रबोधचन्द्रोदयनाटक दूसरा भाग

द्वितीयांकः

(पृ० २५)

पात्र—नटदंभ दंभशिष्य अज्ञान क्रोध लोभ अहंकार मोह चारवाक तृष्णा हिंसा भरमावती मिथ्या।

नट०—(कीर्तिब्रह्म महाराज से) हे महाराज पूर्वांक में जो विवेक ने विचार किया उसको सुनकर मोह ने भी अपगे मंत्रियों को यह आज्ञा दी है कि ऐसा यत्न करो जिसमें विवेक का मंत्र सिद्ध न होवे

(इसी अन्तर में परदा के ओट से दंभ का स्वांग यह कहता हुआ बाहिर आया—

दम्भ०—महाराज मोह ने मुझसे यह कहा है कि विवेक राज उपनिषद् नामिक दूसरी रानी से प्रबोध नामिक पुत्र उत्पन्न कर कुल सहित मेरा नाश कराया चाहता है × × इस हेतु जो योद्धा मेरी जोट के होंय सो आलस्य-निद्रा को छोड़ बखतर पहिन अपनी अपनी कमर कसें × × × ×।

× × × ×

(पृ० ४५)

मिथ्या—(मुसक्याकर) मुझे किस कार्य को बुलाया है।

मोहँ—हे भामिनी तुम अच्छी प्रकार से जानती हो कि मेरे संपूर्ण कार्य तुम

बिना फीके थे इससे तुम सदैव मेरे हृदय में बसती हो एक क्षण भी नहीं भूलती हो और जिस हेतु मैंने बुलाया है सो मानौ आज वह सब कार्य हो गया मैंने सुना है कि श्रद्धा शांति सहित उपनिषद् के समीप गई है इस हेतु उसको विवेक से मिलाय बोध का प्रकाश चाहिती है उसके उदय होते ही कुल का नाश हो जायगा इससे चिन्ता बहुत है इस कारण हे प्रिया तैं वहां जाकर छल-बल से पकड़ चोटी धर यहां लाव तौ वह बन्दीगृह में रहै जिससे हमारा क्लेश मिटै।

मिथ्या—हे राजन यह कौन बड़ा कार्य है आपके प्रताप से मिथ्या शास्त्र रूपी ऐसा उपाय है कि उसको अभी बाँध कर पाखण्ड में रखती हूँ जिससे विवेक को भी संभार न रहै और जो उपनिषद् का चन्द्रतुल्य प्रकाश है उसको अस्त किये देती हूँ फिर श्रद्धा की कितनी बात है।

(ऐसा सुन मोह हर्ष को पाय हृदय से लगाय कहिने लगा)

मोह—हे प्यारी तू बुद्धि बल साहस सहित चतुर है इस हेतु सब प्रकार से मुझे निश्चय है कि जो कार्य मुझसे नहीं होगा वह तुमसे हो जायगा (ऐसा कहि हर्ष सहित प्यारी रम्भा कहि मुख चूम कुच को स्पर्श किया तब)

मिथ्या—हे राजन सभा के बीच ऐसा करने से लज्जा आती है इसे जो कदाच आपकी ऐसी ही इच्छा होय तो सुखदायक रंगमहल को चलिए।

(यह मिथ्या के वचन सुनकर मोह राज इस ख्याल को पूर्ण कर शयन को चला।)

इति द्वितीय अंकः

(९) प्रबोधचन्द्रोदय (हिन्दी अनुवाद) कार्ष्णि गोपालदास

(मु० पृष्ठ)

(प्रकाशित प्रति)

ओ३म्

॥ श्री वृन्दावनविहारिणेनमः ॥

॥प्रबोधचन्द्रोदय॥

नाटक

श्रीमत्परमहंसोदासीनशिरोवतंस स्वामि-

ज्ञानदास शिष्य कार्ष्णि गोपालदास

विनिर्मित

कार्ष्णीश्वरदासीयटिप्पणीसमुद्घाटित

जिसको

राज्य भरतपुर जय श्री ग्राम निवासी

नन्दराजवंशोद्भव भक्त रामनारायण जी ने
स्वद्रव्य व्यय से धर्मार्थ
"लक्ष्मीनारायण" यन्त्रालय
मुरादाबाद में
छपा करके प्रकाशित किया
प्रथमा वृत्ति सन् १९१०
लक्ष्मीनारायण ने अपने नारायण प्रेस मुरादाबाद में छापा

धन्यवाद पत्र---

शतशः उन पुरुषों को धन्यवाद है कि जो न्यायोपार्जित निज द्रव्यव्यय से सद्-ग्रन्थों को छपवाय के प्रदान करें है, × × ×अतः सर्व दानों से सच्छास्त्र प्रदान का अधिक फल है, × × ×इससे स्वार्थ परार्थ दोनों ही सिद्ध हो सके हैं, अतः विचारशील पुरुषों को सद्ग्रन्थों के प्रचार में ही स्वद्रव्य व्यय करना चाहिए, अलंधर्भज्ञेषु !

कार्ष्णि गोपालदास
ठि० रामद्वारा, कंसकिला मथुरा।

(पृ०क) भूमिका---

प्रियवर ! अनेक श्रुति-स्मृति-पुराणादिकों में प्रसिद्ध है कि---नाना संसार-दुःख-दैन्य-दावानल-दग्धहृदय--देहधारियों को तत्व साक्षात्कार अमृतार्णव का मज्जन ही शान्ति देता है, सो तत्वज्ञान वेदान्त शास्त्र के विचार से प्राप्त होय है, परन्तु मन्दमति मलिनान्तःकरण पुरुषों का मन विचार में नहीं लगे हैं, ऐसे मन्दा-धिकारियों पर परमानुग्रह करके वेदान्त शास्त्र में प्रवेश के लिये श्रीकृष्ण मिश्र जी ने नाना रसों कर भूषित अद्भुत काव्य "प्रबोधचन्द्रोदय नाटक" निर्माण किया है। × × ×

× × × ×

(पृ०ग)

यद्यपि इसकी छन्दोबद्ध भाषा प्रथम गुलाबसिह जी ने की है, परन्तु उसके अनुसार नाटक नहीं हो सके हैं, क्योंकि नाटक काव्य के नियम उसमें नहीं हैं, और मूल से न्यूनाधिक भी बहुत किया है, किंच उसका लेख प्रायः गुरुमुखी-वर्णलिपि के अनुसार है इस वास्ते सर्व के उपयोगी भी नही हैं, और जो देवनागरी वर्णों में छपा है उसमें शब्दशुद्धि करने से बहुत ठिकाने छन्द भंग हो गया है, और भी जिस किसी ने इसकी भाषा की है सो सर्वथा मूल के अनुसार नहीं की, इस वास्ते अब यह ब्रज भाषा की है।

कविवरों से सविनय प्रार्थना है कि कर्णापाटवादि दोषते यदि कोई अशुद्धि हो तो कृपा करके शुद्ध कर लें। अलम्––

भवदीय कृपाभिलाषी––
कार्ष्णि गोपालदास
रामद्वारा, कंसकिला, मथुरा

ओ३म्
श्री वृन्दावनविहारिणेनमः
प्रबोधचन्द्रोदय नाटक
(नान्दी[1])

जिस पुरुष[2] के अज्ञान का नभ,
आदि जगत् विलास है।
मध्याह्न भानु मयूख[3] में पय[4]-
पुञ्ज सम जो भास है॥
पुन जा सके विज्ञान कर स्रज,[5]
सर्प-सदृश बिलाव है।
तिस अमल स्वयं प्रकश सुखमय,
ज्योति को हम ध्याव है॥१॥
नाड़ी[6] विरुद्ध समीरयुत,[7]
ब्रह्माण्ड से जो लंघगई।

(पृ० ८)

जो योगिजन के विमल मन में,
मोदमय[8] प्रकटित भई।
स्वतृतीय लोचन व्याज[9] से जो,
चन्द्रशेखर[10] सिर धरी।
सो सर्वव्यापी ज्योति प्रत्यक,[11]
जयति[12] नित सर्वोपरी॥२॥
(नान्दी के अन्त में सूत्रधार[13] कहे है)

---

१. ग्रन्थ विषय––सूचक मंगलाचरण। २. परिपूर्ण परमेश्वर के। ३. किरण। ४. जल। ५. माला में। ६. सुषुम्ना। ७. वायु। ८. आनन्द स्वरूप, ९. मिष से, १०. महादेव ने, ११. अन्तरात्मा, १२. स्वोत्कृष्टता को प्रकट करे है। १३. नाटकाचार्य,

सूत्रधार––तिस परिपूर्ण परमात्मा की अनन्त महिमा है, कहां तक निरूपण की जाय ब्रह्मादिक भी जिसका पार नहीं पा सके है, तो मैं मन्द मति कौन हूं, अब तो जैसे, सकल महीप समूह मुकुटमणि-किरण कदम्ब[1] पूजित पाद पद्म, बलिष्ठ रिपु पुंज–वक्षस्थल-कपाटपाटन-प्रकटित-नरसिंह रूप, अति प्रबल भूपाल कलाप[7] प्रलय पयोनिधि-निमग्नमेदिनी उद्धार-वराहावतार रूप,

(पृ० ९)

सकल दिशा ललनाकर्ण भूषण कृत––कीर्तिलतापल्लव, समस्त दिग्गज–कर्णताल-संवर्षोत्पन्न–पवनपुंज प्रचार-प्रज्वलित प्रताप पावक, श्रीमान् गोपाल भूपाल ने कहा है कि सहज सुहृद श्री कीर्तिवर्मा नरेन्द्रदेव के दिग्विजय व्यापार कर तिरोहित[2] ब्रह्मानन्द रस हुए हम लोगों ने प्राप्त विविध विषय रसास्वादन से व्यर्थ ही दिवस व्यतीत किये हैं, परन्तु अब हम कृतकृत्य हैं। जिससे––

अमित्र[3] भूपनी समूह कीर्तिवर्म का जिता।
प्रसिद्ध मन्त्रिसंघ[4] से क्षिती[5] अतीव रक्षिता।
क्षितीन्द्र पुंज के किरीट कोटि[6] से समर्चिता।
समुद्र मेखला धरा अखण्ड राज्य निर्मिता।।३।।

इससे हम शान्तरस प्रधान नाट्यानुकरण से आत्मविनोद को चाहते हैं। × × ×

(पृ० ३३)

राजा––प्रिये ! यदि इस प्रकार तू प्रसन्न है, तो चिरकाल के हमारे मनोरथ सिद्ध हुए। सो सुनिये––

परम पुरुष प्रभु जगदादी जो
अविनाशी अविकारा।
तिसें बान्ध[7] पुन बहुत रूप[8] कर,
पुरभव[9] में जिन[10] डारा।
तिन हत्यारों[11] का प्राणान्तिक

(पृ० ३४)

कर प्राश्चित्त बिधानू।
जीव ब्रह्म की एक रूपता,
विद्याकर पुन ठानू।।३१।।

---

१. समूह। २. अन्तरधान, ३. शत्रु, ४. समूह, ५. पृथ्वी। ६. कोण। ७. अहंकारान्वित करके, ८. उपाधि भेद से बहुरूपता, ९. देहरूप संसार में, १०. मन आदिकों ने, ११. ब्रह्मक त्रदक होने से ब्रह्महत्यारे।

सो जो कुछ होना है सो हो वो। अब तो पूर्वोक्त प्रयोजन[२] की सिद्धि वास्ते शमादिकों को इस कार्य में लगावें।

(मति और विवेक राजा जाते हैं)

इति श्री प्राकृत प्रबोधचन्द्रोदय नाटके आत्मबन्धमोक्ष-
कारण निरूपणं नाम प्रथमोऽङ्कः
समाप्त ॥१॥

अथ द्वितीयांक

(तिससे अनन्तर दम्भ प्रवेश करे है)

दम्भ—महाराज महामोह ने मेरे को कहा है कि हे तात दम्भ ! यमनियमादि मन्त्रियों के सहित विवेक ने प्रबोध-उदय के वास्ते यथावत प्रतिज्ञा करी है, (पृ० ३५)

और तिस तिस तीर्थ में शम-दमादिक भी भेजे हैं, सो यह उपस्थित हमारे कुल का नाश, सावधान होय के तुमको निवृत्त करना चाहिए। तहां पृथिवी में परम मुक्ति का क्षेत्र काशीपुरी है, सो तू वहाँ जाय के चारों आश्रमों के मोक्ष मे विघ्न वास्ते प्रयत्न कर। × × ×

× × × ×

अनुवाद का अन्त पृष्ठाङ्क ६.

पृ० (२०३)

(अनन्तर भगवद्भक्ति प्रवेश करे है)

विष्णुभक्ति—(हर्ष से समीप जाय के) शत्रुओं को शान्ति से स्वस्थ हुआ तुमको देख के बहुत काल पीछे हमारे सर्व मनोरथ सिद्ध भये हैं।

पुरुष—आपके अनुग्रह से क्या दुर्लभ है।

(इस प्रकार कह के चरणों में गिरे हैं)

विष्णुभक्ति—(पुरुष को उठा के) वत्स उठिये कहिए तुमारा और क्या हित करूं।

पुरुष—इससे अधिक और हित क्या है जिससे—

भया भूप[२] कृतकृत्य अब, शत्रु भये सब लीन।
शुद्ध सदा सुख पद विषे, मो को स्थापित कीन॥

---

१. प्रायश्चित्त, २. बोधोत्पत्ति। २ बिवेक राजा

सूत्रधार---यद्यपि प्रार्थना की आवश्यकता नहीं है तथापि इस प्रकार होना चाहिए।

मेघ मानो अनुकूल जगत में,
वर्षा वहु विध वर्षावें।

(पृ० २०४)

विविध उपद्रव रहित नृपति जन,
[1]भू-पालन में मन लावें॥
तत्व बोध से तिमिर[2] हनन कर,
विज्ञ कृपा तुमरी[3] पावें।
विषय ममत्व भीति[4] पंकांकित[5]
संसृति-सागर[6] तरजावें॥३३॥

(इस प्रकार विचित्र अभिनय करके सर्व पात्र जावे है)

बोध चन्द्रमा उदय, मिश्र की गिर[7] नभ माही।
संस्कृत लोचन हीन, पुरुष को दीसत नाही।
प्रतिबिम्बित अब कौन, लोक भाषा में सोई।
देख सकत अब सुगम, मन्द दृष्टी जन जोई।
कृष्ण मिश्र की सुरगिरा,[8] क्षीर समुद्र समान।
कृष्ण कृपा से मथन कर, काढ़ा रत्न महान।
काढ़ा रत्न महान, बोधचन्द्रोदय नामा।

(पृ २०५)

जिसकी द्युतिकर[9] नष्ट, भया अब [10]घनतम ग्रामा[11]।
भाग गये कामादि, चोर-पिशिताशी[12] तृष्णा।
शुद्ध सच्चिदानन्द, सकल भासत श्री कृष्णा॥२॥
शुद्धाशुद्ध विवेक कर, विरचा मति अनुसार।
कविजन पुन शोधन करें पूरब अपर विचार॥३॥
मूल ग्रन्थ में नियम जो, सो अब इसमें जान।
न्यूनाधिक कुछ नहि किया, लख प्रतिबिम्ब समान॥४॥
शररस अंक मृगांक[13] में, महाविपिन कर वास।
माघमास मे ग्रन्थ यह, विरचा मथुरा पास॥५॥

---

१. पृथिवी के, २. अज्ञान रूप अन्धकार, ३. भगवद्भक्ति की, ४. भय, ५. कीच कर के संयुक्त, ६. संसार, ७. वाणी, ८. देववाणी। ९. प्रभा, १०. गाढ़, ११. अंधकार का समूह, १२. पिशाची। १३. चन्द्र अर्थात सं० १९६५।

इति श्रीमत्परमहंसोदासीनशिरोवतंस स्वामिज्ञानदास शिष्येण कार्ष्णि गोपालदासाह्वयेन विनिर्मिते प्राकृत प्रबोधचन्द्रोदय नाटके जीवन्मुक्ति निरूपणं नाम षष्ठोंक समाप्तः ॥६॥

सम्पूर्णोयं ग्रन्थः

पुस्तक मिलने का पता—

कार्ष्णि गोपालदास नरोत्तमदास

टि० जटामल श्यामलाल का टाल

कंसकिला—मथुरा

कार्ष्णि चित्र चरित्रम्—

धृत्वा देहं द्विजकुलभवं पश्चिमे रामपुर्य्यां,
हित्वा बाल्ये निजसखिजनैः क्रीडनं कृष्ण चित्तः॥
भित्वा मोहं युवति जन नीवन्धु वर्गे किशोरो-
मत्वा भोगान्विषवदखिलानैहिकामुष्मि कान्यः॥१॥

× × ×

तत्रोषित्वाचरमदिवसे मौनमाप्त्वाप्यतन्द्रे,
चित्ते त्वब्दे मधुशितिदले[1] बाणबाणांक चन्द्रे॥
त्यक्त्वा कायं त्वचमिव फणी संस्मरन्नप्रयास।
कृष्णं वन्दे परपदमितस्तं[2] गुरुं ज्ञान दासम्॥८॥

श्रीज्ञानदासस्य हि कार्ष्णिकेतो-
श्चित्रं चरित्रं परमं पवित्रम्॥
पठन् मनुष्यः परमात्मभक्ति,
लब्ध्वा सदा कार्ष्णिगतिं लभेत॥९॥

इति श्री कार्ष्णि गोपालदास विनिर्मितम् कार्ष्णिचित्रचरित्रं सम्पूर्णम्।

पुस्तकें मिलने का पता—

गणेशीलाल, लक्ष्मीनारायण

लक्ष्मीनारायण, यंत्रालय,

मुरादाबाद

१०. प्रबोधचन्द्रोदय (हिन्दी अनुवाद) महेशचन्द्रप्रसाद (प्रकाशित प्रति)
(मुख पृष्ठ) श्रीमत्कृष्णमिश्रयति

प्रणीत

---

१. चैत्र कृष्ण पक्षे २. गतः।

प्रबोधचन्द्रोदय
नामक संस्कृत नाटक का
हिन्दी अनुवाद
'संस्कृत साहित्य का इतिहास', 'स्वदेश सतसई",' 'जातक-माला", 'हिन्दू-सभ्यता', "भारत-भाग्योदय", 'भारतेश्वर का सन्देश", "शोक-संगीत", प्रभृति के।
लेखक
पटना निवासी
महेशचन्द्रप्रसाद, एम० ए० (संस्कृत) एम० ए० (हिन्दी)
द्वारा
रचित और प्रकाशित

प्रथम संस्करण १९३५ मूल्य
१,००० सर्वाधिकार संरक्षित ॥)

समर्पण
श्रीमान श्री निर्मल कुमार जी जैन,
ज़मींदार, बैंकर, मिल-ओनर, तथा प्रेसिडेन्ट, बिहार चेम्बर आव कामर्स आरा, शाहाबाद

श्रीमन् !

आप बिहार प्रान्त के एक आदर्श × × ×आप इसे सानुग्रह स्वीकार करेंगे।

आरा विनयावत
३०-४-३५ महेशचन्द्रप्रसाद

भूमिका

अनन्त धन्यवाद है उस अनन्त अखिलान्तरामा को जिसकी अनुकम्पा से आज मुझे इस पुस्तक की भूमिका लिखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। × × ×

मूल ग्रन्थ का परिचय—मूल ग्रन्थ बड़े महत्व का है। संस्कृत साहित्य में इसका आसन अतीव ऊँचा है।

× × × ×

ग्रन्थ का विषय

इस नाटक में वेदान्त-दर्शन का दिग्दर्शन है। वेदान्त उपनिषदों के सिद्धान्तों को नियमबद्ध कर यथोचित रूप से वर्णन करता है। × × × ×बुद्धि के नाश से मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है। इसी सर्वनाश से बचने का उपाय इस नाटक में है।

टीकायें और अनुवाद

ग्रन्थ जब बहुत ही विख्यात होता है तभी उस पर टीका-टिप्पणी × × × × "प्रबोधचन्द्रोदय" की प्रसिद्धि के प्रमाणस्वरूप इसकी दो टीकायें वर्त्तमान हैं—एक तो नाण्डिल्ल गोप मंत्रिशेखर "चन्द्रिका व्याख्या" और दूसरी रामदास दीक्षित कृत "प्रकाशाख्य व्याख्या"।

इतना ही नहीं। इसका अनुवाद अंग्रेज़ी में भी किया गया है।

× × × ×

संवत् १८४६ में अर्थात् आज से १४५ वर्ष पहले कविवर गुलाबसिंह जी द्वारा ब्रजभाषा में इसका अनुवाद हुआ था जिसको पंडित गुरुप्रसाद उदासीन ने हाल ही में गुरुमुखी अक्षरों से देवनागरी लिपि में उतारा है, और जो "श्री वेंकटेश्वर प्रेस" बम्बई से प्रकाशित हुआ है।

प्रस्तुत अनुवाद

× × × × परन्तु जब हिन्दी कविता की भाषा की दो धाराएं बह रही हैं, तब ब्रजभाषा के अतिरिक्त वर्तमान हिन्दी अर्थात् खड़ीबोली में भी एक अनुवाद का होना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत हुआ।

× × × × तीसरे अंक में मुझे कुछ उलटफेर करना पड़ा है। इस समय एकता की तूती बोल रही है। ईसाई, मुसलमान यहां तक कि मेहतर को भी अपनाया जा रहा है। उक्त अंक का अनुवाद प्रकाशित करना धार्मिक विद्रोह फैलाना होता। "प्रबोधचन्द्रोदय" के उत्तर में श्रीवादि चन्द्र सूरि कृत "ज्ञान सूर्योदय" नामक संस्कृत नाटक—जिसका हिन्दी अनुवाद बम्बई के 'हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय' के अध्यक्ष श्रद्धेय श्री नाथूराम प्रेमी जी ने किया है।

× × × ×

पुनः जब हमारे हिन्दू धर्म में ही पतित से पतित पुरुष विद्यमान हैं, तब हम अपने फोड़े को न देखकर दूसरे की फुंसी निहारें यह सर्वथा अनुचित है। और कहीं जो रोग रहित अंग को रोग युक्त माना गया तो और भी अनर्थ हुआ। अतएव मूल ग्रन्थ में जैन और बौद्ध के सम्बन्ध में कही गई बातों का सम्बन्ध कापालिक के अतिरिक्त एक नवीन कल्पित पात्र 'महंत' से करा दिया गया है। × × ×

× × × ×

आरा

होलिकोत्सव-संवत् १९९२। महेशचन्द्रप्रसाद

श्रीगणेशायनमः

(पृ० सं० १)

प्रबोधचन्द्रोदय नाटक

प्रस्तावना

छप्पै

नान्दी—मध्य दिवस रवि रश्मि बीच जल बीचि सुहावे।
अनिल, अनल, जल, नभ थल त्यों त्रैलोक्य रचावे।
जिस प्रभु का अज्ञान, पुनः वह लय को पावे।
लहे ज्ञान ज्यों भ्रम न हार हर-हार सतावे।
अमल और आनन्द-धन, अमल हृदय से गम्य की।
करते चारु उपासना, हम उस ज्योति सुरम्य की॥१॥

पुनः—
प्रविश सुषुम्ना ब्रह्म रन्ध्र उल्लंघन कारी।
शान्त स्वान्त में भासमान आनन्द विहारी।
नाश अनृत को अहंकार शुभ ज्ञान प्रसारी।
जय हो प्रत्यग्ज्योति परम वह जगतम हारी।
योगिराज भव भाल दृग, मिस जो प्रकटित है हुई।
जगव्यापी उस ज्योति में, निशिदिन रति होवे नई॥२॥

(सूत्रधार का प्रवेश)

पृ० २)

सूत्रधार—

बस बढ़ाने का काम नहीं। सकल सामन्त समूह की मुकुट-मणियों की किरणों से जिनके चरणकमलों की आरती होती है, पराक्रमी रिपु पुंजों के वक्षस्थलरूपी कपाट को विदीर्ण कर जो नृसिंह रूप से प्रकट हुए हैं, प्रबल नृप-वंश-विनाश रूपी महार्णव में मग्न हुई मेदिनी के उद्धार करने में जो महावराह स्वरूप है, जिन्होंने निखिल दिग्वधुओं को अपनी कीर्त्तिलता के पल्लवों के कर्णाभरण पहराये हैं, पुनः समग्र दिग्गजों के कानों के आस्फालन से निकले हुए अनिल के आघात से जिनका प्रताप रूपी अनल नृत्य कर रहा है—ऐसे श्रीमान् गोपाल महानुभाव ने मुझे यह आदेश दिया है—"सहज सुहृद राजा कीर्तिवर्मा देव के दिग्वजय के कारण ब्रह्मानन्द के रसास्वादन में हम लोगों को विलम्ब हो गया। विविध विषयों के

रसास्वादन से हम लोगों के दिन मानो दूषित रूप से व्यतीत हुए। किन्तु अब हम कृतकृत्य है।

× × × ×

(पृ० १७)

मति—आर्य्यपुत्र ! यदि दृढ़ ग्रन्थ से कुल प्रभु का इस प्रकार बन्धन मोक्ष हो तो उपनिषद् देवी के साथ आपका सब दिन सम्बन्ध रहे। यही सुन्दर है और यही मुझको प्रिय है।

(पृ० १८)

राजा—प्रिये ! यदि तुम इस प्रकार प्रसन्न हो तो सकल मनोरथ सिद्ध हैं। क्योंकि—

विजया

विविध विधि बाँध के, विपुल भेद साध के,
अनन्त अखिलेश को धरा है नर-देह में।
हा ! जिन अति कूरों ने, असुर-मति-शूरों ने,
कठोरता सु घोर से, रखा है मृत्यु गेह में।
उन ब्रह्म भेदियों को, नित्य मर्म छेदियों को,
कु-वेधियों को दल के, कुचल कर खेह में।
प्रबल विद्या के बल, अमल ओ अविकल,
सो ब्रह्म को धरूँ पुनः मैं एकता अदेह में।।३१।।

अच्छा तो प्रस्तुत कार्य्य के निमित्त शम इत्यादि को नियुक्त करता हूँ।

(मति और विवेक का प्रस्थान)

तीसरा अंक

(पृ० ४३)

(शान्ति और करुणा का प्रवेश)

शान्ति—(रोती हुई) माँ ! माँ ! तू कहां है ? मुझको प्रिय दर्शन दे।

× × × ×

करुणा—(रोती हुई) सखि ! × × × इधर-उधर अच्छी तरह अन्वेषण करती हूँ। × × ×

× × × ×

(पृ० ४७)

(शान्ति और करुणा घूमती हैं)

(चन्दन टीका किये हृष्ट-पुष्ट एक महंत का प्रवेश)

महंत––(विचार कर) हे, हे उपासको!

कुसुम-स्तवक

क्षण-भंगुर ओ स्थिति-शून्य घटादिक-भाव
सभी यह जो विहरें विहरें।
नित अर्पित हो जिनमें, रह भीतर भी,
सम बाहर के लहरें लहरें।

(पृ० ४८)

मृदु-मोह-विनोद-विलास-विभाव
कषाय-विहाय वही छहरें छहरें।
कष कल्मष हीन-अहो अब ज्योति निधान
स्व ज्ञान यहाँ फहरें फहरें॥८॥

(घूम कर श्लाघा से) अहा! कृष्णर्चन भी कैसा सुखद है! धन्य वह रास क्रीड़ा!

शिष्य––भगवन्! यह कोई वैष्णव देख पड़ता है। यह क्या कह रहा है ज़रा सुना जाय। (दोनों सुनते हैं)

महंत––अहा महंत का जीवन क्या ही उत्तम है?

सार

सुन्दर सदन-निवास, वणिक-रमणी गण मन अनुकूला।
इच्छित समय इष्ट भोजन, शय्या, सुमज्ज सुख-मूला।
श्रद्धा से जिनमें करती तरुणी उपासना रूरी।
कटें चाँदनी चारु दिशाएँ मदन मोद से पूरी॥९॥

× × × ×

अनुवाद का अन्त अंक ६.

(पृ० ११७)

पुरुष––देवी विष्णु-भक्ति के प्रसाद से भला कौन सा पदार्थ दुर्लभ है?

(चरणों पर गिरता है)

विष्णुभक्ति—(पुरुष को उठाती है) वत्स! उठो। मैं कौन सा अपर प्रिय पुरस्कार तुमको दूं?

पुरुष—क्या कोई इससे भी प्रिय पदार्थ है?

क्योंकि—

दोहा

अरि को जीत विवेक अब, अति कृतकृत्य सुधन्य।
नीरज नित्यानन्द में, मैं भी मग्न अनन्य॥३२॥

तथापि ऐसा हो—

(भरतवाक्य)—

घनश्याम

सुमेघ अभीष्ट वृष्टि करें जग में नित ही!
विहीन अरिष्ट भूप कहीं परिपाल सही।
स्व ज्ञान प्रकाश नष्ट अज्ञान महान चरें!
कृपा तव मोह-पंक-भरा भव सिन्धु तरें॥

(सब जाते हैं)

इति

अनुक्रमणिका

हिन्दी ग्रन्थ सूची

अनुच्छेद संख्या

ल

स

अनुच्छेद संख्या

सहायक ग्रन्थों की सूची

संस्कृत

१. 'अमरकोश'—अमरसिंह (सन् १९५२) मुद्रक एवं प्रकाशक खेमराज श्रीकृष्ण दास, अध्यक्ष, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

२. 'उपमितिभवप्रपंचकथा'—श्री सिद्धर्षि, एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, न्यू सीरीज़ नं० १०८९, (सन् १९०४) प्राप्ति स्थान—आगरा कालेज पुस्तकालय, आगरा पुस्तक नम्बर-९४.९।३२)

३. 'चेतन्य चन्द्रोदयम्'—कवि कर्णपूर, द्वितीय गस्करण, सन् १९१७, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई। प्राप्ति स्थान—इन्द्रप्रस्थ वैदिक पुस्तकालय, दिल्ली पु० न० २७७

४. 'छान्दोग्योपनिषदः' (हिन्दी), तृतीय संस्करण सन् १९१३, नवल-किशोर प्रेस, लखनऊ। प्राप्ति स्थान हिन्दी विद्यापीठ आगरा विश्व-विद्यालय आगरा-पु० न० १९४९।

५. 'ज्ञानसूर्योदय' (अनुवाद)—श्रीवादिचन्द्र सूरि (नाथूराम प्रेमी), प्रथमा-वृत्ति, सं० २४३५, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई प्राप्ति स्थान —जैन साहित्यसदन, चाँदनी चोक देहली-पु० न० १५१०।

६. 'जीवानन्दनम्'—आनन्दरायमखी, सम्पादक एम० दुरैस्वामी आयंगर प्राप्ति स्थान—आगरा विश्वविद्यालय पुस्तकालय, आगरा (पु० न० ४२ अ ११ ज (स)।

७. 'दशरूपक'—(धनिक-धनंजय) डा० भोलाशंकर व्यास, सं० २०११, चौखम्बा विद्या भवन, बनारस, प्राप्ति स्थान—हिन्दीविद्यापीठ आगरा विश्वविद्यालय आगरा-पु० न० ४००.

८. 'धर्मविजयनाटकम्'—भूदेव शुक्ल, प्रथम संस्करण, १९३०, विद्या विलास प्रेस, बनारस सिटी, प्राप्ति स्थान—चिरंजीव पुस्तकालय पु० न० ७००१,LI.

९. 'नाट्य शास्त्र' (अभिनव भारती सहित)—भरत-अभिनव गुप्त, भाग १-३, : गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज़ नम्बर—१. XXXVI पु० न० २३९५

२. LXVIII पु० न० २३९६ ३. CXXIV पु० न० २३९७।
प्राप्ति स्थान--हिन्दी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा।

१०. 'प्रबोधचन्द्रोदयम्'—कृष्णमिश्र, टीकाकार पं० रामचन्द्र मिश्र, सं० २०१२, चोखम्बा विद्या भवन, बनारस।

११. 'पुरंजन चरितम्'—कृष्णदत्त मैथिल, प्रथम संस्करण, सन् १९५५ ई० सं० कु० नीऊम सोलंकी, चैटर बुक स्टाल, आनन्द, (डब्लू० आर०) भारत प्राप्ति स्थान आगरा विश्वविद्यालय, आगरा—

१२. प्रबोधचन्द्रोदयम्—(श्री गोविन्दामृत भगवत्कृतया नाटका भरणाख्य-व्याख्या) कृष्णमिश्र त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज न० १२२, राजकीय मुद्रण यन्त्रालय से प्रकाशित, सन् १९३६।

१३. प्रबोधचन्द्रोदयम्—(चन्द्रिका व्याख्या, प्रकाश व्याख्याख्याभ्यां) कृष्णमिश्र निर्णय सागर प्रेस, बम्बई। षष्ठावृत्ति सन् १९३५

१४. 'मिथ्याज्ञान विडम्बनम्'—रविदास, सन् १८९४ ई०, हरिश्चन्द्र, कविरत्न द्वारा विद्यारत्न यं० कलकत्ता में मुद्रित।

१५. 'मोहराज पराजयम्'—यशपाल, प्रथम संस्करण सन् १९१८, सम्पादक मुनिचतुर विजय जी, सेन्ट्रल लाइब्रेरी, बड़ौदा, प्राप्ति स्थान चिरंजीव पुस्तकालय, आगरा पु० न० ६७९३, L१।

१६. 'संकल्प सूर्योदयनाटकम्'—वेंकटनाथ (दस अंक) श्रीमद् वेदान्तदेशिक ग्रंथमाला, ग्रन्थमाला आफिस कांजीवरम्, सन् १९४१ ई०, प्राप्ति स्थान—पं० श्रीकान्त पाण्डेय जिला बस्ती।

१७. 'साहित्य दर्पण'—विश्वनाथ कविराज, दूसरा संस्करण, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी (बनारस)।

१८. 'श्रीमद्भागवत'—वेद व्यास, द्वितीय संस्करण, सम्वत् २००८, गीताप्रेस, गोरखपुर, प्राप्ति स्थान—हिन्दी विद्यापीठ पुस्तकालय, आगरा पु० न० ३४३।

हिन्दी ग्रन्थ

१. 'अत्याचार का अन्त'—श्री वशिष्ठ सन् १९२२, प्रथम प्रकाशन।

२. 'अधर्म का अन्त'—श्री मोहनलाल गुप्त, सन् १९२९।

३. 'अनोखा बलिदान'—उमाशंकर, प्रथम संस्करण। संवत् १९८५, हरिशंकर सरमंडल, अजमेर (प्राप्ति स्थान—चिरंजीव पुस्तकालय आगरा—पु० न० ४९७५।LI)

४. 'अपभ्रंश साहित्य'—हरिवंश कोछड़, हिन्दी अनुसन्धान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय, भारतीय साहित्य मन्दिर, फव्वारा, दिल्ली, हिन्दी विद्यापीठ आगरा विश्वविद्यालय आगरा—पु० न० ८१-१२ उ० २२ अ.

५. 'अभिनव नाट्य शास्त्र,—श्री सीताराम चतुर्वेदी : प्रथम खण्ड, प्रथम संस्करण सन् २००८ वि०, अखिल भारतीय विक्रम परिषद्, काशी, प्राप्ति स्थान—हिन्दी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय आगरा—पु० न० ६०० ।

६. 'अर्द्ध कथानक' की भूमिका—नाथूराम प्रेमी, प्रथम सस्करण, १९४३ हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।

७. 'आजकल'—श्री ताराप्रसाद वर्मा, प्रथम सस्करण, सन् १९३९ ई० तरंग हाउस, काशी। प्राप्ति स्थान—नागरी प्रचारिणीसभा, आगरा, पुस्तकालय, पु० न० ४८२३।

८. ''आधुनिक हिन्दी साहित्य''—डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, द्वितीय संस्करण, सन् १९४८ ई० हिन्दी परिषद, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी ।

९. 'आधुनिक हिन्दी नाटक'—डा० नगेन्द्र, पचम सस्करण, संवत् २०११, साहित्य रत्न भण्डार, आगरा।

१०. 'कर्मवीर'—पं० रेवतीनन्दन भूषण, प्रथम संस्करण सं० १९८२, प्रकाशक श्री व्यास साहित्य मदिर, ३९, माटलेन, कलकत्ता (चिरजीव पुस्तकालय आगरा पु० न० ५५७८L।

११. 'करालचक्र'—श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय, प्रथम सस्करण सं० १९९०, भारती भवन, बनाज, पो० बछरावां, जि० राय बरेली।

१२. 'कलियुगागमन'—प० रामेश्वरदत्त, तृतीय सस्करण, फरवरी १९२२ ई०, उपन्यास बहार आफिस, काशी।

१३. 'कामना'—श्री जयशंकर प्रसाद, पचम संस्करण। सं० २०१३, भारती भडार लीडर प्रेस, प्रयाग।

१४. 'कृष्ण काव्य में भ्रमर गीत'—डा० श्यामसुन्दरलाल दीक्षित, प्रथम संस्करण सन् १९५८, विनोद पुस्तक मदिर, आगरा।

१५. 'चन्देल और उनका राजत्व काल'—श्री केशवचन्द्र मिश्र, प्रथम संस्करण सं० २०११ नागरी प्रचा० सभा, काशी, प्राप्ति स्थान—हिन्दी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा पु० न० ४१५५।

१६. 'छलना'—भगवतीप्रसाद बाजपेयी, सन् १९३९, माडर्न प्रेस, नमकमण्डी, आगरा।

१७. 'छात्र दुर्दशा'—पाण्डेय लोचन शर्मा, प्रथम संस्करण। सन् १९१५, हरिदास वैद्य नरसिंह प्रेस, कलकत्ता।
१८. 'डिक्टेटर'—वेचन शर्मा 'उग्र', सन् १९३७, प्रकाशक हरिशंकर शर्मा, कलकत्ता, प्राप्ति स्थान—मारवाड़ी पुस्तकालय, दिल्ली पु० न० २२०१०।
१९. 'ज्ञान गुग दर्पण'—श्री शंकरानन्द स्वामी, सन् १९१९, लाला हरिप्रसाद केसवां, जिला अलीगढ। प्राप्ति स्थान—चिरंजीव पुस्तकालय।
२०. 'जनक-नन्दिनी'—पं० तुलसीदत्त शर्मा, प्रथम संस्करण सं० १९८२, श्री व्यास साहित्य मन्दिर, कलकत्ता, प्राप्ति स्थान चिरंजीव पुस्तकालय, आगरा पु० न० ५५७६ L[1]
२१. 'जायसी ग्रन्थावली की भूमिका'—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ।
२२. 'न घर का न घाट का'—जी० पी० श्रीवास्तव, छठा सं० १९५१, हिन्दी पुस्तक एजेंसी, ज्ञानवापी, बनारस,। प्राप्ति स्थान नागरी प्रचारिणी सभा पुस्तकालय आगरा पु० न० ६५४५।
२३. 'प्रबोधद्युमण्युदय'—उमादयाल मिश्र, द्वितीय संस्करण अक्टूबर सन् १९०५ ई० मुंशी नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।
२४. 'प्रबोधचन्द्रोदय'—हिन्दी अनुवादः—मल्हकवि, श्री कासलीवाल जयपुर से हस्तलिखित प्रति प्राप्त।
२५. 'प्रबोधचन्द्रोदय' (हि० अनु०)—जसवन्तसिंह, हस्त० प्रति०, पुस्तक प्रकाश पुस्तकालय, जोधपुर से टाइप्ड प्रति प्राप्त।
२६. 'प्रबोधचन्द्रोदय' (हि० अनु०)—ब्रजवासीदास, सं० १९५९ ज्ञानभास्कर प्रेस, बाराबंकी, प्राप्ति स्थान—चिरंजीव पुस्तकालय आगरा—पु० न० ८०१० L ३.
२७. " " —गुलाबसिंह, प्र० सं० १९६२, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई। श्री मोहन बल्लभ पन्त बल्लभनगर गुजरात के सौजन्य से प्राप्त,
२८. 'प्रबोधचन्द्रोदय' (हि० अनु०)—नानकदास, ह० प्रति, नागरी प्र० सभा काशी।
२९. " —धोंकलमिश्र, " "
३०. " —अयोध्याप्रसाद चौधरी " "
३१. " —भुवदेव दुबे, प्रथम सं० सन् १८९४ मुंशी नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित।

३२. ,, —कार्ष्णि गोपालदास, प्र० सं०, सन् १९१०, लक्ष्मीनारायण यन्त्रालय, मुरादाबाद, प्राप्ति स्थान—चिरंजीव पुस्तकालय आगरा (पु० न०-३७१ L३)

३३. ,, —महेशचन्द्र प्रसाद, प्र० सं० सन् १९३५, देवाश्रम, आरा।

३४. ,, —विजयानन्द त्रिपाठी, ह० प्रति, ना० प्र० सभा, काशी।

३५. 'पत्र पत्रिका सम्मेलन'—जी० पी० श्रीवास्तव 'दुमदार आदमी' एकांकी संग्रह, हिन्दी पुस्तक एजेंसी, ज्ञानवापी, बनारस।

३६. 'पूर्व भारतेन्दु नाटकों का परिचय'—डा० सोमनाथ गुप्त, प्रथम सं० सन् १९५८, हिन्दी भवन जालंधर और इलाहाबाद।

३७. 'पेप्सू प्रदेश में हिन्दी की प्रगति'—सम्पा० सत्यपाल गुप्त, प्रथम संस्करण १९५६, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, पटियाला।

३८. 'बंगला साहित्य की कथा'—पं० भोलानाथ शर्मा, तृतीय सं०, सं० २००६, प्रकाशक हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

३९. 'बुद्धदेव'—श्री विश्वम्भर सहाय, प्रथम सं०, भारती भण्डार, विक्रेता लीडर प्रेस, इलाहाबाद, प्राप्ति स्थान—चिरंजीव पुस्तकालय, आगरा १०२५१ L १।

४०. 'बृहद् हिन्दी कोश'—श्री कार्तिक प्रसाद।

४१. 'भारत दुर्दशा'—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, द्वितीय सं० सन् १९५६, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा।

४२. 'भारत ललना'—खग बहादुर मल्ल, द्वितीय सं०, सन् १९०६, खंग विलास प्रेस, बांकीपुर, प्राप्ति स्थान—नागरी प्र० सभा पुस्तकालय, आगरा पु० न० ६०—९८९।

४३. 'भारतराज'—लक्ष्मीकान्त, प्रथम सं०, सन् १९४९, यंगमैन एण्ड को० दिल्ली।

४४. 'भारतवर्ष'—श्री दुर्गाप्रसाद गुप्त, प्रथम सं०, उपन्यास बहार आफिस, काशी

४५. 'भारतीय दर्शन'—श्री बलदेव उपाध्याय, पंचम संस्करण, १९५७ ई० शारदा मंदिर, वाराणसी।

४६. 'भारतीय दर्शन'—डा० उमेश मिश्र, प्रथम सं०, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ।

४७. 'भारतीय दर्शन' (हि० सं०)–दत्त और चटर्जी, द्वितीय सं०, सन् १९५८, पुस्तक भण्डार, पटना-४।
४८. 'भारतेन्दु नाटकावली'–भारतेन्दु, प्रथम भाग व द्वितीय भाग, सम्पादक-—ब्रजरत्नदास, प्राप्ति स्थान—आगरा विश्वविद्यालय पुस्तकालय, आगरा पु० न० ८२.११–ह०.४५ .न.
४९. 'भारतेन्दु कालीन नाटक साहित्य'–डा० गोपीनाथ तिवारी, प्रथम सस्करण, १९५९, हिन्दी भवन, जालन्धर और इलाहाबाद।
५०. 'भारतोदय'–पं० रामगोपाल मिश्र, सं० १९८७ वि०, श्री गोपालराम, जासूस आफिस, गहमर, प्राप्ति स्थान—चिरजीव पुस्तकालय, आगरा, पु० न० ६२५४ LI.
५१. 'मायावी'–ज्ञानदत्त सिद्ध, प्रथम सं० सन् १९२२ ई०, श्रीसिद्ध हिन्दी प्रचारक कार्यालय, जयपुर सिटी।
५२. 'मारवाड़ी घी'–एक जातीय हितैषी, प्रथम सं० सं० १९७४, पं० चुन्नीलाल शर्मा, कलकत्ता, प्राप्ति स्थान—चिरंजीव पुस्तकालय, आगरा पु० न० ३९३८। L२.
५३. 'मुद्रिका'–श्री सद्गुरु शरण अवस्थी, प्रथम सं० सन् १९३९, छात्र हितकारी पुस्तक माला, दारागंज, प्रयाग।
५४. 'मोह विवेक सम्वाद'–जनगोपाल दास, हस्त० प्रति, महावीर भवन, मानसिंह हाई वे, जयपुर, लिपिकर्त्ता सुगनचन्द जैन।
५५. 'मोह विवेक युद्ध'–बनारसीदास, प्रथम स०, वीर निर्वाण सं० २४८१, प्रकाशक—वीर पुस्तक भण्डार, मनिहारो का रास्ता, जयपुर।
५६. 'मोह विवेक युद्ध'–लालदास, हस्त० प्रति, श्री अगरचन्द नाहटा जी बीकानेर से प्राप्त।
५७. 'राष्ट्र भाषा कोश'–पं० ब्रजकिशोर मिश्र, प्राप्ति स्थान—हिन्दी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा।
५८. 'लकड़बघ्घा'–जी० पी० श्रीवास्तव, १९५७ ई०, प्रका० रघुनाथप्रसाद, भारतीय प्रकाशन मण्डल, नन्दनसाइलेन, वाराणसी।
५९. 'लीला विज्ञान विनोद'–केशवानन्द स्वामी, प्रथम सं०, सं० १९६९, लक्ष्मी नारायण यंत्रालय, मुरादाबाद, प्राप्ति स्थान—चिरंजीव पुस्तकालय आगरा पु० न० ३६६, L ३.
६०. 'लोक परलोक'–जी० पी० श्रीवास्तव, प्रथम सं० सन् १९५०, कर्मयोगी

प्रेस लि०, प्रयाग, प्राप्ति स्थान—नागरी प्रचारिणी सभा पुस्तकालय आगरा पु० न० ८२८२।

६१. 'विज्ञान नाटक'–शंकरानन्द स्वामी, चतुर्थ संस्करण सं० १९६८, लक्ष्मीनारायण यंत्रालय, मुरादाबाद, प्राप्ति स्थान—चिरंजीव पुस्तकालय आगरा पु० न० ३६९ L ३।

६२. 'विज्ञान विजय नाटक'–शंकरानन्द स्वामी, प्रथमबार, सं० १९७२ लक्ष्मीनारायण यंत्रालय, मुरादाबाद, प्राप्ति स्थान—चिरंजीव पुस्तकालय आगरा पु० न० ३६८। L ३.

६३. 'विज्ञान गीता'–केशवदास, सं० १९५१ वि० प्रका० खेमराज श्रीकृष्णदास वेंकटेश्वर छापाखाना, बम्बई, प्राप्ति स्थान—चिरंजीव पु० आगरा, पु० न० ३६७। L ३.

६४. 'सत्य का सैनिक'–श्री नारायण प्रसाद बिन्दु, प्रथम स०, सन् १९४८, केशवदेव पोद्दार, श्रीहरविन्द सर्किल, बम्बई।

६५. ''सन्तोष कहां ?'–सेठ गोविन्ददास, प्रथम सं० सं० २००२, कल्याण साहित्य मन्दिर, प्रयाग।

६६. ''सत्य विजय'–कवि गोकुलप्रसाद, द्वितीय सं० प्रका० उपन्यास बहार आफिस, काशी।

६७. 'सती चरित्र'–श्री हनुमन्तसिंह रघुवंशी, राजपूत ऐंग्लो ओरियण्टल प्रेस, आगरा, प्राप्ति स्थान—नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा पु० न० ४०५।

६८. 'सच की खोज'–प० विद्या प्रसाद जी शुक्ल, सन् १९४६, हिन्दी प्रेस, आगरा, प्राप्ति स्थान—नागरी प्रचारिणी सभा पुस्तकालय, आगरा पु० न० ८६३५।

६९. 'सच्चा भूत'–प० दशरथ ओझा, सन् १९४६, इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद। प्राप्ति स्थान–नागरी प्रचारिणी सभा पुस्तकालय, आगरा पु० न० ८६३४।

७०. 'स्वर्ण देश का उद्धार'–श्री इन्द्र विद्या वाचस्पति, प्रथम सं०, सन् १९२१ गुरुकुल यत्रालय कागड़ी प्राप्ति स्थान—चिरंजीव पुस्तकालय, आगरा, पु० न० ३४६९ L १.!

७१. 'स्वार्थी संसार'–श्री शिवरामदास, प्रथम संस्करण, उपन्यास बहार आफिस, प्राप्ति स्थान। चिरंजीव पुस्तकालय, आगरा पु० न० १०४८२

७२. L१.। 'साहित्या लोचन'–डा० श्यामसुन्दरदास, नवां संस्करण, इंडियन प्रेस लि०, प्रयाग।

७३. ''सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रंथ'–सम्पा० डा० नगेन्द्र, प्रथम संस्करण, सेठ गोविन्ददास हीरक जयन्ती समारोह समिति, नई दिल्ली।
७४. 'संस्कृत साहित्य का इतिहास'–बलदेव उपाध्याय, चतुर्थ सं० शारदा मंदिर, काशी। प्राप्ति स्थान—हिन्दी विद्यापीठ, आगरा वि० वि० आगरा पु० न० ८७८.
७५. 'संस्कृत की रूपरेखा'–श्री चन्द्रशेखर पाण्डेय, सन् १९५४, चतुर्थ सं०, साहित्य निकेतन, कानपुर।
७६. 'संस्कृत कवि दर्शन'–डा० भोलाशंकर व्यास, द्वितीय सं०, चौखम्बा वाराणसी। प्राप्ति स्थान—हिन्दी विद्यापीठ, आगरा वि० वि० आगरा।
७७. 'संघर्ष'–श्री छगनलाल जैन, प्रथम सं०, सं० २००६, वनवाणी प्रकाशन कलकत्ता -७ प्राप्ति स्थान—नागरी प्र० स० पुस्तकालय आगरा पु० न० ९३७३.
७८. 'श्री निम्बार्कावतरण'–दानविहारी लाल शर्मा, प्रथम सं०, सं० १९८९, प्रकाशक—वैष्णव श्री रामचन्द्रदास, वृन्दावन, प्राप्ति स्थान—चिरंजीव पुस्तकालय आगरा पु० न० ९१३४L
७९. 'हिन्दी विश्व कोश'–श्री नगेन्द्र नाथ वसु, प्रथम सं०, सन् १९२२, विश्वकोश प्रेस, कलकत्ता, हिन्दी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय आगरा।
८०. 'हिन्दी नाटक का उद्भव और विकास'–डा० दशरथ ओझा, द्वितीय सं०, सं० २०१३।
८१. 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास'–डा० सोमनाथ गुप्त, तीसरा सं०, सन् १९५१९ हिन्दी भवन जालंधर और इलाहाबाद।
८२. हिन्दी साहित्य कोष, डा० धीरेन्द्र वर्मा, प्रथम सं०, सं० २०१५, ज्ञान-मण्डल लिमिटेड, वाराणसी।
८३. 'हिन्दी साहित्य का इतिहास'–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल संशोधित संस्करण, सं० २००२, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी।
८४. 'हिन्दी नाट्य साहित्य'–बाबू ब्रजरत्नदास, द्वितीय सं० २००१, हिन्दी साहित्य कुटीर बनारस, प्राप्ति स्थान—आगरा विश्वविद्यालय पुस्तकालय आगरा, पु० न० ८२.१–ब ८१.ह।
८५. 'हिन्दू'–जमुनादास मेहरा, प्रथम सं०, सं० १९७९, एस० आर० बेरी २०१ हरिसन रोड, कलकत्ता।

पत्रिकायें

१. ''अनेकान्त'-अप्रैल १९५७, वीर सेवा मण्डल, देहली।
२. 'वीरवाणी'-३ मई १९५८ ई० जयपुर।
३. 'रसवन्ती में' से डा० अगरचन्द नाहटा से प्राप्ति लेख।

English Books :—

1. Advanced History of India, R. C. Majumdar, Reprinted 1953. Delhi University Library—Book No. TV. v2:1:N5 J 3.
2. A History of Sanskrit Literature, Arthur A. Macdonell, Fifth Edition 1958, Munshiram Manoharlal, Nai Sarak Delhi, Hindi Vidyapeeth, Agra University Agra. Book No. 5838.
3. Epigraphia Indica, Vol. I, II.
4. Indian Antiquary Vol. XVIII.
5. Memoirs of the Archaeological Survey of India, R. D. Banerji, Government of India Central Publication Branch, Calcutta 1931.
6. Prabodhchandrodaya Thesis for London University Dr. Jai Dev.
7. Prabodhchandrodaya, J. Taylor, Central Library Bombay.
8. Sanskrit English Dictionary, Sir M. Monier Williams, New Edition, Hindi Vidyapeeth, Agra University Agra. Book No. 37719.
9. The Sanskrit Drama, A. Berriedale Keith, Edition 1958, Oxford University Press, Hindi Vidyapeeth, Agra University Agra. Book No. 668.
10. The Dynastic History of Nothern India, H. C. Ray, Volume II Edition 1936, University Press Calcutta, Agra University Library, Agra. Book No. 934.071 R. 21. D (2/0).
11. The History of Sanskrit Literature, Keith, Edition 1953,

Oxford University Press, London. Agra University Agra. Book No. 40.09 K. 28. H

(S/O).

12. The Struggle for Empire, R. C. Majumdar, Volume II & V. Hindi Vidyapeeth, Agra University, Agra.

13. The Oxford History of India, The Late Vincent A. Smith C. I. E. Third Edition 1958. Delhi University Library— Book No. V2:1:N5. TV

J8:1.

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ		पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४		१७	ृष्ठों	पृष्ठों
३५	टिप्पणी	४	यन्मनुष्यान्मेनीयते	यन्मनुष्यान्ननीयते
४०		१०	दृष्टाभिसन्धि	दुष्टाभिसन्धि
४५	टिप्पणी	१४	पकाति (अत:)	प्रकाशित)। अत:
५६	टिप्पणी	९	ragularly	regularly
६५	टिप्पणी	३	सकप	संकल्प
७९	टिप्पणी	२	विधिधोपप्लवा:	विविधोपप्लवा:
८२	टिप्पणी	४	परिभपा	परिभाषा
८२	टिप्पणी	४	माहित्य दर्पण	'साहित्य-दर्पण'
९४		१३	मता	मतों
९४	टिप्पणी	५	Characteristiece	Characteristics
९४	टिप्पणी	५	Nordictype	Nordic type
९४	टिप्पणी	९	Gatenty	Gatenly
९५		३	प्रथम	प्ररूप
१०२		१९	धूल	धुएँ
१०२		२३	विवेक के	विवेक को
११६		२	कथा	तथा
११६		३	पर आत्मा	में आत्मा
११७		९	स्वगत कथनों की	स्वगत कथनों को
१२२	टिप्पणी	१	अक	अंक
१२२	टिप्पणी	३	सदप्रं	सदयं
१२२	टिप्पणी	३	हृदपं	हृदयं
१२६	टिप्पणी	८	निर्विद	निर्वेद
१३३		५	धटना	घटना
१३३		१५	व्यर्य	व्यर्थ
१३५	टिप्पणी	३	Sameperiod	same period

पृष्ठ		पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३५	टिप्पणी	३	agreat	a great
१३५	टिप्पणी	८	evervating	everlasting
१५३	टिप्पणी	२	सागण	सगुण
१६६		८	आरौपकर	आरोप कर
१७२		१४	क्रुरने	करने
१७२		१६	वपितु	अपितु
१७५	टिप्पणी	१	मण	भण
१८१	टिप्पणी	२	सुहृद्वन्धिवा	सुहृद्बान्धवा
१८१	टिप्पणी	१	द्विवैव	द्विधैव
१८६		११	हीने	होने
१९६	टिप्पणी	३	in to	into
१९७		११	ृष्टि	दृष्टि
२०१		२२	सयता	सभ्यता
२०६		७	घारणा	धारणा
२०८		१५	मल	मूल
२१८		३	न्थ	ग्रन्थ
२१९		२	द्धितीय	द्वितीय
,,		२८	बौद्धाभगम	बौद्धागम
,,		३१	अक	अरु
२२२		८	दौहे	दोहे
२४४		४	ारें	ढारें
२४७			पृष्ठ संख्या ७४२	२४७
,,		२३	भृगननी	मृगनैनीं
,,		,,	कोकिल नैनी	कोकिल बैनी
२६६		१८	ृष्ठ	पृष्ठ
२७४		१३	ेव	देव
२७९		३	ुद्ध	युद्ध
,,		२४	`	द्वै
२८२		७	प्रबोधद्युमण ुदय	'प्रबोधद्युमण्युदय'
,,		१७	ह्म	ब्रह्म
२८५		३१	यग	युग

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२८८	२	ुग	युग
२९०	९	घनदास	धनदास
२९७	३	सपाही	सिपाही
३०४	१	दुखि ों	दुखियों
३१७	३	वीं	वीर्य
३१४	३०	माधरी	माधुरी
३२२	१८	ृतीय	तृतीय
३७१	७	११ पाखण्ड बडम्बना	११. पाखण्ड बिडम्वना
३७२	१	धर्म संस्कृत	धर्म संस्कृति
३८१	९	कायार	कायर
३८४	१७	धीरजमूरयतावान	धीरजमूरतवान
३८७	२२	हृतिमिर	तिमिर
४१७	११	भपती	भूपति
४३४	१	Archacological	Archaeological
४३४	४२	Lernors	Learners
४३४	५०	oxford	Oxford